वैदिक देवता

उद्भव और विकास

गया चरण त्रिपाठी
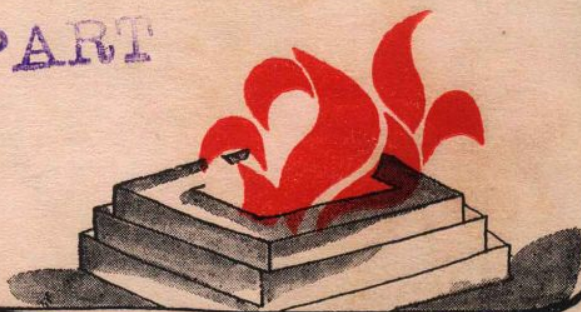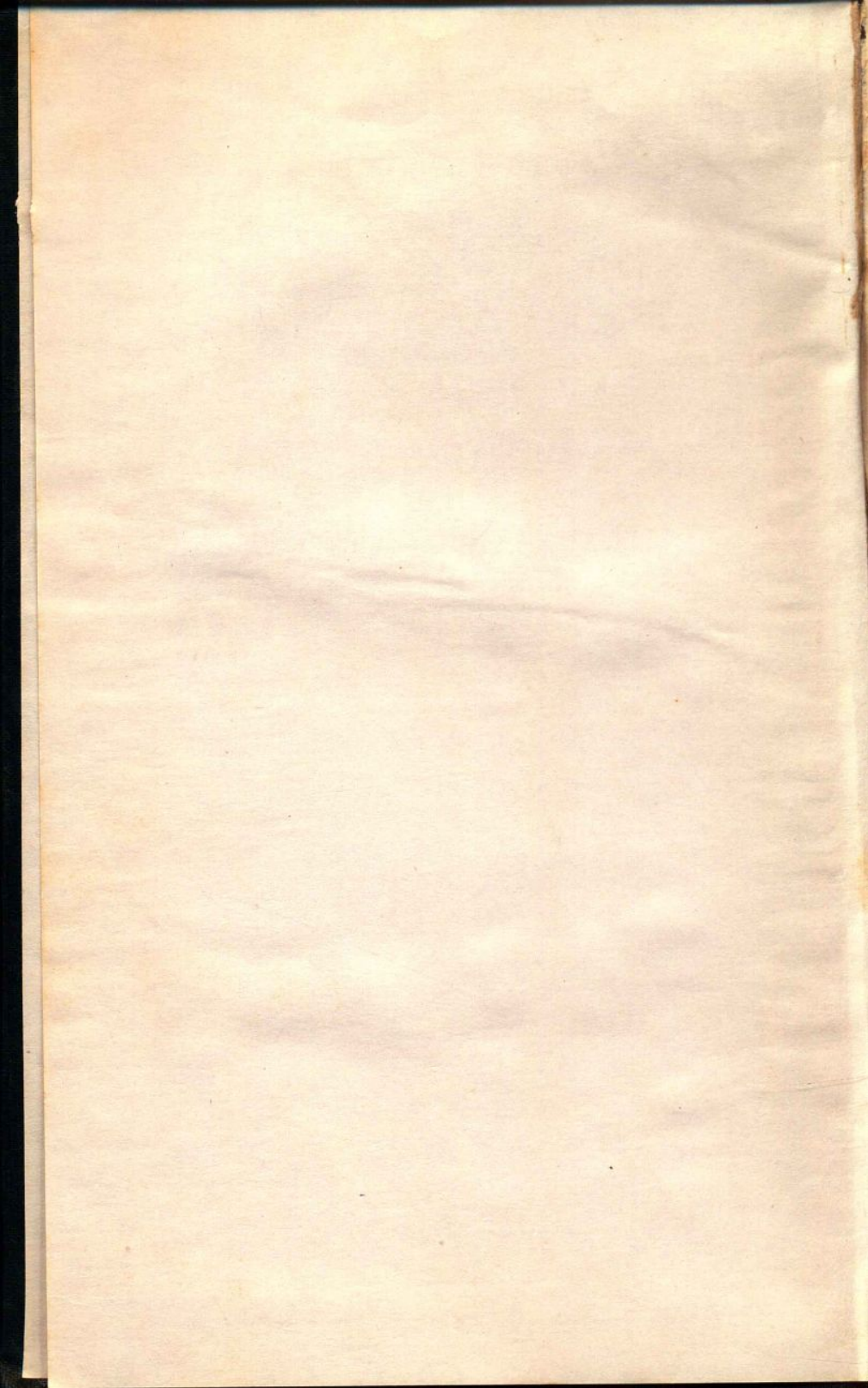
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम् ।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे ॥

ऋ० १।८९।२

गया चरण त्रिपाठी

वैदिक देवता

उद्भव और विकास
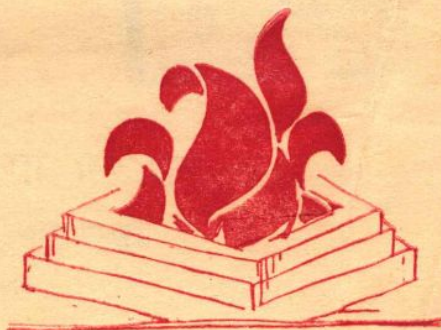
वैदिक देवता

उद्भव और विकास

(दो खण्डों में)

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

वैदिक देवता

उद्भव और विकास

प्रथम खण्ड

डा० गयाचरण त्रिपाठी
प्राचार्य
गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
प्रयाग

भारतीय विद्या प्रकाशन
दिल्ली ● वाराणसी
भारत

प्रकाशक

भारतीय विद्या प्रकाशन

१. १ यू० बी०, बैंग्लो रोड,
जवाहर नगर, दिल्ली-७

२. पो० बॉ० १०८, कचौड़ी गली
वाराणसी-१

प्रथम संस्करण, अगस्त १९८१

•

छात्र-संस्करण
मूल्य : रु० ५०.००

पुस्तकालय-संस्करण
मूल्य : रु० ७५.००

•

मुद्रक

उपेन्द्र त्रिपाठी

शाकुन्तल मुद्रणालय

बलरामपुर हाउस

प्रयाग

श्रीमती रामदासी त्रिपाठी (जाता, **मिश्र**)

गिरवाँ, बाँदा (उ० प्र०)

(१९२०-१९४६ ई०)

यास्मद्दुःसहगर्भभारभरणक्लेशप्रसूतिव्यथाः

क्षान्त्वा चासकृदस्मदादिकृतविण्मूत्राद्यमाऽऽवत्सरान् ।

प्रेम्णाऽपाय्यमपाययन्निशदिनं सद्यःप्रसूतं पयः

साऽल्पार्त्तावपि नस्तिरस्कृतनिजप्राणा प्रसू राजते ॥
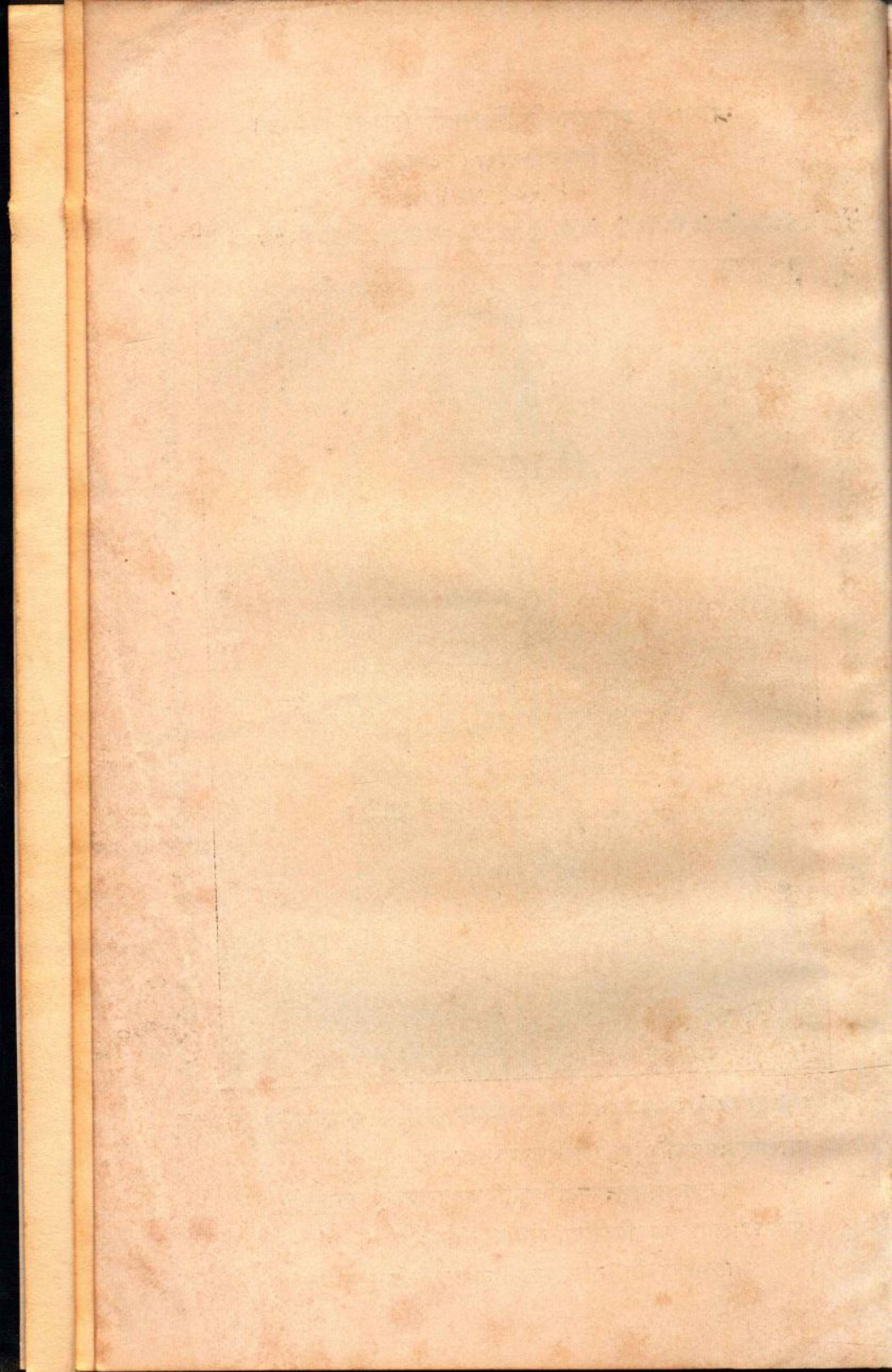
समर्पण

अपनी पूज्य माता जी

सौ० **रामदासी**

की पुण्य स्मृति में

जो २६ वर्ष की अल्पायु में ही अपनी तीन सन्तानों को अपने स्नेहमय
संरक्षण से विलग करके उन्हें आजीवन अपने अभाव की
अनुभूति कराने के लिये संसार से विदा हो गईं

और

जिनकी अपने बड़े पुत्र को डॉक्टर बनाने की इच्छा को
मैं पूर्ण नहीं कर सका।

एक झूठी सान्त्वना के रूप में **'डाक्टर'**-पदवी प्रापक यह ग्रन्थ ही सही,
उनकी ३५वीं पुण्यतिथि (४ सितम्बर, १९८१) पर।

●

जनुर्विलोक्यैव यदस्रमाश्रयन्-
निसर्गजस्नेहवशेन दुग्धताम् ।
ततोऽनृणत्वं कथमद्य मादृशां
तथापि तत्पादनतिर्गतिर्मुहुः ॥

अस्मन्मातुश्छायाचित्रस्योत्सर्गपृष्ठस्य चाधस्तादङ्कितौ द्वावप्येतौ श्लोकावस्मत्पूज्य-
पितृपादैः स्वकीयजनयित्रीमुद्दिश्य विरचितावास्ताम् ।

विषय सूची

प्रथम खण्ड

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

• • •

पुरोवचः

[१]

'प्रकाशितम्'

न हि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम् ।
लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलमश्नुते ॥ बृहद्देवता १।४

संसार के अन्य किसी भी देश में देवों के स्वरूप के विकास का सहस्रों वर्ष लम्बा इतिहास और देवकथाओं के विकास की इतनी लम्बी परम्परा प्राप्त नहीं होती जितनी भारत में । सहस्रों वर्ष पूर्व वैदिक ऋषियों की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, निरीक्षणक्षमता एवं कल्पना शक्ति ने जिन देवों की उद्भावना की थी उनके स्वरूप का आने वाली पीढ़ियों के हाथों से क्रमशः परिवर्द्धन एवं परिवर्तन होता चला गया और एक चित्रात्मक, वैविध्यपूर्ण तथा सजीव देवशास्त्र का जन्म हुआ। हिन्दू धर्म का विशाल भवन मुख्यत: इन्हीं देवों के प्रति विश्वास पर आधृत है। वैदिक देवों के विकास की इसी अविच्छिन्न परम्परा को ध्यान में रखकर ही प्राचीन समय में यह विश्वास था कि वेदों के वास्तविक तात्पर्य को जानने के लिये इतिहास (महाभारत) तथा पुराणादिकों का अध्ययन करना चाहिये । अल्पज्ञ व्यक्ति सदा वेद का अनर्थ कर डालते हैं—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति ॥

हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के पर्यावरण में पले हुए किसी भी व्यक्ति की अपने धार्मिक देवों और उनसे सम्बन्धित कथाओं के विषय में जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है किन्तु मेरी इस ओर विशेष रुचि जागृत करने का श्रेय मेरे पूज्य पिताजी **डा० रामशरण शास्त्री** को है। ६½ वर्ष की अवस्था में ही षष्ठ-श्रेणी में सफलता के उपलक्ष में 'प्रेम-पारितोषिक' के रूप में इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित श्रीमद्भागवत के सुन्दर एवं सचित्र हिन्दी-अनुवाद के दो खण्ड प्रदान करके और तदनन्तर शनैः-शनैः अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक दूर-दूर से

महाभारत एवं अन्य पुराणों के अनुवाद मँगाकर एवं उनके अध्ययन के लिये प्रोत्साहित करते हुए उन्होंने ही मेरे हृदय में पौराणिक अध्ययन का अंकुरा-रोपण एवं उसका संवर्द्धन किया। स्नातकोत्तर कक्षा में ऋग्वेद का अध्ययन करते हुए मेरा ध्यान देवों के पौराणिक एवं वैदिक स्वरूपों के अन्तर पर विशेषरूप से आकृष्ट हुआ। उन देवों का और अधिक अध्ययन करके उनकी वैदिक तथा परवैदिक धारणाओं में अन्तर का कारण और उनके स्वरूप के क्रमशः विकास का क्रम जानने की जो अभिलाषा जगी, उसी का परिणाम यह ग्रन्थ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य ऋग्वैदिक देवों की प्रमुख विशेषताओं के अन्य संहिताओं, ब्राह्मणों, सूत्रग्रन्थों तथा महाभारत एवं पुराणादिकों में हुए विकास का परिचय देना और पुराणों के देवों की प्रमुख विशेषताओं के बीज वैदिक साहित्य में खोजकर दोनों में सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करना है। इस दिशा में इतने विस्तार से संभवतः यह प्रथम प्रयत्न है।

मूलतः मेरा विचार वैदिक देवमंडल के सम्पूर्ण देवों और उनसे सम्बन्धित सभी आख्यानों की समीक्षा करने का था। किन्तु कुछ ही समय पश्चात् इतना लम्बा विषय अत्यधिक परिश्रम-एवं समय साध्य प्रतीत होने लगा अतः यह अध्ययन केवल ऋग्वेद के प्रमुख देवों तक ही सीमित कर दिया गया। फिर भी प्रत्येक देवता के विषय में इतनी अधिक सामग्री थी कि उसको संक्षेप में प्रस्तुत करना पड़ा और इतना करते हुए भी विष्णु एवं रुद्र आदि देवों का वर्णन इतना अधिक बढ़ गया कि उनको एक पृथक् अध्याय में ही स्थान देना मैंने उपयुक्त समझा। वस्तुतः ऋग्वेद के एक-एक प्रमुख देवता पर स्वतन्त्र शोधप्रबन्ध लिखे जा सकते हैं, और लिखे भी गये हैं। वैदिक राक्षसों, ऋभु, त्वष्टा आदि कम महत्वपूर्ण देवों, निम्न देवशास्त्र की गन्धर्व, अप्सरा आदि शक्तियों एवं वैदिक आख्यानों के क्रमिक विकास का आलेखन लिखा रखा होने पर भी अनेक कठिनाइयों के कारण पूर्णतया इस में प्रबन्ध में सम्मिलित नहीं किया जा सका है। फिर भी ऐसी कुछ सामग्री को परिशिष्ट में देने की चेष्टा की गई है।

प्रथम अध्याय में आर्य देवों की उत्पत्ति के विषय में कुछ मतों की समीक्षा करके उन देवताओं का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया गया है जो ग्रीक, रोमन, ईरानी या आर्य जाति की अन्य शाखाओं में भी किसी न किसी रूप में

प्राप्त होते हैं। विभिन्न देवशास्त्रों में प्राप्त उल्लेखों से उनके प्रागैतिहासिक व्यक्तितत्त्व की एक झलकी पाने की चेष्टा की गई है किन्तु इनमें भी उनका ऋग्वैदिक स्वरूप ही आधार रहा है क्योंकि यही आर्यजाति की प्राचीनतम एवं प्रामाणिक धार्मिक तथा साहित्यिक कृति है। साथ ही लेखक का यह भी विश्वास है कि ऋग्वेद का समय आज से कम से कम ५००० वर्ष पूर्व (अर्थात् ३००० ई० पू०) स्वीकार किये बिना भारतीय साहित्य एवं भाषाओं के क्रमिक विकास की व्याख्या करना पूर्णतः असंभव है और ऋग्वेद का काल १५०० या २००० ई० पू० निर्धारित करने वाले पक्षपातपूर्ण पाश्चात्य विद्वानों के मत नितान्त अमान्य तथा भ्रामक हैं।

द्वितीय अध्याय में अवेस्ता और उसके देवों का विवरण है। इस सम्बन्ध में एक तथ्य ध्यान देने योग्य है। प्राय: सभी पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि आर्य मध्य-एशिया से चलकर ईरान में रुकते हुए भारत आये। आर्यों के भारत में इस अभिगमन का कोई भी ऐतिहासिक अथवा सबल सांस्कृतिक प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त अवेस्ता में ऐसे कई देवों का उल्लेख है जो पूर्णत: भारतीय हैं, भारोपीय नहीं। इस अध्याय के प्रथम खंड में ज्योतिष सम्बन्धी प्रमाणों से यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि ईरान में वैदिक देवों की इस उपलब्धि का कारण भारतीय आर्यों की एक शाखा का वहाँ गमन है। दु:ख का विषय है कि ईरान का प्राचीन धार्मिक साहित्य आज प्राप्त नहीं है और अवेस्ता भी अत्यन्त खंडित रूप में ही प्राप्य है, किन्तु लेखक का दृढ़ विश्वास है कि यदि अन्वेषण किया जाय तो अनेक ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक प्रमाणों से इस धारणा की पुष्टि होगी।

ऋग्वेद और अन्य वैदिक ग्रंथों का कुछ वर्षों तक पर्याप्त अध्ययन करने के उपरान्त लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि वैदिक ऋषि केवल प्रकृति-पूजक नहीं थे, जैसा कि पाश्चात्य विद्वानों ने बार बार घोषित किया है। विभिन्न तत्वों के पीछे अवश्य ही उन्हें किसी सर्वशक्तिमान् चेतना के दर्शन होते थे। ऋग्वेद के कुछ स्पष्ट देवों को छोड़कर शेष सभी का व्यक्तित्व अत्यन्त रहस्यमय है। इसकी व्याख्या करने की विविध प्रकार से चेष्टा की गई है। इन प्रयत्नों का संक्षिप्त सा उल्लेख एवं वैदिक देवों के मूल स्वरूप का कुछ वर्णन तृतीय अध्याय में किया गया है।

अगले अध्यायों में निरुक्त के वर्गीकरण के आधार पर आकाश, अन्तरिक्ष

एवं पृथ्वी, तथा इन तीनों से पृथक् स्वतंत्र उत्पत्ति के आधार पर देवों के व्यक्तित्व का वैदिक रूप तथा उसका ब्राह्मण ग्रन्थों एवं महाभारत-पुराणादिकों में क्रमिक विकास प्रदर्शित किया गया है। यद्यपि देवों के इस त्रेधा वर्गीकरण की प्रक्रिया पूर्णत: दोषरहित नहीं है और मूलत: उनके स्वरूप की लेखक द्वारा स्वयं दी गई व्याख्या पर निर्भर है (उदाहरणार्थ अदिति को पृथ्वी का प्रतीक मानकर पृथ्वीस्थानीय देवों में तथा आकाश का प्रतीक मानकर द्युस्थानीय देवो में रखा जा सकता है, अमूर्त देवता के रूप में भी उसकी व्याख्या संभव है), फिर भी इसीको अधिक वैज्ञानिक समझा गया।

वैदिक देवों के स्वरूप के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है, किन्तु कुछ को छोड़कर शेष की स्थापनाएँ तथा मत कपोलकल्पित एवं निराधार प्रतीत होते हैं। हिलेब्रांड्ट तथा ओल्डेनबेर्ग आदि की वैदिक-धर्म पर सेमेटिक प्रभाव मानने की धारणाएँ ऐसी ही हैं। सबसे अधिक भ्रामक कल्पनाएँ ऐसे ग्रन्थों में पाई जाती हैं जो ईसाई मिशनरियों के प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रबन्ध से छपी हैं। ईसाई मिशनरियों की सोसाइटी द्वारा मद्रास से छपी क्लेटन की **'ऋग्वेद एण्ड वैदिक रिलीजन'**, हॉपकिन्स की **'रिलीजन्स ऑफ इण्डिया'** तथा 'रिलीजस क्वेस्ट आफ इंडिया' ग्रन्थमाला में छपी ग्रिसवोल्ड की **'रिलीजन ऑफ दि ऋग्वेद'** आदि ऐसी ही पुस्तकें हैं। ग्रिसवोल्ड ने तो अपनी पुस्तक की भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि उसकी खोज का उद्देश्य ईसाई धर्म की तुलना में हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों का चित्र रखना है। उसने अपना विश्वास व्यक्त किया है कि भारत की धार्मिक चेतना को ईसाई धर्म में ही अपना लक्ष्य मिलेगा और पुस्तक के अन्त में उसने हिन्दू धर्म में नैतिक तत्त्वों का अभाव प्रदर्शित करते हुए हिन्दुओं के लिये ईसामसीह और ईसाई धर्म को अपरिहार्य बताया है। ऐसी पुस्तकों द्वारा वैदिक तथा परवर्ती हिन्दू धर्म का कैसा चित्र हमारे सामने आएगा, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। पौराणिक कथाओं में तो हिन्दू धर्म की हँसी उड़ाने के लिये अनेक प्रसंग सरलतया प्राप्य हैं। पुराणों के देवों तथा देवशास्त्र पर आज तक कोई प्रमाणिक पुस्तक नहीं लिखी गई। अंग्रेजी विद्वानों द्वारा लिखी गई प्राय: सभी पुस्तकें ईसाई मिशनरियों के ही काम की हैं और उनमें पुराणों के वैज्ञानिक तथा सहानुभूति-पूर्ण अध्ययन का पूर्ण अभाव है। यहाँ तक कि कीथ जैसे 'प्रामाणिक' लेखक द्वारा लिखी गई **'इंडियन माइथॉलजी'** में भी वर्णित अनेक तथ्य भ्रामक तथा

मिथ्या हैं। अतः लेखक ने इन पुस्तकों का बड़ी सावधानी के साथ उपयोग किया है।

पुराणों के विषय में अनेक गलत धारणाएँ आधुनिक संस्कृतज्ञों में भी पाई जाती हैं और आर्यसमाजी तो उन्हें पूर्णतः गप समझते हैं। किन्तु कई पुराणों का सम्यक् अध्ययन करने से लेखक को इनकी उपयोगिता तथा महत्ता के विषय में पूर्ण विश्वास है। पुराणों में सुन्दर काव्यात्मक प्रसंग, जीवनोपयोगी सूक्तियाँ, दार्शनिक मत-मतान्तर तथा रोचक कथाएँ तो हैं ही, साथ ही यदि उनका वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय तो उनसे ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सामग्री की अतुल निधि भी प्राप्त हो सकती है। ज्योतिष और आयुर्वेद के अनेक तत्त्व **स्कन्द** तथा **मत्स्य** पुराणों में प्राप्य हैं। इस ग्रन्थ में मुख्यतः भागवत, **विष्णु**, **वायु**, **मत्स्य**, **पद्म** तथा **ब्रह्म** आदि प्राचीन तथा साम्प्रदायिकता से रहित पुराणों का ही उपयोग किया गया है।

अब आभार-प्रदर्शन का पुण्य-कर्त्तव्य शेष रह जाता है। ग्रन्थ का निर्माण बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष, मेरे परम पूज्य गुरुवर, **डा० श्री नरेन्द्रदेव जी शास्त्री** के कुशल निर्देशन में हुआ है। प्रारम्भ से ही उन्होंने जिस सहृदयता एवं स्नेह से मुझे अपनाया और पदे-पदे अपने अनुभव-पूर्ण बहुमूल्य निर्देशों से लाभान्वित किया, वे निश्चय ही मेरे लिये गौरव की वस्तु हैं। उनके चरणों में रहकर मैंने जो सीखा और पाया है उसका मूल्य आभार-प्रदर्शन के कोरे शब्दों से नहीं चुकाया जा सकता।

इस ग्रन्थ के प्रणयन में जिन अन्य विद्वानों से सहायता प्राप्त हुई है उनमें काशी विश्वविद्यालय के भारतीय-कला विभाग के अध्यक्ष **डा० वासुदेवशरण अग्रवाल** का नाम प्रमुख है। उन्होंने वैदिक देवों के स्वरूप की सारगर्भित व्याख्या करके तथा अपने निजी पुस्तकालय से कॉक्स की 'माइथॉलजी आफ आर्यन् नेशन्स' एवं ग्रिम की 'ट्यूटानिक माइथॉलजी' मेरे लिये सुलभ करके, इसी प्रकार अपने दयानन्द दीक्षा शताब्दी के भाषण तथा 'पुराणम्' पत्रिका में छपे लेख की प्रतिलिपियाँ मुझे प्रदान करके जो उपकार मेरे साथ किया उसके लिये में उनका चिर-कृतज्ञ रहूँगा। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के प्राध्यापक **श्री अलखनिरंजन पाण्डे** ने भी गंगानाथ-झा रिसर्च जर्नल में छपे 'रोल्स आफ वैदिक गाड्स इन दि गृह्यसूत्रज्' लेख की प्रतिलिपि मुझे प्रदान करके निरतिशय सौजन्य का परिचय दिया। काशी वि० वि० के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष

डा० सूर्यकान्त जी ने विश्वविद्यालय के पुस्तकालय का तथा डा० सुभद्र झा ने सरस्वती-भवन की पुस्तकों का उपयोग करने की अनुमति प्रदान की, उसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ ।

के० जी० के० कालेज, मुरादाबाद के सुयोग्य एवं विद्या-प्रेमी अध्यक्ष श्री शम्भूनाथ जी खन्ना का उल्लेख यहाँ न करना कृतघ्नता होगी। उन्होंने अपने पुस्तकालय में मेरे लिये लगभग दो सहस्र रुपयों के मूल्य की प्राचीन एवं दुर्लभ पुस्तकें मँगवाकर मेरे ऊपर जो उपकार किया और इस कार्य में निरन्तर प्रोत्साहित करते रहे, उसी से यह संभव हो पाया कि कार्य मैं मुरादाबाद में ही अपने पिताजी के स्नेहिल संरक्षण में पूर्ण कर सका।

इस क्षेत्र में काम करने वाले समस्त प्राचीन भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों का मेरे ऊपर ऋण है। ऋग्वेद की निम्न ऋचा (१०।१४।१५) से उन सबको मैं प्रणाम करता हूँ—

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ।

३, शिव निवास, मुरादाबाद — लेखक
१६ सितम्बर, १६६२

[२]

'स्वगतम्'

Habent Libri Fata Sua—मनुष्यों की भाँति पुस्तकें भी अपना-अपना भाग्य लेकर पृथ्वी पर अवतीर्ण होती हैं—लैटिन की यह लोकोक्ति इस पुस्तक के ऊपर अक्षरशः सत्य उतरती है। उन्नीस वर्षों की लम्बी अवधि तक अज्ञात-वास करने के उपरान्त आज यह प्रकाश में आ पा रही है और वह भी अभी केवल आंशिक रूप में। उत्तरार्द्ध की नियति अभी भी अहर्गणों के रहस्यमय उदर में समाई हुई है।

१६६२ में प्रस्तुत ग्रन्थ को पी-एच० डी० की उपाधि हेतु आगरा वि० वि० को प्रस्तुत करके, बिना इसके परिणाम की प्रतीक्षा किये, मैं जर्मन-शासन की

एक छात्रवृत्ति पर उच्चतर अध्ययन हेतु पश्चिम-जर्मनी चल दिया था। ४½ वर्ष बाद वहाँ से लौटने और लौटकर उपाधि प्राप्त करने के उपरान्त मैं इसके प्रकाशन की दिशा में सचेष्ट हुआ। जब मैं १९६८ में उदयपुर वि० वि० में प्रवक्ता था तो आदरणीय गुरुवर डा० गोविन्दशरण त्रिगुणायत के प्रयत्नों से पुस्तक का कानपुर में छपना निश्चितप्राय हो गया था; किन्तु उसी समय 'भारतीय विद्या प्रकाशन' के श्री किशोरचन्द्र जैन कार्यवश उदयपुर आये और वहाँ पुस्तक देखकर उन्होंने पुस्तक को स्वयं छापने की उत्कट अभिलाषा व्यक्त की। उनके आग्रह पर और 'शीघ्रातिशीघ्र' पुस्तक को छाप देने की बात से प्रभावित होकर मैं उनके प्रस्ताव से सहमत हो गया। उदयपुर से मैं भुवनेश्वर चला गया, जहाँ पुस्तक का मुख्यतः पिताजी द्वारा पुनरीक्षण एवं संशोधन आदि किया गया और मेरे दुबारा जर्मनी जाने से पूर्व १९७२ के प्रारंभ में पुस्तक की पाण्डुलिपि प्रकाशक के पास भेज दी गई।

किन्तु उसके बाद भी इसे अभी कम से कम छः वर्षों तक और प्रकाशक-महोदय के पास पड़े रहना था। मुद्रण-कार्य प्रारंभ करने के लिये पिताजी के अनेक अनुस्मारकों एवं संभवतः प्रकाशक की आन्तरिक इच्छा के बावजूद भी पुस्तक अल्मारी में ही बन्द रही और इसका उद्धार वहाँ से तभी हो सका जब मैं १९७७ के अन्त में जर्मनी से वापिस लौटकर प्रयाग में कार्यरत हो गया। सुविधा एवं सौकर्य की दृटि से लेखक के निवास-स्थल पर ही मुद्रण-कार्य सम्पन्न कराने का निश्चय किया गया और १९७८ के मध्य में कार्य आरंभ भी हो गया। लेकिन गन्तव्य पथ का आधा भाग पार करते-करते पुनः तीन बार संवत्सर बदल गया। इसी से दो पड़ावों में लक्ष्य तक पहुँचने का निर्णय लेना पड़ा। फिर भी यह कहना होगा कि लेखक को इतना सन्तोष अवश्य है कि पुस्तक अपेक्षाकृत शुद्ध छपी है और लेखक के पास छपने के कारण पाण्डुलिपि में कंपोज़ होने के उपरान्त भी यथावश्यक सामग्री जोड़ी-घटाई जाती रही है, जो अन्यत्र सामान्यतः दुष्कर है। लेखक इस हेतु 'शाकुन्तल मुद्रणालय' के कर्मचारियों एवं उसके स्वत्वाधिकारी श्री उपेन्द्र त्रिपाठी का अत्यन्त आभारी है।

पुस्तक का कलेवर अपेक्षाकृत दीर्घ होने के कारण इसे दो खण्डों में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया है। इस पूर्वार्द्ध में वैदिक-देवताओं के प्राग्-वैदिक स्वरूप का विवेचन करते हुए वैदिक-युग में उनकी सामान्य

विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है और फिर सूर्य, विवस्वान्, सविता आदि ज्योति-तत्त्व से संबद्ध द्युस्थानीय देवों के स्वरूप के क्रमिक विकास का परिशीलन करते हुए वैदिक देवता विष्णु के विभिन्न अवतारों के उद्गम एवं विकास की विस्तृत एवं विशद विवेचना की गई है। उत्तरार्द्ध में वेद के अन्तरिक्षस्थानीय, पृथ्वी-स्थानीय एवं अमूर्त देवों का विवेचन तथा परिशिष्ट, अनुक्रमणिकादि का समावेश प्रस्तावित है।

१९ वर्ष का अन्तराल काफी लम्बा होता है। प्रत्येक लेखक को यह अनुभव होगा कि चार-पाँच वर्ष बाद ही अपनी कृति को पुनः पढ़ने पर उसमें अनेक कमियाँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं। इस पुस्तक की रचना २० से २२½ वर्ष की अवस्था के बीच हुई थी। उस समय संभवतः मेरे ऊपर १९वीं और प्रारंभिक २०वीं शती में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई वैदिक-देवों के स्वरूप की विवेचना का प्रभाव था। निरुक्तकार के मतों का अनुसरण करते हुए रोठ, लुड्विग् ग्रासमान्, हिलेब्राण्ड्ट, ओल्डेनबर्ग, बैर्गेन्ये और मैक्डॉनल आदि विद्वान् प्रत्येक वैदिक देवता का उद्गम प्रकृति के किसी न किसी तत्त्व में खोजने की चेष्टा करते हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों में अभी भी इन्हीं के मतों का आधिपत्य है। बीसवीं शती के ल्यूडर्स, रेनू, थीमे और खोण्डा आदि विद्वानों की नवीनतम शोधों ने वैदिक देवों के मूल को प्रायः अमूर्त-भावों एवं अवधारणाओं में खोजने का प्रयास किया है। यद्यपि यह पुस्तक मुख्यतः वैदिक देवों के स्वरूप के विकास-क्रम से संबन्धित है तो भी उनके उद्गम से संबन्धित ऐसी नई मान्यताएँ स्थान-स्थान पर उल्लिखित कर दी गई हैं।

नियति की यह एक दारुण विडम्बना है कि इस ग्रन्थ के प्रकाश में आने की जिन्हें उत्कटतम इच्छा और उत्सुकता थी, वे ही अब इस संसार में नहीं हैं। पुस्तक के मुद्रण की जितनी चिन्ता और इसे प्रकाशित देखने की जितनी उत्कण्ठा पिताजी (स्व० श्री **रामशरण शास्त्री**, एम० ए० [हिन्दी-संस्कृत], पी०-एच० डी०, काव्यतीर्थ) को थी, उसका संभवतः अंशमात्र भी मुझमें नहीं रहा होगा। मेरे परम दुर्भाग्य से हम लोगों के जर्मनी से लौटते ही दिसम्बर, १९७७ में वे प्रयाग में ही दिवङ्गत हो गये। अन्तिम समय तक वे मेरी अनुपस्थिति में पुस्तक के मुद्रण आदि के संबन्ध में प्रकाशक से पत्राचार करते रहे। यदि उनका तीव्र आग्रह और आदेश न होता तो मैं

अपने विदेश-प्रवास से न लौटता और शायद पुस्तक अभी कुछ और वर्षों तक किसी अन्धकूप में पड़ी रहती। जिस समय पुस्तक की रचना हुई, पिताजी के० जी० के० कालेज, मुरादाबाद में संस्कृत के प्राध्यापक थे। उनका वैदुष्यपूर्ण और स्नेह-संवलित मार्ग-निर्देशन मुझे पदे-पदे सुलभ रहा। बाद में भुवनेश्वर में उन्होंने पुस्तक का पुनरीक्षण किया और इधर अवकाशप्राप्त्यनन्तर अपने जीवन की सांध्य-वेला में मेरे अनुज **डा० रमाचरण त्रिपाठी** (प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग, प्रयाग वि० वि०) के साथ प्रयाग में रहते हुए उन्होंने ही इसका परिष्कार किया। निष्ठुर काल को पुस्तक-प्रकाशन-जन्य उनकी प्रसन्नता देखना स्वीकार नहीं था। उनकी स्मृति को सश्रद्ध प्रणाम करते हुए मैं आशा करता हूँ कि आज वे जहाँ भी होंगे, अपने सूक्ष्म चेतन-स्वरूप से पुस्तक को मुद्रित देखकर अवश्य संतोष का अनुभव कर रहे होंगे। यही बात गुरुवर **डा० नरेन्द्रदेव शास्त्री** के विषय में भी सत्य है।

किसी भी ग्रन्थ की रचना अनेक व्यक्तियों के साक्षात् एवं परोक्ष साहाय्य से ही संभव हो पाती है। साक्षात्-सहयोगियों के नाम तो प्रकाश में आ जाते हैं पर जो पृष्ठ-भूमि में रहकर अपने त्याग एवं परिश्रम द्वारा लेखक को दैनन्दिन सुविधाएँ जुटाते हुए तथा प्रशंसा एवं अनुराग भरे शब्दों से उसका उत्साहवर्द्धन करते हुए पुस्तक-रचना को संभव बनाते हैं, वे प्रायः अनुल्लिखित ही रह जाते हैं। ऐसे परोक्ष-सहयोगियों में प्रायः घर की महिलाएँ होती हैं। इसे मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ कि इस अवसर पर अपनी छोटी बहन प्रिय **अपर्णा** (प्राध्यापक, मनोविज्ञान विभाग, वसन्त कालेज, वाराणसी) एवं अपनी जीवन-सङ्गिनी सौ० **सुमन** का आभार-भरित हृदय से स्मरण करूँ।

विनयावनत

गयाचरण त्रिपाठी

गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ

अल्फ्रेड पार्क, प्रयाग-२

श्रावणी-पूर्णिमा एवं स्वतन्त्रता-दिवस

१५ अगस्त १९८१

• • •

वैदिक देवता : उद्भव और विकास

प्रथम अध्याय

भारोपीय काल के देवताओं पर एक दृष्टि

(१)

यद्यपि वेद केवल भारत की नहीं अपितु सम्पूर्ण आर्य जाति की प्राचीनतम उपलब्ध कृतियाँ हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे आर्यों के प्राचीनतम धार्मिक विश्वासों के प्रतिबिम्ब हैं। ब्लूमफील्ड ने ठीक ही कहा है कि "भारत का धार्मिक इतिहास उसकी प्राचीनतम कृतियों (वेदों) से नहीं अपितु बहुत पहले से प्रारम्भ होता है। भारतीय धर्म का प्रादुर्भाव उसके भारत में आने से पूर्व ही हो चुका था[१]।" यद्यपि यह आज भी कल्पना का विषय है कि आर्य मूलतः किस प्रदेश के निवासी थे जहाँ से वे छोटे-छोटे दलों में पर्वतों, वनों और नदियों को पार करते हुए दूर-दूर जाकर अपने अनुकूल प्रदेशों में बस गये, किन्तु इतना निश्चित है कि भारतीय, ईरानी तथा अधिकांश यूरोपीय जातियाँ किसी विस्मृत अतीत में एक संयुक्त जाति के रूप में रहती थीं। **भारोपीय** (भारत-यूरोपीय, इंडो- यूरोपियन) शब्द इसी अविभक्त प्राचीन आर्य जाति को सूचित करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है।

इस तथ्य की पुष्टि में सर्वाधिक सशक्त प्रमाण इस भारोपीय परिवार की विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त होता है। भारत, ईरान तथा यूरोप की विभिन्न जातियों की भाषाएँ (जैसे ग्रीक, लैटिन, कैल्टिक, ट्यूटानिक, स्लेवानिक तथा लिथुआनियन आदि) परस्पर इतनी समान हैं कि हमें यह मानने के लिये विवश होना पड़ता है कि वे अवश्य ही मूल रूप में किसी एक

१. ब्लूमफील्ड : **रिलीजन आफ् दि वेद**, पृ० १३, १६।

ही जन क्षेत्र में उत्पन्न हुई होंगी। इनमें परस्पर ध्वनि, रूप, शब्द तथा वाक्य-विन्यास की दृष्टि से इतना घनिष्ठ साम्य है कि इसे केवल संयोग अथवा पारस्परिक आदान-प्रदान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। परस्पर घनिष्ठतया संबद्ध इन भाषाओं के शब्दों के विभिन्न रूप तथा उनकी ध्वनियों की परस्पर तुलना करके तत्तत् शब्दों के प्राचीनतम मूल भारोपीय स्वरूप तक पहुँचा जा सकता है। जो विज्ञान इन मूल भारोपीय रूपों की स्थापना करके उनमें निहित धातु के अर्थ के अनुसार उस शब्द के अर्थ की व्याख्या करता हुआ विभिन्न परवर्ती भारोपीय भाषाओं में हुए ध्वनि एवं अर्थ परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए उस भाषा के बोलने वाले व्यक्तियों की सांस्कृतिक निधि, सामाजिक स्थिति एवं धर्मादि पर समुचित प्रकाश डालता है, उसे **तुलनात्मक भाषा विज्ञान** कहते हैं और यह भारोपीय काल के देवों का स्वरूप जानने का—भले ही धुँधला सा ही—मुख्य साधन है। इस विज्ञान के विकास का मुख्य श्रेय पश्चिम जगत् के अध्ययन क्षेत्र में संस्कृत के प्रवेश को है।

इस भारोपीय भाषा परिवार की भाषाओं में पाये जाने वाले अगणित समान शब्द केवल एक ही मूल शब्द के ही विभिन्न रूप हैं और इसलिये विविध भाषाओं में हुए इनके ध्वन्यात्मक परिवर्तनों को कुछ विशेष ध्वनि नियमों की सहायता से समझाया जा सकता है। ऐसे नियमों में ग्रिम का ध्वनि नियम विशेष महत्वपूर्ण है जो यह सिद्ध करता है कि जहाँ भी ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत आदि भाषाओं में क् त् प् आदि अघोष अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन पाये जाते हैं वहाँ जर्मन परिवार की भाषाओं में, जिनका सर्वोत्कृष्ट निदर्शन अंग्रेजी भाषा है, ख़् [ह] थ़् फ़् आदि ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं। संस्कृत आदि भाषाओं के घ् ध् भ् (घोष महाप्राण) अंग्रेजी आदि में ग् द् ब् (घोष अल्पप्राण) के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं तथा ग् द् ब् क्रमशः क् त् प् में।

ग्रिम नियम तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य ध्वनि-नियमों की सहायता से हम विभिन्न भारोपीय भाषाओं में प्राप्त होने वाली एक ही देवता विषयक अनेक संज्ञाओं के मूल रूप का पता लगा सकते हैं और फिर उस मूल शब्द के व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ पर विचार करते हुए उस देवता-विशेष के भारोपीय-स्वरूप और स्वभाव की एक क्षीण झलकी पा सकने में समर्थ हो सकते हैं।

इस संबन्ध में हमें एक और शास्त्र से महती सहायता प्राप्त होती है जो अपने आरंभिक रूप में भाषा-विज्ञान से ही विकसित हुआ था किन्तु अब अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। यह है **तुलनात्मक देवशास्त्र**। भाषा विज्ञान के द्वारा

एकाधिक प्राचीन संस्कृतियों में पाये जाने वाले किसी देवता-विशेष के वाची विभिन्न शब्दों में साम्य और ऐकात्म्य का बोध हो जाने पर जो शास्त्र उन उन संस्कृतियों के साहित्यादि में वर्णित उस देवता विशेष की स्वरूपगत विशेषताओं और उनसे संबन्धित कथाओं का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन करता हुआ सर्वत्र या अधिकांशेन समान विशेषताओं को सुस्पष्ट करता है वह तुलनात्मक देवशास्त्र है और ऐसा समझा और माना जाता है कि विभिन्न धर्मों एवं साहित्यों में प्राप्य ये समान विशेषताएँ अवश्य ही उस देवता के स्वरूप में उस समय भी विद्यमान थीं जब भारोपीय आर्य जाति का विभाजन नहीं हुआ था; तभी ये भारोपीय आर्य जाति की सभी या अनेक शाखाओं को समान दाय के रूप में प्राप्त हुईं।

यद्यपि पिछले दशकों में **पुरातत्त्व** और **नृतत्त्व** (Anthropology) ने भी क्रमशः उत्खनन से प्राप्त अवशेषों तथा आदिवासियों के वर्तमान आदिम धर्म के अध्ययन के द्वारा प्रागैतिहासिक धार्मिक प्रवृत्तियों को समझने की दिशा में असीम योग दिया है किन्तु पुरातात्त्विक अवशेषों को आर्य जाति से संबद्ध न कर पाने के कारण और आदिवासियों के वर्तमान प्रचलित धार्मिक विश्वासों में प्राचीन आर्य धर्म का कोई निश्चित प्रमाण न मिल पाने के कारण आज भी भारोपीय काल के धर्म, संस्कृति तथा सामाजिक जीवन को जानने के प्रमुख साधन तुलनात्मक भाषा विज्ञान और देवशास्त्र ही बने हुए हैं और आज से लगभग ८० वर्ष पूर्व १९वीं शती के अन्त में श्रोडर ने जो शब्द कहे थे वे आज भी सत्य है, कि 'केवल ये ही दो शास्त्र ऐसे हैं जिन पर केवल वही सब कुछ आधारित नहीं है जो आज हम भारोपीय धर्म के विषय में जानते हैं अपितु वह भी जो कुछ हम भविष्य में इस विषय में जान सकेंगे[1]।

आर्यों का मूल निवास स्थान क्या था, इस विवादास्पद प्रश्न पर अधिक ध्यान दे सकना यहाँ सम्भव नहीं है क्योंकि एक तो इस विषय में अन्तिम सत्य तक पहुँचना बहुत कठिन है और कई वर्षों तक विभिन्न विद्वानों के विद्वतापूर्ण वाद-विवाद के पश्चात् भी इस प्रश्न का उत्तर आज भी अत्यन्त अनिश्चित है और दूसरी बात यह है कि प्राचीन आर्यों के धार्मिक विचारों से ही मुख्यतः सम्बन्ध रखने के कारण समें उनके मूल निवास स्थान को जानने की विशेष आवश्यकता भी नहीं है।

---

१. **प्री-हिस्टारिक् एन्टिक्विटीज़ आफ् दि आर्यन पीपल्स्**, अंग्रेजी अनु० १८९०, पृ० ४०६।

हाँ, **आर्यों के विच्छिन्न होने के समय** का यदि हमें ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय तो यह अवश्य आर्य देवों के क्रमिक विकास को जानने में सहायक हो सकता है। किन्तु कुछ पक्षपात पूर्ण पूर्वाग्रहों ने इस समस्या का भी अभी तक उचित समाधान नहीं होने दिया है। सम्भवत: इस काल को ई० पू० ५००० के बाद में मान कर हम वैदिक धर्म के स्वाभाविक विकास की समुचित व्याख्या नहीं कर सकते। ५००० ई० पू० से ३००० ई० पू० तक अधिकांश वैदिक ऋचाओं का विविध ऋषियों द्वारा निर्माण किया गया और वे शिष्य परम्परा द्वारा मौखिक रूप में ही विद्यमान रहीं। लगभग ३००० ई० पू० इन प्रकीर्ण वैदिक मन्त्रों का संकलन एवं सम्पादन किया गया। महाभारत में वर्णित प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार लगभग इसी समय (अर्थात कलियुग के आरम्भ में) महर्षि वेदव्यास ने चार वैदिक संहिताओं का संकलन करके उन्हें अपने विभिन्न शिष्यों को पढ़ाया। ब्राह्मण ग्रन्थों का विशाल साहित्य कमसे कम एक सहस्र वर्षों की अपेक्षा रखता है। ३००० ई० पू० से २००० ई० पू० तक इसका पल्लवन हुआ और उस समय तक भारतीय धार्मिक इतिहास में कर्मकाण्ड का ही प्रमुख प्रभुत्व रहा। २००० ई० पू० से १००० ई० पू० तक उपनिषदों का काल है। अन्तिम उपनिषदों के समय तक भाषा पूर्णतः लौकिक हो गई थी और वैदिक स्वरादि लुप्त हो गये थे। लगभग यही समय यास्क का है जो निश्चित रूप से वैदिक और लौकिक सस्कृत के संक्रमण काल में हुए रहे होंगे। लगभग ७वीं शती ई० पू० में पाणिनि हुए जिन्होंने लौकिक संस्कृत को क्रमबद्ध तथा सुसंस्कृत किया। ई० पू० के इन १००० वर्षों में ही विभिन्न कल्पसूत्रों की रचना हुई है। हमें ऐसे दुराग्रहों में नहीं पड़ना चाहिये कि ऋग्वेद की रचना १२०० या १५०० ई० पू० हुई थी और इसलिये आर्य जाति इससे कुछ ही पूर्व इधर-उधर बिखरी होगी।

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान तथा तुलनात्मक देवशास्त्र के आधार पर भारोपीय देवों के जिस स्वरूप की क्षीण झलक हमें प्राप्त होती है उसका विवेचन आगे के पृष्ठों (खण्ड ३) में किया जाएगा। किन्तु उससे पूर्व हम इन देवों की उत्पत्ति विषयक विभिन्न मत-मतान्तरों का परीक्षण करेंगे (खण्ड २)। भारोपीय आर्यों के धार्मिक विश्वासों का यह चित्रण उनके उच्च मानसिक विकास का पूर्ण परिचायक है और यह एक ऐसी जाति के लिये सर्वथा उपयुक्त भी है जो मनुष्यों को एक ऐसे शब्द से अभिहित करती थी जिसका अर्थ था 'चिन्तन करने वाला'। विभिन्न आर्य भाषाओं में 'मनुष्य' के लिये प्राप्त अनेक शब्द इसके प्रमाण है, उदाहरणार्थ संस्कृत—**मनुः** गॉथिक —**मन्ना**, अंग्रेजी—**मैन**,

जर्मन—**मान्**, प्रा० बल्गेरियन **मा**। ये सब शब्द भारोपीय **मेन्** (*men) = सोचना धातु से सम्बन्धित हैं, (सं० **मन्यते, मनः** तथा ग्रीक—**मेनोस्** आदि)।

(२)

विभिन्न प्राचीन आर्य धर्मों की तुलना करने से जो सबसे पहला मुख्य परिणाम प्राप्त होता है वह यह है कि प्राचीन आर्य अपनी संस्कृति अथवा दैनिक जीवन की किसी भी मुख्य धारणा से सम्बन्धित देवों का निर्माण करने में प्रवीण थे। उदाहरण के लिये रोम की प्राचीन कर्मकाण्डीयपुस्तक **इन्दिगितामेन्ता** में जिसमें विभिन्न धार्मिक अवसरां के लिये रोमन पुरोहितों द्वारा प्रार्थनाओं का संकलन किया गया है[1], रोमनिवासियों के जीवन के लगभग हर क्षेत्र से सम्बन्धित देवता प्राप्त होते हैं। एक-एक क्षेत्र से भी अनेक देवता सम्बन्धित हैं और उनका विभाग तथा कार्यक्षेत्र सीमित है। उदाहरणार्थ कृषि क्षेत्र में **सातुर्नुस** बीजवपन का देवता था, **सीरीस** अन्न तथा शस्य की वृद्धि की देवी थी और **फ्लोरा** पुष्पों की देवी समझी जाती थी।

ठीक ऐसी ही प्रवृत्तियाँ **लिथुआनियन** धर्म में भी पाई जाती है। भौगोलिक तथा राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त स्वतन्त्र एवं पृथक् रहने के कारण यह छोटा सा देश रोमन तथा बाइज़ेन्टाइन संस्कृति के प्रभाव से असंपृक्त रहा और यहाँ पर विशेष प्रकार का प्रारम्भिक धर्म, जो प्राचीन आर्य धर्म का ही अवशेष था, लगभग १६ वीं शती के अन्त तक फलता फूलता रहा। अतः कुछ विद्वानों का विचार है कि आर्य धर्म के रहस्यों को अनावृत्त करने में लियुआनियन धर्म का वही महत्व है जो सेमेटिक धर्म के लिये अरब की संस्कृति और धर्म का।[2] रोमन धर्म की भाँति इस देश के वासियों ने भी अपने जीवन एवं संस्कृति से संबन्धित प्रत्येक महत्वपूर्ण वस्तु के लिए एक देवता की परिकल्पना कर रखी है। इन देवताओं का अधिकार प्रायः उसी क्षेत्र के भीतर रहता है

---

१. प्राचीन रोम के धार्मिक जीवन से सम्बन्धित इस लैटिन पुस्तक के विशेष विवरण के लिये देखिये, **एनसाइक्लोपीडिया आफ् रिलीजन एण्ड ईथिक्स**, सप्तम भाग, पृष्ठ २१७-१८।
आगे के पृष्ठों में इस विश्वकोश को ए० रि० ई० से संकेतित किया गया है।

२. श्रादर, ए० रि० ई०, द्वितीय भाग, **'आर्यन रिलीजन'** नामक लेख। पृ० १५ अ

जिससे उनका जन्म होता है। उदाहरणार्थ पशुपालन से संबन्धित कुछ लिथुआनियन देवता इस प्रकार है: **सुत्वरस्** पशुओं का सामान्य अभिरक्षक है, **गोथा** नामक देवी पशुओं की वृद्धि की अधिष्ठात्री है **ज़ारिक्सउस्** पशुओं के भोजन, चारे आदि का व्यवस्थापक है तथा **बाउषिस्** और **रातेनिक्ज़ा** क्रमश: वृषमों तथा अश्वों के पालक हैं।[1]

वैदिक धर्म में भी यह प्रवृत्ति क्षीणरूप से विद्यमान है। ऋक् तथा अथर्ववेद में **वास्तोष्पति** तथा **क्षेत्रपति** नामक दो देवता प्राप्त होते है जो क्रमश: गृहों तथा खेतों के रक्षक माने गये हैं।[2]

श्रादर का कथन है कि इन देवों में **जडात्मवाद** (animism) के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। जडात्मवाद प्रारंभिक धार्मिक विचारधारा का वह पक्ष है जिस के अनुसार असभ्य और अज्ञानी व्यक्ति प्रत्येक जड पदार्थ को सजीव समझते हैं और यह मानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ में एक चेतन आत्मा का वास होता है जो उस जड़ वस्तु की क्रियाओं पर निन्यत्रण रखता है। प्राचीन आर्यों का विश्वास था कि संसार का प्रत्येक क्षेत्र किसी चेतन तत्त्व से नियन्त्रित है। इसीलिये उन्होंने अपने जीवन के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों के अधिष्ठाताओं पृथक् पृथक् परिकल्पना की और उसे इस विशिष्ट क्षेत्र की सम्पूर्ण क्रियाओं का अधिकारी देवता माना।[3]

एच० उज़ेनर ने अपनी प्रसिद्ध जर्मन पुस्तक **गोटरनामेन**[4] (Goetternamen) में इन देवताओं को "**ज़ोंडरगॉटर**" (Sondergoetter) या "**विशिष्ट देवता**" की संज्ञा से अभिहित किया। ये विशिष्ट देवता मानव जीवन अथवा प्रकृति के किसी एक विशेष क्षेत्र से संबन्धित होते हैं और इनका अधिकार केवल उसी क्षेत्र तक सीमित होता है, उदा० रोमन धर्म में **सीरीस** अथवा वैदिक धर्म में **वास्तोष्पति**। अत: यह कहा जा सकता है कि ये देवता केवल मानव जीवन अथवा प्रकृति के उस क्षेत्र के ही सजीव रूप हैं।

---

१. श्रादर, ए० रि० ई० द्वि० भा० पृष्ठ ३० अ ब।
२. इनके विशेष विवरण के लिये देखिये, कीथ, **रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ़ दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स** : प्रथम भाग पृ० ६३ तथा मैक्डानल, **वैदिक माइथॉलजी**, पृष्ठ १३८।
३. देखिये श्रादर : **ए० रि० ई०**, द्वितीय भाग, **आ० रि०**, पृ० ३२ अ।
४. बॉन् से १८९६ में प्रकाशित।

उज़ेनर तथा श्रादर दोनों का ही विचार है कि ऋग्वेद में प्राप्त होने वाले इन्द्र एवं वरुण आदि **वैयक्तिक देवता** (Persoenliche Goetter) इन विशिष्ट देवताओं के बाद में विकसित हुए हैं। काल की दृष्टि से ये परवर्ती हैं और मुख्यत: इनका उद्भव **विशिष्ट देवों** से ही हुआ है। **वैयक्तिक देवता** जिस क्षेत्र से सम्बन्धित होते हैं उससे स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। उनकी क्रियाशीलता या अधिकार 'विशिष्ट देवों' की भांति केवल उस क्षेत्र विशेष तक ही सीमित नहीं रहता। इसका जन्म अनेक विशिष्ट देवों के व्यक्तित्व तथा कार्य क्षेत्र के मिलने से होता है।

कुछ मुख्य 'विशिष्ट देवता' धीरे-धीरे अधिक शक्तिशाली हो उठते हैं और अन्यान्य तुच्छ देवों के व्यक्तित्व को आत्मसात् करके वे 'वैयक्तिक देवता' बन जाते हैं उस समय उनका मूल क्षेत्र तथा मूल रूप से सम्बन्ध इतना अधिक हट जाता है कि उसका पता लगाना कठिन हो जाता है। वैदिक इन्द्र तथा वरुण के विषय में भी यही बात है।

श्रादर के अनुसार "विशिष्ट देवों" से वैयक्तिक देवों के जन्म की प्रक्रिया अत्यन्त स्वभाविक तथा सरल है। इसके दो मुख्य कारण है एक तो यह कि मानव इतिहास में प्राय: महान् व्यक्तित्वों का जन्म होता रहता है। जनता में से कुछ व्यक्ति धन तथा शक्ति के आधिक्य के कारण प्रभावशाली हो जाते हैं और राजा आदि बन बैठते हैं। ठीक इसी प्रकार जनता के मन में छोटे-छोटे "विशिष्ट देवों" के स्थान पर महान्, अधिक शक्तिशाली एवं अधिक वैयक्तिक विशेषताओं से पूर्ण देवों की धारणा जन्म लेती है।[1]

इसके अतिरिक्त इस धार्मिक प्रक्रिया में दूसरा मुख्य कारण यह है कि सभ्यता के विकास के साथ जैसे-जैसे नये-नये विधान, सामाजिक रीतियां एवं नियम आदि बनते चले जाते हैं वैसे-वैसे मनुष्यों को एवं अधिक शक्तिशाली देवों की आवश्यकता प्रतीत होती है जो इन सब वस्तुओं के पालन तथा अधिष्ठाता माने जा सकें। प्राचीन आर्यों के साथ भी ऐसा ही हुआ। सभ्यता के विकास के साथ महत्वपूर्ण प्राकृतिक देवता लुप्त होने लगे और उनके स्थान पर इन्द्र, वरुण आदि उच्च देवता उभर आये।[2]

---

१. श्रादर, ए० रि० ई०, द्वितीय भाग; आ० रि० पृ० ३५ ब-३६ अ।
२. श्रादर, वही।

आर्य देवों की उत्पत्ति विषयक उपर्युक्त मत जो मूल रूप उज़ेनर का है और जिसका बाद में श्रादर ने[1] दृढ़ता से समर्थन किया, अनेक विद्वानों की आलोचना का विषय बना है। इसके विरुद्ध पहली आपत्ति तो यह है उज़ेनर ने अपने मत की प्रस्थापना के लिये जिन स्रोतों का आश्रय लिया है वे बहुत परवर्ती हैं। लिथुअनियन धर्म का प्राचीनतम प्रामाणिक विवरण १७ वीं शताब्दी के एक ईसाई मिशनरी के लेखों से प्राप्त होता है। यदि हम यह मान भी लें कि जो सूचनाएं और विवरण उसने दिये हैं वे यथार्थ तथा पूर्ण सत्य हैं, तो भी यह विश्वास करना कठिन है कि लिथुनानियन धर्म ने सहस्रों वर्ष पूर्व की आर्यों की धार्मिक प्रवृत्तियों को पूर्णतः सुरक्षित रखा है और उनमें न तो कोई परिवर्तन हुआ है न आगामी विकास। रोमन '**इदिगितिमेन्ता**' का विवरण भी अपेक्षाकृत परवर्ती है। यह धार्मिक ग्रन्थ भारतीय पौराणिक साहित्य का समकालीन है अत: वेदों से भी पूर्व के प्रागैतिहासिक देवों के स्वरूप एवं धार्मिक प्रवृत्तियों को जानने के लिये इन दोनों ही ग्रन्थों का आधार लेना नितान्त भ्रामक है और इनकी तुलना से जो निष्कर्ष निकले हैं वे यथार्थ से बहुत दूर हो सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि यह मत केवल दो धर्मों के प्रमाणों पर ही आधारित है। ग्रीक, भारतीय, तथा ईरानी धर्मों तथा देवशास्त्रों में इन प्रवृत्तियों के अत्यन्त उपेक्षणीय सूत्र मिलते हैं। वैदिक उसस्, अग्नि, सूर्य तथा वात आदि वैदिक देवता क्रमशः उषा, आग, सूरज तथा वायु आदि पर अधिकार रखने वाले '**विशिष्ट**' या '**विभागीय**' देवता नहीं, अपितु तत्तत् प्राकृतिक दृश्यों के मानवीकरण मात्र हैं। 'जडात्मवाद' की प्रक्रिया से निर्मित विशिष्ट देवों का उस वस्तु विशेष से पृथक् एक स्वतंत्र चेतन सत्ता के रूप में अस्तित्व होता है और इस प्रवृत्ति का वैदिक देवों में पूर्णतः अभाव है। कवि वैदिक-देवों की धारणा में उस प्राकृतिक दृश्य के भौतिक अथवा दृश्यमान स्वरूप से ऊपर नहीं उठ पाया है।[2] अवेस्ता में अवश्य कुछ ऐसे (विशिष्ट) देवता प्राप्त होते हैं, किन्तु क्योंकि

---

१. अपनी श्ट्रासबुर्ग (फ्रांस) से १६०१ में प्रकाशित "**रेयाललेक्सिकोन डेर इन्डोगर्मानिशेन आल्टरटुम्सकुंडे**" नामक पुस्तक तथा **ए० रि० ई०** में छपे उपर्युल्लिखित लेख में।

२. (क) तु० की०, विन्टरनित्स, **हिस्ट्री आफ् इंडियन लिटरेचर** (अंग्रेजी अनुवाद) प्रथम भाग, पृष्ठ ७५ तथा आगे।

ये सूक्त हमारे लिये इसलिये और भी महत्वपूर्ण है कि इनमें

यह ईरानी ग्रन्थ ऋग्वेद से बहुत परवर्ती है अतः यह तथ्य श्रादर के मत के विरोध में ही अधिक प्रमाणित करता है। ऋग्वेद में ऐसे देवों का कोई अस्तित्व न होने से अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि यह प्रवृत्ति परवर्ती ईरानी विकास है।[1]

इसके अतिरिक्त श्रादर ने इन विशिष्ट देवताओं की उत्पत्ति का कारण **जडात्मवाद** को माना है। धार्मिक अथवा अन्य किसी भी दृष्टि से महत्वपूर्ण वस्तु में उस वस्तु से पृथक् एक चेतन सत्ता के दर्शन करने की प्रवृत्ति जडात्मवाद है। पर जैसा कि देशमुख का कथन है[2] इन रोमन तथा लिथुआनियन देवों में जडात्मवाद का लेश भी नहीं है। ये देवता केवल तत्तत् वस्तुओं अथवा क्रियाओं के मानवीकरण मात्र है। इन देवों में वस्तुओं से पृथक् कोई चेतनसत्ता स्वीकार नहीं की गई और जब जड़ात्मवाद किसी देवता की उत्पत्ति का कारण होता है तो वह इसी चेतन शक्ति के कारण ही, वस्तु के कारण नहीं।

वस्तुतः श्रादर[3] तथा फ्रेज़र[4] आदि विद्वानों की भांति या भारोपीय काल

हम देवकथाओं को अपने सामने ही बनते हुये देखते हैं। देवता हमारी आँखों के ही सामने उत्पन्न होते हैं। ऋग्वेद में बहुत से सूक्त सूर्य के देवता .... अथवा उषा की देवी के प्रति नहीं .... अपितु स्वतः देदीप्यमान सूर्य अथवा प्रकाशमती उषा के प्रति ही कहे गये हैं .... ऐसे अनेक प्राकृतिक दृश्यों की स्तुति, पूजा एवं आवाहन यहाँ प्राप्त होता है। ऋग्वेद में धीरे-धीरे हम इन प्राकृतिक दृश्यों से धार्मिक व्यक्तित्वों की रचना होते हुए देखते हैं।

(ख) उषस्, सूर्य आदि के विषय में इस मत के विरोध के लिये देखिये ग्रिसवोल्ड: **रिलीजन आफ् दि ऋग्वेद**, पृ० ८१ तथा आगे, इनके अनुसार ये विशिष्ट देवता ही हैं।

१. देखिये, पी० एस० देशमुख, **ओरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट आफ् रिलीजन इन वैदिक लिटरेचर**, आक्सफोर्ड, पृ० १२५ पादटिप्पणी।

२. **ओरिजिन**० पृ०, १२६।

३. **ए० रि० ई०** के पूर्वोल्लिखित के अतिरिक्त '**रियाललेक्सिकोन डेर इंडोगेर्मानिशेन आल्टरटुम्सकुंडे** में प्रतिपादित।

४. फ्रेज़र का मत है कि भारोपीय आर्यों की दृष्टि में सृष्टि असंख्य

के देवों को अनेक तुच्छ तथा छोटे-छोटे देवताओं से विकसित मानने की अपेक्षा यह धारणा अधिक तर्क संगत और सत्य के समीप है कि आर्य देवता प्रारम्भ में प्रकृति के किसी एक महान् तथा महत्वपूर्ण के दृश्य मानवीकरण थे किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया इन देवों का व्यक्तित्व बिखरने लगा और वे अनेक देवों में बंट गये। इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि भारोपीय काल में आकाश के प्रत्येक दृश्य से सम्बन्धित **द्येउस** (Dyeus) नामक केवल एक देवता था किन्तु ऋग्वेद के समय तक आते-आते इस देवता का महनीय व्यक्तित्व क्षीण पड़ गया और यह सूर्य, विष्णु, सवितृ तथा मित्र आदि प्रकाश से सम्बन्धित अनेक छोटे-छोटे देवताओं में विभक्त हो गया और आगे चल कर इन देवों ने इतना महत्वपूर्ण रूप धारण किया कि उनका जनक वैदिक **द्यौस्** वैदिक देवमण्डल से पूर्णतः विलुप्त हो गया।

वस्तुतः **"विशिष्ट"** अथवा **"विभागीय"** देवताओं की पृष्ठभूमि में जो धार्मिक भावना है वह ऋग्वेद में प्राप्त प्रकृति के महान् देवों से संबन्धित मानसिक भावना से पूर्णतः पृथक् है। प्रकृति के महान् देवता पूजक को अपनी उच्चता तथा महनीयता से प्रभावित करके उसके हृदय में आदर एवं भय उत्पन्न करते हैं। किन्तु "विशिष्ट देवता" केवल इस सामान्य भावना के परिणाम होते हैं कि संसार की प्रत्येक वस्तु एक चेतन सत्ता से युक्त है। "विशिष्ट देवता" सामान्य जन के आदर या पूजा के विषय नहीं होते। यह दूसरी बात है कि कभी कोई अपने किसी कार्य विशेष की सिद्धि के लिये उनकी पूजा करने करने लगे।[1] दोनों की प्रकृति के बीच एक विस्तृत खाई है और इसलिये एक दूसरे का कारण नहीं बन सकता। सूर्य तथा आकाश आदि से सम्बन्धित आदरोत्पादक महान् दृश्यों की पूजा वास्तोष्पति तथा क्षेत्रपति आदि देवों से निश्चित रूप से प्राचीन है जो स्थिर जीवन एवं कृषि से संबन्धित हैं।[2] कीथ का

चेतन आत्माओं से व्याप्त थी और वे प्रत्येक वृक्ष, नदी, निर्झर, पर्वतशिला तथा वायु के प्रत्येक झोंके में किसी अदृश्य चेतन शक्ति दर्शन करते थे। बहुत धीरे-धीरे उन्होंने संपूर्ण वन, जल या वायु पर अधिकार रखने वाले महत्तर देवों की कल्पना की। ये विचार उनकी **वर्शिप ऑफ् नेचर** (लन्दन, १९२६) पुस्तक में प्रतिपादित हैं।

१. तु० की०, कारनाय : **ले जॅदो ओरोपियां** (Les Indo-Europeans), पृ० २०९ तथा आगे।

२. कीथ : **रिलीजन०** प्रथम भाग, पृ० ६४, ६५।

अनुमान है कि ऐसे छोटे-मोटे देवता बाद में पुरोहितों द्वारा निर्मित कर लिये गये हैं क्योंकि वे धार्मिक वस्तुओं को एक विशेष पवित्रता की दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार उनकी उत्पत्ति प्रकृति की उपासना से सम्बन्धित धर्म से ही जड़ात्मवाद के प्रभाव के अन्तर्गत हुई है।[1]

रोमन **इंदिगितिमेन्ता** तथा लिथुआनियन धर्म में प्राप्य देवों की उत्पत्ति का कारण भी दैनिक अथवा धार्मिक जीवन की उपयोगी एवं महत्वपूर्ण वस्तुओं को पवित्र समझने का मानव स्वभाव है। वैदिक युग में यज्ञ के उपकरणों के प्रति प्राप्त होने वाला समादर तथा गाय की विशेष पूजा इसका प्रमाण है।

आर्यों की प्राचीनतम साहित्यिक कृति ऋग्वेद को देखते हुए आर्यों के प्राचीन देवों की उत्पत्ति में **'जड़चेतनावाद'** (Animatism) का सिद्धान्त अधिक काम करता हुआ दिखाई देता है। जड़ात्मवाद से वैदिक देवों की उत्पत्ति की सन्तोष-जनक व्याख्या नहीं की जा सकती। जड़चेतनावाद बौद्धिक दृष्टि से कुछ अल्प विकसित मनुष्यों की उस धार्मिक भावना को कहते हैं जिसके अनुसार वे समझते हैं कि जड़-जगत् की प्रत्येक महत्वपूर्ण वस्तु चेतन प्राणी की भाँति सोचने, समझने और अनुभव करने की शक्ति रखती है। जड़चेतनावाद में विश्वास रखने वाले प्रायः यह समझते हैं कि ऐसी जड़ वस्तुओं में अतिमानवीय शक्ति का निवास होता है जिससे उनकी उपासना अथवा आदर करना चाहिये। जब किसी जड़ वस्तु की इस प्रकार उपासना की जाए मानों उसमें किसी पृथक् चेतना शक्ति या आत्मा का निवास है तो इसे जड़ात्मवाद कहते हैं और जब स्वयं उस वस्तु को ही चेतना मान कर उसका उपासन किया जाय तो इस धार्मिक भावना को जड़चेतनावाद कहा जाता है। जड़चेतनावाद की यही भावना अधिकांश वैदिक देवों के ही नहीं अपितु भारोपीय देवों के भी मूल में पाई जाती है और यह पूर्णतः निःसंशय है कि आर्यों के प्राचीन देवता प्रकृति के ही विभिन्न दृश्यों के मानवीकरण मात्र थे। प्रकृति के इन प्रभावशाली दृश्यों में प्राचीन आर्यों को किसी महान् रहस्यमयी शक्ति के दर्शन होते थे और वे इन शक्तियों को मनुष्यों से घनिष्ठतया सम्बन्धित समझते थे। मनुष्य के सौभाग्य तथा दुर्भाग्य की भी ये कारण मानी जातीं थीं और अपनी कृतज्ञता की भावना को व्यक्त करने के लिये, तथा अंशतः उनकी महत्ता से प्रभावित होकर अथवा भय के कारण वे उनकी स्तुति एवं प्रसान्त्वन आवश्यक समझते थे। जड़चेतनावाद की प्रक्रिया वेदों में इतनी अधिक स्पष्ट है कि देवताओं के व्यक्तिगत नाम प्रायः वे ही है

---

१. वही, पृ० ४५

जिनसे उनके भौतिक स्वरूप का बोध होता है। अग्नि आग भी है और अग्नि से सम्बन्धित दैवी शक्ति भी। द्यौः शब्द आकाश को भी सूचित करता है और आकाश के देवता को भी। उषस् प्रातःकाल भी है और इसकी अधिष्ठात्री देवी भी।

आर्यों के धार्मिक इतिहास में **जड़चेतनावाद** एक ऐसी प्रक्रिया है जिस पर केवल आर्य देवताओं का ही उद्गम नहीं अपितु विशिष्ट देवताओं की भी उत्पत्ति और साथ ही स्वयं जड़ात्मवाद भी आधारित है। जड़चेतनावाद के प्रारम्भ में तत्त्वों की ही चेतनरूप में उपासना की जाती है किन्तु धीरे-धीरे वह चेतना सत्ता वस्तु से पृथक् होने लगती है और कुछ समय पश्चात् एक स्वतंत्र अस्तित्व धारण कर लेती है। पर ऐसी दशा में भी वह अपनी मूल वस्तु या तत्त्व से किसी रूप में सम्बन्धित रहती है और यह स्थिति जड़ात्मवाद को जन्म देती है। यदि भारोपीय काल के देवों में जड़चेतनावाद पर आधारित प्राकृतिक तत्वों की इस आधारभूत समानता को स्वीकार न किया जाय तो इन देवों के विभिन्न देशों एवं जातियों में पाये जाने वाले स्वरूपगत साम्य तथा समान विकास की व्याख्या करना कठिन होगा।

कीथ का भी यही विचार है कि आर्यों के प्राचीन धर्म का प्रारम्भ प्रकृति के इन्हीं महान् दृश्यों की देवरूप में उपासना से हुआ और धीरे-धीरे जब उनमें अमूर्त धारणाओं पर आधारित देवताओं की परिकल्पना करने की क्षमता विकसित हुई तो **'उत्तुद'** तथा **'निवर्तन'** जैसे विभागीय या विशिष्ट देवों की कल्पना की गई[1]। प्रतीत होता है कि मैक्डानल को भी जड़चेतनावाद का यह मत मान्य था क्योंकि उन्होंने लिखा है कि 'वैदिक देवशास्त्र बहुत प्राचीन काल से चली आ रही उस विचार श्रृंखला पर आधारित है जिसके अनुसार प्रकृति का प्रत्येक दृश्य तथा तत्त्व सजीव और चेतन है'[2]।

जड़ात्मवाद के समर्थक श्रादर ने भी स्वीकार किया है कि उस प्रागैतिहा-

१. देखिये, **रिलीजन॰** प्रथम भाग, पृ॰ ६५।
उत्तुद एवं निवर्त्तन क्रमशः अ॰ वे॰ ३।२।५१ तथा ऋ॰ वे॰ १०।६१।८ में उल्लिखित 'विशिष्ट देवता' हैं। प्रथम का आवाहन किसी स्त्री के हृदय को प्रेम से उद्वेलित करने के लिये तथा दूसरे का वन में भटके पशुओं को ठीक मार्ग पर लाकर घर लौटाने के लिये किया जाता है।

२. मैक्डानल, **वै॰ मा॰**, पृ॰ २, तथा देशमुख, **ओरिजिन॰** पृ॰ ११८।

सिक प्राचीनकाल में भी 'धर्म के उच्चतर स्वरूप का प्रारम्भ हो चुका था जो मुख्यतः प्राकृतिक तत्वों की उपासना से सम्बन्धित था'[1]। यदि थोड़े से 'विशिष्ट देवों' का अस्तित्व उस समय माना भी जाय तो भी इतना तो निश्चित है कि देवों की एक दूसरी श्रेणी का भी उस समय तक प्रादुर्भाव हो चुका था और इस श्रेणी के देवता मुख्यत: प्रकाश से संबन्धित होने के कारण प्रथम प्रकार के देवों से भिन्न थे। अनेक आर्य भाषाओं में 'देवता' के वाची विभिन्न शब्दों की तुलना से आर्यों की दैवी शक्तियों का मूल स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है : संस्कृत—**देव:**, ग्रीक—**थेओस्**, लेटिन—**देउस (देइवॅस्) दिएवॅस्** (१६वीं शताब्दी तक **देइवस्**), आइरिश—**दिया** प्रा० नार्स—**तिवर** आदि सभी शब्द देवतावाची हैं और इन सब का मूल भारोपीय '**दिव्**' धातु है जिसका अर्थ चमकना, या प्रकाशित होना है। यह निर्भ्रान्त व्युत्पत्ति सूचित करती है कि आर्यों ने देवता विषयक अपनी सर्वथम धारणा प्रकाश या प्रकाशमान-आकाश से प्राप्त की थीं।[2]

आर्य भाषाओं के कुछ अन्य समीकरणां के आधार पर हम कुछ अंशों में यह भी पता लगा सकते हैं कि अपने देवों के विषय में प्राचीन आर्यों की क्या धारणा थी। संस्कृत—**भग**, अवे० **बघ**, स्लेवा० **बोगु**, (उदार) शब्द यह सूचित करते हैं कि वे अपने देवों को उदार तथा ऐवश्र्य संपन्न समझते थे (सं० के भगवान् शब्द में भी यही भाव निहित है) स्लेवानिक भाषा में तो देवों के उदारचेता होने की यह भावना इतनी अधिक प्रबल हुई है कि इसने दिव् धातु से सम्बन्धित मूल '**देइवॅस्**' शब्द को लुप्त सा कर दिया है और देवों के लिये '**बोगु**' एक सामान्य संज्ञा बन गया है।[3] अवेस्ता में भी '**बघ**' शब्द देवों के सामान्य नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अवे० **स्पेन्ता,** लियु० तथा प्रा० नार्स—**स्वेन्तु** (पवित्र, पूजनीय) शब्दों से प्रतीत होता है कि वे इन शक्तियों को आदर की दृष्टि से देखते थे। उनकी अपने देवों में पूर्ण श्रद्धा थी और उनकी कृपा पर विश्वास (संस्कृत—**श्रद्धा** लेटिन—**क्रेदो,** केल्टिक—**क्रेटिम्**, विश्वास)। वे इन शक्तियों को पूजन अथवा अर्चना से संतुष्ट एवं प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे; यातविक कृत्यों द्वारा बलात् अपनी कामनाओं की पूर्ति कराना उन्हें अभीष्ट नहीं था (संस्कृत—**यज्** अवे० **यज्**, ग्रीक—**अग्** = पूजा करना)[4]

---

१. **ए० रि० ई०**, द्वितीय भाग, '**आर्यन रिलीजन**' पृ० ३३ अ।
२. ब्लूमफील्ड: **रिलीजन आफ दि वेद** : पृ० १०८-९।
३. देशमुख : **ओरिजिन०** पृ० १२९।
४. ब्लूमफील्ड : वही, पृ० १०९।

प्राचीन आर्यों के इन्हीं उपास्य देवों के प्रागैतिहासिक स्वरूप का संक्षिप्त विवरण आगे के पृष्ठों में दिया जायगा।

(३)

(क) आकाश देव*–'द्येउस्' (*DYEUS)

भारोपीय काल काल का एक प्रमुख देवता जो ऋग्वेद में मानवीकरण का एक झीना सा आवरण पहने हुए हैं और जिसका उद्गम निश्चि रूप से प्राकृतिक तत्वों में ढूंढ़ा जा सकता है, आकाश के देवता **'द्येउस्'** हैं। यह शब्द प्रायः भारोपीय **'दिव्'** धातु से निष्पन्न माना जाता है पर अधिक सम्भावना यह है कि यह **'द्यु'** जैसी किसी प्राचीन धातु से निकला है। दोनों धातुओं का अर्थ 'चमकना' है (सं० देव = प्रकाशशील, द्युति = प्रकाश) पर संस्कृत में दूसरी धातु प्रायः **'द्युत्'** रूप में पाई जाती है। 'दिव्' की अपेक्षा 'द्यु' धातु से सं० **द्योस्** शब्द का बनना अपेक्षाकृत अधिक सरल है। इसके अतिरिक्त भारोपीय भाषाओं इन दोनों धातुओं से बने दो पृथक् पृथक् समीकरण प्राप्त होते हैं। भारोपीय **'देइवस्'** शब्द जो संस्कृत में **'देव'** आइरिश में **'दिया'** लियु में **'देइवस्'** लेटिन में **'देउस्'** तथा प्रा० नार्स में **'तिवर'** के रूप में पाया जाता है, सूचित करता है कि ये सभी शब्द दिव् धातु से बने हैं। किन्तु भारोपीय **'द्येउस्'** का आर्य भाषाओं में एक सर्वथा विभिन्न विकास हुआ है, उदाहरणार्थ ग्रीक में **'ज्यूस्'** लेटिन में **'जु' (पिटर)** अथवा **'जोव्'** प्रा० उ० जर्मन में **'त्स्यू' (ज्यू)** तथा प्रा० नार्स में **'ज़िर'** के रूप में। द्येउस् शब्द में तालाव्य अर्धस्वर य् के सघोष दन्त्य व्यंजन द् में संयोग के कारण पश्चसमीकरण की भाषावैज्ञानिक प्रक्रिया से 'द्य' वर्ण का सघोष तालव्य 'ज्' अथवा 'ज़्' में बदल जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। और इस प्रकार संस्कृत द्यौस् तथा उससे संबन्धित अन्य भाषाओं के शब्द देव शब्द की मूल धातु (दिव्) से पृथक् ही 'द्यु' जैसी किसी अन्य धातु से बने प्रतीत होते हैं।

आकाश से सम्बन्धित इस देवता की 'द्यु' धातु से उत्पत्ति यह सूचित करती है कि द्येउस् के रूप में प्राचीन आर्यों ने प्रकाशयुक्त या प्रकाश प्रदान करने वाले आकाश का ही दैवीकरण किया था और आर्यों की सर्वोच्च प्राचीन धार्मिक भावना दिन के प्रकाश से सम्बन्धित थी[1]।

---

१. कीथ: **रिलीजन०** प्रथम भाग, पृ० ३७, ६५।
ग्रिसवोल्ड : **रि० ऋ०** पृ० १४।
म्यूर : **ओ० सं० टे०**, पंचम भाग, १-२१-२२ आदि।

वैदिक द्यौस् का कोई निश्चित एवं पूर्ण व्यक्तित्व नहीं है और ऋग्वेद में उनके चरित की केवल दो या तीन प्रमुख विशेषताओं का ही उल्लेख हुआ है। किन्तु उनके **ग्रीक प्रतिरूप ज्येउस्** का मानवीकरण इतना पूर्ण तथा स्पष्ट है कि ग्रीक देवशास्त्र में उनके मूल प्राकृतिक रूप का कोई चिह्न अथवा संकेत नहीं पाया जाता। इसका कारण मुख्यतः यह है कि ग्रीक के प्राचीनतम महाकाव्य **इलियड** तथा **ओडिसी** जिनमें उसका उल्लेख पाया जाता है, ऋग्वेद की अपेक्षा पर्याप्त अर्वाचीन हैं और ज्येउस् के प्राचीनतर रूप को जानने का अब हमारे पास कोई साधन नहीं है। पर ऋग्वेद में भी द्यौस् के स्वरूप की मूल धारणा जिसके अनुसार वे प्रकाश से सम्बन्धित थे, पूर्णतः विलुप्त हो चुकी है और वे केवल आकाश के ही मानवीकण रह गये हैं। द्यौः शब्द दिव् (स्त्रीलिंग) के प्रथमा के एक वचन के रूप में लौकिक संस्कृत में भी सुरक्षित है और यहाँ भी यह केवल आकाश का ही वाची है।

इस प्रकार द्यौः के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में ऋग्वेद में विकास की दूसरी अवस्था दिखाई पड़ती है। यहाँ वे सर्वाच्छादक आकाश की धारणा से भी युक्त हैं। आच्छादकत्व की यह विशेषता भारोपीय काल में मूलतः आकाश के एक अन्य प्रमुख देवता **'उओरुएनस्'** (या वरुणा) से सम्बन्धित थी। किन्तु ऋग्वेद में वरुण भी अपने मूल रूप को छोड़कर एक 'वैयक्तिक देवता' बन गये हैं[1]।

ऋ० वे० में द्यौस् की दूसरी प्रमुख विशेषता उनका पितृत्व है। उनका **'द्यौष्पितर'** (तु० की०, लेटिन **'जु-पिटर'**) के रूप में **'पृथिवीमातर'** के साथ आह्वान किया गया है। द्यौः और पृथ्वी सभी देवताओं के पिता और माता हैं। इसीलिये ऋ० वे० में द्यावापृथ्वी के लिये **'देवपुत्रे'** विशेषण प्रयुक्त हुआ है। पिता द्यौः पृथ्वीपर पर झुक कर उसे गर्भवती बनाता है। स्पष्टतः यह आकाश से होने वाली वृष्टि के पश्चात् पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों के प्राकृतिक दृश्य का रूपक है। द्यौः के लिये **असुर** (शक्तिशाली, बलवान्) विशेषण भी प्रायः प्रयुक्त हुआ है। एक स्थान पर उसे मोतियों से सुसज्जित कृष्ण अश्व भी कहा गया है (ऋ० वे० १०।६८ ११) जो रात्रि के आकाश का सूचक है। ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में उनका पशुविध चित्रण भी प्राप्त होता है। ऋ० वे० १।१६०।४ तथा ५।३६।५ में उन्हें **'वृषभ'** कहा गया है। यह वृषभ

---

१. श्रादेर : **ए० रि० ई०,** भाग ०, **आर्यन रिलीजन,** पृ० ३३ ब।

'सुरेताः' है और गंभीरगर्जन करता है (ऋ० वे० ५।५।८६) पिता द्यौः के लिये प्रयुक्त इस शब्द पर ध्यान रखते हुए पृथ्वी (माता) के लिये वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त 'गौ' शब्द का कारण भी सरलतया समझ में आ सकता है। द्यौ-वृषभ का गर्जन तडित् के गर्जन का परिचायक है और यह सूचित करता है कि वर्षा के देव पर्जन्य की भी कुछ विशेषताओं का द्यौः के व्यक्तित्व में सम्मिश्रण हुआ है। एक स्थान में उन्हें **'अशनिमत्'** कहा गया है और कुछ स्थलों पर उन्हें मेघों के पीछे से मुस्कराते हुए वर्णित किया गया है, जो निश्चित रूप से विद्युत् की ओर संकेत है।

उनके पितृत्व को छोड़ कर केवल ये ही संकेत ऐसे हैं जिनसे उनके मानवीकरण का पता चलता है। शेष स्थलों पर यह शब्द केवल आकाश को सूचित करता है। मेक्डानल का मत है कि आकाश एवं पृथ्वी को सब प्राणियों के पिता और माता मानने की धारणा भारोपीय काल से भी प्राचीन है क्यों कि यह चीन, न्यूज़ीलैंड तथा मिस्र आदि अनार्य देशों के देवशास्त्र में भी पाई जाती है[1]।

ग्रीक **ज्येउस्** को यद्यपि कहीं भी देवों के पिता के रूप में चित्रित नहीं किया गया किन्तु फिर भी निर्विवाद रूप से वे ग्रीक देवमण्डल के सर्वाधिक सशक्त देवता हैं। वे **क्रोनोस्** तथा **रिया** के पुत्र है और अपने पिता क्रोनोस को सिंहासन से च्युत करके स्वगं तथा पृथ्वी राज्य के अधिपति बन बैठते है। प्रायः उन्हें मनुष्यों के प्रति ईर्ष्यालु चित्रित किया गया है। जब **प्रोमेथ्यूस्** मनुष्यों के लिये आकाश से अग्नि लाता है (तडित् के आन्तरिक्ष से पृथ्वी के वृक्षादि पर गिर कर उन्हें प्रज्वलित कर देने का रूपक) तो वे उसे काकेशस पर्वत पर तीस सहस्र वर्षों के लिए बन्दी बना कर डाल देते हैं जहाँ प्रतिदिन एक श्येन उसके उदर का मांस नोचता है। मनुष्य जाति से अप्रसन्न होकर वे प्रलय उपस्थित कर देते हैं जिससे दो को छोड़ कर सभी मानव नष्ट हो जाते है।

उनके केश घुंघराले हैं और वे लंबी दाढ़ी रखते हैं उनके हाथ में सशक्त वज्र रहता है जिससे वे पापियों का विनाश करते हैं। उनके सात पत्नियाँ है किन्तु फिर भी वे पृथ्वी पर अन्य सुन्दर पत्नियाँ खोजने से नहीं चूकते। उन स्त्रियों

---

१. वे० मा०, पृ० ८।

के पास वे अनेक मानव तथा पशुरूप बना कर पहुँचते है। पर कभी-कभी वे पृथ्वी पर न्याय के लिये अथवा किसी परीक्षा लेने के लिये भी पहुँचते हैं[1]।

आगे हम यह देखेंगे कि भारोपीय काल में स्तनयित्नु या झंझावात का भी एक देवता माना जाता था। आकाश तथा झंझावात के ये दोनों देवता ग्रीक देवशास्त्र में अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व स्थिर न रख सके। **ज्येउस्** ने तडित् एवं झंझावात के इस देवता की विशेषताओं को इतना आत्मसात् कर लिया कि वह धीरे-धीरे ग्रीक देव मंडल से ही विलुप्त हो गया।[2] बिलकुल यही बात उत्तरी यूरोप के अन्य देशों के विषय में भी है।

यद्यपि देवों के सम्राट् ज्येउस् के मौलिक एवं प्रारम्भिक रूप की स्मृति ग्रीक देवशास्त्र में सुरक्षित नहीं है तो भी यह उनके **एउरोपा** (विशाल नेत्र वाले) आदि विशेषणों से ध्वनित होती है। ज्येउस् का यह विशेषण ग्रीक साहित्य में अत्यन्त प्राचीन है और संभवत: दिन के प्रकाश से उसका सम्बन्ध सूचित करता है।

भारतीय, ग्रीक तथा रोमन धर्मों में ही नहीं **लिथुआनियन** तथा **प्राचीन ईरानी धर्म** में भी आकाश की पूजा प्राप्त होती है। प्रसिद्ध ग्रीक इतिहासकार **हेरोदौतस्** ने ईरानी धर्म का जो विवरण दिया है उससे इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। अपने इतिहास में उसने लिखा है कि—"उनकी (ईरान-वासियों की) यह रीति है कि वे किसी ऊँचे शिखर पर चढ़ कर ज़्येउस् के लिये यज्ञ किया करते हैं और आकाश के संपूर्ण मण्डल को ज्येउस् कह कर पुकारते हैं"[3] **ट्यूटन जाति** (प्राचीन जर्मन) में भी आकाश के देवता का

१. देखिये, डोनैल्ड ए० मांक्रिफ् : **क्लासिकल मिथ्स एण्ड लीजेन्ड्स,** लंदन, पृ० ७२-७५

२. देखिये, ग्रिसवोल्ड : **रिलीजन आफ् दि ऋग्वेद** : पृ० १००-१०१ 'वे (ज्येउस तथा जुपिटर) केवल विभागीय देवता ही नहीं रहे। धीरे-धीरे उन्होंने ऐसी विशेषताओं को भी आत्मसात् करना प्रारम्भ किया जो मूलत: उनके क्षेत्र में नहीं थीं विशेषत: झंझावात के देवता की। इस प्रकार वे अधिक शक्तिशाली तथा वैयक्तिक होते गये"। तथा श्रादर, **ए० रि० ई०**, भाग २, "आर्यन रिलीजन' पृ० ३४ अ।

३. Ther Custom is to ascend to the highest peaks of the mountains and to offer the sacrifice to Zeus,

महत्वपूर्ण स्थान है और उनके देवशास्त्र में वह युद्ध का प्रमुख देवता माना गया है। इस प्रकार अनेक आर्य धर्मों में किसी न किसी रूप में आकाश की देव रूप में कल्पना प्राप्त होने से स्पष्ट है कि प्राचीन भारोपीय आर्य धर्म में आकाश की उपासना अवश्य ही महत्वपूर्ण स्थान रखती थी[1]। वैदिक ऋषि भी संभवतः उनकी इस प्राचीनता को जानते थे इसीलिये उन्होंने द्यावापृथ्वी को **'पूर्वजे'** (ऋ० वे० ७।५३।२) कहा है—

यद्यपि यह पूर्णतः निश्चित है कि आकाश एवं उससे संबन्धित प्राकृतिक शक्तियों की उपासना ही भारोपीय आर्य धर्म का केन्द्र-बिन्दु थी किन्तु यह विवादास्पद है कि "द्येउस्" का तत्कालीन देवमण्डल में क्या स्थान था। ब्रेड्के का मत है कि द्येउस् को भारोपीय काल में अन्य देवों का जनक माना जाता था वह उनका राजा था और सभी देवता उसके आश्रित समझे जाते थे[2]। इस प्रकार उसकी स्थिति बिलकुल वही थी जो ग्रीक देवमण्डल में ज़्येउस् की। ओल्डेनबर्ग ने इस मत की आलोचना करते हुए कहा है कि भारोपीय काल के देवों का स्वरूप इतना अधिक अस्थिर तथा अपूर्ण था कि हम उनकी एक सुसंयत एवं क्रमबद्ध देवमंडल के रूप में कल्पना नहीं कर सकते[3]। मेक्डानल भी कहते हैं कि 'द्यौस् को भारोपीय काल के देवों का सर्वोच्च शासक मानना भूल होगी क्योंकि इसका तात्पर्य यह है कि उस प्राचीनतम प्रागैतिहासिक काल में भी आर्यों की प्रवृत्ति कुछ-कुछ एकदेववाद (मोनोथीज़्म) की ओर थी, जो कि असम्भव है'[4]।

किन्तु यदि देवों और मनुष्यों के सर्वोच्च स्वामी के रूप में इस देवता की प्रतिष्ठा नहीं भी थी तो भी कम से इतना तो निश्चित ही है कि प्राचीन आर्य देवताओं में इनको सम्मानास्पद स्थान प्राप्त था। मेक्डानल ने स्वयं यह

---

calling the whole vault of the sky Zeus...." Herodotus. 1.131

तु० की० माउल्टन : **अर्ली ज़ोरेस्ट्रियनिज़्म**, पृ० ३९१

१. तु० की०, टायलर, **प्रिमिटिव कल्चर**, पृ० ३२२-२८।

२. ब्रेड्के : **द्यौस् असुर** पृ० ११०।

३. **डी रिलीगियोन डेस वेद**, पृ० ३४, टि० १

४. **वें० मा०**, पृ० २२

स्वीकार किया है कि द्यौस् उस अस्थिर बहुदेववाद के देवताओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे[1]।

आश्चर्य का विषय है कि भारोपीय काल के इस महत्वपूर्ण देवता की ऋग्वेद में अत्यन्त महत्वहीन स्थिति है। द्यौस् के वैदिक स्वरूप को देख कर कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता कि इस देवता का भी कभी कोई विशेष महत्व था। एक भी सम्पूर्ण सूक्त उनके लिये नहीं प्राप्त होता। केवल इधर उधर प्रकीर्ण कुछ थोड़े से मन्त्रों में ही उनका उल्लेख किया गया है। इस विषय में उनकी 'पत्नी' **पृथ्वी माता** ही अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि उनके लिये ऋग्वेद में एक मन्त्र है। द्यौस् ऋग्वेद में अधिकांशतः एक अमूर्त एवं भावात्मक देवता हैं और जो थोड़ा सा उनका मानवीकरण है वह भी उनके पितृत्व से ऊपर नहीं उठ पाता। अन्य वैदिक संहिताओं में तो उनका उल्लेख भी नहीं है और वे वैदिक देवशास्त्र से पूर्णतः विलुप्त हो गये हैं।

वैदिक देवमण्डल में द्यौस् की इस महत्वहीनता का कारण समझना कठिन नहीं है। पहली बात तो यह है कि प्राचीनतम काल में जब इस देवता की धारणा ने जन्म लिया तो सम्भवतः इनका व्यक्तित्व मुख्य रूप से प्रकाश से सम्बन्धित था। (जैसा कि 'द्यु'-धातु से स्पष्ट है) किन्तु धीरे-धीरे वैदिककाल में सूर्य, सविता, पूषा, मित्र, विष्णु विवस्वान् आदि अनेक सौर देवताओं के जन्म से तथा वरुण के आकाशदेव के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने से उनका महत्व प्रकाश और आकाश के दोनों ही क्षेत्रों से समाप्त हो गया।

दूसरा मुख्य कारण यह है कि आकाश का भौतिक दृश्य हर समय मनुष्य के नेत्रों के सम्मुख उपस्थित रहता है अत: द्यौस् का मानवीकरण कभी भी पूर्ण न हो सका। वे एक अमूर्त से देवता रहे और कभी भी एक विकसित वैयक्तिक देवता की स्थिति नहीं प्राप्त कर सके। उनके सम्बन्ध में किसी भी कथा की कल्पना नहीं हुई और इस प्रकार उनके व्यक्तित्व की बाह्य रूप रेखा ही वर्तमान रही। यही कारण है कि यज्ञों में कभी भी उनको भाग नहीं प्रदान किया गया।

---

१. **वही**। इस प्रसंग में एक बात और महत्वपूर्ण है। संस्कृत में 'द्यु' धातु का अर्थ जीतना (अभिगमन) अथवा श्रेष्ठ होना भी है। यह ध्वनित करता है कि द्यौ: शब्द में भी प्राचीन समय में श्रेष्ठता का भाव रहा होगा।

यह भी संभव है कि ऋग्वेद की बहुदेवतावाद की प्रवृत्ति से जो **'हीनोथीज्म'** पर आधारित थी और जिसमें प्रत्येक देवता को यथावसर सर्वोच्च माना जाता था, उनकी सार्वभौम-सत्ता पृष्ठभूमि में पड़ गई हो[1]। ऋग्वेद के ऋषियों के लिये कोई भी एक देवता सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं था। ऋषिगण प्रत्येक स्तूयमान देवता को सर्वोत्कृष्ट बताने के अभ्यस्त हैं। यही कारण है कि परवर्ती वैदिक संहिताओं में वरुण भी अपने ऋग्वैदिक उत्कृष्ट पद से बहुत नीचे गिर गये हैं।

इस प्रकार पिता द्यौस् जो सभी "देवत्व" की धारणा के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि थे धीरे-धीरे अपने पुत्रों को अपना स्थान देकर वैदिक देवमण्डल से पूर्णतः विलुप्त हो गये।

(ख) *उओरुएनॅस् (*UORUENOS)

संस्कृत **वरुण** शब्द की ग्रीक **ऊरानॅस्**— प्राचीन उच्चारण 'ओउरानॅस्'— (Ouranos) से तुलना करने से प्रतीत होता है कि सम्भवतः भारोपीय काल में आकाश का एक अन्य देवता भी वर्तमान था, जिसका मूल भारोपीय नाम भाषा वैज्ञानिक नियमों से **'उओरुएनॅस्'** के रूप में परिकल्पित किया जा सकता है[2]। यह शब्द **वृ** (आच्छादन करना या ढकना) जैसी किसी भारोपीय धातु से निकला था और सम्भवतः संसार की प्रत्येक वस्तु को अपने विस्तार से आच्छादित कर लेने वाले आकाश के मण्डल या परिणाह का द्योतक था[3]। इस प्रकार *द्येउस् तथा *उओरुएनस् ये दोनों शब्द आकाश के ही दो विभिन्न रूपों के वाची थे। प्रथम उसके सूर्य तथा अन्य ज्योतिष्पिण्डों से प्रकाशमान स्वरूप को सूचित करता था और दूसरा उसके सर्वव्यापित्व को[4]। ये

---

१. ई० मायर : **'गेशिख्टे डेस् आल्टरटुम्स'**, प्रथमभाग, द्वितीयखण्ड (स्टुटगार्ट १९१३) पृ० १९०।

२. देखिये, कीथ : **रिलीजन०** भाग १, पृ० ३८।

३. देखिये, **ऋ० वे०** १।८९।३ पर सायणभाष्य, मैक्डानलः **वै० मा०** पृ० २८।
ब्लूमफील्ड : **रिलीजन आफ दि वेद** पृ० १३७; श्रादर, **आर्यन रिलीजन** पृ० ३२२।

४. (अ) पिशेल और गैल्डनर (**वेदिशे श्टूडियन**, भाग १, पृ० ८८) तथा ग्रिसवोल्ड (**रिलीजन आफ् दि ऋग्वेद**, पृ० ११३-४) ने वरुण

एक ही प्राकृतिक तत्त्व को व्यक्त करने वाले परस्पर सम्बद्ध दो विशेषण मात्र थे जो कालान्तर में स्वतन्त्र देवताओं के रूप में विकसित हुए[1]।

यह भी सम्भव है कि प्राचीनकाल में इनमें से कोई एक आकाश-देव का वाची रहा हो और दूसरा उसके एक महत्वपूर्ण विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता हो। किन्तु वैदिक एवं ग्रीक देवशास्त्रों में दोनों देवों का पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व यह सूचित करता है कि किसी न किसी रूप में भारोपीय काल में इन दोनों देवों का अस्तित्व अवश्य था।

संस्कृत **त्वरुण** तथा ग्रीक **ऊरानॅस** शब्दों के तादात्म्य में कई विद्वानों को सन्देह रहा है। श्रादर ने **ए० रि० ई०** (द्वितीय भाग) में प्रकाशित अपने 'आर्यन रिलीजन नामक लेख में इस समीकरण की आलोचना की है और इसे 'ध्वन्यात्मक दृष्टि से पूर्णतः अस्वीकार्य' माना है। उनके मत से भारोपीय काल में केवल एक ही आकाश-देव था और वह था द्येउस्। कीथ ने लिखा है कि 'यद्यपि इन शब्दों को अब भी एक ही मूल शब्द से उत्पन्न माना जाता है,

शब्द का वारि तथा वर्षा आदि शब्दों से सम्बन्ध दिखाते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि इस शब्द का मूल अर्थ 'वर्षा करने वाला' था। ग्रीक ऊरानॅस् का भी 'औराइ' क्रिया से सम्बन्ध है जिसका अर्थ जल बरसाना होता है। बाद में भ्रामक व्युत्पत्ति के द्वारा वरुण शब्द को 'वृ' धातु से निष्पन्न मान कर आकाश से उसका सम्बन्ध मान लिया गया। वरुण शब्द के जल या वर्षा से इसी सम्बन्ध के कारण सम्भवतः ऋग्वेद तथा परवर्ती पौराणिक साहित्य में वरुण को समुद्रों का स्वामी तथा जल का अधिष्ठाता बताया गया है। तु० की०, हापकिन्स (**रिलीजन्स आफ् इण्डिया**, पृ० ६६) "वरुण वह आकाश है जो जल तथा मेघों से आच्छन्न रहता है।" इनके मत के अनुसार वरुण शब्द का अर्थ 'ढकने वाला' नहीं अपित [मेघों से] 'ढका हुआ' [आकाश] है।

(आ) हिलेब्रान्ड्ट् ने अपनी सुप्रसिद्ध जर्मन पुस्तक **'वेदिशे मिथोलोगी'** (द्वितीय भाग) में विस्तारपूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वरुण मूलतः चन्द्रमा से सम्बद्ध हैं।

१. ग्रिसवोल्ड : **रिलीजन आफ् दि ऋग्वेद**, पृ० ११२-१३।

किन्तु यह पूर्णतः निश्चित नहीं है[१]। किन्तु मेकडानल का मत है कि यद्यपि इस समीकरण में कुछ ध्वनिसंबन्धी कठिनाइयाँ है फिर भी दोनों की एकरूपता संभव है[२]।

दोनों शब्दों को मूल रूप में एक मानने में सबसे बड़ी उत्पत्ति यह है कि ग्रीक ऊरानॅस् शब्द 'र्' के बाद जो 'अ' आता है उसका वरुण शब्द में कोई चिह्न नहीं है। ऊरानॅस् शब्द का मूल भारोपीय शब्द **'उओरु-एनॅस्'** अथवा **'उओरु-नस्'** प्रतीत होता है और वरुण शब्द का मूल **'उओरु-नस्'**। और इस प्रकार जब दोनों शब्दों का उद्गम ही भिन्न है तो वे समान शब्द कैसे हो सकते हैं? किन्तु ब्लूफील्ड का मत है कि 'उओरु- एनॅस्' तथा 'उओरु-नस् एक ही शब्द के भाषागत दो विभिन्न रूप हैं। बोली की विभिन्नता के आधार पर प्रायः शब्दों के ऐसे दो-दो रूप प्रचलित रहते हैं। उदाहरणार्थ वैदिक 'नूतन' तथा 'नूत्न' शब्द का एक ही अर्थ (नवीन) है और ग्रीक भाषा के 'स्तेगेनॅस्' तथा 'स्तेग्नॅस् भी एक ही अर्थ (ढका हुआ, आच्छादित) के वाची हैं[३]।

एशिया माइनर या तुर्किस्तान के **बोगाज़-क्यूई** नामक स्थान में सन् १९०७ में प्राप्त एक मृत्फलक से वरुण की अत्यधिक प्राचीनता सिद्ध होती है। यह फलक १४ वीं शती ई० पू० का है और इसमें कीलकाक्षरों में हित्तिति और मितानी जाति के दो राजाओं की पारस्परिक संधि का विवरण है। दोनों जातियों के देवों का सन्धि की शर्तों की रक्षा के लिये आवाहन किया गया है। मितानी जाति के देवों की सूची में चार वैदिक देवताओं का उल्लेख किया गया है और वे हैं, वरुण (उ- रु- व- न) इन्द्र, मित्र तथा नासत्या (अश्विनौ) और यदि, जैसा कि ओल्डेनबेर्ग का विचार है, "ये देवता आर्य जाति की ही एक शाखा (मितानी) के देवता हैं और समान भारोपीय स्रोत से ही मितानी तथा भारतीय आर्य जातियों को प्राप्त हुए हैं"[४] तो वरुण की प्राचीनता निःसन्दिग्ध रूप से प्रस्थापित हो जाती है।

जैसे वैदिक साहित्य में द्यौस् एक अत्यन्त सामान्य सा देवता है उसी प्रकार ग्रीक देवशास्त्र में ऊरानॅस् का व्यक्तित्व अत्यन्त क्षीण हैं। उन्हें देव तथा दानव

---

१. कीथ, **रिलीजन०** प्रथम भाग, पृ० ३८

२. **वे० मा०** पृ० ८।

३. ब्लूमफील्ड, **रिलीजन आफ दि वेद :** पृ० १३६।

४. विन्टरनित्स द्वारा अपनी **हिस्ट्री आफ् इंडियन लिटरेचर**, प्रथम भाग पृ० ३०५ पर उद्धृत।

दोनों ही जातियों का मूल उत्पादक कहा गया है। उनकी पत्नी का नाम "**ग्या**" अथवा "**गे**" है जो पृथ्वी का ही प्रतीकात्मक रूप हैं।[1] (अंग्रेजी के ज्योग्राफी, ज्योलाजी आदि समास-शब्दों के प्रारंभ में यही शब्द है) ऊरानॅस् अपनी दानव सन्तान से अत्यन्त घृणा करता है और उन्हे एक गुफा में बन्द कर देता है। "ग्या" तब एक षड्यन्त्र रचती है और अपने पुत्र **क्रोनॅस** को अपने पिता ऊरानॅस की हत्या करने की सलाह देती है। क्रोनॅस अपने पिता की एक हँसिये से हत्या कर डालता है किन्तु उसके शरीर ने निकलते हुए रक्त से पुनः अनेक राक्षस उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ समय पश्चात् अपने शक्तिशाली पुत्र ज्येउस् के हाथो से क्रोनॅस का भी वही हाल होता है जो उसने अपने पिता का किया था[2]।

ऊरानॅस् के विषय में केवल इतना ही विवरण ग्रीक देवशास्त्र में प्राप्त होता है। वे देवों के शक्तिशाली सम्राट् **ज्येउस्** के पितामह हैं। ग्रिसवोल्ड ने ठीक ही कहा है कि इस तथ्य से ऊरानॅस् की अत्यधिक प्राचीनता का भान होता हैं[3] और इनकी धारणा का उद्‌भव ज्येउस् से परवर्ती नही हो सकता। ग्रीक देवशास्त्र में इनकी मृत्यु इसलिए वर्णित कर दी गई हैं कि इनके विषय में कोई भी अन्य कथा प्राप्त नहीं होती। इनका व्यक्तित्व भी अपूर्ण है और उसकी केवल क्षीण रूपरेखा मात्र अवशिष्ट है।

अकाश के दृश्य के सर्वत्र और सदा उपस्थित रहने के कारण आकाशदेव **उओरुएनॅस्** में बहुत शीघ्र ही सर्वत्र उपस्थित रहने की विशेषताएं उत्पन्न हो गईं। यह विश्वास किया जाने लगा कि **उओरुएनॅस्** पृथ्वी पर होने वाले प्रत्येक कृत्य को देखते हैं तथा पापियों को दण्डित करते हैं। नैतिक अथवा प्राकृतिक नियम (सं० **ऋत** तथा अवे० **अश**) की धारणा उनके साथ संबन्धित हो गई और उन्हें सांसारिक नियमों का सर्वोत्कृष्ट परिपालक माना जाने लगा। ऋग्वेद एवं अवेस्ता में ही **उओरुएनॅस्**' के व्यक्तित्व के पूर्णतः विकसित होने के कारण इन ग्रन्थों में उनकी चक्षु का प्रायः उल्लेख किया गया है।

---

१. संस्कृत के गौ शब्द से इसकी तुलना कीजिये। यह भी पृथ्वी का वाची है (निरुक्त, नैघंटुक काण्ड, द्वितीयपाद : **गौरिति पृथिव्या नामधेयम्। यद् दूरं गता भवति। यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति**) और पृथ्वी वेदों में आकाशदेव द्यौः की पत्नी है।

२. डी०ए० मांक्रिफ : **क्लासिकल मिथ्स एण्ड लीजैण्ड्स**, पृ० १४।

३. ग्रिसवोल्ड: **रिलीजन आफ् दि ऋग्वेद**, पृ० ११०।

ऋग्वेद में सूर्य को वरुण का नेत्र कहा गया है उसकी सहायता से वे समस्त संसार के कार्यों को देखते हैं (ऋ० वे० ६।५१।१) रात्रि में सूर्य संसार के कार्यों का विवरण देने वरुण के घर जाता है (७।६०।१-३) श० ब्रा० के अनुसार भी संसार के स्वामी वरुण सर्वोच्च आकाश में बैठकर जगत् का सर्वेक्षण करते हैं[1] । उनके दूतों (स्पशः) का भी उल्लेख किया गया है जो आकाश से उतर कर प्रत्येक व्यक्ति का निरीक्षण करते है (अ० वे० ४।१६।४)।

वरुण प्रकृति के नियमों के नियन्ता है। उन्होंने ही आकाश एवं पृथ्वी को पृथक् स्थापित किया है (ऋ० वे० ८।४१।१०) उन्होंने सूर्य को आकाश में प्रस्थापित करके उसे घूमने के लिए प्रेरित किया है (ऋ० ७।८७। १) उन्होंने ही अग्नि को जल में स्थित किया है और उन्हीं के बनाये नियमों के अनुसार चन्द्रमा प्रकाशित होता हुआ रात्रि में आकाश में विचरण करता है और तारे रात में चमक कर दिन में लुप्त हो जाते हैं (ऋ० १।२४।१०)

धृतव्रत (जिसके नियम स्थिर हों) विशेषण उनके लिये प्रायः प्रयुक्त किया गया है। देवता भी उनके नियमों का पालन करते हैं (ऋ० ५।६६।४) जब कोई उनके नियमों का उल्लंघन करता है तो वे, अपने पाशों से बाँध कर उसे दण्ड देते हैं।

इस प्रकार आर्यों की इन दो शाखाओं में वर्तमान वरुण के स्वरूप को देखने से प्रतीत होता है कि आकाश के इस देवता के साथ नैतिक तथा आचार शास्त्रीय भावनाओं का संयोग संभावतः वैदिककाल से भी पहले की वस्तु हैं। साथ ही प्राकृतिक तथा नैतिक नियम (ऋत या अश) की धारणा का, जो ब्लूमफील्ड के शब्दों में "आर्यों द्वारा उद्भावित सर्वोत्कृष्ट धार्मिक विश्वास[2]" है, उओरुएनँस् से सम्बन्ध इस देवता के प्रागैतिहासिक काल में भी अत्यन्त उत्कर्ष को सूचित करता है।

(ग) पृथिवी माता

द्येउस् के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि प्राचीनतम काल में केवल आर्य जाति में ही नहीं अपितु अनेक आर्येतर जातियों में भी पृथ्वी एवं आकाश को जगत् के माता-पिता माना जाता था किन्तु जिस प्रकार हमें प्राचीन

---

१. मैक्डानल : **वै० मा०**, पृ० २३।

२. **रिलीजन आफ् दि वेद**, पृ० १२६।

आर्यसाहित्य में इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं कि आकाश का भौतिक दृश्य बाद में कम से कम **द्यौस्** और **वरुण** इन दो शक्तिशाली देवों के रूप में विकसित हुआ वैसा पृथ्वी के विषय में नहीं है। आर्य जाति की किसी भी शाखा में पृथ्वी का एक शक्तिशाली देवी के रूप में चित्रण प्राप्त नहीं होता। ऋग्वेद तक में पृथ्वी का मानवीकरण अत्यधिक अपूर्ण है। उसके संबन्ध में सबसे अधिक उसके मातृत्व का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद में भी पृथ्वी के विषय में एक सुन्दर सूक्त (१२।१) प्राप्त होता है किन्तु इसमें मुख्यतः केवल पृथ्वी के ऊपर घटित होने वाले विभिन्न दृश्यों की परिगणना की गई है। "जिसके ऊपर मनुष्य गाते और नाचते है, साथ ही जिसके ऊपर दुन्दुभियाँ बजा कर आपस में घोर युद्ध भी करते हैं वह भूमि हमारे शत्रुओं को नष्ट करे और हमें कल्याण से रहने दे"—

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां, मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नान् असपत्नं मा पृथ्वी कृणोतु॥

—अ० वे० १२।१।४६

ऋषि भूमि के भौतिक स्वरूप से अधिक ऊपर नहीं उठ सका है। किन्तु अत्यन्त स्नेहसिक्त शब्दों में उसने पृथ्वी को अपनी माता बताया है। भूमि मेरी माता है और मै उसका प्रिय पुत्र हूँ। जैसे माता अपने पुत्र को दूध पिलाती है उसी प्रकार माता पृथ्वी (अपने अन्नादि से) मुझे पुष्ट करें—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।

—अ० वे० १२।१।१२,१०

पृथ्वी एक ऐसी उदारशील माता है जो प्रत्येक प्राणी को जन्म देती है उसका पालन करती है और फिर उसे अपने कोमल अंक में समेट लेती है (ऋ० वे० १०।१८१०) होमर द्वारा लिखित ग्रीक महाकाव्यों में भी पृथ्वी (ग्या) को तारकित ऊरानॅस् (आकाश) की पत्नी कहा गया है।

विल्के[1] तथा टायलर[2] का मत है कि आकाश के पितृत्व की धारणा से पृथिवी की जगत् की माता के रूप में धारणा अधिक प्राचीन है क्योंकि यह

१. विल्के: **डी रिलीगियोनेन डेर इंडोगेर्मानेन**, पृ० ९७।
२. टायलर: **प्रिमिटिव कल्चर**, पृ० ३२२-२६।

सरल एवं स्पष्ट है और इसीलिये अधिक सामान्य भी। आकाश में पितृत्व की कोई प्रत्यक्ष विशेषता नहीं है किन्तु पृथ्वी पर हम प्रत्येक दिन अनेक प्राणियों तथा औषधियों को जन्म लेते देखते हैं। प्रतीत होता है कि पृथ्वी माताके लिये आकाश को बाद में पिता कल्पित कर लिया गया है।

जो हो, इतना तो निश्चित ही है पृथ्वी के विषय में उसके मातृत्व को छोड़कर अन्य कोई विशेषता नहीं है। उसका व्यक्तित्व सदा अत्यन्त क्षीण रहा और कभी भी एक पूर्ण देवी का रूप नहीं ले पाया। इसका कारण संभवत: यही था कि उसका भौतिक स्वरूप इतना अधिक जड़ तथा स्थूल था कि वही लोगों के नेत्रों के सम्मुख सदा उपस्थित रहता था और इससे ऊपर उठना कठिन था। प्रत्युत इसकी अपेक्षा तो आकाश एवं उससे संबन्धित प्रकाश आदि के दृश्य ही अमूर्त देवों के रूप में सरलतया परिवर्तित किये जा सकते थे। भूमि के लिये लिये ऋग्वेद के सर्वाधिक सामान्य **पृथिवी** या **पृथ्वी** शब्द का अर्थ केवल 'चपटी' या 'फैली हुई' होता है। **मही** एवं **दृल्हा** शब्द पृथ्वी के विस्तार एवं स्थिरता के वाची हैं।

पृथिवी के विषय में आर्यभाषाओं में निम्नलिखित समान शब्द प्राप्त होते हैं किन्तु उपर्युक्त कारणों से यह निर्णय करना कठिन है कि भारोपीय काल में पृथिवी की पूजा वरुण आदि की भांति कोई विशेष महत्व रखती थी—

संस्कृत-**क्ष्मा,** अवेस्तन-**ज्मा** फारसी-**ज़मीं,** लैटिन-**ह्यूमॅस्** (तु० की०, अँग्रेजी **ह्यूमन्**=पार्थिव, मर्त्य) लिथुआनियन-**ज़ेमे,** प्रा० स्लेव—**जेम्ल्ज़ा** आदि।

(घ) तडित् अथवा वर्षा के देवता

वर्षा एवं झंझावात का दृश्य प्राचीन समय में प्रकाशमान आकाश (द्यौः) की धारणा से अत्यन्त घनिष्ठतया संबन्धित था और यही कारण है कि ग्रीक तथा रोमन देवशास्त्रों में आकाश एवं वर्षा के देवों की धारणाएँ मिलकर एक हो गई है और उन्होंने मिलकर एक सशक्त देवता ज़्येउस् या जुपिटर का निर्माण किया है। किन्तु प्रतीत होता है कि परस्पर सम्बन्धित इन दो देवों के व्यक्तित्वों का सम्मिश्रण बाद की वस्तु है और आर्य या भारोपीय काल में अवश्य ही ये दो पृथक् एवं स्वतंत्र देवता रहे होंगे। निम्नलिखित समीकरणों से स्पष्ट होगा कि भारत तथा उत्तरी यूरोप के अधिकांश देशों में वर्षा के देवता का व्यक्तित्व सुरक्षित है किन्तु अन्य स्थानों पर यह आकाश के देवता के साथ घुल-मिल गया है।

१. क—संस्कृत-**स्तन्-स्तनयति** (गरजता है)। स्तनथ, स्तननम्, स्तनितम् (गर्जन) तथा स्तनयित्नु (तडित्)। प्रा० उच्च जर्मन-**डौनर,** प्रा० नि० जर्मन- **थूनर,** प्रा० नौर्स-**थौर्**।

ख—कैल्टिक-**टोरेन्नस,** आइरिश-**टोरन्न्**, वैल्श-**टरन्न्**, कार्निश-**टॅरन्** अंग्रेजी-**थन्डर** (वर्णविपर्यय से)

२—संस्कृत-**पैर्कुनस्**, लिथुआनियन-**पैर्कुनस्**, प्रा० स्लेव०-**पेरून**।

ऋग्वेद में वर्षा के इस देवता का नाम पर्जन्य है। यह शब्द मेघों का भी वाची है। इसी प्रकार लिथुआनियन **पैर्कुनस्** तथा स्लेवानिक **पेरून** शब्द भी जो सामान्यत. इस वर्षा के देवता को सूचित करते हैं प्रायः झंझावात एवं तडित् को व्यक्त करने के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं। पैर्कुनस् शब्द का प्रा० नौर्स शब्द '**फ्जोर्गिन**' से भी सम्बन्ध माना गया है, जो **थौर्** की माता का नाम है[१]। कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि पैर्कुनस आदि शब्द लैटिन '**क्वैर्कस्**' तथा प्रा० उ० ज० '**फोर्हा**' से भी सम्बन्धित है क्योंकि इन दोनों शब्दों का भी मूल भारोपीय शब्द **पेर्कु** प्रतीत प्रतीत होता है जो पैर्कुनस् और पर्जन्य का भी मूल है। लैटिन और प्रा० जर्मन के ये शब्द ओक वृक्ष के वाची हैं। श्रादर का विचार है कि ऊँचे होने के कारण तडित् ओक के वृक्ष पर अधिक गिरती है अतः इस देवता के नाम का मूल भाव 'ओक का देवता' रहा होगा[२]।

पर दूसरे समीकरण की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। सं० **पर्जन्य** का लिथु० **पैर्कुनस्** से सम्बन्ध पर्याप्त सन्दिग्ध है क्योंकि पहली बात तो यह है कि संस्कृत का '**ज**' किसी भी समान लिथुआनियन शब्द में '**क**' के रूप में परिवर्तित नहीं पाया जाता, और दूसरी बात यह है कि लिथु० के '**उ**' के स्थान पर सं० में भी '**उ**' ही पाया जाना चाहिये[3]। इसके अतिरिक्त सं० पर्जन्य का ओक अथवा अन्य किसी वृक्ष से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। इसीलिये श्रादर ने कहा है कि संस्कृत पर्जन्य शब्द ध्वनि सम्बन्धी कारणों से इस श्रेणी में नहीं रखा जा सकता; पैर्कुनस् तथा पेरून् के विषय में उनके संज्ञा-सम्बन्धी भाव (तडित्) से अन्वेषण प्रारम्भ करना ही उचित होगा।[४]

---

१. श्रादर—**ए० रि० ई०** द्वितीयभाग, **आ० रि०** पृ० ३३ ब।

२. श्रादर : वही—

३. मेक्डानल, **वै० मा०, एडेन्डा एण्ड कारिजेन्डा,** पंक्ति ३९।

४. श्रादर : वही, पृ० ३३ ब।

ई० लीडेन ने पर्जन्य एवं पैर्कुनस् आदि शब्दों का पेर्कु (ओकवृक्ष) से सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया है। इन शब्दों के तडित् से सम्बन्ध को मान कर आगे बढ़ते हुए उन्होंने इन्हें प्रा० स्लेव०—**पेरा-पिरति** तथा आर्मीनियन-**हर्कानेन** (तथा **ओरत** = गर्जन) इन दो क्रियाओं से सम्बन्धित किया है। इन दोनों क्रियाओं का अर्थ है, ताडन करना या मारना[1]। यदि यह तुलना ठीक है तो पैर्कुनस तथा पर्जन्य आदि शब्दों का मूल भाव 'ताडन करने वाला' या 'तडित्' रहा होगा और यह सिद्ध हो जायेगा कि इन्हीं शब्दों में तडिद्गर्जन को व्यक्त करने वाला मूल भारोपीय शब्द निहित है।

पर पर्जन्य और पैर्कुनस् का तादात्म्य फिर भी सन्दिग्ध ही रह जाता है। कीथ[2] और मैक्डानल[3] दोनों का ही मत है कि इन शब्दों के तादात्म्य में ध्वनि सम्बन्धी बहुत सी अड़चनें है जिनकी सन्तोषजनक व्याख्या करना कठिन है। किन्तु ब्लूमफील्ड ने सुझाया है कि मूल भारोपीय शब्द **पैर-कुन** ही था। बाद वैदिक भाषा में आने पर इस शब्द का ठीक-ठीक तात्पर्य न समझने के कारण वैदिक काल के विद्वानों ने '**क**' (अथवा ग) को '**ज**' में परिवर्तित कर लिया और '**पैर**' को '**परि**' बनाकर इसका अर्थ 'जनों (या मनुष्यों) की सब ओर से रक्षा (पोषण) करने वाला' समझ लिया गया (परि = चारों ओर से, जन = मनुष्य, जन्य = मनुष्यों का)[4] यास्क ने इस शब्द की निम्नलिखित चार व्याख्याएँ की हैं जिससे प्रतीत होता है कि भारतीय विद्वान् बहुत पहले ही इस शब्द का मूल भाव भूल चुके थे :

पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः।
परो जेता वा 'जनयिता' वा प्रार्जयिता वा रसानामिति।

—निरुक्त : १०।१०

जो हो, इतना तो निश्चित ही है कि भारोपीय काल में भी तडित् तथा झंझावात के एक देवता का किसी न किसी नाम तथा रूप में अस्तित्व अवश्य

---

१. ई० लीडेन : **आर्मीनिशे स्टूडियन**, पृ० ८८।
२. कीथ : **रिलीजन०**, प्रथम भाग पृ० १४१....The identification .... is open to the gravest difficulties of phonolongy and must be considered as too doubtful to be worth more than serious consideration.
३. मैक्डानल : **वैं० मा०** पृ० ८४।
४. ब्लूमफील्ड : **रिलीजन आफ दि वेद** : पृ० १११।

था और इसका व्यक्तित्व आकाशदेव द्येउस् से पूर्णतः पृथक् था। मैक्डानल ने इस संभावना को पूर्णतः स्वीकार करते हुए लिखा है कि संभवतः इस देवता को अत्यन्त विशालकाय, अत्यधिक भक्षण तथा पान करने वाला और तडित् रूपी शस्त्र से राक्षसों का वध करने वाला समझा जाता था[1]। वैदिक **वृत्रहन्** [इन्द्र] अवेस्तन- **वैरेथ्रघ्न** तथा आर्मीनियम-**वेहेग्न** आदि शब्दों की तुलना से भी यह बात सिद्ध होती है। वैदिक रुद्र, इन्द्र तथा पर्जन्य इसी भारोपीय तडित् देव के विभिन्न विकास माने गये हैं [तु० कौ०, श० ब्रा० **'स्तनयित्नुरेवेन्द्रः'**]

केवल भारत में ही आकाश एवं तडित् के ये देवता अपना-अपना व्यक्तित्व पृथक् रखने में समर्थ हो सके हैं। ग्रीक देवशास्त्र में ज़्येउस् इस देवता की विशेषताओं को आत्मसात् करके शक्तिशाली बन बैठे हैं। उन्हें प्रायः हाथ में तडित् या वज्र लिये हुए वर्णित किया गया है और उनके **'नेफेलेगेरितस्'** [विद्युत् के प्रकाश से प्रसन्न होने वाले] आदि विशेषण इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहने देते।

लिथुआनियन पैर्कुनस के विषय में यह तथ्य पूर्णतः विपरीत है। उसने स्वयं प्राचीन आकाश-देव की विशेषताएँ आत्मसात् करली है और वह लिथुआनियन देवमंडल का सर्वाधिक सशक्त देवता बन बैठा है।[2]

वैदिक पर्जन्य के स्वरूप में कहीं-कहीं आकाशदेव का भी प्रभाव परिलक्षित हो जाता है। उदाहरणार्थ ऋ०वे० ५।८३।६ में उसे **'असुर'** कहा गया है [**अपो निषञ्चन् असुरः पिता नः**] जो मुख्यतः वरुण अथवा द्यौस् का विशेषण है।

(ङ) सूर्य, चन्द्रमा तथा उषस्

(अ) रात्रि के अन्धकार तथा अज्ञान को विदीर्ण करता हुआ, प्राणियों को नवचेतना, जागृति तथा स्फूर्ति का सन्देश देकर उन्हें विभिन्न कर्मों में प्रवृत्त करता हुआ, उदीयमान सूर्य का दृश्य किसके लिये स्वागत पात्र नही होता? अतः यह असंभव था कि **सूर्य** की उपासना का विचार किसी भी जागृत जाति के हृदय में उद्बुद्ध न हो। आर्यों में ही नहीं अनेक आर्येतर जातियों के धर्मों में भी सूर्य की उपासना एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। अन्तर केवल इतना है

---

१. **वै० मा०**, पृ० ६६।

२. ब्लूमफील्ड : **रि० वे०**, पृ० ११२।

कि अन्य जातियों में सूर्योपासना जहाँ अनेक प्रकार के यातविक कृत्यों से परिपूर्ण है वहाँ आर्य जातियों में इसका लगभग पूर्ण अभाव है ।

आर्यजातियों में सूर्य को सूचित करने वाले शब्दों के संम्बन्ध में निम्न-लिखित समीकरण प्राप्त होता है—

संस्कृत—**स्वर्** (सुवर्, तथा सूर्य), अवेस्ता—**ह्वर्**, ग्रीक—**हेलियोस्**, लेटिन—**सोल्**, गाथिक—**सोयल**, वेल्श—**ह्यूल्** प्रा० प्रशियन—**साउले**, लिथुआ-नियन—**साउले**, स्लेव० **सांल्ज़्** ।

ऋग्वेद में सूर्य को प्रत्यक्षतः सूचित करने वाले देवता का नाम **सूर्य** ही है। किन्तु वैदिक देवमंडल में उनका स्थान अपेक्षाकृत गौण है। उन की अपेक्षा विष्णु, विवस्वान्, सविता आदि अन्य सौर देवता मंत्रों की संख्या एवं स्वरूप की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट हैं। सूर्य का एक सामान्य विशेषण आदित्य (अदिति का पुत्र) है जो परवर्ती साहित्य में उनकी व्यक्तिवाचक संज्ञा बन गया है।

श्रादर का मत है कि रोमन देवमण्डल में मूलतः **सोल्** (सूर्य) तथा **लूना** (चन्द्रमा) का अभाव था। पुरोहितों को प्राचीन नियमपुस्तकों (रेगुलेशन्स) में तथा उन पुस्तकों में जिनमें विभिन्न देवों को दी जाने वाली बलि आदि का उल्लेख किया गया है (Calendar of Feasts) इन देवों का कोई विवरण-प्राप्त नहीं होता। अतः प्रतीत होता है कि ये देवता बाद में रोमन देव मंडल में प्रविष्ट हुए[1] । किन्तु परंपरा श्रादर के मत को सही सिद्ध नहीं करती। इन पुस्तकों में कुछ ऐसे देवों का भी उल्लेख नहीं है जिसकी रोमन देवमंडल में पूजा के विषय में अन्यत्र निश्चित एवं अभ्रान्त प्रमाण प्राप्त होते हैं। लिथुआनियन धर्म में केवल **साउले** (सूर्य) एवं **मेनू** (चन्द्रमा) ही नहीं अपितु **'ओस्श्रा'** (उषस्) तथा **'ओस्व्रीने'** और **'वकरीने'** (क्रमशः भोर एवं सांझ का तारा) भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। प्राचीन जर्मन जाति के धर्म में भी सूर्य एवं चन्द्रमा की पूजा के अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। याकोब ग्रिम ने लिखा है कि "इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि हम लोगों के प्राचीनतम धार्मिक इतिहास में, अनेक आकाशीय वस्तुओं की—विशेषतः सूर्य एवं चन्द्रमा की—पर्याप्त उपासना होती थी[2] ।"

---

१. श्रादर—**ए० रि० ई०**, द्वितीय भाग, **आ० रि०**, पृ० ३७ अ ।

२. ग्रिम, **ट्यूटानिक माइथॉलजी** ('दौइछे मिथोलोगी' का अँग्रेज़ी अनुवाद) भाग २, पृ० ७०४ ।

सुप्रसिद्ध ग्रीक इतिहास लेखक हेरोदोतस् (१।१३१) क्सेनोफोन (८।३।१२) तथा यूनियस (३।३।७) ने लिखा है कि है कि प्राचीन ईरानियन सूर्य की पूजा करते थे। इसका **'ह्वर्'** नाम से आह्वान किया जाता था और इसके लिये प्राय: प्राय: प्रयुक्त होने वाला **और्वतस्प** (शीघ्रगामी अश्वों से युक्त) विशेषण सूचित करता है कि वे सूर्य की तीव्रगामी अश्वों द्वारा खींचे जाते हुए रथ में आकाश की परिक्रमा करने की कल्पना करते थे। ऋग्वेद में भी प्राय: सूर्य को सात घोड़ों के रथ पर आरूढ होकर आकाश में विचरण करते हुए वर्णित किया गया है (इसलिये परवर्ती साहित्य में उनके लिये **सप्तसप्तति** विशेषण प्राप्त होता है) ठीक इसी प्रकार ग्रीक देवशास्त्र में भी सूर्य (=**अपोलो**) के रथ को पक्ष-युक्त अश्वों द्वारा खींचा जाता हुआ बताया गया है।

कहा जा चुका है कि ऋग्वेद में सूर्य को प्राय: आकाशदेव वरुण का तेज बताया गया है। सूर्य की आकाश से सम्बन्धित देवता के नेत्र के रूप में परि-कल्पना ग्रीक, जर्मन तथा ईरानियन देवशास्त्रों में भी प्राप्त होती है।

(आ) **चन्द्रमा** की उपासना के बीज प्राचीन ग्रीक, रोमन, ईरानी, जर्मन तथा आंशिक रूप में भारतीय देवशास्त्र में[1] भी पाये जाते हैं। चन्द्रमा के वाची शब्दों का समीकरण इस प्रकार है—

संस्कृत—**मास्** अवे०—**माह्**, ग्रीक—**मेने**, गाथिक—**मेना** लिथु०—**मेनू** (लैटिन—**लूना** तथा आर्मीनियन—**लूसिन**)।

यद्यपि भारोपीय काल में चन्द्रमा का मानवीकरण एवं दैवीकरण सम्भव है किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह सूर्य की भाँति उपास्य था या नहीं। ऋग्वेद में सूर्य के साथ द्वन्द समास में उसका कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है। (**सूर्यामासौ** या **सूर्याचन्द्रमसौ**) किन्तु ऋग्वेद में वह अत्यन्त सामान्य स्थान का भागी है। ग्रीक-देवशास्त्र में चन्द्रमा को तीन चक्रों वाले रथ में आकाश में भ्रमण करते हुए बताया गया है। भारत में भी यह धारणा

---

१. हिलेब्रान्ड्ट का यह मत कि ऋग्वेद के नवम मंडल में सोमविषयक जितने भी सूक्त हैं वे चन्द्रमापरक हैं और उनका सोमरस से कोई सम्बन्ध नहीं हैं, विद्वानों को सामान्यत: मान्य नहीं है (दे०, **वेदिशे मिथोलोगी** : प्रथम भाग, पृ० २७४, ३०६, ३२६, ३४०, ४६० आदि तथा द्वितीय भाग, २०६-४५)।

प्राप्त होती है क्योंकि विष्णु पुराण में इसका उल्लेख किया गया है (**रथस्त्रिचक्रः सोमस्य कुन्दाभास्तस्य वाजिनः, २।१२।१**)

वैदिक साहित्य में चन्द्रमा पादपों ओषधियों तथा विशेषतः सोमलता से सम्बन्धित है। उसे ओषधियों का पति तथा राजा कहा गया है। ओषधियाँ रात्रि में चन्द्रमा की किरणों से रस ग्रहण करती है। सोमरस और चन्द्रमा का सम्बन्ध परवर्ती साहित्य में इतना अधिक घनिष्ठ हुआ कि ब्राह्मणों में ही इन्दु एवं सोम शब्द चन्द्रमा के वाची बन गये। विल्के ने इस सम्बन्ध की इस प्रकार से व्याख्या करने की चेष्टा की है कि शुक्लपक्षार्ध के चन्द्रमा की आकृति सोम-पान करने के चषक की भाँति होती है अतः धीरे-धीरे सोम एवं चन्द्रमा का सम्बन्ध स्थापित हो गया[1]। किन्तु यह व्याख्या नितान्त असन्तोषजनक तथा अमान्य है।

विभिन्न आर्य देव शास्त्रों में सूर्य एवं चन्द्रमा के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करने से अनेक रोचक परिणाम प्राप्त होते हैं। आर्य जाति में सूर्य तथा चन्द्रमा की विभिन्न लिंगों में कल्पना बहुत प्राचीन है। जर्मन, एंग्लोसैक्सन तथा लियुआनियन भाषाओं में सूर्य के वाची शब्द स्त्रीलिंग में है और चन्द्रमा के पुल्लिग में। किन्तु ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं में इसका ठीक उलटा है। यहाँ सूर्य के वाची सभी शब्द पुल्लिग हैं और चन्द्रमा के वाची स्त्रीलिंग। दोनों की भाई और बहन या पति के रूप में प्रायः कल्पना की गई है। एक लैटिश गीत में कहा गया है कि एक बार चन्द्रमा (पुरुष) और सूर्य (स्त्री) ने परस्पर विवाह किया। पत्नी प्रातःकाल शीघ्र उठ जाती थी किन्तु पति देर से। दोनों में खटपट हुई और पति (चन्द्रमा) भोर के तारे से प्रेम करने लगा। शक्तिशाली पैर्कुन इस व्यभिचरण से अत्यन्त अप्रसन्न हुआ और उसने पति पर खड्ग प्रहार किया जिससे वह खंडित हो गया[2]।

एक अन्य मनोरंजक यूरोपीय लोक-कथा के अनुसार सूर्य आकाश की पुत्री है और चन्द्रमा पुत्र। पिता आकाश ने पहले पुत्र (चन्द्रमा) को दिन में तथा पुत्री (सूर्य) को रात्रि में प्रकाश करने के लिये नियुक्त किया था। किन्तु उस

---

१. विल्के: **डी रिलीगियीनेन डेर इंडोगेर्मानेन** : पृ० १५२-५३।

२. देखिये, देशमुख : **ओरिजिन०** पृ० १२६, मैक्डानल : **वै० मा०** पृ० ८ श्रादर : **ए० रि० ई० २. आ० रि०** पृ० १७, कीथ : **रिलीजन०** १। पृ० ३८।

बालिका को रात्रि में भय लगता था अत: उसने दोनों की स्थिति बदल दी। दूसरे दिन जब प्रात: काल आकाश की लावण्यमयी पुत्री पूर्व में उदित हुई तो पृथ्वी के लोग उसकी ओर एकटक देखने लगे। इससे वह लज्जा से आरक्त हो गई और बाद में उसका मुखमण्डल श्वेत पड़ गया। अब कोई उसकी ओर देखने का साहस नहीं कर सकता।

यद्यपि संस्कृत में सूर्य एवं चन्द्र दोनों ही शब्द पुल्लिग हैं किन्तु ऋग्वेद १०।८५ में **सोम** (चन्द्रमा) एवं **सूर्या** के विवाह का विस्तार से उल्लेख मिलता है। यह सूर्या सूर्य के सबसे निर्बल रूप का मानवीकरण है। इसीलिये सायण आदि ने इसे उषा का वाची माना है। हो सकता है इसमें किसी ऐसी अत्यन्त प्राचीन भारतीय धारणा के बीच निहित हों जिसके अनुसार सूर्य की एक स्त्री के रूप में भी परिकल्पना की जाती रही हो।

आर्य भाषाओं में चन्द्रमा के वाची लगभग सभी शब्द **'मा'** धातु से निकले हैं। इस घातु का अर्थ है, 'नापना'। वैदिक भाषा में ही नहीं अपितु अन्य प्राचीन आर्य भाषाओं में भी यह क्रिया इसी अर्थ में प्राप्त होती है इससे प्रतीत होता है प्राचीन समय में चन्द्रमा से ही समय की परिगणना होती थी और उसी के एक पूर्ण चक्र को **'मास'** कहा जाता था।

(इ) **उषा** के वाची शब्दों में सम्बन्धित आर्य भाषाओं में निम्नलिखित समीकरण प्राप्त होता है—

संस्कृत—**उषस्**, अवेस्ता—**उशह्**, ग्रीक—**एओस्** लैटिन—**औरोरा,** लिथु०—**औस्ज्रा**।

ये सभी शब्द मूल भारोपीय धातु *'**एवेस्**' (सं०**वस्**) से निकले हैं जिसका अर्थ है प्रकाशित होना, या चमकना।

इस प्रकार यद्यपि आर्य भाषाओं में उषस् के वाची शब्दों में पर्याप्त समानता है किन्तु भारत को छोड़ कर अन्य देशों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ भी उषा की एक देवी के रूप में मान्यता थी। उषा देवी की धारणा निस्सन्देह वैदिक धर्म की अपनी प्रसूति है और इसका भारोपीय काल से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। ट्यूटानिक (जर्मन) देवशास्त्र में अवश्य उषा का नाम **'औस्ट'** नामक एक महत्वपूर्ण देवी के रूप में विकसित हुआ है। किन्तु यहाँ प्रातःकाल की देवी वसन्त ऋतु की देवी बन गई है। संभवत: इसका कारण यह है कि देवी उषस् की उपासना पहले वर्ष के प्रारम्भ में होती थी। भारत में भी

नववर्षेष्टि के अवसर पर उषा का विशेष पूजन किया जाता था। अतः धीरे-धीरे दिन के प्रारम्भ को सूचित करने वाली उषा वर्ष के प्रारम्भ को भी सूचित करने लगी और वर्ष की प्रथम ऋतु की अधिष्ठात्री बन गई[1]।

(च) अश्विनौ

अश्विनौ ही एक ऐसे भारोपीय देवता हैं जिनका सामान्य आर्यकाल में अस्तित्व सिद्ध करने के लिये हमारे पास कोई भाषावैज्ञानिक प्रमाण नहीं है। किन्तु वैदिक **'अश्विनौ'** ग्रीक **'दिओस्कौरोई'** तथा लैटिश **'ईश्वरपुत्रों'** के स्वरूप में इतना घनिष्ठ साम्य है कि उन्हें हम केवल संयोग कह कर उपेक्षित नहीं कर सकते। तीनों देवयुग्मों का स्वरूप-साम्य यह मानने के लिये बाध्य करता है कि भारोपीय काल में अवश्य ही इस देवयुगल का किसी न किसी रूप में अस्तित्व था किन्तु धीरे-धीरे विकास क्रम से उसने विभिन्न आर्यधर्मों में विभिन्न नाम तथा रूप धारण किये।

इन देवों की प्राचीनता सिद्ध करने वाला सबसे बड़ा तथ्य यह है कि उनका नाम **नासत्या** (ना-स-अत-ति-या-अन्ना) एशिया माइनर [तुर्की] के **बोग़ाज़क्यूई** नामक स्थान में मिले मृत्फलक पर प्राप्त होता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है यह फलक लगभग १४वीं शताब्दी ई० पू० का है और संभवतः ईरानी काल से पूर्व का है। क्योंकि संस्कृत का दन्त्य **स्** प्राचीन फारसी में (अवेस्ता में भी) निरपवाद रूप से **ह्** में परिवर्तित हो जाता है। यहां नासत्या शब्द में **'स्'** अपने मूल रूप में सुरक्षित है इससे प्रतीत होता है कि उस समय तक यह **वर्ण-परिवर्तन** नहीं हुआ था। अवेस्ता में **'नाओङ्‌हैथ्या'** नाम का राक्षस भी पाया जाता है जो नासत्या का ही अपकृष्ट रूप है। अतः प्रतीत होता है कि **नासत्या** शब्द अवेस्ता की रचना तथा ज़रथुस्त्र के धर्म के उदय से बहुत पहले का है।

वैदिक अश्विनौ को दो सुन्दर युवकों के रूप में चित्रित किया गया है। वे चतुर अश्वारोही हैं। कष्ट में पड़े हुए व्यक्तियों की रक्षा के लिए वे तत्क्षण जाते हैं। उषा उनकी बहन (तथा कहीं-कहीं पत्नी भी) है। उन्हें द्यौः के पुत्र (**दिवो नपाता**) भी कहा गया है।

ठीक इसी प्रकार **ग्रीक दिओस्कौरोइ** की कल्पना दो सुन्दर तथा स्वस्थ नवयुवकों के रूप में की गई है। उनके नाम **कास्तॅर** तथा **पाउलुक्स** हैं। संकट के

---

१. हिलेब्राइन्ट् : **वैदिशे मिथोलोगी** द्वितीय भाग, पृ० २६ त० आ०।
और श्रादर, **ए० रि० ई०, आ० रि०** पृ० ३४ ब।

समय वे सुन्दर अश्वों पर चढ़ कर अपनी कृपापात्र सेना की सहायता करने आते हैं। वे **ज्येउस्** के पुत्र हैं और **हेलेन** (उषा, **हेलियोस्** = सूर्य) उनकी बहन है। अश्विनौ की भाँति उनका भी कष्ट में पड़े मनुष्यों की रक्षा करने के लिए आह्वान किया जाता है। उनका एक विशेषण **अनक्तेस्** भी है जिसका अर्थ रक्षक होता है।

लैटिश **"ईश्वर-पुत्रों'** में भी अश्विनौ से समानता रखने वाली कुछ विशेषताएँ हैं। वे भी युगल देवता है और उन्हें भूरे रंग के अश्वों पर आरूढ़ चित्रित किया गया है[१]। अश्विनौ की भाँति वे भी सूर्य की पुत्री से विवाह करते हैं और ईश्वर-पुत्रों के सूर्य की पुत्री से विवाह करने की कथा लैटिश लोक गीतों का प्रिय विषय है[२]।

इस प्रकार इन युगल देवों की पारस्परिक समान विशेषताएँ सूचित करती है कि भारोपीय काल में उनकी कल्पना के वीज अवश्य वर्तमान थे जो भारतीय ग्रीक, लेट्स तथा ईरानी (और संभवतः ट्यूटानिक) आदि जातियों में जाकर पल्लवित हुए[3]।

मूल स्वरूप की इसी प्राचीनता के कारण इन देवों के मूल प्राकृतिक आधार का पता लगाना अत्यन्त कठिन है। विकास क्रम में उन्होंने अपने इतने अधिक नाम तथा रूप बदले हैं कि विद्वानों का यह विचार है कि स्वतः वैदिक ऋषि भी इस बात को नहीं जानते थे कि उनका मौलिक एवं वास्तविक स्वरूप क्या है[४]।

ऋग्वेद के प्राचीनतम व्याख्याकार यास्क के सम्मुख ही वे एक समस्या थे। उसने उनके स्वरूप को चार वैकल्पिक व्याख्याएँ की हैं : पृथ्वी एवं आकाश, सूर्य तथा चन्द्रमा, दिवारात्रि तथा दो ऐतिहासिक पुण्यशाली राजा। ग्रीक **दिओस्कौरोइ** का मिथुन राशि के दो तारों से कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसलिये कुछ विद्वान् ऐसा समझते हैं कि अश्विनौ का भी उद्गम किन्हीं दो तारों से—विशेषतः भोर तथा सांझ के तारों से हुआ है[५]।

---

१. ए० रि० ई०, १२ वाँ भाग, पृ० १०२ ब।
२. **वही**, तथा देशमुख: **ओरिजिन०** पृ० ११५।
३. तु० की, ग्रिसवोल्ड: **रिलीजन आफ दि ऋग्वेद** : पृ० २५५।
४. मैक्डाजल : **वै मा०**, पृ० ५३।
५. ओल्डेनवेर्ग : **डी रिलगियोन डेस वेद** : पृ० २०७-१५।
ब्लूमफील्ड : **रिलीजन आफ् दि वेद**, पृ० ११३-१४।

(छ) अग्नि

संस्कृत—**अग्निः**, लैटिन—**इग्निस्**, लिथु०—**उग्निस्**, प्रा०स्लेव० **ओग्नि**।

अग्नि के विषय में हमारे पास चार आर्य भाषाओं पर आधारित उपर्युक्त समीकरण है। किन्तु आग दैनिक जीवन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता है अतः यह शब्द-साम्य निश्चित रूप से यह सूचित नहीं करता कि भारोपीय काल में अग्नि को देवता माना ही जाता था। दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं के वाची शब्दों में ऐसा साम्य प्रायः पाया जाता है।

प्राचीन काल में देवों को यज्ञ आदि में उनका भाग प्रदान करने की सबसे सरल और सामान्य रीति उसे वेदी में प्रज्ज्वलित अग्नि में डाल देना था। जिससे कि अग्नि धूम के रूप में आहुति को स्वर्गस्थ देवों तक ले जाए। देवों को अन्न आदि प्रदान करने का यही प्राचीनतम ढंग था क्योंकि प्राचीन रोमन, ग्रीक तथा भारतीय धर्मों में यह समान रूप से पाया जाता है। इस प्रकार मनुष्यों के द्वारा दी गई वस्तु को देवों तक पहुँचाने के कारण, मर्त्यों और अमरों के बीच की शृंखला के रूप में अग्नि का बड़ा मान था। उसे श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से देखा जाता तथा अत्यन्त पवित्र माना जाता था। आर्यों के परस्पर विभाजन के उपरान्त अग्नि की उपासना अनेक मुख्य जातियों में विभिन्न रूपों में विकसित हुई और प्रायः प्रत्येक स्थान में इसे एक महत्वपूर्ण देवता का पद प्राप्त हो गया।

लिथुआनियन जाति में यह विशेष रूप से आदर तथा पूजा की पात्र थी। इसे **'उग्निस् स्ज़ेवेन्ता'** (पवित्र अग्नि) तथा **'स्ज़ेवेन्ता पोनिके'** (पवित्र स्वामिनी) कहा जाता था। पूरे वर्ष भर इसकी उपासना होती थी और इसको घरों में बनी हुई वेदियों में सदा प्रज्ज्वलित रखा जाता था। वेदी से संबन्धित एक अन्य देवी भी लिथुआनियन धर्म में मानी जाती थी जिसका नाम **'अस्पेलेने'** था (**पेलेने** अग्नि की वेदी कहते हैं। **अस्पेलेने** का अर्थ है—वेदी के पीछे)[1]।

इसी प्रकार रोम में भी वेदी की देवी **'वेस्ता'** की एक विशेष प्रकार के

मैक्समूलर : **ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ रिलीजन** : पृ० २०५।
मैक्डानल ने इसे अश्विनौ के स्वरूप की सबसे सन्तोषजनक व्याख्या माना है। **वै० मा०**, पृ० ५३, ५४।

१. श्रादर—**वही** पृ० ३४।

गोल मन्दिरों में धूमधाम से पूजा होती थी। ये मन्दिर विशेष रूप से इसी अग्नि की देवी के लिये बनाये जाते थे। मंदिरों में इसकी पूजा करने के लिये एक पुजारिन नियुक्त की जाती थी जो आजीवन अविवाहित रहती थी। रोम के अनेक सम्भ्रान्त व्यक्ति इसके लिये अपनी कन्याओं को वेस्ता देवी को भेंट कर देते थे। यदि मन्दिर में स्थापित की गई अग्नि बुझ जाती थी तो उसे दो लकड़ियों की सहायता से ठीक उसी भाँति प्रज्ज्वलित किया जाता था जैसे भारत में।

ग्रीक अग्नि देवी **'हेस्तिया'** रोमन वेस्ता का ठीक प्रतिरूप है। वह भी घर की वेदी में स्थित अग्नि की अधिष्ठात्री है। उसकी कल्पना एक ऐसी कुमारी देवी के रूप में की गई है जो प्रत्येक गार्हस्थिक कर्म पर स्वामित्व रखती है। ग्रीस के बड़े-बड़े नगरों में नागरिकों के जमा होने के एक मंडप के नीचे, जिसे **'प्रितानियुम्'** कहते थे, पवित्र अग्नि सदा प्रज्ज्वलित रखी जाती थी। इधर उधर के ग्रामों या नगरों से आने वाले यात्री ऐसे प्रितानियुम् से अपने अपने नगरों के लिये इस पवित्र अग्नि को ले आते थे।

ग्रीक एवं रोमन अग्निदेवियों के घनिष्ठ साम्य के कारण प्रायः विद्वानों का यह विचार है कि रोम ने अग्निपूजा ग्रीस से ली थी किन्तु श्रादर आदि कुछ विद्वान् रोम में अग्निपूजा के इतिहास को ग्रीक अग्न्युपासना से अधिक प्राचीन मानने के पक्ष में हैं[1]।

हेरोदोतस् ने अपने इतिहास में लिखा है कि **स्काइथियन** जाति में भी **'इस्तिया'** नामक अग्नि देवी की पूजा होती थी और इनका उनके देवमंडल में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था।

वेदी में प्रज्ज्वलित अग्नि से संबन्धित इन देवियों के नाम का मूल भारोपीय काल में भी ढूंढा जा सकता है। संस्कृत के **तपस्** (ताप) तपति, अवेस्ता के **तप्**, स्काइथियन के **तबिति** (उष्णता या उष्ण करने वाला), तथा लैटिन के **तेपेस्को** आदि शब्द परस्पर सम्बन्धित हैं।

पारसी या जरथुस्त्र धर्म में अग्नि देव **'अतर'** का महत्व किसी से छिपा नहीं है। अग्नि की पूजा पारसी कर्मकाण्ड की इतनी महत्वपूर्ण वस्तु है कि उसके बिना पारसी धर्म के वर्तमान स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती।

---

१. श्रादर : ए० रि० ई०, २, आ० रि० पृ० ३५ अ०।

अग्नि पृथ्वी पर अहुरमज्दा की शक्ति एवं तेज का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है और उसे मुख की अशुद्ध वायु से फूंकना भयंकर पाप है। प्राचीन ईरान में भी ग्रीस एवं रोम की भांति मन्दिरों में एक ऊँची वेदी पर प्रस्थापित अग्नि की अत्यन्त समारम्भ के साथ पूजा की जाती थीं।

किन्तु अग्नि के भौतिक तत्त्व से उत्पन्न होने वाले देवों में निश्चित रूप से महत्व की दृष्टि से वैदिक **'अग्नि'** का स्थान सर्वोच्च है। ऋग्वेद के सर्व-प्रथम मंत्र में ही उनकी स्तुति की गई है और उन्हे **'यज्ञ का तेजस्वी पुरोहित'** बताया गया है। पृथ्वीस्थानीय देवों में अग्नि को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है और ऋग्वेद के लगभग १००० सूक्तों में उनके लिये प्राय: २०० सूक्त कहे गये हैं। यज्ञ एवं कर्मकाण्ड के महत्व के साथ साथ वैदिक युग में अग्नि का भी महत्व बढ़ा है और ऋषियों की दृष्टि उनके भौतिक रूप से उठकर अन्तरिक्ष एवं आकाश के रूप (**विद्युत तथा सूर्य**) तक भी पहुँची है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि ग्रीक, रोमन, लिथुअनियन तथा स्काइथियन धर्मों में अग्नि की एक देवी के रूप में धारणा प्राप्त होती है किन्तु ईरानियन तथा भारतीयों ने उसकी एक देवता के रूप में कल्पना की है। लिंगों का यह भेद सूचित करता है कि इन दोनों धारणाओं में पर्याप्त अन्तर है और भारोपीय काल में संभवत: अग्नि की केवल एक **भौतिक तत्त्व** के रूप में ही उपासना होती थी। उस का देवता या देवी के रूप में मानवीकरण नहीं हुआ था[1]। यही कारण है कि आर्यों की पश्चिमी तथा पूर्वी शाखा में अग्नि की दैवी शक्ति के रूप में उपासना विभिन्न प्रकार से विकसित हुई।

वर्षा ऋतु में मेघों के बीच में चमकती हुई विद्युत् का वृक्षों आदि पर गिर उन्हें प्रज्ज्वलित कर देने का दृश्य अत्यन्त सामान्य है। इस प्राकृतिक दृश्य की विभिन्न आर्य जातियों में अनेक प्रकार से कथा के रूप में व्याख्या की गई है। ग्रीक देवशास्त्र में कहा गया है कि मनुष्यों का आदि जनक **प्रोमेथेउस** (Prometheus) मनुष्यों के लिये आकाश से यह उपहार चुरा कर लाया था। पृथ्वी पर उसने इसे नष्ट होने से बचने के लिये खोखले सरकंडों या बाँसों के बीच में रख दिया। इसीलिये घर्षण से इनसे आज भी अग्नि उत्पन्न हो आती है। इसी प्रकार वैदिक देवशास्त्र में **मातरिश्वा** आकाश से इस गुप्त अग्नि को पृथ्वी पर लाता है (ऋ० वे० १।९३।६,३।२।१३)। संस्कृत के **प्रमन्थ**

---

१. कीथ : **रिलीजन०**, प्रथम भाग, पृ० ३८।

(मन्थनदंड) तथा **माठव** (श० ब्रा० में एक पुरोहित का नाम जिसने अग्नि की पूजा को भारत के पूर्वी भाग में फैलाया) शब्द इस ग्रीक प्रोमेथेउस् से प्राय: संबन्धित किये जाते हैं। पर साम्य इतना अपूर्ण तथा अस्पष्ट है कि इससे कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता। किन्तु इतना अवश्य है कि कई आर्य जातियों में सामान रूप से पाई जाने वाली अग्नि की चोरी की कथा बीजरूप में संभवत: भारोपीय काल में भी उपस्थित रही होगी[1]।

(ज) वायु तथा जल देवता

यह पूर्णत: निश्चित है कि प्रकृति के वायु एवं जल (आपस्) तत्वों का देवों के रूप में पूर्ण विकास वैदिक युग में आकर ही हुआ है। भारोपीय काल इनके व्यक्तित्व की धारणा अवश्य अत्यन्त क्षीण तथा अस्पष्ट रही होगी क्योंकि केवल लिथुआनियन धर्म में वायु के एक देवता **'वेजो-पतिस्'** का उल्लेख मिलता है। इसका अर्थ है **'वायु का स्वामी**। **वेजिस्** या **वेजस्** शब्द लिथो-प्रशियन भाषाओं में हवा के वाची हैं और इनका वैदिक (तथा लौकिक) **'वायु'** शब्द से संबन्ध है। श्रादर का मत है कि लिथुआनियन देवशास्त्र में वेजो-पतिस् अयश्य ही अत्यन्त प्राचीन देवता है क्योंकि इसी तथा केवल एक अन्य शब्द (**वीस्जपतिस्**, सं० **विश्पति** : 'मनुष्यों का स्वामी' अर्थात् ईश्वर) में प्राचीन आर्य शब्द **पति** (स्वामी) का भाव सुरक्षित है जब कि अन्यत्र वह लुप्त हो गया है[2]।

संस्कृत के **'वात'** शब्द की लैटिन **'वेन्टुस'**, गाथिक **'विन्ड'** तथा ट्यूटानिक **'वोडन'** शब्दों से तुलना की जाती है किन्तु भाषावैज्ञानिक नियमों से लैटिन आदि में प्राप्त शब्दों के अनुस्वार की सन्तोषजनक व्याख्या न हो पा सकने के कारण इस समीकरण को विशेष महत्व नहीं दिया जाता[3]।

जल के देवत्व के चिह्न भी अनेक प्राचीन आर्य जातियों में पाये जाते हैं। ग्रीक इतिहास लेखक **हेरोदौतस्** (१।१३८) तथा **अगाथियास्** (२८।४) ने अपने-अपने इतिहासों में क्रमश: ईरानी तथा ट्यूटन जाति के विषय में इसका स्पष्ट

---

१. कीथ : **रिलीजन०**, भाग १, पृ० ३८।

२. श्रादर : **ए० रि० ई०**, **आ०रि०**, ३५ अ (पाद टिप्पणी)

३. इस प्रसंग में प्रो० पाउल थीमे का ASIATICA (Festschrift Prof. F. Weller, लाइप्त्सिष् १९५४, पृ० ६५६-६६६) में प्रकाशित Die Wurzel 'Vat' नामक लेख भी द्रष्टव्य है।

उल्लेख किया है। ग्रीक भाषा में नदियों को **'दियापेताइस्'** या आकाश से उत्पन्न कहा जाता है। रोमन देवमंडल में जल तथा समुद्र के देवता का नाम **नेप्तून** है। अवेस्ता में **नप्त** शब्द आर्द्रता का द्योतक है और **नपस्** शब्द निर्झर के लिये प्रयुक्त होता है। इन सब में **अप्** मूल खोजा जा सकता है जो वैदिक **भाषा** में जल का नाम है। ऋग्वेद में अप् का बहुवचन **आपस्** (स्त्री०) देवियों के रूप में अभिष्टुत हुआ है। ये **'आपोदेवीः'** आकाश से बरसने वाला जल है, पृथ्वी सम्बन्धी नहीं। जलों की देवी के रूप में यह धारणा पूर्णतः भारतीय है। भारोपीय काल में संभवतः जल एवं वायु दोनों की धारणाएं झंझावात या तडित् के देवता (**पर्जन्य**) के साथ मिली हुई थीं।

: ४ :

ऊपर कुछ ऐसे भारोपीय देवों का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया गया है जिनके अस्तित्व के विषय में निश्चित भाषावैज्ञानिक अथवा तुलनात्मक देवशास्त्रीय प्रमाण समुपलब्ध हैं। पर यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि विकास के इस प्रारम्भिक काल में देवों के अपने स्वतन्त्र एवं पृथक् नाम नहीं थे। इसका मुख्य कारण यह है कि उस समय उनका व्यक्तित्व इतना अधिक अपूर्ण, अस्थिर तथा सूक्ष्म रेखाओं मात्र में सीमित था कि उनको व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से अभिहित नहीं किया जा सकता था। **द्यौस्** (द्येउस्) **अग्नि, सूर्य** आदि देवों के रूप में आर्य उस रहस्यमयी शक्ति अथवा **दिव्य चेतना** की पूजा करते थे जो क्रमशः उन्हें आकाश, अग्नि तथा सूर्य आदि के प्राकृतिक दृश्यों के पीछे प्रस्फुरित होती हुई प्रतीत होती थी। वे इन शक्तियों की स्तुति करते थे और इनके लिये यज्ञ भी करते थे किन्तु ये शक्तियाँ अपने प्राकृतिक दृश्यों से पृथक् नहीं हो पाई थीं। यही कारण है कि इन देवों के नाम पूर्णतः वे ही हैं जो इनसे सम्बन्धित प्राकृतिक दृश्यों के।

विकास की दूसरी अवस्था में धीरे-धीरे वैयक्तिक देवताओं की सृष्टि हुई और उनके व्यक्तिवाचक नामों का निर्माण हुआ। इस प्रवृत्ति की चरम सीमा भारतीय तथा ग्रीक महाकाव्यों में तथा पुराणों में देखी जा सकती है। वेदों के देवता इन दोनों सीमाओं के बीच में स्थित हैं।

भारोपीय देवों के व्यक्तित्व के अधिक विकसित न होने से और उनके शारीरिक स्वरूप के विषय में अधिक स्पष्ट धारणा न होने के कारण यह असम्भव प्रतीत होता है कि तत्कालीन आर्य प्रस्तर आदि की **मूर्तियाँ** बना कर उनकी नियमित पूजा करते रहे हों। भारोपीय काल में तो दूर,

विद्वानों ने वैदिक युग तक में मूर्तियों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है[1]। ईरानियों के विषय में ग्रीक ऐतिहासिक हेरोदोतस् ने अपने इतिहास में (१।१३१) में स्पष्ट लिखा है कि वे मूर्तियाँ एवं मन्दिर बनाना धर्म विरुद्ध समझते हैं और जो कोई ऐसा करता है उसे वे अज्ञानी समझते हैं'[2]। भारत में मूर्तियों का निर्माण यद्यपि सूत्र युग से ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु वह अपनी परिपूर्णता को महाकाव्य युग में ही पहुँचा है जब देवों की बाह्य आकृति जनता के मानस पटल पर सम्यक्तया अंकित हो चुकी थी।

आर्यों में मृत्यु के पश्चात् मनुष्य की आत्मा में विश्वास बहुत प्राचीन है। अतः सम्भव है कि वे अपने पूर्वजों या **पितरों की पूजा** करते रहे हों और उन्हें निश्चित समय पर अन्न आदि प्रदान करते रहे हों। पूर्वजों की पूजा आर्य जाति की अनेक प्राचीन शाखाओं में, विशेषतः भारतीय तथा लिथुआनियन जाति में, अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस पितर पूजा के पीछे सम्भवतः अनेक कारण थे। उदाहरणार्थ भारत में यह समझा जाता था कि मृत व्यक्ति की आत्मा (प्रेतात्मा) पितर बनने से पूर्व भूखी और प्यासी भटकती रहती है और जब तक उसके पुत्र पौत्र आदि उसे अन्न आदि न प्रदान करें तब तक वह ऐसे ही रहती है। यह भी सम्भव है कि प्रेतों के डर ने भी पितरपूजा को प्रेरणा दी हो और भोजन जल आदि के द्वारा व्यक्ति मृतात्मा को इसलिये तृप्त करते हों कि कहीं वह मनुष्यों को हानि न पहुँचाए। एक अन्य कारण यह भी सकता है कि मृतव्यक्ति के वंशज उस व्यक्ति के द्वारा अपने परिवारों के प्रति किये गये विविध उपकारों की कृतज्ञता के रूप में मृतात्मा को भोजन आदि प्रदान करके उससे भविष्य में भी परिवार की रक्षा करने की प्रार्थना करते हों।

विद्वानों का इस विषय में ऐकमत्य नहीं है कि भारोपीय काल में नियमित **पौरोहित्य** वृत्ति थी या नहीं। श्रादर का संस्कृत-**ब्राह्मण** तथा लेटिन-**फ्लेमेन** (पुंल्लिग-'अग्नि से सम्बन्धित व्यक्ति' तथा तथा नपु०लिंग-'जलाने वाली वस्तु') शब्दों के आधार पर मत है कि भारोपीय काल के सर्व प्रथम पुरोहित जादूगर या यातविक कृत्यों के कर्ता ही थे। किन्तु इन दो शब्दों का साम्य अत्यन्त सन्दिग्ध है। साथ ही यह भी संभव नहीं प्रतीत होता कि जादू का किसी भी उच्च धर्म, विशेषतः भारोपीय धर्म के उद्भव में योगदान रहा हो।

---

१. तु० की०, मैक्सम्यूलर, **चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप**, प्रथम भाग, पृ० ३८।

२. द्रष्टव्य : एमिल बेनवेनेस्त द्वारा संकलित **'पर्शियन रिलीजन'** (as nrrated by Greek historians) में हेरोदोतस् का विवरण।

यातु एवं धर्म दोनों मस्तिष्क की दो पृथक् पृथक् भावनाओं के प्रतीक हैं। जादूगर प्रकृति की निकृष्ट शक्तियों को प्रभावित करता है और उसे यह विश्वास रहता है कि उसके द्वारा पढ़े जाते हुए मंत्र स्वयमेव बिना किसी दैवी शक्ति की सहायता के किसी प्रभाव विशेष को उत्पन्न करने में समर्थ हैं। किन्तु जब कोई व्यक्ति जगत् की उत्कृष्ट एवं उच्च शक्तियों को स्तुति एवं यज्ञ आदि से प्रसन्न करके उनकी प्रसन्नता के परिणामस्वरूप किसी लाभ को प्राप्त करना चाहता है तो धर्म का जन्म होता है। एक अपने ऊपर किसी दिव्य शक्ति की सत्ता स्वीकार नहीं करता और दूसरा बिना दिव्य शक्ति को माने एक पग भी नहीं बढ़ सकता।

वस्तुत: आर्य भाषाओं में पुरोहित के वाची किसी समान शब्द की अनुपस्थिति एक अन्य दिशा की ओर संकेत करती है। भारोपीय काल में पुरोहितों की कोई आवश्यकता न थी। यज्ञ एवं कर्मकाण्ड के नियम उस समय तक इतने जटिल नहीं हुए थे। शक्तिशाली दिव्य शक्तियों के प्रति भय तथा आदर की भावना से प्रेरित होकर लोग स्वयं एकत्र होकर उनके लिये यज्ञ आदि संपन्न करते थे। पौरोहित्य तो वैदिक युग की वस्तु है जब ब्राह्मणों या 'ब्रह्माओं' (**ब्रह्मन्**: न०लि०-स्तोत्र, मंत्र तथा पुं०-स्तोता, मंत्ररचयिता) द्वारा विभिन्न देवों के लिये बहुसंख्यक मंत्रों का निर्माण हुआ, यज्ञ की क्रियाएँ अत्यन्त जटिल हो गईं और प्रत्येक क्रिया को एक विशेष प्रकार से विशेष मंत्र के साथ निष्पन्न करने का विधान किया गया। उस समय सामान्य व्यक्ति के लिये इन क्रियाओं एवं निश्चित मंत्रों को स्मरण रखना अत्यन्त कठिन था अत: इस विद्या के जानने वाले ब्राह्मण पुरोहितों के रूप में आगे आये।

पिछले पृष्ठों में वैदिक देवों के उस समय के स्वरूप की संक्षिप्त रूपरेखा दी गई है जब वे अमूर्त रूप में वैदिक ऋषयों के '**पूर्वे पितर:**' के हृदय में उदित हुए। किन्तु यह कहना कठिन है कि तुलनात्मक भाषाशास्त्र पर आधारित ये परिणाम कहाँ तक सही हैं। धर्म तथा देवशास्त्र का इतिहास व्याकरण का अध्याय नहीं है; और यदि हो भी तो आर्यों के इन प्राचीन देवों के नामों की उचित भाषा-वैज्ञानिक व्याख्या एक अत्यन्त कठिन कार्य है। इस सुदूर प्रागैतिहासिक काल के आर्य देवों के विषय में हमारा ज्ञान अत्यधिक असन्तोषजनक है क्योंकि उनके स्वरूप की अधिकांश विशेषताएं ऐतिहासिक युग तक आते आते ही पूर्णत: लुप्त हो चुकी थीं।

●

द्वितीय अध्याय

अवेस्ता और उसके वैदिक देवता

अवेस्ता प्राचीन ईरान की एकमात्र धार्मिक पुस्तक है। वर्तमान युग में भी यह भारत में रहने वाले पारसियों तथा ईरान के **'गबर'** संप्रदाय की धर्म-पुस्तक के रूप में मान्य है। यद्यपि आज यह खण्डित रूप में ही प्राप्त है किन्तु किसी समय यह एक ऐसे प्राचीन आर्य धर्म का आधार था, जो यदि ग्रीक तथा मुसलमान आक्रान्ताओं द्वारा नष्ट नहीं कर दिया गया होता तो आज मध्य एशिया के कई प्रदेशों में व्याप्त होता।

अवेस्ता शब्द का उद्गम अनिश्चित है। पर पहलवी[1] भाषा के **'आपस्ताक'** अथवा **'अविस्ताक'** तथा पजन्द के **'अवस्ता'** शब्दों से इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है। जिन अर्थों में ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनसे प्रतीत होता है कि वेद की भांति अवेस्ता शब्द का मूल अर्थ भी ज्ञान अथवा विद्या रहा होगा[2]। डार्म्सटीटर[3] का मत है कि यह शब्द प्राचीन फारसी के **'आवस्ता'** शब्द से निकला है। इस शब्द का अर्थ है नियम अथवा विधान। अवेस्ता में ही एक शब्द **'उपास्ता'** आया है। यह भी सम्भव है कि इसका उद्गम इसी शब्द से हो। ऐसी स्थिति में इसका अर्थ होगा 'वास्तविक' 'मौलिक' अथवा 'मूलग्रन्थ[4]। इसका विलोम **'ज़न्द'** है जिसका अर्थ व्याख्या या टीका होता है। सासानी काल के लगभग (५वीं शताब्दी) में इस पर पहलवी भाषा में एक विस्तृत

---

१. अवेस्ता की भाषा के बाद की फारसी। इसका विकास सासानी काल (तीसरी एवं चौथी शती) में हुआ है, प्राचीन फारसी से इसका वही सम्बन्ध है जो प्राकृत का संस्कृत से।
२. **ए० रि० ई०**, द्वितीय भाग, **'अवेस्ता'**—ए०, जैक्सन, पृ० २६६।
३. जे० डार्म्सटीटर : **ज़न्द अवेस्ता, [से० बु० ई० ४]**, प्रथम भाग, भूमिका (१)
४. **ए० रि० ई०**, द्वितीय भाग, पृ० २६६-७।

व्याख्या लिखी गई थी जिसे **ज़ेन्द** कहते हैं। इस टीका के मूल अवेस्ता से संलग्न रहने के कारण मध्ययुग की हस्तलिखित प्रतियों में **'आपस्ताक व ज़ेन्द'** ये दोनों शब्द शीर्षक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु १८वीं शती में जिन दो प्रथम पाश्चात्य विद्वानों (हाइडे तथा स्क्वेटिल) का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ। उन्होंने भ्रमवश दोनों शब्दों का एक ही अर्थ ग्रहण करके **'ज़ेन्द अवेस्ता'** शब्द केवल मूल अवेस्ता के लिये ही प्रयुक्त किया। उसके बाद भी यह भ्रान्ति बहुत समय तक बनी रही।

अवेस्ता में मुख्त: पारसी धर्म के प्रवर्तक **ज़रथुस्त्र** (ग्रीक Zoroastres, Zoroaster, अर्वाचीन-फारसी 'ज़रदुशी') की शिक्षाओं तथा उपदेशों का संकलन है। पारसी परम्परा के अनुसार ज़रथुस्त्र का जन्म ६६० ई० पू० हुआ था। प्रो० जैक्सन[1] आदि कुछ विद्वानों ने इस तिथि को स्वीकार भी किया है किन्तु आधुनिक विद्वान् इस समय को कम से कम दो सौ वर्ष और पूर्व मानने के पक्ष में हैं[2]। इस प्रकार ज़रथुस्त्र का समय लगभग ९वीं या १०वीं शती ई० पू० पड़ता है।

अवेस्ता का संक्षिप्त इतिहास

वर्तमान समय में जो अवेस्ता प्राप्त होता है वह प्राचीन काल के एक विशाल धार्मिक साहित्य का अंश मात्र है। ग्रीक लेखक **'प्लिनी'** ने लिखा है कि ज़रथुस्त्र ने बीस बार में पूरे एक लाख पदों की रचना की थी। अरब ऐतिहासिक **'टबरी'** का कथन है कि ये बारह सहस्र गोचर्म पर लिखे हुए थे। चौथी शताब्दी (सन् ३२६) ई० पू० में जब अलेग्ज़ेन्डर ने ईरान को एक भयंकर युद्ध में परास्त किया तो उसने अवेस्ता की मूल प्रतियों को खोज खोज कर नष्ट करवा दिया। राजनैतिक वातावरण के कुछ शान्त होने के पश्चात् पारसी पुरोहितों ने नष्ट अवेस्ता के संकलन तथा सम्पादन का प्रयास किया और खंडित प्रतियों की खोज की गई। बहुत से विषय का स्मृति के आधार पर भी उद्धार किया गया। सासानी राजाओं के शासन काल (तीसरी चौथी शती) में इसका संपादन विशेष परिश्रम एवं मनोयोग से हुआ। उपलब्ध अवेस्ता को २१ **'नस्कों'** में

---

१. **ज़ोरोएस्टर** पृ० १५६।

२. तु० की, गैल्डनर : **एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका**, भाग २१ पृ० १०४१।

बाँटा गया। पारसी परम्परा के अनुसार इन नस्कों का प्रथम शब्द **'अहुन-वैर्य'**[1] के एक-एक शब्द से प्रारम्भ होता था। अवेस्ता के इन २१ खण्डों की पुष्टि अरब के इतिहासकार **मसूदी** ने भी कीं है। कुछ काल के उपरान्त पहलवी भाषा में इस पर एक विस्तृत टीका भी लिखी गई।

किन्तु दुर्भाग्य ने पारसी धर्म का पीछा नहीं छोड़ा। ७वीं शताब्दी के आरम्भ में इस्लाम धर्म का अभ्युदय हुआ। अरब आक्रमणकारियों ने ६४२ ई० में निहाबन्द के युद्ध में ईरान को परास्त कर दिया और सौ वर्षों के भीतर ही ईरान की अधिकांश जनता ने इच्छा अथवा अनिच्छा पूर्वक इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया। जो पारसी बचे थे वे अपनी जन्म-भूमि से किसी ऐसे स्थान की खोज में निकल पड़े जहाँ वे अपने प्राचीन धर्म का स्वतन्त्रता पूर्वक पालन कर सकें। अन्ततः उन्हें भारत में शरण मिली और वे गुजरात तथा काठियावाड़ में बस गये जहाँ आज भी उनकी संख्या प्रायः एक लाख है। विस्तृत अवेस्ता के २१ नस्कों में जो प्रतिदिन के उपयोग का अथवा कर्मकाण्ड से सम्बन्धित अंश था उसे ये अपने साथ लेते आये थे। इस प्रकार वर्तमान अवेस्ता इस प्राचीन अवेस्ता के विभिन्न नस्कों से उद्धृत अंशों से बना है। केवल १९वां नस्क (वेन्दिदाद) ही पूर्ण और अक्षत रूप में प्राप्त है। पर इस समय अवेस्ता की किसी भी वर्तमान हस्तलिखित प्रति में इस खण्डित भाग का भी पूर्ण अंश प्राप्त नहीं होता।

९वीं शती में अवेस्ता की **'दीनकर्द'** नामक एक टीका लिखी गई। इस समय तक भी इसके लेखक के सामने ११वें नस्क को छोड़कर जो उस समय तक पूर्ण से नष्ट हो चुका था। संभवतः शेष सभी नस्क थे। उसने ऐसे अनेक नस्कों से कुछ उद्धरण एवं अनुवाद दिये हैं जो वर्तमान अवेस्ता में नहीं मिलते। साथ ही उसने सभी नस्कों के नाम तथा उनकी विषय सूची भी दी है। इस प्रकार मध्य युग में एक विस्तृत अवेस्ता के अस्तित्व में शंका के लिये कोई स्थान नहीं है।

पारसियों का धर्म बहुत प्राचीन काल से ही विद्वानों को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। प्राचीन काल के इन अन्वेषकों में ग्रीक लेखक ही प्रमुख थे।

---

१. पारसियों की सर्वाधिक पवित्र प्रार्थना। इसका पारसी धर्म में वही स्थान है जो हमारे यहाँ 'गायत्रीमंत्र का। दैत्यों के अपसारण एवं विनाश के लिये इसे सर्वाधिक शक्तिशाली माना जाता है। इसमें २१ शब्द हैं।

४वीं शताब्दी ई० पू० में राजनैतिक दृष्टि से ईरान से सम्बन्ध होने के पूर्व ही यूनान इसके संपर्क में आ चुका था[1]। पारसी धर्म के पुरोहितों का प्राचीन नाम **मागी** (संस्कृत '**मग**') है। इनको अनेक प्रकार के यातविक कृत्यों तथा इन्द्रजाल में निपुण माना जाता था। इसीलिये जादू या इन्द्रजाल के लिये प्रयुक्त अंग्रेजी संज्ञा magic का उद्भव ग्रीक magos शब्द है[2]। ज़रथुस्त्र की एक महान् ज्योतिषी के रूप में भी प्रसिद्धि थी। अरिस्तोतली, हेरदोतस्, प्लूतर्क, स्त्रेबो, थियोपाम्पस् आदि ग्रीक विद्वानों ने प्राचीन ईरानी धर्म पर बहुत कुछ लिखा था पर अब इनमें से अधिकांश के कुछ थोड़े से अंशमात्र बचे हैं[3]।

अवेस्ता का बहिरंग परिचय

विषय की दृष्टि से वर्तमान अवेस्ता के निम्नलिखित पाँच खंड हैं—

१. **यस्न**—यह पारसी धर्म का कर्मकाण्ड सम्बन्धी मुख्य भाग है। इसमें सामान्य यस्नों (यज्ञों) के अवसर पर पुरोहितों द्वारा पढ़ी जाने वाली प्रार्थनाएँ

---

१. कुछ व्यक्तियों ने ७वीं शती ई० पू० के पाइथागोरस तक पर ज़रथुस्त्र का प्रभाव सिद्ध करने का यत्न किया है। तु० की०, लेवी : **लेजाँद दे पिथागोरे**, पेरिस १९२६।

२. ई० बेनवेनेस्त : **पर्शियन रिलीजन : एज़ नैरेटेड बाइ ग्रीक हिस्टोरियन्स्**, पृ० १०

३. **वही**—पृष्ठ ५।

इस सूची में हेरोदोतस् का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह ५वीं शती ई० पू० के मध्य भाग में जन्म लेने वाला प्रसिद्ध ग्रीक इतिहासकार है। इसने ईरान का पर्याप्त भ्रमण किया था और वहाँ की सामाजिक प्रथाओं तथा धर्म का सूक्ष्मता से अध्ययन करने के पश्चात् अपने इतिहास में उनका वर्णन किया है। यह विवरण लगभग १० अनुच्छेदों में है। ईरान के ऊपर क्रमबद्ध रूप में लिखने वाला यह प्रथम व्यक्ति है। इसके द्वारा उल्लिखित धर्म तथा देवता प्राय: आर्यों से संबन्धित हैं तथा ज़रथुस्त्र से पूर्व काल सूचित करते हैं। ईरान में मागी का प्रभाव से मुक्त शुद्ध आर्य धर्म का स्वरूप समझने के लिये इसके लेख बड़े काम के हैं।

संकलित हैं। इनका विन्यास क्रम भी उपयोग के आधार पर है इसमें ७२ अध्याय (हैति-हा) हैं जिनको तीन भागों में विभाजित किया गया है—

(अ) अध्याय १-२७ आह्वान सम्बन्धी सूक्त।

(आ) **गाथा**, अध्याय २८-५४। यह अंश शब्दश: जरथुस्त्र की मूल रचना माना जाता है। इसकी भाषा अवेस्ता में सर्वाधिक प्राचीन है। रचना छन्दोमयी है।

(इ) परवर्ती यस्न [अपरो यस्नो] अध्याय ५५-७२। अग्नि एवं जल देवता की कुछ कम महत्वपूर्ण स्तुतियाँ।

२. **विस्परेद**—इस शब्द का अर्थ है 'सभी प्रमुख' देवता [विस्पे रतवो] इस अंश में अहुरमज़्दा के प्रमुख अनुचरों [अमेशस्पेन्ता] से सम्बन्धित आह्वान मंत्र आदि हैं। यह भी कर्मकाण्डीय भाग है और प्रकृति में लगभग यस्न के समान है। इसमें २४ अध्याय [कर्दे] हैं,

३. **वेन्दिदाद**—[अथवा विदेव्दाद] यह शब्द 'वी-दएवो-दातेम्' [दैत्यों को नष्ट करने के नियम] का अपभ्रंश है। इसमें पारसी धर्म के सामान्य आचार विचारों से सम्बन्धित नियम आदि हैं। विभिन्न पापों का प्रायश्चित्त, शुद्धि, मृत व्यक्ति से सम्बन्धित कृत्य आदि का वर्णन किया गया है साथ ही सृष्टि तथा देवताओं से सम्बन्धित अनेक कथाएँ भी हैं। इसमें ३२ अध्याय हैं जिन्हें फ़रगार्द कहते हैं।

४. **यश्त**—इस शब्द का अर्थ है प्रशंसा अथवा स्तुति। इसमें पारसी धर्म के दस प्रमुख देवताओं से सम्बन्धित स्तुतियाँ संकलित हैं। ये स्तोत्र पर्याप्त काव्यात्मकता से पूर्ण हैं और इन देवताओं का सजीव चित्रण करने के साथ-साथ प्राचीन देव कथाओं का भी पर्याप्त उल्लेख करते हैं।

५. **खुर्दा अवेस्ता**—(छोटा अवेस्ता) इसमें उन छोटी-छोटी प्रार्थनाओं का संकलन है जो प्रत्येक धार्मिक पारसी को विभिन्न अवसरों पर पढ़नी चाहिए।

कभी-कभी यश्त को भी खुर्दा अवेस्ता में सम्मिलित कर लिया जाता है

---

३. जे० डार्मस्टेटर, **अवेस्ता का अंग्रेजी अनुवाद (से० बु० ई०, ४)** प्रथम खण्ड, पृष्ठ ७।

और इस प्रकार अवेस्ता के दो मुख्य भाग हो जाते हैं : **मुख्य** अवेस्ता (यस्न, विस्परेद, वेन्दिदाद) तथा **खुर्दा** अवेस्ता[1] ।

वेद और अवेस्ता में पारस्परिक साम्य

अवेस्ता के इस सामान्य परिचय के पश्चात् अब हम अपने विषय पर आते हैं । सभी विद्वानों ने निर्भ्रान्त रूप से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि प्राचीन ईरान के ये निवासी भी उसी जाति के वंशज थे जिसके वैदिक कालीन आर्य । '**ऐर्य** [प्राचीन **अइर्य**] या आर्य शब्द प्राचीन ईरान में भी शिष्ट और सभ्य व्यक्तियों का वाची था । **अखमीनियन** वंश परम्परा के प्रसिद्ध राजा **दारयुस्** ने अपने शिलालेखों में बड़े गर्व के अपने को **अइर्य** जातिका अइर्य (शिष्ट व्यक्ति) घोषित किया है[2] । अवेस्ता में प्राप्त एक विशेषण के आधार पर स्वयं **ईरान** शब्द भी इसी शब्द के षष्ठी ब० व० **अइर्यान** [**म्**] से बना जान पड़ता है[3] । आर्यवंशज होने के कारण ईरानियों के इस अवेस्ता में '**अहुर**' (असुर = वैदिक वरुण) नामक देवता को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया गया है तथा उसको सर्वाधिक शक्तिशाली एवं अन्य देवताओं का अधिपति बताया गया है । उसके लिये **मज्द** [महत्-धा अथवा मेधा] विशेषण प्रयुक्त कहा गया है । **अहुर मज्दा** के साथ-साथ वैदिक **इन्द्र, अश्विनौ** या **नासत्या** (नाओङ्हैथ्या) **मित्र** (**मिथ्र**) **विवस्वान्** (वीवङ्ह्वन्त) **सूर्य** (ह्वर्) **भग** (बग), **अपांनपात्**, **वायु** (वयु), **अर्यमा** (ऐर्यमन्) **सोम** (हओम) **त्रित** (थ्रित) **यम** (यिम) आदि **देवताओं** के नाम भी अवेस्ता में यत्र तत्र पाये जाते हैं और इनमें से अधिकांश देवताओं के दोनों रूपों में पर्याप्त समानता दिखाई पड़ती है ।

गाथाओं तथा वेद की **भाषा** में भी अत्यधिक समानता लक्षित होती है । अनेक शब्द ऐसे हैं जो वैदिक संस्कृत तथा गाथाओं में बिलकुल एक हैं; उनके स्वर या व्यंजन में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है और साथ ही अर्थ भी बिलकुल एक है—जैसे मातर्, वस्त्र, दूत, तनु, अस्ति, आयु, यव, यदा, रथ, अन्य, इषु, अपांनपात् आदि । बहुत से शब्दों में केवल एक वर्ण का अन्तर है, जैसे—दारु (दारुस्) तायुम् (तायूम्) पिता (पित), मन्यु (मइन्यु)

---

१. **ए० ब्रि०** : भाग २३, पृ० ६४२-४४ (जेन्द अवेस्ता)
२. 'नक्श-ए-रुस्तम' का शिलालेख । देखिये जहाँगीर सोहराबजी तारापुरवाला : '**दि रिलीजन आफ जरथुस्त्र**', प्रथम अध्याय ।
३. **ए० रि० इ०**, सप्तम भाग, पृ० ४१८ ('ईरानियन्स' : माउल्टन)

असुर (अहुर), कुत्र (कुथ्र) यम (यिम) तथा युष्माक [यूष्माक] आदि। इनके अतिरिक्त सहस्रों शब्द ऐसे हैं जिनके दोनों रूपों में नगण्य अन्तर है और जो कुछ विशिष्ट नियमों द्वारा एक भाषा से दूसरी भाषा में सरलता पूर्वक परिवर्तित किये जा सकते हैं। दोनों के व्याकरण में पर्याप्त समानता है। जिस प्रकार वैदिक संस्कृत में तीन वचन, तीन लिंग, आठ कारक हैं ठीक उसी प्रकार गाथाओं में भी। शब्द एवं क्रियारूपों में भी आश्चर्यजनक समानता है। यही नहीं, गाथाओं के छन्द भी वैदिक छन्दों के अत्यधिक समीप हैं। इन सब कारणों से गाथाओं के किसी भी पद को शब्दशः संस्कृत में परिवर्तित किया जा सकता है और इस संस्कृत रूपान्तर में केवल भाषा एवं व्याकरण की समानता ही नहीं अपितु पर्याप्त भावसाम्य भी होगा[1]; उदाहरणार्थ—

इथा आत् यज़्मइदे अहुरम् मज़्दाम् य गाम् चा इशम्चा दात् आपस्चा दात् उर्वराआस्चा वङ्हीश्चा रओचास्चा दात् बूमीम्चा वीस्पाचा वोहू।

यस्न ३७ (गाथाहप्तङ्हैति)

इसका संस्कृत में रूपान्तर इस प्रकार होगा—

इत्था अत्र यजामहे असुरं महान्तम्, यः गां च इषं च अदात् अपश्च अदात् और्वरेयाश्च वस्वीश्च रुचश्च अदात् भूमिं च विश्वा च वसूनि[2]।

स्पष्ट है कि गाथाओं की प्राचीन फारसी तथा संस्कृत में ध्वनि वैभिन्न्य के कारण केवल नगण्य बाह्य अन्तर मात्र है। शब्द समूह, उनके रूप, वाक्य विन्यास तथा धार्मिक भावना सब कुछ एक ही हैं। अतः ग्रिसवोल्ड ने ठीक ही कहा है कि अवेस्ता और वेद एक दूसरे पर परस्पर एक सुन्दर टीका का काम करते हैं[3]।

---

१. तारापोरवाला : **रि० ज़०**, प्रथम अध्याय, पृ० २। माउल्टन, **ए० रि० ई०**, भाग ७, **'ईरानियन्स'** पृ० ४१८।

२. रलिया राम कश्यप, **वैदिक ओरिजन आफ ज़ोरेस्ट्रियनिज़्म**, प्रथम अध्याय पृ० १६।

'इस प्रकार हम अहुर मज़्दा का ध्यान करते हैं जिसने पशुओं तथा अन्नों को उत्पन्न किया, जल एवं वनस्पतियों की सृष्टि की और जिसमें अनेक रत्नों से पूर्ण पृथ्वी तथा प्रकाश [मान नक्षत्रों] का निर्माण किया।'

३. **रिलीजन आफ दि ऋग्वेद**, पृ० २०

ईरानी जाति का उद्गम

धर्म एवं भाषा की यह समानता सूचित करती है कि वैदिक एवं ईरानी आर्य दोनों ही किसी एक जाति के वंशज हैं और चिरकाल तक ये दोनों जातियाँ एक साथ किसी एक ही स्थान में रहीं और फिर किन्हीं विशेष कारणों से पृथक् हो गईं। भारतीय और ईरानी जाति के इस पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विद्वानों के दो विचार हैं। प्रथम के अनुसार आर्य भारत के मूल निवासी नहीं थे। वे मध्य एशिया अथवा अन्य किसी स्थान से पश्चिम की ओर से भारत में प्रविष्ट हुए। उनका एक वर्ग ईरान में रह गया और दूसरा भारत की ओर बढ़ गया। द्वितीय मत के अनुसार ईरानी जाति भारतीय आर्यों की ही एक शाखा थी जो किन्हीं कारणों से प्रागैतिहासिक काल में (अनुमानत: २०००-१५०० ई० पू०) भारत के पश्चिमी भाग से निकलकर ईरान तथा एशिया माइनर में जाकर बस गई थी। यहाँ हम इन दोनों का परीक्षण करेंगे।

इतना तो निर्विवाद ही है कि ईरानी जाति का भारत के पश्चिमी प्रदेशों से घनिष्ठ सम्बन्ध था क्योंकि अवेस्ता में **'हप्तहिन्दु'** प्रदेश की स्थान-स्थान पर प्रशंसा प्राप्त होती है। यह हप्तहिन्दु भारत का वही सप्तसिन्धु प्रदेश है जिसकी ऋग्वेद के ऋषि प्रशंसा करते नहीं थकते।

मध्य एशिया तथा ईरान में वैदिक देवताओं की उपासना की पुष्टि एशियामाइनर (वर्तमान तुर्की) के **बोगाज़-क्यूई** नामक स्थान से प्राप्त एक मृत्फलक से भी होती है। यह स्थान प्राचीन **हित्तिति** राज्य की राजधानी था। इस मृत्फलक पर कीलकाक्षरों में **हित्तिति** या **मितानी** राजाओं की सन्धि का उल्लेख है। दोनों जाति के देवताओं का सन्धि के अभिरक्षकों के रूप में आह्वान किया गया है। अनेक बेबीलोनियन तथा हित्तिति देवताओं के साथ साथ मितानी जाति के देवताओं में मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्या (—यौ = अश्विनौ) के नाम भी मिलते हैं। इनका रूप इस प्रकार है :—**मि-इत्-र, उ-रु-व न** (तथा अ-रु-न) **इन्-द-र** तथा **ना-स-अत्-ति-या (अन्-ना)**। कैसे ये देवता वहाँ पहुँचे यह बहुत विवादग्रस्त प्रश्न है। इसके दो ही सन्तोषजनक उत्तर हो सकते हैं। या तो मितानी जाति आर्यों की एक छोटी सी शाखा थी जो किसी अज्ञात स्थान से किसी विशेष कारण से तुर्किस्तान की ओर चली गई थी अथवा यह वैदिक आर्यों की ही एक शाखा थी जो भारत से पश्चिम की ओर बढ़ती हुई वहाँ तक पहुंच गई थी।

एडमेयर, गाइल्स तथा ओल्डनबर्ग आदि विद्वानों का यही मत है कि ये

देवता उस समय के हैं जब पूर्वी और पश्चिमी (अर्थात् भारतीय और ईरानी) आर्यों का विभाजन नहीं हुआ था। उपर्युक्त मृत्फलक में मितानी राजा की जाति '**हैरी**' बताई गई हैं। विन्क्लर का मत है कि यह '**आर्य**' शब्द का ही अपभ्रंश है और जिस समय आर्यों की यह उपजाति मेसोपोटामिया और सीरिया की ओर घूम रही थी उस समय भारत में वैदिक ऋचाओं का जन्म हो चुका था।

वस्तुत: १५०० ई० पू० लगभग वैदिक देवताओं की उपासना करने वाली जातियाँ भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों के समीप पर्याप्त मात्रा में बसी हुई थीं और इनमें से कई छोटी शाखाएँ इस समय के पूर्व ही बड़ी दूर तक पश्चिमी की ओर चली गई थीं[1]। इस परिभ्रमण के अनेक कारण थे जिनमें संभवत: युद्ध, साहसप्रियता और वैवाहिक सम्बन्ध ही मुख्य थे। मध्य एशिया की **कस्साइत** (**कस्सु**) नामक एक जाति ने १६०० ई० पू० ईराक के बेबीलोनिया नगर को जीत कर अपनी राजधानी बनाया था। यह भी सूर्य, मरुत् आदि वैदिक देवताओं की पूजा करती थी। सुमेर सभ्यता की मोहरों तथा मिट्टी के टिकरों पर भी कुछ पौरव (भरतवंशी) तथा इक्ष्वाकु राजाओं के नाम प्राप्त होते हैं। हिलेब्रान्ड्ट ने ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के बहुत से उद्धरणों के द्वारा भारत का कुछ प्राचीन पश्चिमी देशों सम्बन्ध सिद्ध किया है[2]। कुछ विद्वानों ने यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की हैं कि इस फलक पर प्राप्त संख्याओं के चिह्नों का उद्गम भारतीय है।

इस सम्बन्ध में एक तथ्य और विचारणीय है। मित्र के साथ-साथ वरुण का तथा इन्द्र के साथ अश्विनौ का उल्लेख एक विशेष महत्त्व रखता है। नामों का यह स्वरूप तथा इन दो-दो देवताओं का एक वर्ग केवल वेदों में ही पाया जाता है। **मित्रावरुणा** (— **णौ**) तथा **इन्द्रनासत्या** की प्राय: ऋग्वेद में साथ-साथ स्तुति की गई है। अत: याकोबी, हिलेब्रान्ड्ट तथा उनके साथ-साथ विन्टरनित्स् का भी यही कथन है कि ये देवता भारतीय ही हैं और इनको अन्यथा समझने का कोई भी अन्य मत उपयुक्त नहीं हैं।

एक अन्य तथ्य की ओर भी स्टान कोनोव् ने ध्यान आकृष्ट किया है। ऋग्वेद के '**सूर्यासूक्त**' (१०।८५) में सोम के साथ सूर्या (उषा) के विवाह का

---

१. देखिये, विन्टरनित्स: **हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर** : प्रथम भाग, पृ० ३०५ पाद टिप्पणी।

२. विन्टरनित्स : **हि० इं० लि०**, पृ० ३०५।

वर्णन किया गया है और इस विवाह में अश्विनौ का विवाह के पुरोहित के रूप में उल्लेख है। संभवतः प्राचीन वैदिक विश्वास के अनुसार अश्विनौ वैवाहिक कृत्यों के अभिरक्षक देवता थे। उपर्युक्त मृत्फलक में राजनैतिक सन्धि को सुदृढ़ करने के लिये हित्तिति राजा द्वारा अपनी कन्या का मितानी राजा से विवाह करने का उल्लेख है, अतः प्रतीत होता है कि अश्विनौ का आह्वान इसीलिये किया गया है।

ईरानी विषयों के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० जैक्सन[1] का भी स्पष्ट मत है कि बोग़ाज़-क्यूइ के इस मृत्फलक में प्राप्त देवताओं के नामों का ईरान से कोई सम्बन्ध नहीं है और वे वैदिक देवताओं की ही सूचित करते हैं। भारत से इस प्रकार के सम्बन्ध की पुष्टि में सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि फलक के नासत्या (अन्ना) शब्द में ऊष्म वर्ण '**स**' का परिवर्तन कण्ठ्य प्राणध्वनि '**ह**' में नहीं हुआ। प्राचीन फारसी (गाथा तथा अवेस्ता में) निरपवाद रूप से संस्कृत 'स' के स्थान पर 'ह' ही पाया जाता है (उदाहरणार्थ सं० सद् = फा० हद्। सिंचति = हिन्चइति। सताम् = हाताम्। सप्त = हप्त। सिन्धु = हिन्दु आदि)। संस्कृत का **नासत्या** शब्द परवर्ती अवेस्ता में **नाओङ्हैथ्या** के रूप में पाया जाता है[2]।

इसके अतिरिक्त अवेस्ता में हमें **इन्द्र** नाम का कोई देवता नहीं प्राप्त होता। केवल कुछ ही स्थानों पर इन्द्र शब्द प्राप्त होता है और वहाँ भी वह एक अत्यन्त निम्न कोटि के **राक्षस** का वाची है जिससे अहुर सदा सशंक रहता है। वरुण शब्द पूर्णतया ईरान से लुप्त हो गया है। कुछ स्थानों पर '**वैरेन्य**' शब्द अवश्य आया है जी काल्पनिक समुद्र का वाची है। किन्तु प्रतीत होता है कि यह शब्द पहले आकाश का वाचक था। **मित्र** अवश्य अहुर के परिचर देवता के रूप में परवर्ती अवेस्ता में मान्य है किन्तु वहाँ इस शब्द का रूप **मिथ्र** है मित्र नहीं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि या तो यह मृत्फलक उस समय का है जब आर्य जाति विभाजित नहीं हुई थी अथवा मितानी उपजाति भारतीय आर्यों की ही एक शाखा थी जो यहाँ से पश्चिम की ओर जाकर बस गई थी। प्रथम तथ्य की कोई संभावना नहीं क्योंकि यदि यह माना जाय कि १४वीं

---

१. **ए० रि० ई०**, भाग ४. पृ० ६२०, **बोग़ाज़क्यूई**।

२. माउल्टन : **अर्ली ज़ोरेस्ट्रियनिज़्म'** पृ० ६।

शताब्दी तक आर्य अविभाजित ही थे और भारत में नहीं आये थे तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वे भारत में लगभग १३वीं अथवा १२वीं शताब्दी ई० पू० में प्रविष्ट हुये। इस प्रकार ऋग्वेद का रचनाकाल लगभग १००० ई० पू० आता है जो नितान्त असम्भव है। वस्तुतः इस काल में आर्यों के पूर्व की ओर आगमन का कोई प्रमाण नहीं। अतः यह निश्चित है कि भारत से कुछ आर्य उपजातियाँ पश्चिम की ओर गई और उनमें से मितानी भी एक थी।

ईरानी आर्यों की भारत से वहाँ जाने की सम्भावना

साथ यह भी असम्भव नहीं कि स्वयं ईरानी जाति भी वैदिक आर्यों की ही एक शाखा रही हो जो भारत के पश्चिम भाग से निकलकर ईरान में जाकर बस गई हो। ज्योतिष सम्बन्धी एक सबल प्रमाण से इसकी पुष्टि होती है। अवेस्ता के यश्त भाग के ८वें यश्त में **'तिश्त्र्य'** देवता के **'अपाओषा'** नामक दैत्य से युद्ध का वर्णन है। अपाओषा का अर्थ है 'आच्छादक' (अप+वृ) और यह अनावृष्टि का मानवीकरण है। दूसरे शब्दों में यह दैत्य वैदिक **वृत्र** का ही ईरानी प्रतिरूप है। त्रिश्त्र्य **लुब्धक** (Sirius) नक्षत्र का मानवीकरण है। अपाओषा वर्षा के 'जलों' को विजित करके बन्द कर लेता है जिससे संसार में प्रचण्ड ग्रीष्म ऋतु आ जाती है। ऊष्मा से सभी प्राणी व्याकुल हो कर तिश्त्र्य की स्तुति करते हैं—

> तिश्त्र्य नक्षत्र की करते हम उपासना,
> शोभा से युक्त तथा दीप्त और कान्तिमान्,
> जलों के बीज का धारक, सशक्त तथा,
> प्रांशु, दूरद्रष्टा, स्वर्ग के सुविस्तृत-
> प्रांगण में क्रियाशील, सबल और उदारमना।

× × × ×

---

१. तु० की०—माउल्टन : **आर्ली ज़ोरेस्ट्रियनिज़्म** : पृ० ७।
हाल ही में पश्चिमी जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् एम. मायरहोफर के द्वारा एक बार पुनः नवीन शोध सामग्री से आधार पर दृढ़ता पूर्वक इस मत की संपुष्टि की गई है। द्रष्टव्य है उनकों पुस्तक **'डी इंडो-आरियर इम् आल्टेन फ़ोर्डरआज़ियन्** (Die Indo-Arier im alten Vorderasien), वीसबाडेन १९६६॥

पशु तथा मानव तीव्र उत्कण्ठा से,
बाट जोहते हैं उसकी आकाश में,
'उदय उस दीप्तिमान् कान्तिशाली तिश्त्र्य का,
होगा कब ? और कब नदियों के जल,
अपने बहाव से अश्व-गति लजायेंगे ? (८।४-५)

आर्त मानवों की इस पुकार को सुनकर तिश्त्र्य एक सुन्दर श्वेत अश्व के रूप में '**वउरुकष**' के समुद्र (आकाश) में उतर पड़ता है। अपाओषा दैत्य भी एक भयंकर रोमरहित काले अश्व के रूप में उससे लड़ने आता है। कई दिनों तक दोनों में भयंकर युद्ध होता है। पहली बार तिश्त्र्य निर्बल पड़ जाता है और 'अपाओषा' उसे पीछे भगा देता है। तब उपासक यज्ञ और होम करके उसकी शक्ति को बढ़ाते हैं। वह पुनः लड़ने जाता है और फिर युद्ध प्रारम्भ होता है। इस बार उसकी विजय होती है और वह हर्ष से चिल्ला उठता है—

निर्बाध जल स्रोत बहें पृथ्वी की ओर अब,
शान्त हो धरा की तृषा चिरकाल की।
धरणी हो श्यामला शस्य और शष्प से,
पशु और मनुष्य सब हृष्ट पुष्ट स्वस्थ हों॥ (८।२९)

इसके पश्चात् वह वउरुकष समुद्र को आलोडित करता है जिससे उसमें वाष्प उत्पन्न होती है और दक्षिण पवन से आहत होकर मेघों का जल क्षेत्रों और ग्रामों को आप्लावित करता हुआ बरस पड़ता है[1]।

अवेस्ता के इन स्पष्ट उल्लेखों से आधार पर कहा जा सकता है कि 'त्रिश्त्र्य' लुब्धक तारा ही है। अप्रैल मास तक यह सायंकाल में दिखाई पड़ता है किन्तु उसके पश्चात् सूर्य के पीछे होने के कारण अस्त हो जाता है। ठीक ७० दिन के उपरान्त जुलाई मास के प्रथम सप्ताह में वह पुनः प्रातःकाल उदित होता है। इस बार वह विजयी होता है और वर्षा से पृथ्वी को आप्लावित कर देता है। इसी वार्षिक प्राकृतिक संघटना के आधार पर उपर्युक्त कथा का निर्माण हुआ है। पूर्ववर्ती अवेस्ता में तिश्त्र्य के विषय में कहा गया है कि वह अपनी प्रभा से शेष नक्षत्र मण्डल को प्रभाहीन कर देता है। वस्तुतः

१. इस कथा के विस्तृत वर्णन के लिये देखिये : कीथ तथा कारनाय : **इंडियन एण्ड ईरानियन माइथालाजी,** द्वितीय भाग पृ० २६७-२७०।

जिस समय वह उदित होता है उस समय उषा की कान्ति से स्वतः सभी तारे निस्तेज हो जाते हैं[1]। किन्तु भ्रान्ति के कारण कालान्तर में तिश्त्र्य को सूर्य समझ लिया गया। परवर्ती अवेस्ता में अपाओषा से युद्ध के समय तिश्त्र्य को कर्क राशि में बताया गया है। स्पष्ट है कि यहाँ पर तात्पर्य सूर्य से ही है[2] क्योंकि सूर्य तथा ग्रहों को छोड़कर अन्य किसी ज्योतिष्पण्ड की गति राशियों में नहीं हो सकती[3]। कर्क राशि में सूर्य लगभग १४ जुलाई को आता है। यश्तों की रचना के समय यही समय लुब्वक के पुनः उदय होने का था। इसी समय वह जल के आवरक दैत्य को जीतकर वर्षा से धरती की प्यास बुझाता है।

यहाँ पर यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि सम्पूर्ण ईरान के पठार पर, दक्षिण में 'ओमान की खाड़ी' से लेकर उत्तर में कैस्पियन सागर तक अथवा थोड़ा और आगे 'मर्व' तक में जुलाई का मास सर्वाधिक शुष्क और उष्ण रहता है। वस्तुतः यह ग्रीष्म का प्रारम्भ है अगले महीनों में तेज़ गर्मी पड़ती है। फारस की खाड़ी से लेकर तुर्किस्तान तक के सम्पूर्ण प्रदेश में जाड़े में वर्षा होती है और नवम्बर से प्रारंभ होकर दिसम्बर या जनवरी तक ही रहती है।

वस्तुतः तिश्त्र्ययश्त दक्षिण-पश्चिमी मानसून वायु द्वारा वर्षा होने का रूपकात्मक विवरण मात्र है। स्वतः यश्त के ही वर्णन से स्पष्ट है कि यह वर्षा दक्षिण की ओर से आने वाली वायु से होती थी किन्तु दक्षिणी पश्चिमी मानसून से वर्षा केवल भारत में ही होती है। अरब सागर से आने वाली

१. माउल्टन : **अर्ली जोरेस्ट्रियनिज्म** : पृ० २४।
२. माउल्टन : **वही**, पृ० २७, पदटिप्पणी।
३. पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों के सूर्य के चारों ओर के प्रदक्षिणा पथ को बारह भागों में बाँटा गया है। यही बारह राशियाँ हैं। इस प्रकार सूर्य को केन्द्र मानते हुए एक राशि का प्रमाण ३० अंश होता है। पृथ्वी की राशि ही सूर्य की राशि है। पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा एक वर्ष में कर लेती है। अतः सूर्य एक राशि में लगभग एक मास रहता है। वैशाख मास से इसका प्रारंभ माना जाता है लगभग १४ अप्रैल को सूर्य मेष राशि में आता है और १४ मई को वृष में। इसी प्रकार क्रमशः मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ, तथा मीन में संक्रमण करता है। चन्द्रमा की राशि पृथ्वी को केन्द्र मानकर निश्चित की जाती है।

हवायें जुलाई में पंजाब, सिन्ध तथा जयपुर, अजमेर के पास क्षेत्रों में वर्षा करती हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस यश्त का मूल भारत से प्राप्त किया गया होगा[1]। इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि वेदों तथा अवेस्ता में जो धार्मिक समानता पाई जाती है उसका अधिकांश भाग यश्तों ही में ही निहित है। अवेस्ता के सर्वाधिक प्राचीन भाग 'गाथा' में किसी भी वैदिक देवता का उल्लेख नहीं है। पीछे उल्लिखित सभी देवताओं के नाम यश्तों में ही प्राप्त होते हैं और इसी भाग में इन देवताओं के विषय में वैदिक सूक्तों के समान लम्बी-लम्बी स्तुतियाँ या यश्त संकलित हैं[2]। स्पष्ट है कि तिश्त्र्य कथा का उद्भव सर्वथा भारतीय है और ईरान में जाकर उसमें केवल परिस्थिति-जन्य ही थोड़ा सा परिवर्तन हुआ है। वैदिक आर्यों के पश्चिमी देशों की ओर अभिगमन का यह एक पुष्ट प्रमाण है।

लुब्धक की इस कथा का उद्गम भारतीय होने के कारण इस नक्षत्र का उल्लेख स्थान-स्थान पर ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है। यहाँ इसकी **'तिर'** संज्ञा है। प्राचीन फारसी तथा पहलवी में भी तिश्त्र्य को **'तीर'** कहा गया है। नवम मण्डल में 'तिर' को अनेक नक्षत्रों को पार करते हुए बाण (अथवा जलधार-'धारया') के समान तीव्र गति से चलने वाला बताया गया है—

एष दिवं विधावति तिरो रजांसि धारया—ऋ० वे० ९।३।७

एक अन्य गायत्री में तिर को वृष्टि करनेवाला (वृषा) अंधकार को प्रकाशित करते वाला, अग्नि के समान तेजस्वी, स्तुत्य तथा प्रणम्य कहा गया है—

ईलेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः । समग्निरिध्यते वृषा ॥९।२७।१३

इस प्रकार यद्यपि ऋग्वेद में तिश्त्र्य की इस दन्तकथा का उल्लेख नहीं है किन्तु इसका बीज अवश्य वर्तमान है, इसमें किसी को शंका नहीं हो सकती।

ईरानी जाति के भारत से संबन्ध के विषय में ज्योतिष संबन्धी एक अन्य प्रमाण भी यहाँ पर विचारणीय है। तिश्त्र्य यश्त में ही कहा गया है कि जिस

---

१. अ० जो० पृ० २४-२५। ग्रीनविच् वेधशाला के ई० डब्ल्यू० मान्डर का मत; लेखक द्वारा उल्लिखत।

२. यश्तों में प्रतिबिम्बित यह विचारधारा गाथाओं से भी पूर्व की है। इसकी मीमांसा आगे की जायेगी।

समय लुब्धक (मृगव्याध) पूर्व दिशा में उदित होता था। उस समय शेष तीनों दिशाओं में **'हप्तो इरिङ्ग'** (सप्तर्षि मण्डल तथा ध्रुव) **वनन्त** (Vega) तथा **सतवाएसा** (Fomalhaut) क्रमश: उत्तर, पश्चिम तथा दक्षिण की ओर उदित होते थे। इनको चारों दिशाओं की रक्षा करने वाले 'दिङ् नक्षत्र' कहा गया है। ये चारों नक्षत्र एक दूसरे से लगभग ९०° के अन्तर पर आकाश में स्थित हैं और आस पास के अन्य तारों की अपेक्षा पर्याप्त प्रकाशमान हैं। यश्त भाग की रचना गाथाओं से बाद की है और यह समय लगभग ५वीं शताब्दी ई० पू० माना जाता है किन्तु इस समय के लगभग ३८° अक्षांश पर (ईरान का उत्तरी भाग जहाँ जरथुस्त्र की धार्मिक क्रान्ति हुई थी) लुब्धक के उदय होने पर **सतावएसा** अस्त हो चुकता होगा और **वनन्त** भी क्षितिज पर अस्त-प्राय रहा होगा। अत: इस समय चारों तारे चतुष्कोण बनाते हुए आकाश में स्थित नहीं रहे होंगे[1]। ३८° से थोड़ा और नीचे आने पर ३०° अक्षांश पर भी यद्यपि ये चारों तारे ८०० ई० पू० में दृश्यमान रहे होंगे किन्तु इस समय भी लुब्धक के उदय के समय सप्तर्षि का निम्नतम चमकीला तारा तथा सतावएसा क्षितिज के इतने अधिक समीप रहे होंगे कि उनका देखना कठिन रहा होगा। किन्तु २५° अक्षांश पर ये चारों तारे ९०० ई० पू० से २००० ई० पू० तक प्रात:काल काफी देर तक चारों दिशाओं में एक साथ दिखाई देते रहे होंगे[2]। अत: इस दन्त कथा का उद्भव निश्चित रूप से ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी में ही हुआ होगा।

२५° अक्षांश की रेखा ईरान के नीचे से होकर [सप्त] सिन्धु प्रदेश और राजस्थान से होती हुई जाती है। अतः पूर्ण सम्भव है कि इस कथा की उत्पत्ति के मूल स्थान ये ही प्रदेश हों। पीछे कहा जा चुका है कि यद्यपि गाथा अवेस्ता का सर्वाधिक प्राचीन भाग है तो भी यश्तों में जिस धार्मिक स्थिति का चित्रण है वह गाथाओं से भी पूर्व की है और प्रवृत्ति में वैदिक धार्मिक विचारों से अधिक समानता रखती है। अतः यश्तों में स्थान-स्थान पर ऐसे संकेतों का मिलना उचित ही है।

उपर्युक्त तथ्यों पर ध्यान देते हुए यह प्रतीत होता है कि ईरानी जाति भारतीय आर्य जाति की ही एक शाखा थी जो ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी में कभी

---

१. माउल्टन, **अ० जो०** पृ० २३।

२. **वही**, ई० डब्ल्यू० माउन्डर: पृ० २४।

सिन्ध प्रदेश से होती हुई पश्चिमी एशिया की ओर निकल पड़ी। वर्तमान समय में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहना कठिन है कि बाहर जाने के वास्तविक कारण क्या थे। हो सकता है कि किसी प्रकार के धार्मिक मतभेद अथवा पारस्परिक वैमनस्य के कारण ऐसा हुआ हो। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों में एक ऐसा वर्ग था जो देवताओं के लिये यज्ञ आदि करने में विश्वास नहीं रखता था और इसलिये पुरोहितों को दान-दक्षिणा आदि देने में भी उदासीन रहता था। ऐसे ही लोगों को संभवत: ऋग्वेद में **'अर्य'** कहा गया है। अर्य शब्द ऋग्वेद में दो परस्पर विरोधी अर्थों में प्रयुक्त प्राप्त होता है। कहीं तो इसका अर्थ है स्वामी, धनी तथा ईश्वर और कहीं शत्रु, नीच या कृपण। दूसरे अर्थ में यह व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में सम्भवत: किसी वर्ग विशेष का वर्णन करता है।

ऋग्वेद (२।१२।५) में इन्द्र के प्रति अविश्वास प्रकट करने वालों का संकेत किया गया है। "जिसको लोग पूछते हैं कि वह कहाँ है? और कह देते हैं कि उसकी सत्ता ही नहीं है जो 'अर्यों' के धन को एक द्यूतकर की भाँति हर लेता है, विश्वास करो, वही इन्द्र है"—

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्,
उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवामिनाति,
श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥

अन्य कई स्थलों पर भी ऐसे ही लालची व्यक्तियों ('अर्य') की निन्दा की गई है और इन्द्र को उनका धन अपहृत करते हुए वर्णित किया गया है। ऐसा प्रतीत है कि यह 'अर्य' वर्ग ही सामाजिक अनादर से खिन्न होकर पश्चिम की ओर चल पड़ा[1] वहाँ उसने 'अहुर' की पूजा पर आधारित एक विशेष धर्म का सूत्रपात किया[2]। प्राचीन ईरानी सम्राट् दारयुस् (प्रा० फारसी

---

१. डा० राधा कुमुद मुखर्जी (**हिन्दू सिविलिज़ेशन पृ० १९२**) का भी विचार है कि भारत से क्षत्रिय आर्यों की एक शाखा पश्चिम की ओर गई। पुराणों में कहा गया है कि इला के पुत्र, जिन्हें ऐल कहा जाता था, हिमालय की तराई में निवास करते थे। बाद में वे भारत की पश्चिम दिशा के अधिपति बन गये। क्या इन 'ऐलों' का ईरानी 'अइर्यों' से कोई सम्बन्ध है?

२. श्री र० रा० काश्यप ने अपनी, **'वैदिक ओरिजिन आफ ज़ोरेस्ट्रिय-**

में 'दारयावहुश्) **नक्स-ए-रुस्तम** के शिलालेख में अपने को **'अइर्य'** बताया है और बड़े आदर के साथ इसका उल्लेख किया है। अवेस्ता में इन्द्र एक निकृष्ट दैत्य का नाम है। अन्य वैदिक देवताओं के नाम भी अवेस्ता में यत्र तत्र प्राप्त होते हैं पर यहाँ उनमें से अधिकांश अपना देवत्व छोड़कर या तो सामान्य से नाम मात्र रह गये हैं अथवा **अंग्रा मइन्यु** के परिचर के रूप में दैत्य पदवी को प्राप्त हो गये हैं।

वैदिक आर्यों की इस शाखा के ईरान में जाकर बसने के पश्चात् वहाँ के मूल निवासियों की भाषा के मिश्रण से उनकी भाषा में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। गाथाओं की भाषा एक सहस्र वर्ष पश्चात् की स्थिति सूचित करती है।

ईरान के मागी और प्राचीन पारसी धर्म पर उनका प्रभाव

ईरान के इन मूल निवासियों का कोई विशेष नाम न ज्ञात होने से तथा मीडिया में इनके निवास के प्रमाण मिलने के कारण इनको सामान्यतः **मीडियन** कहा जाता है। प्राचीन असीरिया के साहित्य तथा शिलालेखों में बहुधा इनका नाम **मदा, अमदा** या **मीड** मिलता है[1]। इसी जाति के एक वर्ग विशेष का

निज़्म' (लाहौर) नामक पुस्तक में अवेस्ता की गाथाओं से भारतीय वेदों के कुछ उल्लेखों को ढूँढ़ निकाला है। उनका विचार है कि ज़रथुस्त्र की धार्मिक क्रियाशीलता के समय तक भारत ही नहीं अपितु आस-पास के प्रदेशों में अलौकिक ज्ञान के भंडार के रूप में वेदों की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी। यह भी प्रतीत होता है कि ज़रथुस्त्र को इसका भी ज्ञान था कि वेद उसी के पूर्वजों की कृतियाँ हैं। इसीलिये उसने बड़े आदर के साथ गाथाओं में उसका उल्लेख किया है—

अज़्म चीत् अह्या मज़्दा थ्वाम् मङ्ही पओर्वीम् वएदम् (यस्न २९।१०,) इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार होगी—

अहंचित् अस्याः महद् त्वाम् अमंसि पौर्व्यम् वेदम्।

(अहं त्वां महद् अमंसि, चिद् अस्याः पौर्व्यम् वेदम्)। हे महान् (अहुर) मैं तुम्हारा तथा इस (संसार) के आदि ज्ञान वेद का ध्यान करता हूँ॥

१. ए० एच० सैसे (**ए० रि० ई०,** अष्टम ५१४-१५) का मत है कि 'आर्यों की जिस शाखा की स्थिति के संकेत बोग़ाज़क्यूई में १५वीं शती ई० पू० में मिलते हैं वही कालान्तर में **'ज़गुस्'** पर्वत के पूर्व की ओर बस गई थी और उसी को मदा या मीडियन कहा जाता है।

नाम **'मागी'** था[1] । यह वर्ग धार्मिक दृष्टि से मीडियावासियों में अग्रगण्य था। और इसका उसमें वही स्थान था जो ब्राह्मणवर्ग का हिन्दुओं में। यह जाति न तो सेमेटिक थी और न आर्य। अतः इसके धार्मिक विश्वास भी दोनों के प्रभाव से मुक्त कुछ स्वतन्त्र प्रकार के थे[2] । यह धर्म आर्यों की भांति शुद्ध देवपूजा से सम्बन्धित न होकर कुछ विशेष प्रकार के ऐन्द्रजालिक कृत्यों तथा जादू टोने आदि से युक्त था। इनकी अपनी एक विशिष्ट संस्कृति भी थी जिसके बहुत से तत्त्वों को बाद में आर्यों ने अपना लिया।

धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक समुन्नत इस भारतीय शाखा के ईरान में प्रवेश करने के उपरान्त मागियों के धार्मिक उत्कर्ष का अन्त होने लगा, किन्तु

मागी इसी जाति के पुरोहित थे। ईरान के राजा (दारियुस्, आदि) आर्यों की एक दूसरी शाखा के थे। दोनों के धर्म के मूल सिद्धान्त लगभग समान थे किन्तु प्रथम जनता के धार्मिक विश्वासों से सम्बन्धित था और दूसरा सामन्त वर्ग से।

जैसा कि आगे स्पष्ट होगा, यह मत संतोषजनक नहीं है। वस्तुतः मागियों और आर्यों के धर्म में महान् अन्तर था। ग्रीक इतिहासकार हेरोदोतस ने दोनों के विश्वासों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। यह असम्भव है कि आर्यों के ईरान पहुँचने पर कोई सभ्य जाति वहाँ नहीं रही हो और उसकी संस्कृति का आर्यों के धर्म पर प्रभाव न पड़ा हो। बहुत प्राचीन काल से ही ईरान में किसी आर्येतर संस्कृति के तत्त्वों की एक धारा स्पष्ट प्रवाहित होता हुई दिखाई पड़ती है।

१. इस शब्द का उद्भव और अर्थ बहुत अनिश्चित है। माउल्टन (**अ० जो०** ४२४-३०) ने इसे गोठिक **'मगस'** तथा प्राचीन आइरिश **'मग'** से सम्बन्धित करते हुए इसका मूल अर्थ 'किशोर बालक' माना है। परवर्ती अवेस्ता के **'मगव'** (अविवाहित) शब्द से भी इसकी पुष्टि होती है। अवेस्ता के एक गद्य भाग (यश्त ६५-७) में मोगु शब्द भृत्य के अर्थ में आया है (**ए० रि० ई०** अष्टम, २४२, 'मागी') **बृहत्संहिता** तथा **भविष्य पुराण** में **'मग'** नाम की एक विशेष जाति का उल्लेख है जो ईरानी मगु का ही परिवर्तित रूप प्रतीत होता है।

२. तु० की०—**ए० रि० ई० :** अष्टम भाग, पृ० ५१५ 'मीडियन रिलीजन'।

राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से नवागत आर्यों से पिछड़े होने पर भी मूल निवासियों के इन पुरोहितों ने दोनों संस्कृतियों के सामंजस्य का अद्भुत प्रयत्न किया। बहुत समय तक संस्कृति और धर्म की ये दो धाराएं पृथक्-पृथक् बहती रही किन्तु अन्त में जाकर एक हो गई। मागियों के धर्म के बहुत से तत्त्वों को परवर्ती पारसी धर्म में अपना लिया गया। ईरानी आर्यों की इस शाखा में संभवत: अधिकांश रूप से क्षत्रिय ही रहे होंगे। इनके साथ ब्राह्मण अथवा पुरोहित वर्ग या तो बिल्कुल नहीं रहा होगा और यदि रहा भी होगा तो बहुत कम संख्या में। दोनों धर्मों के मिश्रण के पश्चात् मागी बड़ी सरलता से पुराहितों के इस खाली स्थान में अधिष्ठित हो गये और शताब्दियों तक ईरानी जाति के धर्म गुरु बने रहे[1]। पारसी धर्म का एक सामान्य पर्यालोचन करने से ही ज्ञात हो जाता है कि उसमें कम से कम निम्नलिखित तत्त्व मागियों के धर्म तथा संस्कृति के हैं :—

१. मृत व्यक्ति के **शव** का मांसाशी पक्षियों तथा शिकारी कुत्तों के द्वारा भक्षण किये जाने के लिये खुले स्थान में छोड़ दिया जाना निश्चित रूप से मागी प्रभाव सूचित करता है। आज भी भारत के पारसी अपने शवों को न तो गाड़ते हैं और न जलाते ही हैं। शवों को नष्ट करने की यह रीति ईरान के मूल निवासियों की स्वतन्त्र प्रथा थी। इस रीति का सम्बन्ध न आर्य

१. लगता है प्राचीनकाल में भी भारतीयों को इस विषय का ज्ञान था कि आर्यों के ही अन्तर्गत एक ऐसा सम्प्रदाय है जो वेदोक्त विधि पर नहीं चलता, जिसके मानने वाले मग (मागी) कहलाते हैं और जो अग्नि की उपासना करते हैं। "सोम के उपासक ही ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य आदि द्विजाति में आते हैं; अग्नि के उपासक उसके पृथक् हैं,"। भविष्य पुराण (१३९।४३,४५) में इस सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण श्लोक प्राप्त होते हैं। इस पुराण का काल बहुत अनिश्चित है पर इसके कुछ अंश पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होते हैं क्योंकि यह सामान्यत: धार्मिक पक्षपात से रहित है और १८ पुराणों की प्राचीन सूची में इसका उल्लेख है—

वेदोक्तविधिमुत्सृज्य यतोऽहं लंघितस्त्वया।
तस्मान् मगः समुत्पन्नस्तव पुत्रो भविष्यति।
जरथुस्त्र इति ख्यातो वंशकीर्तिविवर्धनः।
अग्निजात्या मगाः प्रोक्ता सोमजात्या द्विजातयः॥

संस्कृति से था और न सेमेटिक संस्कृति से ही। हेरोदोतस ने अपने इतिहास में (१।१४०) **मागियों में** इस प्रथा का स्पष्ट उल्लेख किया है। उसने यह भी लिखा है कि **पर्शियन** (अर्थात् ईरानी आर्य) ऐसा नहीं करते और वे अपने शवों को मोम लगाकर गाड़ देते हैं।

२. अपने निकट सम्बन्धियों से **वैवाहिक सम्बन्ध** स्थापित करने की प्रथा। यह प्रथा ईरानी आर्यों ने कभी नहीं अपनाई। अवेस्ता में इसका कोई उल्लेख नहीं है। **सासानी** काल के **पहलवी** साहित्य में सर्वप्रथम इसका उल्लेख प्राप्त होता है। यहाँ इस प्रकार के विवाह सम्बन्ध को अत्यन्त पुण्य-प्रद बताया गया है[1]।

३. यातविक तथा ऐन्द्रिजालिक कृत्य। अँग्रेजी के **'मैजिक'** (जादू) शब्द का ग्रीक **'मागस्'** से बने होना ही यह सूचित करता है कि प्राचीन यूनान में मागियों का जादू टोने से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता था।

४. स्वप्न विद्या तथा ज्योतिष। स्वप्नों से भविष्यवाणियाँ करने तथा फलित ज्योतिष में मागी अत्यन्त कुशल थे। किन्तु अवेस्ता में दोनों की विशेष चर्चा नहीं है। ग्रहों को मागी दुष्प्रभाव युक्त समझते थे। किन्तु आर्यों का दृष्टिकोण इससे भिन्न था। वे इन्हें **'यज़त'** (यज्ञिय या पूजनीय) कहते थे। दोनों प्रकार के दृष्टिकोण अवेस्ता में साथ-साथ प्राप्त होते हैं।

५. पारसी धर्म की **प्रबल द्वैतात्मकता** का श्रेय भी मागियों को दिया जाता है। परवर्ती पारसी धर्म जगत् पर आधिपत्य रखनेवाली दो परस्पर विरोधी शक्तियों में विश्वास रखता है—**अहुर** तथा **अंग्रामइन्यु**। प्रथम संसार की अच्छी वस्तुओं और शक्तियों का प्रतीक है और द्वितीय बुरी का। अहुरमज़्दा के जितने सेवक या परिचर है उसके ठीक विरोधी उतने ही अंग्रामइन्यु के भी। संसार की प्रत्येक वस्तु अहुर तथा अंग्रा के किसी एक वर्ग में अवश्य आती है[2]।

किन्तु अंग्रामइन्यु (अथवा **अह्रिमन्**) शब्द केवल एक बार ही गाथाओं में प्राप्त होता है (यस्न ४५।२) और वह भी एक सामान्य विशेषण के रूप में। किसी व्यक्तिवाचक संज्ञा अथवा नाम का यहाँ कोई आभास नहीं मिलता।

---

१. कारनाय : **ईरानियन माइथॉलजी :** चतुर्थ अध्याय, पृ० ३१०-११।
२. डार्म्स्टेटर, **जेन्द अवेस्ता** (से० बु० ई०) भूमिका, पृ० ५६।

उसका मानवीकरण नितान्त अस्पष्ट होने के कारण अहुर और अंग्रा के परस्पर संघर्ष का भी उल्लेख नहीं किया गया है। पर यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ग्रीक ऐतिहासिक **प्लूतर्क** ने लिखा है कि दुर्भाग्य एवं आपत्तियों को दूर करने के लिये मागी लोग **'ओमोमी'** नामक ओषधि को ओखली में कूटकर तथा उसे बलिदान किये हुए एक भेड़िये के रक्त के साथ मिला कर सूर्य के प्रकाश से रहित किसी स्थान में **'अंधकार तथा नरक के देवता'** को अर्पित करते हैं[1]। अवेस्ता में कहीं भी अंग्रामइन्यु को यज्ञ या बलि प्रदान करने का उल्लेख नहीं है। रात्रि या अंधकार में यज्ञ करना भी विशेष रूप से वर्जित है। ऐसे कर्म दैत्यों का बल बढ़ाते हैं। अतः स्पष्ट है कि अंग्रामइन्यु की धारणा का विकास मागियों के द्वारा ही हुआ है।

ज़रथुस्त्र की धार्मिक क्रान्ति—

मागियों के धर्म के अनेक तत्त्वों का इसी प्रकार आर्य तत्त्वों से सम्मिश्रण होता रहा और-धीरे वे उसके अविभाज्य अंग बन गये। प्राचीन आर्य धर्म के बहुदेवतावाद से मागियों के जादू टोने तथा कर्मकाण्ड का विचित्र मिश्रण होने के कारण यह प्राचीन ईरानी धर्म अत्यधिक जटिल. दुरधिगम्य तथा दुष्पाल्य हो उठा। मागी इस धर्म में पुराहितों के पद आसीन थे। इस समय लगभग १००० ई० पू०[2] ईरान के उत्तरी भाग के **बैक्ट्रिया** नामक प्रदेश में एक महान् धार्मिक व्यक्तित्व ज़रथुस्त्र का जन्म हुआ। उसने इस कृत्रिम, जटिल तथा अनेकरूप धर्म के विरुद्ध आन्दोलन किया और अपनी धार्मिक क्रान्ति द्वारा प्राचीन धर्म के कुछ विशेष तत्त्वों पर अपने नये धर्म की नींव रखी जो आगे

---

१. पारसी परम्परा के अनुसार ज़रथुस्त्र का जन्म ६६० ई० पू० में हुआ था। प्रो० जैक्सन (**ज़ोरेस्टर**, पृ० १५६) ने इसी तिथि को अन्य प्रमाणों से पुष्ट करने का भी यत्न किया है किन्तु आधुनिक विद्वान् इन समय को कम से कम २०० वर्ष और पूर्व मानने के पक्ष में हैं (गैल्डनर : **ए० ब्रि०** ११, २४६ पृ० १०४१)। अतः ज़रथुस्त्र का समय लगभग ९वीं या १०वीं शती ई० पू० पड़ता है। अलेग्ज़ेण्डर के आक्रमण के समय पारसी धर्म का जो विकसित परवर्ती रूप देखने में आता है उसको देखते हुए उसकी उत्पत्ति कम से कम पाँच सौ वर्ष पूर्व माननी आवश्यक है। अतः उसका यही काल सर्वाधिक उपयुक्त है।

चलकर, पारसी धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। **'अहुरमज्दा'** के रूप में आकाश के देवता वरुण की उपासना प्रचलित करके उसने एकेश्वर वाद की स्थापना का प्रयत्न किया। प्राचीन वैदिक ऋत को **'अर्त'** या **'अष'** नाम से सृष्टि के मूलतत्त्व के रूप में महत्वपूर्ण स्थान दिया और कुछ अमूर्त भावों के मानवीकरण को सृष्टि के नियामक देवनाओं के रूप में प्रतिष्ठित करके अपने धर्म को एक उच्च नैतिक एवं आचारशास्त्रीय स्तर पर स्थापित किया। अवेस्ता में प्राचीनतम धर्म को **'मज्दायस्न'** (सं० मज्दायज्ञ = अहुरमज्दा की उपासना करनेवाला धर्म) कहा गया है। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि मज्दा की उपासना ईरान में बहुत पहले से ही प्रचलित थी जरथुस्त्र के द्वारा परिष्कृत इस धर्म को द्योतित करने के लिए इसके पूर्व **'जरथुस्त्रिश'** विशेषण प्रायः प्रयुक्त किया गया है। 'जरथुस्त्रिश मज्दायस्न' का अर्थ है जरस्थुस्त्र द्वारा शिक्षित मज्दा धर्म। इससे पता चलता है कि अवेस्ता के कर्ताओं की दृष्टि में धर्म के दो स्तर पर्याप्त स्पष्ट थे।[1]

ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही था कि मागियों के सारहीन कर्मकाण्ड तथा आर्यों के प्राचीन देवताओं का तिरस्कार होता। गाथाओं में देवों तथा उनकी मूर्ति के पूजकों को अधार्मिक कहा गया है। एक स्थान पर (यश्त ४४।६) उसने कहा है कि उसे **बएज पूजा** के मूर्त तथा ऐन्द्रिय पदार्थों की उपासना से धर्म को शुद्ध करने का ईश्वरी आदेश प्राप्त हुआ है। अहुर तथा अमेषस्पेन्ता के अतिरिक्त अग्नि ही एक ऐसा प्राचीन देवता है जिसकी उपासना **'अतर'** नाम से जरथुस्त्र ने निर्धारित की। गाथाओं में **मिथ्र** जैसे महत्त्वपूर्ण आर्य देवता का उल्लेख नहीं है, कालान्तर में जिसकी उपासना का एक स्वतन्त्र संप्रदाय ही बन गया।

किन्तु धर्म का मूल सामान्यतः जनता के हृदय में होता है। उसके धार्मिक विश्वास इतनी शीघ्रता से परिवर्तित नहीं किये जा सकते। जरथुस्त्र से पूर्ववर्ती काल के धार्मिक विश्वास आंशिक रूप से जनता में पनपते रहे। यद्यपि जरथुस्त्र ने उनको कोई महत्व नहीं दिया किन्तु कालान्तर में वे इतने सबल हो उठे कि पारसी धर्म उनको अपने में अन्तर्भूत करने के लिये बाध्य हो गया। अवेस्ता के 'यश्त' भाग में जो स्तोत्र संकलित हैं वे अधिकांशतः उन्हीं प्राचीन आर्य देवताओं

---

१. तु० की०—तारापुरवाला : **दि रिलीजन आफ जरथुस्त्र**, प्रथम अध्याय।

से सम्बन्धित हैं जिन्हें एक बार पारसी धर्म निर्वासित करने की पूर्ण चेष्टा में असफल होकर अपनाने के लिये बाध्य हो गया था[1]। यश्तों में उपनिबद्ध स्तुतियों की प्रकृति भी वैदिक सूक्तों से आश्चर्यजनक समानता रखती है। वैदिक देवताओं के उल्लेख एवं उनकी स्तुति में पूर्णत: ऋग्वेद के तुल्य सूक्तों की प्राप्ति के कारण यश्त भाग अवेस्ता के अन्य भागों से इतने अधिक पृथक् प्रतीत होते हैं कि यदि एक स्थान पर (यश्त ४२।२) ज़रथुस्त्र एवं अहुर का एक साथ उल्लेख नहीं होता तो ये पूर्णत: ऋग्वेद के ही एक खण्ड के रूपान्तर प्रतीत होते और ज़रथुस्त्र और उसकी क्रान्ति के विषय में उनमें कोई प्रमाण नहीं रह जाता[2]। इसलिये यश्तों में संकलित धार्मिक-विश्वास काल की दृष्टि से उन गाथाओं से भी अधिक प्राचीन है जो अपनी आर्ष भाषा के कारण अवेस्ता में सर्वाधिक प्राचीन समझी आती हैं।

इस प्रकार अवेस्ता कई प्रकार के धार्मिक विचारों का विचित्र सम्मिश्रण है। विशेष रूप से पारसी धर्म के इन सिद्धान्तों में दो धाराएं स्पष्टत: पृथक् पृथक् प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है। प्रथम धारा है प्राचीन आर्य धर्म के देवताओं तथा देवकथाओं की और दूसरी ज़रथुस्त्र तथा मागियों के आर्येतर धर्म की[2]। यद्यपि प्रथम धारा में परवर्ती धार्मिक आन्दोलन के कारण कुछ परिवर्तन आ गया है किन्तु उसका मूल अस्पष्ट नहीं हुआ है। स्थान-स्थान पर अवेस्ता में कुछ ऐसे देवताओं का उल्लेख है जो केवल नामों की दृष्टि से ही तत्तत् देवताओं के अनुरूप नहीं हैं अपितु जिनका स्वरूप एवं विशेषताएं भी अपने वैदिक प्रतिमानों से पर्याप्त समानता रखती हैं।

पारसी धर्म का संक्षिप्त विवरण :—

पारसी धर्म की संक्षिप्त रूप रेखा देना यहाँ पर अप्रासंगिक न होगा। इसके अनुसार संसार का सर्वोच्च स्वामी अहुर है। उसे बुद्धिमान् (**मज़्दा** = मेधस्, मेधा[3]) तथा शक्तिशाली कहा गया है। वही इस जगत् के उद्भव तथा

---

१. ई० बैनवेनिस्ट : **पर्शियन रिलीजन**, पृ० ३।

२. माउल्टन : **ए० रि० ई० ७**, पृष्ठ ४९८।

३. देखिये, क्रिस्टयान बार्थोलोमे: **आल्ट-ईरानिशस् वर्टरबुख़** (प्राचीन-फ़ारसी-शब्दकोश), बर्लिन १९०४ (पुनर्मुद्रण १९६९), स्तंभ ११६२-६३। इस शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियों के विवेचन के लिये स्टैन कोनोव का **गंगानाथ झा अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० २१७-२३ में प्रकाशित लेख भी द्रष्टव्य है।

पालन को नियन्त्रित करता है। इस कार्य में सहायता देने के लिये उसके अधीन छः **'अमेश स्पेन्ता'** (= अमर पुण्यशाली) हैं। इनके नाम क्रम से १. **अर्त** या **अष** (ऋत, पवित्रता) २. **वोहु मन** : (उत्तम मन, सद्विचार) ३. **क्शथ्र वइर्य** (स्पृहणीय राज्य) ४. **आरमइति** (सदाचार, भक्ति) ५. **हउर्वतात्** (पूर्ण आनन्द) तथा ६. **अमर्तात** (अमरता) हैं। इस प्रकार ये छः अमूर्त भावों के मानवीकरण मात्र हैं, किन्तु अपने मूर्त रूप में ये संसार के एक-एक विभाग के स्वामी हैं और क्रमशः अग्नि, पालित पशु, धातु, पृथ्वी, जल तथा वृक्षों के ऊपर आधिपत्य रखते हैं[1]। इन्हीं की सहायता से अहुरमज़्दा विभिन्न कार्यों का संचालन किया करता है।

अमेश स्पेन्ता के नीचे देवताओं की एक और श्रेणी है इन्हे **'यज़त'** कहा जाता है। यज़त का अर्थ है 'यज्ञ के योग्य' (वैदिक-यजनीय)। इस श्रेणी में बहुधा प्राचीन आर्य देवता हैं जो बाद में अपनी महत्ता के कारण परवर्ती पारसी धर्म में उच्च स्थान पा गये। इनमे **'अतर'** का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। यह देवी अग्नि का मानवीकरण है। अग्नि की उपासना पारसी धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसी प्रकार की एक अन्य देवी **'अनाहिता'** है जो जलों की (वैदिक-आपस्) अधिष्ठात्री है। पृथ्वी की उर्वराशक्ति बढ़ाने में भी वह सहायक होती है। अवेस्ता के पंचम यश्त में उसे एक सुन्दर युवती के रूप में चित्रित किया गया है। पर इन सभी यज़तों में सर्वोत्कृष्ट स्थान **'मिथ्र'** का है। जरथुस्त्र द्वारा उपेक्षित होते हुए भी सामान्य जनता में इसकी उपासना युद्ध में विजय प्रदान करने वाले, सत्य और अष के अनुगामी व्यक्तियों की रक्षा करने वाले, न्याय के पालक देवता के रूप में उसी मनोयोग से होती रही। अवेस्ता में **'रश्नु'** (न्याय) तथा **'श्राओष'** (अनुशासन) नामक दो यज़त इन कार्यों में इसके सहायक माने गये हैं।

अहुर मज़्दा के ही वर्ग में **'फ्रवशी'** भी आते हैं। इनका प्राचीन ईरानी धर्म में लगभग वही स्थान है जो हिन्दू धर्म में पितरों का। परवर्ती अवेस्ता में इन्हें असंख्य, अमर, सूक्ष्म शरीरों के रूप में माना गया है। प्रत्येक व्यक्ति का एक-एक फ्रवशी होता है। मनुष्य के शारीरिक अवयव तथा उसकी मानसिक एवं

---

१. कारनाय : **दि माइथॉलजी आफ आल रेसेज़** : भाग ६, **ईरानियन माइथॉलजी** : पृ० २६०।

आध्यात्मिक विशेषताएँ ठीक उसी प्रकार की होती हैं जैसी उसके फ्रवशी की। मनुष्य के संपूर्ण व्यक्तित्व का यह सूक्ष्म एवं अमर प्रतिनिधि है। शरीर-नाश के पश्चात् आगे के फल भोगने के लिए यही स्थित रहता है[1]।

पारसी धर्म अपनी द्वैतात्मकता के लिये विशेष प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार **अहुरमज़्दा** प्रकृति की सम्पूर्ण अच्छाइयों का प्रतीक है उसी प्रकार उसका प्रतिद्वन्द्वी '**अंग्रामइन्यु**' सम्पूर्ण बुराइयों का साकार प्रतिनिधि है। अहुर प्रकाश, सत्य, सत्कर्म तथा ज्ञान से युक्त है, किन्तु अंग्रा-मइन्यु अन्धकार, छल, दुष्टता तथा अज्ञान से (यस्न ३०)। अहुर सदा प्रकाश में रहता है किन्तु अंग्रा अनन्त अन्धकार में। दोनों सदा परस्पर विरोधी कार्यों को करते हैं। संसार की सभी बुराइयों की रचना अंग्रा के द्वारा ही हुई है। अंधकार, कष्ट तथा पाप उसी ने उत्पन्न किये हैं[2]। अपने परिचर दैत्यों के साथ वह सदा अहुरमज़्दा से लड़ता रहता है और उसके मानने वालों को भ्रान्त करके पथभ्रष्ट कर देता है। इसीलिये उसे 'द्रुज्' ('द्रोह', माया) भी कहा गया है। स्पेन्ता के विरोध में उन्हीं की भाँति उसके भी छः परिचर हैं जिन्हें '**दएव**' कहा जाता है। इनके नाम क्रमशः १. **अएश्मा** (क्रोध, हिंसा) २. **अकमनः** (असद् मन, बुरे विचार) ३. **बूश्यास्तां** (आलस्य) ४. **अपाओषा** (अनावृष्टि) तथा ५. **नसु** (शव) हैं। इनके बुरे कार्यों में ६. **यातु** (भूत-प्रेत) तथा **पैरिका** ('परी' अप्सरा) भी सहायक होते हैं।

सत् और असत् तत्त्वों में यह संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। मनुष्य भी इसमें सक्रिय भाग लेते हैं। यदि वे सत्कर्म करते हैं तथा मज़्दा को यज्ञ प्रदान करते हैं तो वे सत् तत्त्व अहुर मज़्दा की सहायता करते हैं। यदि वे पाप कर्म करते हैं तो उससे असत् तत्त्व अंग्रा मइन्यु बलवान् होता है। अंग्रा की शक्ति घटाने का एक सरल उपाय उसकी सृष्टि को नष्ट करना है। कीड़े मकोड़े तथा चींटियाँ उसी की सृष्टि हैं। अतः इनका विनाश करके अपने पापों का प्रायश्चित किया जा सकता है और अहुर की शक्ति भी बढ़ाई जा सकती है। पारसियों

---

१. तारापोरवाला: **रिजीजन आफ ज़रथुस्त्र**, प्रथम अध्याय।

२. तु० की०—यश्त ३३:७७, फरगार्द २१

'जो भी कुछ अहुर बनाता है उसे वह विकृत कर देता है। उसी ने वृक्षों में विष, मनुष्यों में पाप, अग्नि में धूम तथा जीवन में मृत्यु की स्थापना की है।

का विश्वास है कि ज़रथुस्त्र के जन्म के ९००० वर्षों पश्चात् अंग्रामइन्यु का विनाश हो जायगा। उसका पुत्र **सओश्यन्त** संसार को उसके दुष्प्रभाव से मुक्त करेगा। इस समय पिघली हुई धातु समस्त पृथ्वी पर बहेगी जिससे सभी प्राणियों के पापों का प्रायश्चित हो जायगा और एक छोटी सी प्रलय के उपरान्त संसार में अखंड शान्ति एवं सुख का संचार होगा। डार्म्स्टेटर का मत है कि अंग्रामइन्यु का विकास भारोपीय काल की 'वृष्ट्यवरोधक दैत्य' (**वृत्र**) की धारणा से हुआ है। वर्षा के देव इन्द्र तथा उसके अवरोधक दैत्य वृत्र के युद्ध का जो सजीव और सशक्त विवरण वैदिक मंत्रों में प्राप्त होता है वही अहुर और अंग्रा के पारस्परिक युद्ध की भूमिका हे। पर ईरानी धर्म में उसका चित्रण जगत् की सम्पूर्ण बुरी शक्तियों के मूर्तिमान् प्रतीक के रूप में किया गया है और उसे अहुर का पूर्ण विपर्यय माना गया है।

ज़रथुस्त्र की ऐतिहासिकता

अवेस्ता में स्थान-स्थान पर ज़रथुस्त्र और अहुर मज़्दा के संवाद के रूप में पारसी धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन है। पारसी परम्परा तथा सभी प्राचीन ग्रीक लेखक एक मत से यह स्वीकार करते हैं कि पारसी धर्म की नींव ज़रथुस्त्र ने डाली। किन्तु अवेस्ता में वर्णित उसके चरित्र की जो झाँकी हमें प्राप्त होती है उसमें काल्पनिक दन्त कथाओं तथा पौराणिकता का इतना अधिक समावेश है कि कभी-कभी यह सन्देह होने लगता है कि ज़रथुस्त्र देवत्व पर प्रतिष्ठापित कोई वास्तविक **पुरुष** था अथवा कोई प्राचीन **देवता** जिसे कालान्तर में ऐतिहासिक व्यक्ति मान लिया गया।

यद्यपि पारसी धर्म में व्याप्त नैतिक भावना, अमूर्त तत्वों की उपासना तथा सम्पूर्ण धर्म की एक विशिष्ट एकरूपता यह सूचित करती है कि यह प्राचीन वैदिक धर्म का स्वाभाविक विकास नहीं है और इसे अवश्य ही किसी व्यक्ति ने इस प्रकार का सुसंस्कृत रूप प्रदान किया है, किन्तु फिर भी डार्म्स्टेटर ने उपर्युक्त दूसरी संभावना को ही सत्य के अधिक निकट माना है। उसका कथन है कि ज़रथुस्त्र का व्यक्तित्व इन्द्र की भाँति किसी प्राचीन भारोपीय वृष्टि देव का ही स्वाभाविक विकास है। पारसियों की धार्मिक दन्त कथाओं में ज़रथुस्त्र तथा उसके पुत्र **'सओश्यन्त'** का एक महत्वपूर्ण स्थान है। अवेस्ता में ज़रथुस्त्र को प्रायः **वेरेथ्रघ्न** तथा **अपां नपात्** की भांति राक्षसों का वध करने वाला

१. **जेन्द अवेस्ता** : भूमिका, ४, पृ० ७१।

वर्णित किया गया है और कहीं-कहीं तो उसे उनसे भी अधिक पराक्रमी बताया गया है (यश्त १९।३८)। राक्षसों की ओर वह अहुर के दिये हुए विशाल प्रस्तर खण्ड फेंकता है (फरगार्द १९।४)। ऋग्वेद में भी इन्द्र, मरुत् तथा अग्नि को प्रस्तर-वृष्टि से दैत्यों का अपसारण करते हुए वर्णित किया गया है (ऋ० २।३०।४)। उसके जन्म पर नदियों में बाढ़ आ जाती है, पृथ्वी सजला हो जाती है और वनस्पतियां फलने फूलने लगती हैं (यश्त १३।९३)। उसके जन्म के लिये स्वयं अहुर प्रयत्न करता है और एतदर्थ वह देवी अनाहिता के लिये एक यज्ञ भी करता है। ज़रथुस्त्र सदा अहुर के साथ रहता है और जब दैत्य नरक से निकलकर उसको मारने के लिये आक्रमण करते हैं तो वह उनको अपने वज्र (ह्वरेनो) तथा 'अहुनवइर्य' प्रार्थना के बल पर मार भगाता है। डार्म्सटेटर के अनुसार आकाश में विद्युत् का गर्जन ही 'अहुनवइर्य' का मूल रूप है। ऋग्वेद में इसकी वागम्भृणी (अम्भृणी - जल की, वाक् - वाणी) के रूप में स्तुति की गई है। अत: इन्द्र के समान वर्षा का कोई भी देवता जो विद्युद् गर्जन रूपी वाणी से आकाश से उपदेश देते हुए कल्पित किया गया हो पौराणिक दन्त कथाओं में ज़रथुस्त्र का रूप धारण कर सकता है[1]। ज़रथुस्त्र के समान **'यिम'** (वैदिक-यम) आदि देवताओं को भी धार्मिक नियमों के ज्ञाता तथा उपदेशक वर्णित किया गया है किन्तु उन सबमें जरथुस्त्र का ही स्थान सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ज़रथुस्त्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न होकर यम आदि के समकक्ष कोई प्राचीन वृष्टि-देवता मात्र है जिसे बाद में पारसी धर्म के मूल प्रवर्तक के रूप में मान्यता प्राप्त हो गई।

जरथुस्त्र की ऐतिहासिकता का इस प्रकार खण्डन करते हुए डार्म्सटेटर ने गाथाओं की रचना के विषय में एक रोचक मत स्थापित किया है। उनका कथन है कि अवेस्ता के गाथा भाग का निर्माण सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् विभिन्न पारसी पुरोहितों द्वारा किया गया क्योंकि उसके आक्रमण से सारा प्राचीन धार्मिक साहित्य नष्ट हो गया था। उस समय से कई शताब्दी पूर्व ही गाथिक भाषा मृत हो चुकी थी। अत: इस प्रकार की आर्ष भाषा में रचना करने का उनका उद्देश्य यह था कि उनका धार्मिक साहित्य अत्यन्त प्राचीन जान पड़े।

जरथुस्त्र के व्यक्तित्व को मान्यता न देने के कारण धार्मिक क्रान्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उसका मत है कि पारसी धर्म केवल प्राचीन आर्य

---

१. **वही**—पृ० ७८।

धर्म का ही स्वाभाविक विकसित रूप मात्र है; यह उसके शनैः शनैः किन्तु सतत होने वाले विकास की ही विदेशी परिणति है। उसमें कहीं भी प्राचीन काल से चली आ रही धार्मिक रूढ़ियों के प्रति विरोध नहीं प्रदर्शित किया गया। अवेस्ता में कहीं भी नहीं प्रतीत होता कि कोई व्यक्ति किन्हीं नये धार्मिक विश्वासों को जनता के ऊपर थोपने की चेष्टा कर रहा है[1]। किसी भी प्राचीन आर्य देवता का पारसी धर्म में तिरस्कार और बहिष्कार नहीं किया गया। वरुण, अग्नि मित्र, विवस्वान्, सोम सभी तो पारसी धर्म में हैं। केवल इन्द्र (इन्द्र) तथा नासत्या (नाओङ्हैथ्या) के नाम का स्वरूप अवश्य कुछ बदल गया है। वेरेथ्रघ्न (वृत्रहन्) देवता के रूप में इन्द्र पारसी धर्म में उसी उत्कृष्ट पद का भागी है यद्यपि उसका प्रसिद्ध नाम 'इन्द्र' एक दैत्य का नाम है। इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है[2]। हो सकता है कि बहुत प्राचीन काल में इस शब्द का कुछ ऐसा भाव रहा हो जो देव तथा दैत्य दोनों के लिये उपयुक्त हो सकता हो। कालान्तर में उसका वृत्रघ्न विशेषण ही विशेष प्रचलित हो गया और संभवतः अप्रयुक्त होने के कारण इन्द्र दैत्य-विशेष का वाची बनकर रह गया। नासत्या शब्द के विषय में भी वही हुआ होगा। यहाँ यह स्मणीय है कि इन देवताओं के स्वरूप में नहीं अपितु केवल तद्वाचक शब्दों के अर्थ में ही यह परिवर्तन हुआ है। एक बात और है इन्द्र और नाओङ्हैथ्या अवेस्ता में केवल नाम भर हैं। अवेस्ता अथवा प्राचीन धार्मिक परम्परा में इनके स्वरूप के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया। किसी धार्मिक विद्वेष के कारण यदि प्राचीन देवताओं का अपकर्ष करके बलात् दैत्य बनाया गया होता तो इनको अवश्य शक्तिशाली एवं भयानक दैत्यों के रूप में प्रदर्शित किया जाता[3]। उपर्युक्त तथ्यों पर ध्यान देते हुए पारसी धर्म को वैदिक धर्म का ही परवर्ती विकास मानना उचित है।

जरथुस्त्र की ऐतिहासिकता, गाथाओं की प्रामाणिकता तथा पारसी धर्म के विकास पर डार्म्स्टेटर ने जो विचार प्रकट किये हैं उन पर यहाँ कुछ विचार करना आवश्यक है क्योंकि इन विचारों को इसी रूप में स्वीकार कर लेने पर

---

१. **वही**, पृष्ठ ८१।

२. यास्क (निरुक्त १०।८) ने इन्द्र शब्द की १० प्रमुख व्युत्पत्तियाँ दी हैं किन्तु इनमें से एक भी सन्तोषजनक नहीं है। द्रष्टव्य आगे अध्याय ५, 'इन्द्र'।

३. डार्म्स्टीटर : **जेन्द अवेस्ता** : ४, पृ० ८०-८१।

पिछले तथा अगले दोनों पृष्ठों में स्थापित की हुई हमारी धारणाओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ेगा।

ज़रथुस्त्र के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में डार्म्स्टेटर का ओ विचार है उससे प्रतीत होता है कि उसने गाथाओं में वर्णित ज़रथुस्त्र के चरित्र पर विचार करने का यत्न नहीं किया। यद्यपि यह ठीक है कि परवर्ती अवेस्ता में जरथुस्त्र के व्यक्तित्व से अनेक प्रकार की कथाएँ सम्बद्ध कर दी गई हैं किन्तु गाथाओं में उसके जीवन से सम्बन्धित जितनी घटनाएँ दी गई हैं उनमें अत्यधिक वास्तविकता तथा सजीवता है। गाथाओं तथा परवर्ती अवेस्ता के ज़रथुस्त्र के चरित्र में आकाश पाताल का अन्तर है[1]। जिस प्रकार बौद्ध धर्म में बुद्ध से सम्बन्धित अनेक काल्पनिक घटनाएँ उनके जीवन से सम्बद्ध किये जाने पर भी बुद्ध की ऐतिहासिकता में कोई व्याघात नहीं पड़ता उसी प्रकार जरथुस्त्र के विषय में भी है। गाथाओं के ज़रथुस्त्र के व्यक्तित्व में तनिक भी अस्वाभाविकता नहीं है। कुछ घटनाएँ तो इतनी तुच्छ है कि यदि उनको सत्य न माना जाय तो यह बताना कठिन हो ज़ायगा कि जरथुस्त्र के कल्पनाप्रसूत चरित में इनका समावेश क्यों किया गया। घटनाएँ प्राकृतिक तथा मानवीय हैं। उनकी प्रतीकात्मक व्याख्या नहीं हो सकती। और इन घटनाओं के निकाल देने पर बहुत सी गाथाओं की सन्तोषजनक व्याख्या करना कठिन हो जायेगा। उदाहरणार्थ गाथाओं में एक स्थान पर[2] कहा गया है कि एक बार **'दएव यस्न'** (प्राचीन ईरानी धर्म) को मानने वाले एक सामन्त के भृत्य ने शिशिर ऋतु की रात्रि में अतिथि के रूप में आये हुए ज़रथुस्त्र को अपने घर में ठहरने तक का स्थान नहीं दिया और वह तथा उसके घोड़े रात भर बाहर ही शीत से काँपते रहे। वस्तुत: गाथाओं का ज़रथुस्त्र इसी संसार का एक साहसी व्यक्ति है जो अनेक बाधाओं के बीच में एक नवीन धार्मिक विचारधारा की स्थापना करता हुआ प्रतीत होता है[3]। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सभी कुछ इतना यथार्थ और उपयुक्त है और एक धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात एवं शैशव उसमें इतनी स्वाभाविकता के साथ प्रतिबिम्बित है कि एक क्षण के लिये भी यह सोचना कठिन है कि यह सब उन परवर्ती पुरोहितों का फैलाया हुआ जंजाल हैं जिनमें ऐतिहासिक भावना का प्रायः अभाव पाया जाता है।[4]

१. गैल्डनर : **ए० ब्रि०**, भाग १८, पृ० १०४०।

२. यस्न ५१।१२।

३. तु० की०—माउल्टन : **अर्ली ज़ोरेस्ट्रियनिज़्म**, पृ० १६।

४. गैल्डनर : **ए० ब्रि०**। भाग २३, पृ० १०४०, **ज़ोरेस्टर'**।

प्राचीन ईरान में बहुधा किसी विशेष पशु के आधार पर नाम रखने की प्रथा थी। ज़रथुस्त्र के नाम के आगे '**उस्त्र**' (**उष्ट्र** अर्थात् ऊँट,) आया है उसके श्वसुर का नाम '**फ्रशउश्त्र**' है। उसके माता पिता का नाम क्रमशः **दुग्दोग** (दुग्ध गौः, दुग्धगुः, जिसने गायें दुह लीं हैं) तथा **पौरुशस्प** (प्रारुषाश्व-जिसके घोड़े भूरे हैं) और भाई का **जमस्प**। सभी नाम ग्रामीण हैं और जरथुस्त्र के गांव में जन्म लेने की बात को पुष्ट करते हैं[1]।

गाथाओं की प्रामाणिकता—

अब **गाथाओं की अर्वाचीनता** पर भी विचार करना है। डारर्स्टेटर का मत है कि गाथा, यश्त तथा परवर्ती अवेस्ता की रचना एक ही साथ प्रथम शताब्दी में हुई है। पहले कहा जा चुका है कि गाथाओं की भाषा अवेस्ता में सर्वाधिक प्राचीन है और केवल थोड़े से परिवर्तनों से ही वैदिक संस्कृत में बदली जा सकती है। यदि इसकी रचना प्रारंभिक सासानी काल में मानी जाय तो पहली समस्या तो यह खड़ी होती है कि पुरोहितों ने एक मृतभाषा में इतनी कुशलता पूर्वक रचना कैसे की। किसी भी ऐसी भाषा में रचना करने के लिये जो बोली नहीं जाती प्राचीन व्याकरण के सूक्ष्मातिसूक्ष्म नियमों की व्याख्या करने वाले सन्दर्भ ग्रन्थों तथा साथ ही उस प्राचीन भाषा में रचे गये पर्याप्त साहित्य का होना आवश्यक है किन्तु यह सब उन पुजारियों के पास कहाँ था? अवेस्ता से प्राचीन किसी भी साहित्य का उल्लेख तक प्राप्त नहीं होता। वैदिक व्याकरण के नियमों की गाथा के व्याकरण से तुलना करने पर वह पूर्णतः खरी उतरती है। छन्द की दृष्टि से भी वह वैदिक छन्दों के अत्यन्त समीप है। ये सब तथ्य उसकी कृत्रिम रचना का खण्डन करते हैं। एक बात और है—यश्तों की भाषा गाथा और परवर्ती अवेस्ता के बीच की है। अतः मानना होगा कि पारसी पुरोहितों ने दो प्रकार की मृत भाषाओं में पृथक्-पृथक् पारसी धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए अपनी धर्म पुस्तक की रचना की होगी। इस संभावना का कोई उद्देश्य नहीं जान पड़ता।

पारसी धर्म पर एक सामान्य दृष्टि डालने से ही विदित हो जाता है कि यह धर्म केवल पूर्ववर्ती आर्यधर्म का ही स्वाभाविक विकास नहीं है। गाथाओं में वर्णित ज़रथुस्त्र का धर्म वैदिक धर्म से किंचिन्मात्र भी समानता नहीं रखता। जरथुस्त्र के उस कथन को ध्यान में रखते हुए इसकी और भी

---

१. तु० की० माउल्टन : **अ० ज़ो०** पृ० ८१-८२।

सम्भावना नहीं प्रतीत होती जिसमें उसने कहा है कि मुझे प्राचीन **'दएव यस्न'** (=देवयज्ञ) को संशोधित करके ऐन्द्रिय धरातल से अमूर्त आध्यात्मिक धरातल पर स्थापित करने का ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ है (यस्न ४४।६)। किसी भी प्राचीन आर्य देवता का गाथाओं में उल्लेख तक नहीं है। यहाँ तक कि मिथ्र का भी नहीं, जो परवर्ती पारसी धर्म में एक प्रमुख यज़त के रूप में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वस्तुतः प्राचीन आर्य धर्म मागियों के विचित्र धार्मिक विचारों से मिलकर इतना विकृत हो गया था और उसमें कर्मकाण्ड तथा ऐन्द्रजालिक कृतियों की इतनी भरमार हो गई थी कि उसे अमूर्त धरातल पर ले जाना ही उपयुक्त था और वही ज़रथुस्त्र ने किया।

'असुर' और 'देव' शब्दों के ईरान में पृथक् भाव—

यहाँ एक मनोरंजक तथ्य ध्यान देने योग्य है। अवेस्ता में राक्षसों के लिये **दएव**' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द वैदिक **'देव'** ही है। इस प्रकार यह शब्द इन दो देशों में बिलकुल विपरीत अर्थ रखता है। इसी प्रकार पारसी धर्म के सर्वोच्च देवता की संज्ञा **अहुर** (मज़्दा) है। यह संस्कृत **'असुर'** शब्द का ही ईरानी रूप है क्योंकि संस्कृत के ऊष्म **स्** के स्थान पर फारसी में सदा **ह्** वर्ण प्राप्त होता है। यद्यपि ऋग्वेद में यह शब्द प्राणवान् या शक्तिशाली के अर्थ में वरुण के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है किन्तु परवर्ती संस्कृत भाषा में असुर शब्द निरपवाद रूप से राक्षसों का वाची है और 'सुर' शब्द का विपर्यय है। जिस शब्द का भारत में 'देवता' अर्थ हो उसका ईरान में 'राक्षस' और जो शब्द भारत में राक्षसों का बोध करता हो वही ईरानी धर्न में सर्वोत्कृष्ट देवता का बोध करे, यह आश्चर्य की बात है। इस विचित्र अर्थ परिवर्तन के अनेक कारण उपस्थित किये गये हैं।

सर्व प्रथम ब्रैड्के ने यह सुझाया कि इस अर्थ परिवर्तन का कारण भारतीय और ईरानियों का परस्पर वैमनस्य है। वैदिक काल के पूर्व भारतीय आर्य भी ईरान में ही रहते थे। किसी धार्मिक विरोध के कारण आर्य जाति दो दलों में बंट गई थी। एक दल 'असुर' (शक्तिशाली, असु = प्राण, शक्ति) नाम से देवताओं की उपासना करता था और दूसरा 'देव' (तेजस्वी, दिव् = चमकना) नाम से। प्रथम दल अधिक शक्तिशाली था अत: उसने देवपूजकों को या तो बलात् भारत की ओर भगा दिया अथवा वह स्वयं उस प्रदेश को छोड़कर पूर्व की ओर बढ़ गया। यह भी हो सकता है कि यह द्वेष उस समय उत्पन्न हुआ हो जब दोनों दल स्थायी रूप से ईरान तया भारत में बस गये हों।

जो हो, परस्पर तीव्र घृणा की भावना ने एक दूसरे के देवताओं को राक्षसों का रूप दे दिया[१]।

ब्रेड्के का यह मत ठीक तथ्यों पर आधारित नहीं है। स्पष्ट है कि असुर शब्द के अर्थ में परिवर्तन सर्वथा भारत में हुआ है। प्राचीनतम वैदिक काल में देव तथा असुर दोनों ही अच्छे भाव में प्रयुक्त होते थे। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, ऋग्वेद में असुर शब्द कई स्थानों पर सर्वोच्च देवताओं के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ प्राप्त होता है। अतः इसके अर्थ परिवर्तन का ईरान से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता।

डार्म्सटीटर का मत है कि बहुत प्राचीन आर्यकाल में देवत्व के सूचक तीन शब्द थे—**देव** (दिव्-प्रकाशमान), **यजत** (यज्ञ के भागी) तथा **असुर** (प्रभु या शक्तिशाली) इनमें से असुर शब्द सर्वाधिक शक्तिमान् देवताओं के लिये प्रयुक्त होता था। ईरान में इस शब्द का कुछ और उत्कर्ष हुआ और वह एक प्रकार से ईश्वर (अहुरमज़्दा) को सूचित करने लगा और यजत शब्द सामान्य देवताओं का वाची हो गया। इस प्रकार 'देव' शब्द का कोई उपयोग नहीं रहा।

इधर प्राचीन वैदिक काल में कुछ देवता क्रोधी तथा कष्टदायक माने जाते थे और इनके क्रोध से त्राण पाने के लिये अन्य शक्तिशाली देवताओं की प्रार्थना की जाती थी (देखिये, ऋ० वे० ६।६२।८, ८।५२।१, ८।१६।६ यश्त १०।३४ यस्न ६।६०)। अतः धीरे-धीरे ईरान में इस अप्रयुक्त देव शब्द ने बुरा भाव ग्रहण करना प्रारंभ किया[२] और जब पारसी धर्म की द्वैतात्मकता अत्यधिक स्पष्ट हो गई तथा अच्छी और बुरी शक्तियों की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हो गई तो इस शब्द ने पूर्ण रूप से 'राक्षस' भाव को ग्रहण कर लिया। अर्थ के अपकर्ष में एक महत्वपूर्ण कारण सम्भवतः यह भी था कि प्राचीन ईरानी भाषा में दैत्य अथवा राक्षस भाव को सूचित करनेवाला कोई भी शब्द नहीं था। देव शब्द की व्युत्पत्ति और उससे प्राप्त अर्थ (प्रकाशमान, तेजस्वी) भी इस शब्द के अर्थापकर्ष को यहीं बचा सके क्योंकि ईरानी भाषा में दिव् धातु ही लुप्त हो गई और इस प्रकार मूल अर्थ के लुप्त हो जाने पर 'देव' शब्द किसी भी अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ हो गया[3]।

---

१. ब्रैड्के : **द्यौस् असुर** : १०६।

२. डार्म्सटीटर: **जे० अ०** की भूमिका, पृ० ८०।

३. **वही**, पृष्ठ ८१।

वस्तुतः परवर्ती ईरानी काल में **देव** शब्द के बुरे अर्थ में प्रयुक्त होने का कारण **ज़रथुस्त्र की धार्मिक क्रान्ति** ही है। उसने विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकृत-रूप देवों की उपासना को तिरस्कृत करके अमूर्त नैतिक तत्वों की उपासना पर बल दिया था। अमूर्त तत्वों को देवताओं के स्थान पर प्रस्थापित करने का उद्देश्य यही था कि उपासना आडम्बरहीन और कर्मकाण्ड की जटिल प्रक्रिया से रहित हो। पर फिर भी गाथाओं में 'दएव' शब्द का अर्थ राक्षस नहीं है[1]। ज़रथुस्त्र ने इस शब्द का प्रयोग सामान्य लोक-विश्वास के देवताओं को सूचित करने के लिये ही किया है। प्राचीन आर्य धर्म के इन 'दएवों (देवताओं) की उपासना को ज़रथुस्त्र ने अनावश्यक एवं व्यर्थ मानते हुए उसका अनौचित्य प्रदर्शित किया है। उनके उपासकों को उसने नास्तिक तथा अधार्मिक कहा है[2]। इस प्रकार अपने मूल उत्तम भाव को छोड़कर भी 'दएव' शब्द ने गाथाओं में उस निकृष्ट भाव को ग्रहण नहीं किया है जिसका वह बाद में प्रतीक बन गया। पर दएवों के इस विरोध के कारण धीरे-धीरे इस शब्द का अर्थ अपकृष्ट होता गया और अन्त में वही अर्थ हो गया जो संस्कृत में 'राक्षस' का है।

असुर शब्द के अर्थ-परिवर्तन का इतिहास भारत में खोजना पड़ेगा। ऋग्वेद में केवल चार स्थानों पर (८।८५।९, १०।१५७।४, १०।५३।४, १०।१५१।३) यह शब्द बहुवचन में राक्षसों के लिये प्रयुक्त हुआ है। इनमें से भी तीन दशममण्डल में हैं जो काल की दृष्टि से सर्वाधिक परवर्ती है। तीन बार यह एक दैत्य के लिए व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में भी प्रयुक्त हुआ हैं। (ऋ० वे २।३०।४, १०।१३८।३, ७।९९।५)। शेष सभी स्थानों पर यह आकाश-स्थानीय उच्च देवताओं (विशेषतः वरुण तथा इन्द्र) के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद तथा परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों में यह कहीं भी देवताओं से सम्बन्धित नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि इस शब्द का भाव किसी ऐसी विशेषता से सम्बन्धित है जो देवताओं तथा राक्षसों में उभयनिष्ठ है। वस्तुतः इन्द्र, वरुण या मित्रावरुणौ के सम्बन्ध में यह वहीं प्रयुक्त हुआ है जहाँ उनकी रहस्यमय गूढ़ शक्ति अथवा माया (तु० की०, **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते**) विवक्षित है[3]। किन्तु माया शब्द कहीं कहीं बुरे अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ

---

१. तु० की० माउल्टन : **अर्ली रिलीजस पोएट्री आफ पर्शिया**, पृ० ५५।
२. तु० की० गैल्डनर, ए० ब्रि०, भाग २३, **'जोरेस्टर'** पृ० ९८६-८८।
३. **वैदिक माइथॉलजी** : पृ० १५९।

है। ऐसे स्थानों पर इसका भाव 'छल-छद्म से पूर्ण कौशल' रहा है। स्पष्ट है कि इस भाव में यह असुरों से पूर्णतः सम्बन्धित है[१]। महाभारत में **मय** दानव का उल्लेख है जो अत्यधिक मायावी होने पर भी कुशल शिल्पी था। **नमुचि** और **शंबर** भी हिन्दू देवकथाओं में अपनी **'माया'** के लिये विख्यात हैं। 'असुर' का अर्थ वैदिक ऋषियों के लिये संभवतः **'रहस्यमय गूढ़शक्ति से युक्त'** था और इस प्रकार यह देव तथा राक्षस दोनों के लिये प्रयुक्त हो सकता था। ऋग्वेद १०।१२४ में असुर शब्द इन दोनों अर्थों में एक साथ प्रयुक्त हुआ है—

शंसामि पित्रे असुराय शेवमयज्ञियाद्यज्ञियं भागमेमि (३)
निर्माया उ त्ये असुरा अभूवन् त्वं च मा वरुणकामयासे (५)

ऋग्वैदिक काल के पश्चात् इसका मूल अर्थ लुप्त होने लगा और यह राक्षसों का विशेषण बनकर धीरे-धीरे उनकी संज्ञा बन गया। दो कारणों ने इसमें और अधिक योग दिया। प्रथम तो यह कि वैदिक साहित्य में राक्षसों के लिए एक सामान्य शब्द का प्रायः अभाव था[२]। और दूसरे असुर शब्द के आदि में निषेधात्मक 'अ' लगा होने से इसे **'सुर'** शब्द का विलोम समझ लिया गया। लोक-व्युत्पत्ति के द्वारा सुर शब्द को **स्वर** (प्रकाश, स्वर्ग) से सम्बन्धित करके इसका अर्थ 'देव' कर लिया गया और इस तथ्य की बिलकुल उपेक्षा कर दी गई कि असुर शब्द का उद्गम **'असु'** शब्द से हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सुर शब्द देवताओं के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है किन्तु उपनिषदों में आते ही उसका देव अर्थ में प्रयोग होने लगता है[३]।

असुर तथा देव शब्दों के उद्भव पर कुछ प्रकाश डालते हुए जेम्स माउल्टन ने इन दोनों शब्दों के मूल अर्थ की तर्क पूर्ण व्याख्या करने की चेष्टा की है[४]। उसके अनुसार प्राचीनतम वैदिक (अर्थात् 'भारतईरानी') काल में देव तथा असुर शब्द मूलतः दो प्रकार के उपास्य तत्त्वों से सम्बन्ध थे। **प्रकृति** के विभिन्न तत्त्वों के मानवीकरण से उद्भूत विभिन्न उपास्यों की श्रेणी 'देव' नाम से

---

१. वही : पृ० १५६; तु० की० —ओल्डेनबर्ग : **डी रिलीगियोन डेस वेद,** पृ० १६४, टिप्पणी २।

२. **वैदिकमाइथॉलजी**—१५६-५७

३. कीथ : **इंडियन माइथॉलजी** : प्रथम भाग, ८४-८५।

४. ए० रि० ई०, सप्तम भाग, पृ० ४१८ **'ईरानियन्स'**—जेम्स होप माउल्टन।

अभिव्यक्त की जाती थी और असुर शब्द का मूल अर्थ **'वीर'** अथवा **साहसी पुरुष** था। यह शब्द मृतात्माओं अथवा **पितरों** की पूजा से सम्बद्ध था। असु शब्द प्राण का वाची है। अतः प्रतीत होता है कि इस शब्द से व्यक्त उपास्य शक्तियों की मूल धारणा प्रेतात्माओं से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध थी। श्रादर ने इस शब्द को भारोपीय काल का मानते हुए प्राचीन ट्यूटानिक भाषा के **एन्सेस** (प्राण) से इसकी एकरूपता प्रतिपादित की है[1]। माउल्टन का यह भी अनुमान है कि सम्भवतः सामान्य जनता इन्हीं प्राकृतिक शक्तियों की मूर्त रूप में उपासना करती थी क्योंकि अमूर्त एवं अव्यक्त उपास्यों को समझना उसके लिये कुछ कठिन था। इसके विपरीत उच्च श्रेणी के व्यक्ति असुर पूजा में अधिक रुचि लेते रहे होंगे, क्योंकि उनमें वीर-पूजा की प्रवृत्ति स्वभावतः अधिक मात्रा में होती है और उनके उपास्य ये असुर प्राचीन वीरों के 'पितरों' से ही सम्बन्धित थे। लगभग १५वीं शती ई० पू० में पूर्वी ईरान के कुछ शिष्ट वर्गों में से ही एक 'असुर' की (उस समय तक स् का ह् में परिवर्तन नहीं हुआ था) उपासना बहुत प्रबल हो उठी। उसे उपास्य शक्तियों में सर्वोच्च स्थान दिया गया और उसके लिए 'मज़्दा' (शक्तिशाली, बुद्धिमान्, महान्) विशेषण प्रयुक्त किया गया। उसके साथ कुछ विशेष देवता (Sondergoetter) भी सम्बन्धित थे जो परवर्ती काल में उसके अनुचर (**अमेश-स्पेन्ता**) के रूप में पारसी धर्म में अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये।

माउल्टन की उपर्युक्त परिकल्पना पूर्णतः निराधार है। अहुर मज़्दा के मूलरूप पर आगे विचार किया जायेगा। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि प्राचीनतम वैदिक ('भारत-ईरानी') काल में देवों की उपासना निम्न वर्ग की सामान्य जनता करती थी और असुरों की शिष्टवर्ग—यह अनुमान पूर्णतः काल्पनिक है। ईरानी धार्मिक साहित्य से प्राचीनतर वैदिक साहित्य में ऐसी स्थिति के कोई संकेत नहीं हैं। यहाँ देवों की उपासना ही सर्वोपरि एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कहीं भी ऐसा नहीं प्रतीत होता कि एक **विशेष प्रकार के उपास्य वर्ग को असुर नाम से** अभिहित किया जाता रहा हो। असुर केवल कुछ अक्तिशाली दानी एवं उदारचेता देवताओं का विशेषण मात्र है[1]। यदि यह शब्द पितरों से ही सम्बन्धित होता तो यम या अर्यमा जैसे देवताओं के साथ इसे अवश्य प्राप्त होना चाहिये था क्योंकि ये ही दो देवता वैदिक देवमण्डल में पितरों से विशेष रूप से संबद्ध हैं। किन्तु ऐसा नहीं है।

---

१. ए० रि० ई०, द्वितीय भाग; पृ० १५ **'आर्यन रिलीजन'**—श्रादर।

परवर्ती वैदिक साहित्य में असुर शब्द जिस वर्ग विशेष का बोधक है वे उपास्य शक्तियाँ नहीं हैं अपितु लोक विश्वास के भयंकर एवं क्रूर राक्षस हैं और संसार की समस्त बुरी शक्तियों के प्रतीक हैं। यदि देव तथा असुर दोनों को ही उपास्य तत्त्व माना जाय तो यह बताना अत्यन्त कठिन हो जायगा कि असुर शब्द का भारत में इतना निकृष्ट अर्थ क्यों हुआ विशेषत: जब पितर पूजा भारत में ईरान से अधिक प्रचलित एवं कहीं अधिक विकसित रही है।

यह तर्क कि अमूर्त होने के कारण पितरों की उपासना जनता की समझ से बाहर थी अत: वह प्राकृतिक शक्तियों की मानवीकृत रूप में उपासना करती थी और भी अधिक निर्बल एवं निराधार है। प्रकृति के दृश्यों के पीछे किसी अतिमानवीय शक्ति की निभालना करके उसको देवत्व प्रदान करना, प्राचीन वीरों अथवा उनकी प्रेतात्माओं की पूजा की तुलना में प्रबलतर उद्‌भावना शक्ति एवं प्रखरतर कल्पना की अपेक्षा रखता है। द्वितीय निश्चित रूप से अधिक स्थूल है। पितर-पूजा सामान्य जनता के ही अधिक समीप है। प्रेतात्माओं को वे अतिप्राकृतिक शक्तियों से युक्त समझते हैं जिसका उपयोग उनके विचार से वे प्राय: अनिष्ट कार्यों में ही करती हैं। यही भय उनकी पूजा का कारण होता है। यही कारण है कि यह अल्प सभ्य एवं असंस्कृत समाज में अधिक पाई जाती है। यज्ञ एवं जटिल कर्मकाण्ड से युक्त आकाशीय देवताओं की पूजा निश्चित रूप से अपेक्षाकृत अधिक शिष्ट वर्ग की वस्तु है।

यद्यपि भारोपीय काल से ही आर्यों में पितरों की उपासना पाई जाती है किन्तु देवताओं और पितरों की पूजा की दो धाराएँ पृथक्-पृथक् ही चलती रही हैं। पितरों का आह्वान केवल कुछ विशेष कालों में ही किया जाता था। उन्हें वे वस्तुएँ नहीं दी जाती थीं जिन्हें देवताओं को समर्पित करते थे। पूजा के पश्चात् उनका विसर्जन भी अवश्य किया जाता था जिससे वे वहीं रहकर कुछ अनिष्ट न करें। अत: पितर पूजा कभी भी अहुमज़्दा जैसे सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् देवता को जन्म नहीं दे सकती।

प्राग्-वैदिक तथाकथित 'भारत-ईरानी काल' की स्थापना का खण्डन

ऊपर जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है उनसे स्पष्ट है कि जिस **'भारत-ईरानी काल'** की कल्पना पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई है वह सर्वथा असंगत है। इन विद्वानों की कल्पना का आधार यह है कि आर्य भारत में प्रवेश करने से पूर्व ईरान में कुछ सभय तक रहे और तब उनका एक दल भारत की ओर बढ़ आया। कालान्तर में भारत में वैदिक धर्म एवं संस्कृति

का उदय हुआ। ईरान के आर्य तत्त्वों का स्वतन्त्र विकास हुआ जिनका प्रति-बिम्ब अवेस्ता में प्राप्त होता है। अवेस्ता तथा वेदों में समान आर्य तत्त्वों के विषय में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये तत्त्व रूप से उस समय के हैं जब ईरानी एवं भारतीय एक अविभाजित जाति के रूप में थे और अपने समान पूर्वजों के दाय के रूप में ये तत्त्व दोनों वर्गों को समान रूप से प्राप्त हुए हैं। भारतीय एवं ईरानी आर्यों के इन समान पूर्वजों को ही 'भारत-ईरानी' (इंडो-ईरानियन) जाति कहा जाता है और जिस समय इनका अस्तित्व था उस काल को 'भारत-ईरानी काल' (इंडो-ईरानियन पीरियड)।

जो देवता वैदिक साहित्य तथा अवेस्ता में उभयनिष्ठ हैं वे अवश्य ही वैदिक काल से भी प्राचीन 'भारत-ईरानी काल' के हैं, ऐसा उनका विश्वास है। किन्तु हमने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि **ईरान में जितने भी आर्य तत्त्व पाये जाते हैं उन सबका कारण भारत से ही गई हुई आर्य जाति की शाखाएँ हैं**। आर्यों के इन्हीं दलों ने ईरान में जाकर वैदिक धर्म एवं संस्कृति की स्थापना की जिसका वहाँ के आदिवासी मागियों के आचार विचारों से मिलकर संकर हुआ और जिसका स्वरूप कालान्तर में ज़रथुस्त्र के धार्मिक आन्दोलन से और अधिक परिवर्तित हुआ। वर्तमान अवेस्ता में उस वैदिक संस्कृति की केवल एक झलक मात्र अवशिष्ट है।

प्रस्तुत अध्याय में अवेस्ता के इन्हीं वैदिक देवताओं के स्वरूप पर प्रकाश डाला जायेगा। यद्यपि वर्तमान अवेस्ता में प्राप्त इनका स्वरूप खण्डित एवं अपूर्ण है और इस लिये हम इस ईरानी शाखा के मूल धार्मिक विचारों तक पहुँचने में सफल नहीं हो सकते, किन्तु फिर भी यत्र तत्र प्राप्त कुछ उल्लेखों की वैदिक धर्म के साथ तुलना करके उन देवताओं के धूमिल चित्र अवश्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं। विदेश जाकर इन देवताओं में जो जो परिवर्तन हुए उनके परिज्ञान के लिये स्थान-स्थान पर वैदिक देवताओं से इनकी तुलना आवश्यक तथा उचित होगी। अवेस्ता के इन देवताओं के ये चित्र किस समय के हैं यह कहना बहुत कठिन है पर इतना अवश्य है कि ये आर्यों के उपास्यों से संबन्धित अत्यन्त प्राचीन वैदिक धारणाओं के ही प्रतीक हैं। ऋग्वेद का उद्भव १३वीं शती ई० पू० में मानने वाले पाश्चात्य विद्वानों का अनुगमन करते हुए यह सोचना कि ये ऋग्वेद से एक दो शताब्दी पूर्व के धार्मिक विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं—एक प्रबल संभावना पर आवरण डालना होगा।

ईरानी देवों का परिचय

(१) अहुर मज़्दा (असुर मेधा)

अहुर ईरानी देव-मण्डल का अधिपति है। मज़्दा (बुद्धिमान्, बलशाली अथवा महान्) शब्द अधिकतर विशेषण के रूप में प्रायः इस शब्द से जुड़ा प्राप्त होता है। यह नाम मध्य फारसी में **ओह्रमज्द**, न० फा० में **हुरमज्द** तथा ग्रीक ऐतिहासिक ग्रन्थों में **होरोमस्देस्** के रूप में प्राप्त होता है। अहुर शब्द का वैदिक रूप 'असुर' है। यह शब्द शक्तिशाली एवं प्राणवान् अर्थ में वरुण, एवं कहीं कहीं इन्द्र आदि प्रमुख देवताओं के लिये ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है।

ईरान एवं उसके समीपवर्ती देशों में इस शब्द का इतिहास बहुत प्राचीन है। ७१५ ई० पू० में मीडिया में एक व्यक्तिवाचक नाम के रूप में '**मज़्दक**' शब्द प्राप्त होता है। इस शब्द के आधार पर गैल्डनर[1] का मत था कि ८वीं शती ई० पू० में ही मीडिया में ज़रथुस्त्र का नवीन धर्म पर्याप्त प्रचलित हो चुका था। किन्तु जैक्सन एवं माउल्टन का विचार है कि यह आवश्यक नहीं कि यह नाम जरथुस्त्र धर्म के सर्वोत्कृष्ट देवता अहुरमज़्द को ही सूचित करता हो अहुरमज़्द शब्द गाथाओं में ही अनेक स्थानों पर व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं है[2]।

अनेक उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित होता है कि ज़रथुस्त्र के प्रादुर्भाव से बहुत पूर्व ही असुर शब्द ईरान में प्रचलित था। असीरिया में अस्सुर बानी-पल के राज्य के एक शिला लेख में इस देवता का '**अस्सर मज़ास्**' नाम से उल्लेख हुआ है[3]। यद्यपि शिलालेख ७वीं शती ई० पू० का ही है किन्तु नाम की आर्षता इसे अत्यधिक प्राचीन सूचित करती है। ईरान के प्राचीनतम साहित्य तक में भारतीय '**स्**' के स्थान पर सदा '**ह्**' प्राप्त होता है। अतः यह शब्द ईरान से असीरिया उस समय गया जब इस प्रकार का वर्ण परिवर्तन नहीं हुआ था। इस शिलालेख के आविष्कर्ता होमल का मत है कि नाम की यह आर्षता १७०० से १२०० ई० पू० का काल सूचित करती है और इस नाम के प्राप्त होने के पर्याप्त समय पूर्व ही इस देवता की असीरिया में प्रतिष्ठापना हो हो चुकी होगी। '**सु**' के स्थान पर '**स्स**' तथा '**द्**' के स्थान पर '**ज़्**' की

---

१. ए० ब्रि० भाग २३, **जोरेस्टर**।

२. माउल्टन, **अ० जो०**, पृ० ३१।

३. प्रो० नोमेल, **प्रोसीडिंग्स् आफ दि सोसाएटी आफ बाइब्लिकल आरक्योलोजी** १८९९, पृ० १३२।

उपलब्धि यह सूचित करती है कि विदेशी भूमि में पहुँचने के पश्चात् कुछ समय तक विकसित एवं परिवर्तित होने के बाद ही यह शब्द इस रूप में हमें प्राप्त हुआ है[1]। अक्सर मज़ास् के साथ सात 'इगिगी' (आकाश के देवता) तथा सात 'अनुन्नकी' (पृथ्वी एवं पाताल के देवता) का भी उल्लेख है जिन्हें कुछ आमेश स्पेन्ता से सम्बन्धित मानते हैं।

ईरान के प्रसिद्ध राजा दारियुस् के समय तक अहुरमज़्दा की उपासना पर्याप्त प्रचलित हो चुकी थी। उसने अपने बहिश्तां के शिलालेख में (३।७७,७६) अहुर को आर्यों का परमेश्वर कहा है और उसे सब देवताओं में श्रेष्ठ ('मथिश्ता बग़ानाम्') घोषित किया है। उसने उसे 'आकाश एवं पृथ्वी का उत्पादक' कहा है और साथ ही अहुर के प्रति अपनी श्रद्धा सूचित करते हुए उसकी सहायता से गोमत मागी द्वारा भग्न किये हुए 'आयदनों' (प्रार्थना मन्दिर) के जीर्णोद्वार कराने का भी उल्लेख किया है[2]। स्पष्ट है कि दारियुस् के समय में ईरान की आर्यशाखा अहुरमज़्दा की सर्व प्रमुख देवता के रूप में उपासना करती थी।

अहुरमज़्दा के मूल स्वरूप के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। माउल्टन का मत है कि दारियुस् के द्वारा उल्लिखित आर्य शब्द किसी जाति विशेष का सूचक नहीं है। वह शब्द केवल शिष्ट वर्ग के व्यक्तियों को सूचित करता है[3]। ईरान में उपास्य देवों के दो वर्ग थे दएव एवं असुर। प्राकृतिक तत्वों से उद्भूत देवताओं की 'दएव' संज्ञा थी तथा जो 'पितर' अपने अपने महत्त्व के कारण उपास्य बन जाते थे उन्हें असुर कहते थे। एक तो असु शब्द स्वतः प्राण अथवा सूक्ष्म शरीर का वाची है दूसरे ऋग्वेद तथा अवेस्ता में असुर विशेषण से अभिहित देवताओं की विशेषताएं जरथुस्त्र धर्म के **फ्रवशी** से अत्यधिक समानताएं रखती हैं। ऋग्वेद में असुर शब्द ऐसे शक्तिशाली एवं उदार देवताओं का विशेषण है जो अनैतिक तत्त्वों से पूर्णतः मुक्त हैं और आवाहन करने पर अपने अश्व युक्त रथ में आकाश मार्ग से प्रार्थियों की

---

१. माउल्टन, **वही** पृ० ४२४।

२. ए० रि० ई०, भाग ८, पृ० ५१५, **मीडियन रिलीजन**: ए० एच० सेसे।

३. **अ० जो** पृ०, ६०।

सहायता करने जाते हैं[1]। बिलकुल ये ही विशेषताएं फ्रवशियों की भी हैं, अतः प्रतीत होता है कि असुर शब्द पितर पूजा से संबन्धित है और इस रूप में ईरानी प्राचीन वीरों की पूजा करते थे। यह उपासना शिष्ट (आर्य) वर्ग में प्रचलित थी और दएवों की सामान्य जनता में। ऐसे ही एक असुर को ज़रथुस्त्र से बहुत पूर्व ही अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हो गया एवं ईरान के पूर्वी भाग में उसकी उपासना अत्यन्त प्रबल हो उठी।

अहुरमज़्दा इस प्रकार प्राचीन वीर-पूजा (Hero-worship) से संबन्धित प्रतीत होता है और उसका मूल रूप संभवतः किसी भी प्राकृतिक तत्त्व से संबन्धित नहीं था। अतः आकाश देव वरुण से उसकी एकात्मता का कोई प्रश्न नहीं उठता। माउल्टन के अनुसार वरुण की भी किसी प्राकृतिक तत्त्व से उत्पत्ति अत्यन्त संदिग्ध है[2]। प्राचीन भारतीय विद्वानों में ही वरुण के मूलरूप के विषय में अत्यधिक भ्रान्ति थी। वस्तुतः उसका मूल रूप किसी आचारशास्त्रीय धारणा से संबन्धित है। यह शब्द **'वर्'** जैसी किसी प्राचीन धातु से बना है। यह धातु संस्कृत **'व्रत'** (नियम) अवेस्तिक **उर्वत, उर्वइति** (अनुबन्ध या समझौता) तथा **उर्वथ** (मित्र) में देखी जा सकती है। ऋग्वेद में वरुण का नैतिक नियमों के संरक्षक देवता के रूप में सर्वोच्च स्थान होने का संभवतः यही कारण है[3]।

माउल्टन के अनुसार आकाश से संबन्धित देवताओं में केवल **'द्येउस्'** या भारतीय द्यौः की ही ईरान एवं भारत में समान रूप से उपासना होती थी। हेरोदोतस् ने अपने इतिहास में कहा है कि पारसी लोग कोई मूर्ति या मन्दिर नहीं बनाते और जो ऐसा करता है उसे अज्ञानी समझते हैं, किन्तु लोग पर्वतों के सर्वोच्च शिखर पर जाकर **'ज्येउस्'** को यज्ञ प्रदान करते हैं तथा संपूर्ण आकाश मण्डल को ज्येउस् नाम से अभिहित करते हैं[4]।

---

१. **वे० मा० पृ०, ७।**

२. **ए० रि० ई०** भाग ७, पृ० ४१८ **ईरानियन्स:** माउल्टन तथा **अ० जो० पृ० ६०।**

It is more than doubtful whether an elemental character can be assigned to Ahura Mazda, even in the pre-reformatic age....Really the evidences for Ahura Mazda's elemental character are exceedingly weak.

३. **अ० जो०**, पृ० ६४ तथा **ए० रि० ई०**, ६, पृ० ५६८ **ओरमज़्द,** कारनाय।

४. हेरोदोतस्: **इतिहास** १।१३१, देखिये पीछे पृ० ४१।

ग्रीक देवमण्डल में आकाश के देवता के रूप में ज़्येउस् का सर्वोच्च स्थान है। अधिकांश विद्वानों का विचार है कि ज़्येउस् से हेरोदोतस् का तात्पर्य मज़्दा से है। उसने पारसियों के देवताओं को ग्रीक नामों से उल्लिखित किया है किन्तु माउल्टन का मत है कि ज़्येउस् से हेरोदोतस् का तात्पर्य अहुरमज़्दा से नहीं अपितु **द्यौस्** के ईरानी प्रतिरूप **'दियौस्'** से था। यद्यपि द्यौः की उपासना क्रमशः क्षीण होती जा रही थी किन्तु जब भारत में द्यौः एक महत्त्वपूर्ण देवता था तो कोई कारण नहीं कि ईरान में उसका कोई अस्तित्व न हो[1]। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी द्यौस् शब्द का ईरानी रूप **दियौस्** होना चहिए। कुछ विभक्तियों में इस शब्द का उच्चारण एक यूनानी को लगभग 'ज़्येउस्' जैसा ही लगता रहा होगा[2]। इस प्रकार हेरोदोतस् के कथन से अहुरमज़्दा को आकाश का देवता मानने की धारणा की किंचित् मात्र भी पुष्टि नहीं होती।

माउल्टन के मत के तीन आधार हैं : (क) अहुरमज़्दा का मूल रूप प्राचीन वीर पूजा से संबन्धित है। अपने प्रागैतिहासिक प्रारंभिक रूप में वह किसी महत्त्वपूर्ण फ्रवशी या पितर से संबन्धित था; (ख) वरुण एवं अहुर में कोई संबन्ध नही है तथा (ग) वरुण की उत्पत्ति किसी प्राकृतिक तत्त्व के आधार पर नहीं अपितु कुछ आचारशास्त्रीय मान्यताओं के आधार पर हुई है। माउल्टन की प्रथम धारणा पर पीछे विस्तारपूर्वक विचार करके उसकी निस्सारता प्रदर्शित की जा चुकी है। मृतात्माओं की पूजा कभी एक महान् धर्म की भूमिका नहीं प्रस्तुत कर सकती। दूसरी एवं तीसरी धारणा पर यहां विचार किया जाएगा।

अवेस्ता के अहुर एवं ऋग्वेद के वरुण के स्वरूप एवं व्यक्तित्व के विषय में इन ग्रन्थों में जो विवरण प्राप्त है उनकी तुलना दोनों देवताओं का समान उद्भव मानने के लिये विवश करती है। अवेस्ता तथा ऋग्वेद दोनों में ही अहुर या असुर विशेषण मुख्य रूप से अहुरमज़्दा तथा वरुण के लिये ही प्रयुक्त किया गया है। यद्यपि दोनों ही ग्रन्थों में यह विशेषण कहीं कहीं अपवाद रूप से अन्य प्रमुख देवताओं के लिये भी प्रयुक्त है[3] किन्तु प्रधानतः इन्हीं देवताओं का इस विशेषण

---

१. **अ० ज़ो० पृ० ३५२।**

२. तु० की०-कारनाय: **ओरमज्द (ए०रि०ई०)** पृ० ५६७-५६६। तथा देशमुख, **ओरिजिन०** पृ० १७१।

३. उदाहरणार्थ अवेस्ता में दो स्थानों पर (यश्त १०।२५, ६९ में) **मिथ्र** के लिए तथा तीन स्थानों पर (यस्न १।५, २।५, ६५, १२) यह शब्द **अपां नपात्** के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार ऋग्वेद में भी

पर एकाधिकार है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार ऋग्वेद में वरुण एवं मित्र देवताओं का एक महत्त्वपूर्ण युग्म है और उनकी प्राय: मित्रावरुणौ इस द्वन्द्वात्मक रूप में स्तुति की गई है उसी प्रकार अवेस्ता में भी 'मिथ्राअहुरा' नाम से इन दोनों देवताओं की सम्मिलित प्रार्थना प्राप्त होती है[1]। यद्यपि यह रीति ऋग्वेद में बहुत सुलभ है किन्तु अवेस्ता में दो देवताओं का इस प्रकार संयोग एक अस्वाभाविक सी बात है। साथ ही अहुर की तुलना में मिथ्र का अधिक महत्वपूर्ण स्थान नहीं है और गाथाओं में तो उसका उल्लेख तक नहीं है ऐसी दशा में दोनों का संयोग उस समय की ओर संकेत करता है जब दोनों महत्त्व की दृष्टि से लगभग एक स्तर पर थे। मिथ्राअहुरा तथा मित्रावरुणा की मौलिक एकता में किसी भी प्रकार अविश्वास नहीं किया जा सकता[2] और यह मानना असंभव है कि मिथ्राअहुरा के के युग्म में उल्लिखित एवं वर्णित अहुर तथा स्वतंत्र रूप से स्तुत जगत् के स्वामी सर्वज्ञ अहुरमज्दा में कोई अन्तर है।

ऋग्वेद तथा अवेस्ता में वर्णित वरुण एवं अहुर की विशेषताओं में अत्यधिक साम्य है। अवेस्ता में अहुर को सम्पूर्ण जगत् का शासक कहा गया है (यस्न ३१। १)। वह संसार का सर्वोत्कृष्ट एवं सर्व शक्तिशाली राजा है। उसके आदेशों का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता (यस्न २७।१ तथा ३१।२)। उसीने सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, समुद्र तथा नदियों आदि का स्थान निश्चित किया है। सूर्य एवं तारों के मार्ग उसी के द्वारा निश्चित एवं नियन्त्रित हैं। चन्द्रमा को वही बढ़ाता तथा घटाता है (यस्न ३७।१ तथा ४४।१)। दिन और रात्रि का निर्माण करके

इन्द्र (१।१७४।१, ८।७९।६) तथा द्यौः (१।१२२।१, ८।२०।१७) के लिये इसका प्रयोग है।

१. देखिये यश्त १०।१—'अहुरमज्दा ने पवित्र जरथुस्त्र से कहा निश्चय ही मैंने मिथ्र को यज्ञ के लिये पूर्ण योग्य बना कर उत्पन्न किया है, वह भी उसी प्रकार स्तुति का अधिकारी है जैसे मैं, अहुरमज्दा'। यश्त १०।१४५ 'हम मिथ्र और अहुर की उपासना करते हैं जो दो अमर देवता महान् एवं पवित्र हैं—डार्म्सटीटर, सें० बु० ई० भाग २३ पृ० ११९ (अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर)।

२. ब्लूमफील्ड : रि० वे०, पृ० १२१—

It seems to me an almost unimaginable feat of scepticism to doubt the original identity of the two pairs.

वही प्राणियों को उनके कर्तव्य की याद दिलाता है (४४।५)। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नियन्त्रण में एवं क्रम से रखने वाले नियम 'अश' का भी वह जनक है। इस दैवी नियम के रक्षक होने के कारण वह दिन रात जागता और सभी मनुष्यों के अच्छे और बुरे कर्मों को देखता रहता है (यस्न ३१।१३, वेन्दिदाद १९।२०)। उसे कोई धोखा नहीं दे सकता, वह बुद्धिमान एवं महान् है (यस्न ४३।६, ४५।४)। उसी ने सर्व प्रथम आकाश को प्रकाश से युक्त किया। अपनी दैदीप्यमान आखों से वह सब कुछ देखता है और प्रत्येक प्राणी से अपनी इच्छानुसार कार्य करवाता है (यस्न ३०।५)। आकाश उसके वस्त्र हैं। नदियों में जल वही बहाता है तथा वायु एवं मेघखण्डों को इतस्ततः गतिशील करता है (यश्त १३।३)। प्राणियों के जीवन के लिये वायु का तथा स्थिति के लिये पृथ्वी का भी निर्माण उसने किया है (वेन्दिदाद २१।४.८,१२, आदि)। उगने अथवा बढ़ने वाली प्रत्येक वस्तु (वनस्पति तथा प्राणी) उसी के द्वारा निर्मित है (वेन्दिदाद १९।२०)। जो उसको बताये हुए न्याय तथा सत्य के मार्ग पर चलते हैं और 'द्रुज्' (अंग्रामइन्यु) के कार्यों में रत नहीं होते वे आनन्द से पूर्ण उसके राज्य (क्शथ्र) में पहुँचते हैं जो सत्कर्मों का सर्वोत्कृष्ट फल (इश्ति) है।

अवेस्ता के इस वर्णन की ऋग्वेद के वरुण की तुलना करने पर आश्चर्यजनक समानता प्राप्त होती है। जिस प्रकार अहुर को बुद्धिमान् (मज़्दा) कहा गया है उसी प्रकार ऋग्वेद में भी उसका बुद्धि एवं ज्ञान से सम्बन्ध है। उसे ऋ० वे० १।१२४।१४ में **'असुरः प्रचेताः'** कहा गया है। मुख्य रूप से केवल उसे ही सब देवताओं का अधिपति (राजा) कहा गया है (**अबुध्ने राजा वरुणो वनस्य, उरुं हि राजा वरुणश्चकार** ऋ० १।२४।७-८, **अव राजन् पशुतृपं न तायुम्** ७।८६।५)। वह मनुष्यों एवं देवताओं दोनों का राजा है, सम्पूर्ण संसार का राजा है (**विश्वस्य भुवनस्य राजा** ५।८५।३) और जो कुछ भी संसार में है उस सब का राजा है (**विश्वेषां वरुणासि राजा** १०।११।४)। वरुण के बनाये नियम (व्रत) के कारण चन्द्रमा प्रकाशित होता हुआ आकाश में विचरण करता है तथा उच्चतम आकाश में भासमान नक्षत्र रात्रि में चमकते हैं किन्तु प्रातः काल लुप्त हो जाते हैं (**अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्त ददृशे कुह चिद्दिवेयुः। अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति** १।२४।१०)। सूर्य को उसीने उच्च आकाश में स्थापित किया है (७।८६।१) तथा उसी ने दिन-रात एवं ऋतुओं का विभाजन किया है (७।६६।११)। उसने सूर्य के लिये गमन मार्ग का निर्माण किया है, सूर्य उसी पर चलता है (**यस्मा आदित्या अध्वनोरदन्ति** : ७।६०।४)।

अहुर की भाँति वरुण भी **ऋत** (प्रकृति अथवा जगत् के नियम) का सर्वोत्कृष्ट रक्षक है। उसका ऋत वहाँ तक व्याप्त है जहाँ सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँचती। (**ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां, सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्** ५।६२।१)। उसके ऋत के द्वारा आकाश एवं पृथ्वी पृथक् पृथक् हैं और विना आधार के भी अपने स्थान पर स्थिर हैं। इसी ऋत के कारण सूर्य प्रतिदिन निश्चित समय एवं स्थान पर आकाश में चमकता रहता है (७।८७।५)। अवेस्ता तथा ऋग्वेद दोनों में अहुर तथा वरुण को 'ऋत के स्रोत' कहा गया है। वे ही जागतिक नियमों को बनाने वाले हैं; ऋत के उत्पत्तिस्थान हैं। ऋ० वे० २।२८।५ में वरुण को '**खा (=स्रोत) ऋतस्य**' (**वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य**) कहा गया है ठीक इस प्रकार अवेस्ता में उसे '**अशाहे खाओ**' (यस्न १०।४) कहा गया है। दोनों शब्दों में आश्चर्यजनक ध्वनि साम्य है।

वरुण सर्वज्ञ है। वह आकाश के मध्य में बैठा हुआ सब कुछ देखता रहता है। यदि दो व्यक्ति बैठकर गुप्त मंत्रणा करें और सोचें कि हमारी बातें कोई नहीं सुन रहा तो यह उनका भ्रम है। वहाँ पर सुनने वाला एक तीसरा व्यक्ति और होता है, और वह है वरुण। मनुष्यों के निमेष तक उसके गिने हुने हैं (**द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः। संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्** अ० वे० ४।१६।२,५)। पृथ्वी एवं आकाश के बीच में तथा उसके बाहर भी जो कुछ हैं वह सब वरुण जानता है (अ० वे० ४।१६।४)। मनुष्य के शुभ एवं अशुभ कर्मों का वह सदा ध्यान रखता है (**सत्यानृते अवपश्यन् जनानां** ७।४९।३)। सूर्य उसकी आँख है और उसी से वह मनुष्यों को देखा करता है (१।५०।६ तथा **उद्वां चक्षुर्वरुण सुप्रतीकं देवयोरेति सूर्यस्ततन्वान्** ७।६१।१)।

जिस प्रकार अवेस्ता में अहुर का मेघों तथा नदियों से सम्बन्ध वर्णित है उसी प्रकार वेदों में वरुण जल से अत्यधिक संबन्धित है और प्रायः उसका नियन्ता कहा गया है। उसीने नदियों को बहाया है। उसी के नियम के कारण वे अनवरत वहती हैं और थकती नहीं (**प्र सीमादित्यो असृजद् विधर्ता ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति। न श्राम्यन्ति न विमुचन्ति**....) वरुण एवं मित्र नदियों के पति (**सिन्धुपती** २।६५।२) कहे गये हैं। आपस् (वर्षा के जल) का वह विशेष रूप से अधिपति है। वर्षा के लिये उसकी प्रार्थना की जाती है। मेघ रूपी कठौते (कबन्ध) को वह उलट कर वह पानी बरसाता है और पृथ्वी तथा

वायुमण्डल को आर्द्र कर देता है—(**नीचीनवारं वरुणः कबन्धं प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् । उनत्ति भूमिं पृथिवीमुत द्यां** ५।८५।३,४)।

अवेस्ता की भाँति ऋग्वेद में भी वरुण को अनेक स्थानों पर क्षत्र (राजत्व) से युक्त बताया गया है। उसका धाम परम व्योम में है जहाँ मरने के पश्चात् सुकृती जाते हैं और वहाँ पर यम तथा वरुण की अध्यक्षता में सुख-भोग करते हैं।

विभिन्न जातियों एवं धर्मों के देवताओं में भी कभी कभी कुछ आकस्मिक समानता पाई जाती है किन्तु वह समानता इस सीमा तक कभी नहीं बढ़ती अतः वरुण एवं अहुर की एकात्मता में कोई सन्देह नहीं होना चाहिये[1]। अब रही उनके उद्भव की बात। इस सम्बन्ध में वैदिक देवतावाद के एक महत्व पूर्ण जर्मन विद्वान् ओल्डेनबेर्ग के मत का यहाँ उल्लेख आवश्यक है[2]।

उसका मत है कि मित्र, वरुण एवं पाँच आदित्यगण आर्य देवमण्डल के सदस्य नहीं है। इन्द्रादि की भाँति वे आर्य ऋषियों की श्रद्धा से प्रसूत नहीं हुए हैं। इनका उद्भव कुछ आर्येतर तत्त्वों से हुआ है। मूलतः ये देवता क्रमशः सूर्य, चन्द्र[3] तथा अन्य पाँच ग्रहों को सूचित करते हैं और बैबीलोनिया से ग्रहण किये गये हैं। श्रादर तथा कारनाय ने भी इस मत का युक्ति-युक्त मण्डन किया है[4]।

उनके कथन का सारांश यह है कि आर्यों के देवताओं का नैतिक एवं आचारशास्त्रीय विचारों से कोई विशेष संबन्ध नहीं था और इसका प्रमुख कारण यह था कि वे मुख्यतः प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण थे। किन्तु अहुरमज्दा एवं वरुण के चरित्र में भौतिक रूप सर्वथा अप्रधान है और नैतिक

---

१. कीथ : **रिलीजन** भाग १, चतुर्थ अध्याय पृ० ३३।
   म्यूर : **ओरिजनल संस्कृत टैक्स्ट्स्** भाग ५ पृ० ७२।
   मैक्डानल : **वै० मा०** पृ० २८।
   कारनाय : **ए० रि० ई०** नवम भाग, **'औरमज्द'** पृ० ५६७ (ब)
   डार्मस्टीटर : **जेन्द अवेस्ता** : भूमिका, पृ० ५९ आदि।
२. ओल्डेनबेर्ग : **डी रिलीगियोन डेस वेद**, पृ० १८५ तथा १९४।
३. हिलेब्रांड्ट का भी मत है कि वरुण चन्द्रमा का देवता है किन्तु उसने उसके स्वरूप पर किसी बाह्य प्रभाव को स्वीकार नहीं किया है। देखिये : हिलेब्रांड्ट : **वैदिशे मिथोलोगी**, प्रथम भाग, २८२-३९१
४. देखिये—**ए० रि० ई०** द्वितीय भाग, श्रादरः **आर्यन रिलीजन** तथा **ए० रि० ई०**, नवम भाग, ए० जे० कारनाय : **औरमज्द**।

पक्ष ही मुख्यरूप से वर्णित है। अहुरमज्दा के साथ जिन छः अमेश स्पेन्ता का उल्लेख किया गया है वे सभी अमूर्त नीतिशास्त्रीय विचार हैं; यथा : **अश** या **अर्त** (ऋत, नियम या सत्य), **आरमइति** (पवित्रता, ज्ञान), **हउर्वतात** (ऐश्वर्य, उन्नति), **क्शथ्र वइर्य** (उत्तम राज्य), **अमेरेतात** (अमरता), **वोहुमनः** (सद्विचार)।

भारत में भी वरुण एवं मित्र के साथ **अंश**, **भग**, **अर्यमा**, **दक्ष** आदि आदित्यों का उल्लेख किया गया है। इन आदित्यों का मूल भी बिल्कुल वही है जो अमेश स्पेन्ता का। दोनों की उत्पत्ति अमूर्त नैतिक तत्त्वों के दैवीकरण से हुई है।

ये देवतागण अपनी नैतिक विशेषता के कारण अन्य आर्य देवताओं से भिन्न है। अतः इनका उद्गम किसी आर्येतर स्रोत से होना चाहिये। सामी (सैमेटिक) लोगों को बहुत पहले से ही ज्योतिष का ज्ञान था। बैबीलोनिया, सुमेरिया तथा असीरिया में सूर्य एवं चन्द्र की दो महान् शक्तिशाली देवताओं (क्रमशः **शामाश** तथा **सिन**) के रूप में तथा शेष बुद्ध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति एवं शनि आदि ग्रहों की उनके परिचर देवताओं के रूप में पूजा होती थी। **शामाश** तथा मित्र, एवं **सिन** तथा वरुण के स्वरूप में पर्याप्त समानता है। असीरिया का शामाश (सूर्य) अत्यधिक न्याय प्रिय है। वह मनुष्यों को उचित मार्ग प्रदर्शित करता है। उसके कुछ अपरिवर्त्य नियम हैं जिनसे वह न्याय करता है। देश के शत्रुओं के छल को वह देखता है और उनको नष्ट करता है। बद्ध व्यक्तियों को बन्धन से मुक्त भी वही करवाता है।

शामाश की भाँति मित्र भी मुख्य रूप से न्याय, मैत्री, प्रतिज्ञा एवं नियमों का रक्षक हैं तथा अपराधियों को दण्ड देता है[१]।

असीरिया तथा बैबीलोनिया के देवमण्डल में सिन (चन्द्रमा) का भी महत्वपूर्ण स्थान है। वह एक श्रेष्ठ राजा है तथा मनुष्यों एवं प्रकृति पर शासन करता है। वह संसार में स्थिरता एवं शान्ति उत्पन्न करता है। वह न्यायी है तथा वरुण की भाँति अपराधियों को बन्धन मुक्त करता है। उसकी किरणें पवित्रता की प्रतीक हैं तथा अहुर की भाँति उसे भी बुद्धिमान् कहा गया है[२]।

बोगाज़क्यूई में मृत्फलक पर **मितानी** नामक आर्य जाति के देवताओं में

---

१. **ए० रि० ई०**, भाग ६, कारनाय 'औरमज्द' पृ० ५६६।
२. वही : पृ० ५६६।

जहाँ मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्या का नाम पाया जाता है वहीं सेमेटिक **हित्तित्ति** जाति के देवताओं में शामाश (सूर्य) सिन (चन्द्र) तथा तेशाब (झंझावात) के नाम प्राप्त होते हैं, अतः इन देवों की समानता और स्पष्ट हो जाती है।

उपर्युक्त प्रमाणों से निश्चित होता है कि मित्र, वरुण एवं आदित्य मूलतः बैबीलोनिया एवं असीरिया के देवता थे। लगभग १४वीं या १५वीं शती ई० पू० आर्य मध्य-एशिया में सामियों के सम्पर्क में आए और नैतिक उत्कर्ष के कारण इन देवताओं को अपने देवमण्डल में स्थान दिया। उसके पश्चात् आर्यों का समूह पूर्व की ओर बढ़ा और इस प्रकार अहुर एवं वरुण जैसे शक्तिशाली देवताओं का जन्म हुआ।

स्वभावतः ओल्डेनबेर्ग ने वरुण के ग्रीक ऊरानुस् से सम्बन्ध को अस्वीकृत किया है क्योंकि दोनों की समानता वरुण को भारोपीय देवता सिद्ध करते हुए उसके आकाश से सम्बन्ध को व्यक्त करती हैं।

ओल्डेनबेर्ग के इस विचित्र मत का प्रामाणिक तर्कों से अनेक विद्वानों द्वारा खण्डन किया गया है। शामाश एवं मित्र तथा सिन और वरुण में जो थोड़ी बहुत समानता है वह सर्वथा आकस्मिक है। उसका कारण मुख्यतः यही है कि दोनों देवताओं में नैतिक तत्त्वों का प्राधान्य है। शामाश का स्वरूप वैदिक मित्र से नहीं अपितु वरुण से अधिक मिलता है। वैदिक मित्र (एवं ईरानी मिथ्र) में शामाश की भाँति न तो उतने नैतिक तत्त्व ही हैं और न उसका ऋत से ही कोई सम्बन्ध है। फिर, यदि ये देवता पूर्णतः शामाश एवं सिन के ही प्रतिरूप होते तो इनके नामों में भी कुछ समानता होनी चाहिये थी[1]। ईरानी देवमण्डल का मिथ्र, रोम एवं मध्य एशिया में जाकर भी मिथ्र ही बना रहा।

ओल्डेनबेर्ग ने आर्यों के इस ऋण का समय लगभग १५०० ई० पू० निश्चित किया है। किन्तु १४वीं शताब्दी में बोगाजक्यूई में 'मित्र' एवं 'शामाश' तथा 'वरुण एवं 'सिन' को पृथक्-पृथक् उल्लिखित किया गया है। यदि दोनों देवताओं को एक ही माना जाय तो उनका पृथक्-पृथक् उल्लेख क्यों है? क्या १०० वर्षों में ही आर्य उन देवताओं के मूल गये? यह असम्भव है कि इतने कम समय में ही आर्यों ने विदेशी देवताओं को आत्मसात् करके उनको नया नाम दे दिया हो तथा वे देवता उनके देवमण्डल में सर्व प्रमुख बन गये हों। ओल्डेनबेर्ग के तर्क का अनुगमन करते हुए तो वैदिक इन्द्र का भी उद्भव बैबीलोनियन 'ताशेब' से सिद्ध किया जा सकता है।

१. तु० की० कीथ, **रिलीजन** पृ० १०२।

पीछे अस्सुरबानी पल के राज्य के एक असीरियन शिलालेख का उल्लेख किया चुका है। ओल्डेनबेर्ग की पुस्तक छपने के ५ वर्ष पश्चात् प्राप्त इस शिलालेख से स्पष्ट है कि लगभग १७वीं शताब्दी ई० पू० में ही आर्यों का 'अस्सर मजास्' असीरिया में अपना आधिपत्य जमा चुका था[1]। इतने समय पूर्व ही आर्यों के इस नैतिक देवता का स्वयं असीरिया में ही पाया जाना क्या इस तथ्य को सूचित नहीं करता कि ईरानी आर्यों के देवमण्डल में इस प्रभावशाली देवता का ओल्डेनबर्ग के द्वारा अनुमानित समय से बहुत पूर्व ही प्रादुर्भाव हो चुका था?

ओल्डेनबेर्ग का मत बहुत कुछ 'आदित्यगण' तथा 'अमेश स्पेन्ता' की एकात्मता पर निर्भर करता हैं। किन्तु अहुर के परिचर ईरानी अमेश स्पेन्ता तथा भारतीय आदित्यों में लेशमात्र भी समानता नहीं हैं। अमेश स्पेन्ता की संख्या निश्चित हैं। वे छः हैं तथा अहुर को मिलाकर सात। किन्तु वैदिक साहित्य में आदित्यों की संख्या अत्यधिक अनिश्चित हैं। ऋग्वेद के प्रारंभिक सूक्तों में वरुण एवं मित्र को मिलाकर उनकी संख्या छः है जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—मित्र, अर्यमा, दक्ष, भग, वरुण तथा अंश। परवर्ती सूक्तों में 'अदिति' को मिलाकर इनकी संख्या सात (६। ११४।३) तथा पुनः 'मार्तण्ड' को मिलाकर आठ (१०।७२।८) कर दी गई है। अथर्ववेद में आदित्यों की संख्या अदिति के अतिरिक्त आठ है। तैत्तरीय ब्राह्मण (१।१।६।१) में दक्ष, अदिति तथा मार्तण्ड के स्थान पर इन्द्र, विवस्वान् तथा धाता का उल्लेख मिलता हैं। शतपथ ब्राह्मण में (६।१।२।८, ११, ६, ३८) आदित्यों की संख्या १२ है और इसमें जयन्त, भास्कर, त्वष्टा, पूषन् तथा विष्णु का भी नाम हैं। इस प्रकार भारत में आदित्यों की संख्या पाँच से प्रारम्भ होती हैं (वरुण को छोड़कर) और ११ तक जाती है जब कि ईरान में वे सदा छः हैं। कारनाय का यह कथन कि "यदि अमेश स्पेन्ता के नाम तथा संख्या आदित्यों से नहीं मिलती तो यह केवल संयोग की ही बात है क्योंकि 'अश' तथा 'अरमइति' आदि ऋग्वेद में भी प्राप्त होते हैं"[2] सर्वथा अनुपयुक्त है।

वैदिक आदित्यों में जिन भग, अर्यमा तथा मित्र की गणना की गई है, वे अवेस्ता में भी प्राप्त होते हैं किन्तु उनको अमेश स्पेन्ता गण में स्थान नहीं दिया गया। इसके अतिरिक्त अमेश स्पेन्ता पूर्णतः अमूर्त नैतिक भावों के

---

१. माउल्टन, अ० जो० पृ० ३१, २४३, २५२। द्रष्टव्य पीछे पृ० ८०।

२. कारनाय, ए० रि० ई० : भाग १, पृ० ५६८ (अ)

दैवीकरण से बने हैं जब कि भारतीय आदित्यों में इस प्रकार का कोई भी चिह्न नहीं है। वस्तुतः अमेश स्पेन्ताओं के स्वरूप में कोई भी ऐसा गुण नहीं है जो यह प्रमाणित कर सके कि अमेश स्पेन्ता की उत्पत्ति इतने अधिक स्थूल तत्त्वों से हुई है और न ही किसी प्रकार यह सिद्ध किया जा सकता है कि मंगल, गुरु आदि ग्रहों ने ऋत, वोहुमनः (सद्विचार) तथा अमेरेतात् (अमरता) आदि नैतिक विचारों का रूप धारण कर लिया होगा[1]।

एक बात और है। ईरानियों के अमेश-स्पेन्ताओं में श्रेष्ठ 'अशा-वहिश्ता' (ऋत वसिष्ठ, श्रेष्ठ ऋत या नियम) का उल्लेख उस समय से बहुत पूर्व ही पाया जाता है जो ओल्डेनबेर्ग ने आर्य धर्म पर सेमेटिक प्रभाव के लिये निश्चित किया है। २०वीं शती के प्रारम्भिक वर्षों में मिस्र के उत्तरी भाग के **तेल-एल-अमर्न** नामक स्थान में कुछ मृत्फलकों की प्राप्ति हुई थी। इन फलकों पर कीलकाक्षरों में कुछ पत्र खुदे हुए थे। ये सभी पत्र बेबीलोनिया, असीरिया, सीरिया, फोनेशिया आदि देशों के राजाओं के द्वारा अपने सम्राट् मिस्र के **फराओस्** नाम से प्रसिद्ध राजाओं के नाम लिखे गये हैं। इनमें सीरिया के मितानियों के **दुश्रत्त** (दशरथ ?) राजा का पत्र अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यह पत्र १६०० ई० पू० का है। इसमें इस राजा के भाई का नाम **'अर्तशुवर'** (ऋतशूर ?) तथा पितामह का **'अर्ततम'** (ऋततम ?) दिया हुआ है। दोनों नामों का प्रथम पद **अर्त** है। निश्चित रूप से यह वही 'अर्त' है जो जागतिक नियम के अर्थ में दारियुस् आदि राजाओं के शिलालेखों में उल्लिखित है और जिसका अवेस्ता के 'अश' तथा ऋग्वेद के 'ऋत' से तादात्म्य है[2]। ईसवी सन् के १६०० वर्ष पूर्व इसका महत्त्वपूर्ण उल्लेख आर्यों की 'ऋत' की धारणा को अत्यधिक प्राचीन सिद्ध करता है। वस्तुतः आर्यों की आर्षकल्पना द्वारा प्रसूत ऋत की धारणा एक ऐसा अद्वितीय एवं श्रेष्ठ विचार है जिसकी तुलना किसी भी प्राचीन धर्म के किसी तत्त्व से नहीं हो सकती।

ओल्डेनबेर्ग के (जो जर्मनी में उत्पन्न एक यहूदी थे) इस मत के मूल में उनकी यह धारणा थी कि आर्य धर्म में आचारशास्त्रीय विचार बहुत बाद में प्रारम्भ होते हैं। इसके विपरीत सामियों में (जिनमें यहूदी भी आते हैं) ऐसे विचार बहुत पूर्व ही अंकुरित हो चुके थे। किन्तु यह सोचना कि आर्य नैतिक एवं आचारशास्त्रीय विचारों से पूर्णतः असंपृक्त थे तथा ऐसे विचार निश्चित

---

१. तु० की०—अ० जो०, पृ० ६६।

२. ब्लूमफील्ड : **रि० वे०**, पृ० ११-१३ तथा १३५-३६।

रूप से बाह्य प्रभाव हैं एक ऐसा पक्षपात पूर्ण मत स्थापित करना है जिसके लिये कोई आधार नहीं है[1]। वैदिक युग में ही हमें अदिति, श्रद्धा आदि अमूर्त देवियों के दर्शन होते हैं। प्राचीन ग्रीक तथा रोमन धर्म में भी कई उत्तम आचारशास्त्रीय विचार हैं। जरथुस्त्र का धार्मिक आन्दोलन निश्चित रूप से यह सूचित करता है कि ईरान में भी नैतिक तत्त्वों के उद्भव तथा विकास के लिये परिपूर्ण अवकाश था[2]। जरथुस्त्र के धर्म पर सैमेटिक प्रभाव नहीं के बराबर है। "जिनकी उपासना में प्रकृति के सर्वोच्च एवं सर्वोत्कृष्ट तत्त्व आकाश (द्यौः) की उपासना का समावेश था, वे आचारशास्त्रीय विचारधारा का आविष्कार निश्चित रूप से बिना किसी बाह्य सहायता के कर सकते थे[3]।"

वस्तुतः अपने अतुल विस्तार, सर्वत्र विद्यमानता, तथा प्रकाश से संबन्ध के कारण आकाश के देवता के साथ मनुष्यों के अच्छे बुरे कर्मों को देखने की विशेषता स्वतः संबद्ध हो जाती है और यह विशेषता कालान्तर में उच्च आचारशास्त्रीय धाराणाओं के रूप में विकसित होती है। ईसा से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व ही ऋत के विचार की प्राप्ति और दूर-दूर तक इसकी उपलब्धि निश्चित रूप से सूचित करती है कि आर्यों ने उसी समय आचारशास्त्रीय विचारों एवं धारणाओं का आविष्कार कर लिया था जिस समय सेमेटिक व्यक्ति 'ऋत' जैसी किसी भी उच्च एवं श्रेष्ठ धारणा पर नहीं पहुँचे थे।

ग्रीक देवमण्डल के 'ऊरानॅस' से तुलना करने पर वरुण के मूलतः आकाश के देवता होने की पुष्टि होती है। इस तुलना से स्पष्ट है आर्य देवमण्डल में वरुण अत्यधिक प्राचीन देवता है और उनका अस्तित्व भारोपीय काल में भी था। 'वृ' (**भारो० वेर्**)[4] धातु से निर्मित यह शब्द संभवतः आकाश के सर्वाच्छादनकारी गुण की ओर संकेत करता है। ऋग्वेद ८।४१।३ में वरुण की इस विशेषता की ओर स्पष्ट संकेत है—

स क्षपः परिषस्वजे न्यु१स्रो मायया दधे स विश्वं परिदर्शतः।
तस्य वेनीरनु व्रतमुषस्तिस्रो अवर्धयन्नभस्यामन्तके समे॥

---

१. कीथ : **रिलीजन०**, प्रथम भाग, पृ० १०१।

२. माउल्टन : **अ० जो०**, पृ० ६८, ९८, २३७-४३।

३. माउल्टन : **अ० जो०** पृ० २४५।

४. ब्लूमफील्ड : **रि० वे०**, पृ० १३७।

उसका स्थान उच्चतम आकाश में है। वह वर्षा करवाता है। सूर्य उसका नेत्र है (तु० की० **येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनां अनु। त्वं (सूर्यं) वरुण पश्यसि**—ऋ० वे० १।५०।६)। वह दूर तक देखने वाला है। उसके एक सहस्र नेत्र हैं (जो संभवतः तारों को सूचित करते हैं)। ये सभी विशेषताएँ उसका आकाश से घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित करती है। सुदूर क्षितिज तक परि-दृश्यमान अपने अनन्त विस्तार से सम्पूर्ण भूमण्डल को परिवेष्टित करने वाला आकाश, जो भूमण्डल पर मनुष्यों द्वारा क्रियमाण सभी कर्मों का निरीक्षण सा करता हुआ प्रतीत होता है, बड़ी सरलता के साथ वरुण जैसे उत्कृष्ट नैतिक देवता का रूप धारण कर सकता है[1]।

पारसी धर्म के अहुरमज्दा के चरित्र में भी इस प्रकार की अनेक धुँधली विशेषताएँ सुरक्षित रह गई है जो आकाश से उसका सम्बन्ध सूचित करतीं हैं। वह श्वेत, दीप्तिमान् तथा दूरदर्शी है। उसका शरीर सबसे अधिक कान्तिशाली है (बुन्दा० १।७)। सूर्य उसका नेत्र है। आकाश की सरिताएँ (व्योम गंगा अथवा आपः) उसकी पत्नियां हैं। आकाशीय अग्नि (विद्युत्) उसका पुत्र है (यस्न ५८।८)। वह एक सुन्दर रत्न-जटित वस्त्र (तारकित आकाश) धारण करता है और ऐसे स्थान में निवास करता है जहां सदा अतुल प्रकाश रहता है (यस्न ७५।२२)।

वैदिक धर्म के मूल में प्राचीनतम समय से ही दो प्रमुख धारणाएँ थीं। कालान्तर में ये ही दो धारणाएँ विभिन्न रूपों में विविध देवकथाओं में विकसित हुई हैं[2]। इनमें से पहली धारणा यह थी कि प्रकृति में सर्वत्र एक अखण्ड नियम व्याप्त है और उसका प्रत्येक कार्य एक क्रम एवं नियम के अनुसार होता है। दिन के पश्चात् दिन, मास के पश्चात् मास, ऋतुओं के पश्चात् ऋतुएँ और वर्ष के पश्चात् वर्ष उसी क्रम से प्रत्येक बार आते जाते हैं। सूर्य निश्चित समय पर निश्चित स्थान में उदित होता है और निश्चित समय एवं स्थान पर अस्त हो जाता है। चन्द्रमा की कलाएँ एक क्रम से बढ़ती हैं और फिर उसी क्रम से घटती जाती हैं। तारे एवं नक्षत्र भी आकाश में अपने निश्चित स्थान पर उदित होते हैं और निश्चित गति से अपना मार्ग पूर्ण करते हैं। इस नियम

---

१. कीथ : **रिलीजन०**, प्रथम भाग, अध्याय ८, पृ० १०२।

२. डार्मस्टीटर : **जेन्द अवेस्ता**, भाग १ (से० बु० ई० ४) पृ० ५७।५८।

का रक्षक एक सर्वशक्तिमान् देवता है जो प्रकृति की सब वस्तुओं पर नियंत्रण रखता है[1]।

दूसरी धारणा यह थी कि प्रकृति में अच्छी एवं बुरी शक्तियों में सदा भयंकर युद्ध होता रहता है। कभी सत् शक्ति की विजय होती है, कभी असत् की। यह युद्ध झंझावात में सर्वाधिक स्पष्ट होता है जहाँ असत् शक्ति या कोई दैत्य देखते देखते प्रकाश की किरणों का हरण करके ले जाता है और उसको पुनः प्राप्त करने के लिये सत् शक्ति को अत्यधिक संघर्ष करना पड़ता है।

प्रथम धारणा वैदिक युग में जाकर ऋत की धारणा के रूप में विकसित हुई है। वेदों में ऋत के तीन रूप हैं; १—प्रकृति का अपरिवर्त्य नियम, २—देवताओं की ठीक तथा उपयुक्त प्रकार से उपासना तथा ३—मनुष्य का नैतिक आचरण[2]। ऋत के प्रथम प्रकार विस्तृत वर्णन का किया जा चुका है। स्वयं देवताओं का भी जन्म ऋत के ही आधार पर हुआ है। उन्हें प्रायः **'ऋत-जात'** कहा गया है। वे ऋत को जानते हैं (ऋतज्ञ), उसका पालन करते हैं (ऋतयु) और उससे प्रेम करते हैं (ऋतसाप्)। वैदिक यज्ञीय विधान केवल देवताओं को प्रसन्न करने का और फिर उनकी कृपा से अभीष्ट पूर्ति का ही साधन मात्र नहीं है, वह स्वतः अपने में भी एक पुण्य कार्य है। इसलिये ऋत का दूसरा प्रकार यज्ञ से सम्बन्धित है। ऋत के संरक्षण में यज्ञ सम्पन्न होता है। अग्नि ऋत का प्रथम पुत्र है। वह ऋत की सहायता से अपना कार्य करता है तथा यज्ञीय हवि को ऋत के मार्ग पर ले जाता है। अपने तीसरे रूप में ऋत सत्य से घनिष्ठतया सम्बन्धित है। इसीलिये असत्य को अधिकांशतः अनृत कहा गया है। अनृत की तुलना में असत्य शब्द बहुत कम प्राप्त होता है। सत्य एवं अनृत का युग्म है। वरुण ऋत का रक्षक है अतः वह प्राणियों के 'सत्यानृत' को देखता है (**यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्**, ऋ० वे० ६।४९। ३)। जब यमी यम को सहवास के लिये प्रेरित करती है तो यम इस अनैतिक कार्य को ऋत का स्मरण दिलाकर मना करता है और कहता है कि जिस कार्य को तुम ऋत कह रही हो उसको करने से हम जान बूझकर अनृत में फँस जायेंगे (**न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनम् ऋता वदन्तो अनृतं रपेम** ऋ० वे० १०।१०।४)।

---

१. तु० की०—माक्सम्यूलर : **लेक्चर्स आन दि ओरिजन एण्ड ग्रोथ आफ रिलीजन**, पृ० २४६।

२. ब्लूमफील्ड: **रि० वे०**, पृ० १२६।

इस त्रिविध ऋत को जगत् में स्थापित करने वाला आकाश-देव वरुण है। न तो आकाश से ऊपर कोई वस्तु है और न उसके बाहर। अतः वह सर्वाधिक महान् है। आकाश में अथवा उसके नीचे ही प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है अतः वह सबका जनक है। सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्र रूप नेत्रों से वह सब कुछ देखता रहता है अतः वह सर्वज्ञ एवं बुद्धिमान् है[1]।

इस देवता का नामकरण उसके भौतिक रूप के आधार पर 'वरुण' (आच्छादनकारी) तथा आध्यात्मिक रूप के आधार पर 'असुर' (स्वामी-शक्तिमान्) हुआ था। भारत में उसकी सामान्य संज्ञा के रूप में प्रथम नाम सुरक्षित रहा और ईरान में द्वितीय। किन्तु ईरान में वरुण शब्द में व्यक्तिवाचक संज्ञा का भाव जाता रहा। यह शब्द (**वेरेन**) केवल भौतिक आकाश का वाची सामान्य शब्द हो गया और इसके पश्चात् एक ऐसे काल्पनिक प्रदेश का सूचक हो गया जहाँ देवासुर संग्राम होता रहता है[2]।

धीरे-धीरे इस आकाश देव की आध्यात्मिक विशेषताएँ अधिकाधिक स्पष्ट होती गई और उसकी भौतिक विशेषताएँ पृष्ठभूमि में पहुँचने लगीं। बहुत शीघ्र ही उसका मूल स्वरूप आँखों से ओझल हो गया। यही कारण है कि जहाँ ऋग्वेद में कहा गया है कि वरुण मित्र के साथ आकाश में विचरण करता है, वहीं ईसा से ५०० वर्ष पूर्व दारियुस् के शिलालेख में अहुर को पृथ्वी एवं आकाश दोनों का निर्माता बताया गया है। यहाँ हम वरुण के इन उपासकों को उसके मूल रूप से सर्वथा अनभिज्ञ पाते हैं।

(२) मिथ्र (वै० मित्र)

बोग़ाज़क्यूई के मृत्फलक पर मित्र का नाम पाये जाने से उसकी महत्ता एवं ईरान में उसकी प्राचीनता निश्चित है। मित्र शब्द के मूल अर्थ की समस्या उसके मूल स्वरूप से घनिष्ठतया संबन्धित है। संस्कृत में मित्र शब्द के दो अर्थ हैं। नपुंसकलिंग में यह शब्द सुहृद् का वाची है और पुल्लिग में सूर्य का। यस्नों की प्राचीनतम फारसी में भी मिथ्र शब्द अनुबन्ध, प्रतिज्ञा या सुलह का वाची है। यश्त में आकर इस शब्द का विकसित रूप 'मिहिर' निश्चित रूप से सूर्य का वाची है। अवेस्ता का सम्पूर्ण दशम यश्त मिहिर की स्तुति में रचित है।

१. डार्म्सटीटर : **दि सुप्रीम गॉड इन दि इन्डो-यूरोपियन माइथॉलजी** पृ० २८३, (**दि कन्टेम्परेरी रिव्यू, अक्टूबर** १८७९)

२. डार्म्स्टीटर: **जेन्द अवेस्ता**, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० ५८।

ऋग्वेद तथा अवेस्ता में **'मित्रद्रुह्'** (मित्र से द्रोह करनेवा) तथा **'मिथ्रोद्रुज्'** (प्रतिज्ञा भग्न करनेवाला) नामक दो समास भी प्राय: पाये जाते हैं। प्रो० मिलेट का मत है[1] कि यही शब्द प्राचीनतर हैं और कालान्तर में इन्हीं शब्दों से मित्र शब्द पृथक् होकर स्वतन्त्र देवता बन गया है। मित्रद्रुह् का मूल भाव, समय (शर्त) मैत्री अथवा पण को भग्न करने वाला था। धीरे-धीरे प्रथम पद मिथ्र या मित्र ने भाववाचक के स्थान पर व्यक्तिवाचक संज्ञा का रूप धारण कर लिया। इसकी पुष्टि में उन्होंने यह प्रमाण दिया है कि ऋग्वेद में संकलित एकमात्र मित्र-सूक्त (३।५९) में उसके स्वरूप में किसी भी प्राकृतिक तत्त्व की झलक नहीं है। किन्तु क्योंकि प्रकाश को सद्विचारों का संरक्षक माना जाता है और अन्धकार का सम्बन्ध छल, षड्यन्त्र तथा असत्य से है, अत: मित्र का कालान्तर में दिन के प्रकाश अथवा सूर्य से सम्बन्ध हो गया। माउल्टन तथा ब्रुगमान आदि विद्वानों का भी मत है कि जातिवाचक अथवा भाववाचक संज्ञा के रूप में मित्र शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञा से प्राचीनतर है और संभवत: भारोपीय **'मेई'** (संस्कृत-मे-**प्रणिदाने**) धातु से बना है जिसका अर्थ **विनिमय करना'** होता है। लैटिन का **कम्-म्यूनिस्** (समुदाय), गॉथिक का **ग-मैन्स** तथा जर्मन भाषा का **गेमाइन** (सामान्य, सब के लिये) शब्द इसी धातु से आये हैं। ब्रुगमान के अनुसार मित्र शब्द मूल अर्थ 'मित्रतापूर्ण विनिमय' (Freundlicher Verkehr) रहा होगा। ग्रिसवोल्ड का विचार है कि अपनी मूल अवस्था में संभवत: मित्र 'प्रतिज्ञा' का विशिष्ट-देवता था। अत: उसका कार्य था मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार को देखना और उन्हें सत्य एवं न्याय के मार्ग पर ले चलना किन्तु बाद में सत्य एवं प्रकाश से घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण उसका प्रकाश एवं सूर्य से सम्बन्ध हो गया। किन्तु जैसा कि आगे स्पष्ट होगा मित्र के सम्बन्ध में एक प्रकृति-देवता का आचारशास्त्रीय देवता में विकास इससे अधिक संभावित प्रतीत होता है[2]।

यह कुछ विचित्र सा लगता है कि इस सर्वशक्तिशाली मिथ्र का गाथाओं में उल्लेख तक नहीं है। प्रतीत होता है कि अन्य प्रकृति-देवताओं की भाँति जरथुस्त्र ने अपने धर्म से उसका भी बहिष्कार कर दिया था। **मिथ्रम्** शब्द कुछ

---

१. **जूर्नाल आसियातीक**, १८९७, भाग दो, पृ० १४३ तथा आगे (माउल्टन के द्वारा **अ० ज़ो०** पृष्ठ ६३ में उल्लिखित।)

२. तु० की०, देशमुख : **ओरिजिन०**; पृ० १७३

स्थानों पर प्रयुक्त अवश्य है (उदा० यस्न ४६।५) पर केवल प्रण, प्रतिज्ञा या समझौते के अर्थ में ही।

प्राचीन सेमेटिक जाति **मातृ-देवता** की पूजा के लिये विख्यात है। बेबीलोनिया में **इश्तर** नाम से इस देवी की पूजा होती थी। इसे पशु तथा वनस्पति जगत् की उर्वरा शक्ति का प्रतीक माना जाता था। हेरोदोतस् ने अपने इतिहास (१।१३१) में लिखा है कि ईरानियों ने असीरिया-वासियों से मातृदेवता की पूजा अपना ली है और वे उसे मिथ्र कहते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ पर एक प्राचीन आर्य देवता का सेमेटिक देवी से तादात्म्य स्थापित करते हुए हेरोदोतस् ने एक बड़ी भूल की है। अवेस्ता में केवल एक ही देवी का उल्लेख है और वह है **अर्द्वी-सूरा-अनाहिता (आर्द्रा-शूरा-अनाहता;** कलंकहीन, आर्द्र कर देने वाली वीर देवी)। वह अत्यन्त रूपवती देवी है जो आकाश में निवास करती है तथा वर्षा के जल पर नियन्त्रण रखती है। इसे नदियों आदि की भी अधिष्ठात्री माना गया है। उर्वराशक्ति से भी इसका घनिष्ठ सबन्ध है। किन्तु हेरोदोतस् की इस भूल को भी कुछ विद्वानों ने प्राचीन ईरान के धार्मिक रहस्यों को खोलने की कुंजी समझा है। उदाहरणार्थ माउल्टन का मत है कि हेरोदोतस् के समय में मिथ्र एवं अनाहिता की उपासना का सम्मिश्रण हो गया था। दोनों का उसी प्रकार से एक युग्म बन गया था जैसे वैदिक **मित्रावरुणा** का। दोनों के सम्बन्ध का कारण सम्भवत: यह है कि असीरियन भाषा में वर्षा को **'मेत्रु'** (metru) कहते हैं। वर्षा के जल एवं वर्षा की देवी का सम्बन्ध हो जाना अत्यन्त सरल था। यह सम्बन्ध संभवत: किसी सेमेटिक प्रदेश में ही हो चुका था। आकाश के जलों से संबंधित होने के कारण मेत्रु का सम्बन्ध आकाश से भी हो गया और क्योंकि आकाश को एक सर्वद्रष्टा साक्षी माना जा सकता है जो मनुष्यों में उत्तम सम्बन्ध स्थापित रखता है, अत: उसमें मित्रता एवं प्रतिज्ञा का रक्षक आदि आचार-शास्त्रीय तत्त्व समाविष्ट हो गये। यही मेत्रु ईरान में आकर ईरानी देवता मिथ्र में अपनी सत्ता खो बैठा क्योंकि मेत्रु से ध्वनि-साम्य रखने वाला यह शब्द भाववाचक (प्रण, विश्वास आदि) तथा व्यक्तिवाचक (देवता का नाम) संज्ञा के रूप में ईरान में पहले से ही प्रचलित था। इस प्रकार ईरान में मिथ्र के दो स्वरूप हो गये। एक प्राचीन : जो किसी प्रकृति-तत्त्व से सम्बन्धित था और दूसरा नवीन : आचारशास्त्रीय। दशम यश्त में मिथ्र का जो स्वरूप है वह मुख्यत: द्वितीय स्वरूप पर निर्भर है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि मिथ्र के चरित्र में इतने आचारशास्त्रीय तत्त्व थे तो जरथुस्त्र ने गाथाओं में उसका उल्लेख

क्यों नहीं किया। इसका कारण यह है कि जरथुस्त्र का मित्र के इस आचार-शास्त्रीय रूप से संभवतः परिचय नहीं था। यह उसके बाद विकसित हुआ[1]।

मित्र के आचारशास्त्रीय वैशिष्ट्य की व्याख्या करने के लिए उस पर आर्येतर प्रभाव मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। माउल्टन का यह मत मित्र का सम्बन्ध एक प्राकृतिक तत्त्व से हटाकर दूसरे प्राकृतिक तत्त्व से जोड़ता है और फिर उसमें आचारशास्त्रीय तत्त्वों के सन्निवेश को स्वीकार करता है। मेत्रु कभी भी एक देवता के रूप में सेमेटिक जातियों में विकसित नहीं हुआ। परवर्ती अवेस्ता में भी कहीं भी अनाहिता के साथ मित्र का उल्लेख नहीं है। अतः प्रतीत होता है कि मित्राअहुरा की भाँति उन दोनों का युग्म कभी नहीं रहा। यदि होता भी तो हेरोदोतस दोनों का उल्लेख करता; यह नहीं लिखता कि ईरानी सेमेटिक देवी इश्तर को मित्र कहते हैं। निश्चित रूप से हेरोदोतस् ने यहाँ एक बहुत बड़ी भूल की है[2]। दोनों के एकरूप हो जाने की तो कोई सम्भावना भी नहीं क्योंकि दो पृथक् देवताओं के रूप में अवेस्ता में अन्त तक उनकी सत्ता सुरक्षित रही है। ईसवी सन् के आसपास की शताब्दियों में मित्र की युद्ध के देवता के रूप में अत्यन्त प्रतिष्ठा हो गई थी। अतः मित्र के इस स्वरूप की संतोषजनक व्याख्या करने के लिये भी एक अन्य आर्येतर प्रभाव की कल्पना करनी पड़ेगी। वस्तुतः मित्र अपने उद्भव के काल से ही मुख्यतः आचार-शास्त्रीय देवता था। अवेस्ता में उसका उल्लेख मिलने के समय से कई शताब्दियों पूर्व ही मित्र की स्तुति में ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में सन्निहित ५९वें सूक्त से इस कथन की सम्यक् पुष्टि हो सकती है।

बोग़ाजक्यूई में जिन चार आर्य देवताओं का उल्लेख है वह निष्प्रयोजन और आकस्मिक नहीं है। उनमें से प्रत्येक की अपनी महत्ता है। हित्तिति और **मितानी** राजाओं में युद्ध के पश्चात् सुलह हुई थी। उसमें हित्तिति राजा ने मितानी राजा से अपनी पुत्री का विवाह कर दिया था। ऋत के रक्षक रूप में शक्तिमान् वरुण का आवाहन दोनों की रक्षा के लिए तथा सत्य पर स्थिर रखने के लिए किया गया है। इन्द्र युद्ध का देवता था। अश्विनौ ऋग्वेद में (विशेषतः सूर्यासूक्त १०।८५ में) विवाह से विशेषतया सम्बद्ध हैं। शेष मित्र का उल्लेख निश्चित रूप से इसलिये किया गया है कि वह संधि, प्रतिज्ञा

---

१. देखिये—माउल्टन, **अ० ज़ो०**, पृष्ठ ६५-६७।

२. तु० की० स्टुअर्ट जोन्स, **ए० रि० ई० भाग ८**, पृ० ७५३; **मिथ्रइज़्म'** नामक लेख।

आदि का अधिष्ठाता था। यह फलक **मित्र** का ज़रथुस्त्र से कम से कम एक सहस्त्र वर्ष पूर्व आचारशास्त्रीय विचारों से सम्बन्ध सूचित करता है।

माउल्टन का विचार है कि यदि मिथ्र में वे नैतिक आचारशास्त्रीय तत्त्व होते जो अवेस्ता के दशम यश्त में प्राप्त होते हैं तो ज़रथुस्त्र के द्वारा उसका बहिष्कार कभी नहीं होता। किन्तु वस्तु-स्थिति ठीक इसके विपरीत है। नैतिक एवं आचार-शास्त्रीय दृष्टि से सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान् अहुर की स्थापना के पश्चात् मिथ्र की आवश्यकता ही क्या रह गई थी? मिथ्र में संधि, प्रतिज्ञा तथा अनुबन्ध आदि के रक्षक के रूप में जो भी विशेषताएँ थी वे सब ज़रथुस्त्र ने **अश-वहिश्ता** (ऋत) नामक अमेश स्पेन्ता से सम्बन्धित कर दीं और तब मिथ्र का केवल प्राकृतिक रूप बचा जो ज़रथुस्त्र की दृष्टि में सर्वथा हेय था ही। जरथुस्त्र की धारणा एकेश्वरवाद की ओर थी। अतः अहुर अपने समान सशक्त एवं प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वी को नहीं सहन कर सकता था और इसलिये मिथ्र का निष्कासन स्वाभाविक ही था।

लौकिक संस्कृत में मित्र शब्द पुल्लिग में सर्वत्र सूर्य का वाची है। फारसी में भी **'मिहिर'** शब्द सूर्य को सूचित करता है। वैदिक साहित्य के अनेक उद्धरणों से मित्र का प्रकाश से सम्बन्ध सूचित होता है। अतः प्रतीत होता है कि मित्र मूलतः सूर्य की ज्योति से सम्बद्ध था[१]। सूर्य जगत् की आत्मा है। उसका उदय सभी को प्रसन्न करता है। उसके प्रकाश से सभी प्राणी स्फूर्तिमान हो उठते हैं। अतः मानव का प्रकाश को लाभदायक या, दूसरे शब्दों में, मैत्रीपूर्ण समझना उचित ही था। प्रकाश का सत्य, ज्ञान एवं धर्म से तथा अन्धकार का असत्य, छल तथा तथा अज्ञान से जो सम्बन्ध है[२] वह स्वभावतः मित्र को वह आचारशास्त्रीय रूप प्रदान कर सकता है जो बहुत प्राचीन काल में ही उसे प्राप्त हो गया था। इस दृष्टि से सम्भवतः मित्र की व्युत्पत्ति तीन धातुओं से प्रदर्शित की जा सकती है। प्रो० ग्रे के अनुसार यह **'मा'** = नापना धातु से निकला है और प्राचीन काल में मित्र को दिन का

---

१. तारापुरवाला : **रि० ज०** अध्याय ४। मैक्डानल : **वै० मा०** पृ० ३०। डार्म्सटीटर **जे० अ०**, प्रथम भाग, भूमिका पृ० ६०। कीथः **रिलीजन०** पृ० २६८ आदि।

२. तु० की० डार्म्सटीटर : **जे० अ० पृ०** ८१ "प्रकाश एवं सत्य दोनों एक ही वस्तुएँ हैं; चर्म चक्षुओं से देखने पर जो वस्तु प्रकाश है मन के नेत्रों से देखने से वही सत्य।"

नापने वाला समझा जाता था। द्वितीय व्युत्पत्ति **'मिथ्'** = मिलाना, संपर्क स्थापित करना या सहमत होना से सम्बन्धित है और तृतीय **'मिद्'** = स्नेह या सद्‌व्यवहार करना से[1]।

ऋ० वे० ३।५९।१ में कहा गया है कि मित्र मनुष्यों के कर्मों को निर्निमेष दृष्टि से देखता है (**मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे**)। अपनी महिमा (प्रकाश ?) के द्वारा उसने समस्त नभोमण्डल को तथा कीर्ति (तेज ?) से पृथ्वी को व्याप्त कर रखा है (**अभि यो महिना दिवं, मित्रो बभूव सप्रथाः, अभि श्रवोभिः पृथिवीम्**; ३।५९।७) अथर्ववेद में एक स्थान पर (९।३।१८) कहा गया है कि जो कुछ वरुण रात्रि में अपने अन्दर छिपाये रहता है उस सबको मित्र दिन में प्रकाशित कर देता है। ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा में सूर्य देव सविता का मित्र से तादात्म्य किया गया है—

उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि ।
उत रात्रीमुभयतः परीयस उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः ॥५।८१।४

मित्र का ऋग्वेद में एक महत्वपूर्ण विशेषण है **'ब्रुवाणो यातयज्जनः'** 'अपने वचन से सब व्यक्तियों को नियन्त्रित करने वाला' जो उसके आचारशास्त्रीय रूप को सूचित करता है (किन्तु इस समस्त शब्द के 'मनुष्यों को परिश्रम में रत कर देनेवाला सूर्य' अथवा 'मनुष्यों को एकत्र करने वाला' आदि अर्थ भी हो सकते हैं)। सूर्य-देव सविता के सम्बन्ध में भी प्रायः ऐसा ही भाव व्यक्त किया गया है (तु० की०, ऋ० वे० ५।८२।९ **य इमा विश्वा जातानि आश्रावयति श्लोकेन**)। दैदीप्यमान अग्नि की मित्र से तुलना की गई है (**मित्रो अग्निर्भवति यत्समिद्धो, ३।५।४; त्वं (अग्ने) मित्रो भवसि यत्समिद्धः**)। इन सभी उद्धरणों से मित्र का प्रकाश या सूर्य ज्योति से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है।

अवेस्ता में मिथ्र का सूर्य से सम्बन्ध और भी अधिक स्पष्ट है। एक स्थान पर उसकी सूर्य के देवता **'ह्वर ख्शएत'** (तेजस्वी सूर्य) के साथ सम्मिलित स्तुति की गई है। यह स्तुति प्रत्येक पारसी की प्रातःकालीन प्रार्थना का काम देती है। यश्त २३।६ में मिथ्र को तीक्ष्ण किरणों से युक्त कहा गया है। यश्त २४।४ तथा १०।७ में कहा गया है कि मिथ्र के एक सहस्र नेत्र (रश्मियाँ हैं। नभ के प्रकाश से सम्बन्ध होने के कारण उसे कहीं कहीं (आकाश की) विस्तृत

१. तु० की०—देशमुख: **ओरिजिन०** पृ० १७४।

गोचर भूमि (**वउरु गौयौति**, संस्कृत-**उरु गव्यूति**) तथा विशाल प्रदेशों का स्वामी (**वँङ्घु-पँति**) भी कहा गया है (फरगार्द ३।२, यश्त १०।१ तथा १०।७) और इसलिये उसका अवेस्ता के **राम ह्वश्त्र** (वायु) से जिसे प्राय: गोपालक की उपाधि दी गई है, पर्याप्त सम्बन्ध हैं। ईरान में मिथ्र एवं सूर्य का सम्बन्ध इतना निश्चित था कि ग्रीक इतिहासकार स्त्रेबो ने अपने इतिहास में स्पष्ट लिखा हैं कि "वे (पारसी) सूर्य की पूजा करते हैं जिसे वे मिथ्र कहते हैं"[1]।

वरुण से सम्बन्ध के कारण मिथ्र में वरुण के भी कुछ गुण आ गये हैं। उदा० यश्त १०।१३ में कहा गया है वह उषा का दूत है, उषा के पहले पूर्व दिशा में **हरैती** पर्वत के पीछे से निकला करता है और थोड़ी देर में आकाश के सुनहले शिखरों पर चढ़ जाता है। यश्त १०।९५ में कहा गया है कि सूर्यास्त के पश्चात् वह गदा हाथ में लेकर आकाश में पश्चिम से पूर्व की ओर एक स्थान से दूसरे स्थान तक भ्रमण करता है और मनुष्यों के आचरण को देखता है। यश्त १०।७ में उसे निद्रा रहित नेत्रों से पृथ्वी की क्रियाओं के अवलोकन करते हुए वर्णित किया गया है।

मिथ्र की सूर्यतत्त्व से पृथक् विकसित होने वाली कतिपय अपनी भी विशेषताएँ हैं। आर्यों (शिष्ट) को वह सुखमय एवं सुन्दर आवास प्रदान करता है (यश्त १०।४।, ५)। वह सत्यवादी, उत्तम वक्ता तथा दूरदर्शी है (१०।७)। यश्त १०।८४ में कहा गया है कि जब जिसी निर्धन अथवा दुर्बल-व्यक्ति को उसके अधिकारों से वंचित किया जाता है तो वह अपने हाथ उठाकर सहायता के लिये मिथ्र को पुकारता है। अपनी प्रतिज्ञा या अनुबन्ध को भग्न करना मिथ्र का तिरस्कार करना है। ऐसा व्यक्ति मिथ्रद्रुज् है। मिथ्र ऐसे अपराध को कभी क्षमा नहीं करता, वह असत्य का भयकर शत्रु है[2]। न्याय एवं नियमों का स्वामी होने से उसे पृथ्वी के न्यायालयों का भी स्वामी गया गया है।

मित्र युद्ध का भी देवता है। उसका मुख्य शस्त्र 'वज्र' (गदा या कुल्हाड़ी) है। अपने 'वज्र' से वह दुष्टों को दण्ड देता और दएवों के सिर काट डालता है (यश्त १०।१३२)।

किन्तु इन सबके अतिरिक्त मिथ्र को जल प्रदान करनेवाला भी कहा गया है। वही आकाश से पानी बरसाकर वृक्षों की वृद्धि में सहायता देता है

---

१. स्त्रेबो : १५।३।११: देखिये माउल्टन, **अ० जो०** पृ० ४०७।
२. ढाला: **जोरेस्ट्रियन थियोलाजी**, पृ० १०६-१०८।

(यश्त २०।६१) । वह एक ऐसा देवता है जो मनुष्यों को दीर्घ जीवन,, पुत्र,पशु, संपत्ति, ऐश्वर्य, शक्ति, विजय तथा कल्याण प्रदान करता है (१०।३३,६५) । वज्र धारण करना तथा पानी बरसाना आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो मिथ्र ने प्राचीन आर्य देव इन्द्र से ग्रहण की हैं । आर्य देवमण्डल के प्रमुख देवता इन्द्र के अवेस्ता में एक दैत्य का रूप पा जाने पर उनकी प्रमुख विशेषताओं का अन्य प्रधान देवताओं द्वारा आत्मसात् किया जाना स्वभाविक ही था ।

ऋग्वेद के मित्र सूक्त (३।५९) में भी मित्र का लगभग इन्हीं शब्दों में वर्णन किया गया है । मित्र के नियम (व्रत) बहुत कठोर हैं, उनका अवश्य पालन चाहिये (**'आदित्यस्य व्रतमुपक्षियन्तो' 'इष इष्टव्रता अकः'**) । इसे एक उदार देवता के रूप में चित्रित किया गया है। जो मनुष्यों की सहायता करता है तथा उन्हें स्वास्थ्य, धन, अन्न एवं ऐश्वर्य प्रदान करता है—

प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन ।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात् ॥ ३।५९।२
अनमीवास इलया मदन्तो मितज्ञवो वरिमन्ना पृथिव्याः । ३।५९।३
मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि । ३।५९।६

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में (२।१।८) में मित्र को युद्ध में शान्ति स्थापित करके परस्पर संधि करवाने वाला कहा गया है (**मैत्रम् श्वेतमालभेत संग्रामे संयत्ते समयकामो मित्रमेव स्वेन भागधेयेनोप धावति**) ।

दशम यश्त के ९३वें पद में कहा गया है कि 'मिथ्र की सहायता की अपेक्षा दोनों लोकों में होती है; इस लोक में वह मनुष्य के शरीरों की सहायता करता है और उस लोक में आत्माओं की' । यह कथन पारसी धर्म में मिथ्र के एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य का परिचायक है जो ईरान में क्रमशः विकसित हो रहा था । परवर्ती अवेस्ता में यह सामान्य विश्वास पाया जाता है कि मिथ्र मृत व्यक्तियों की आत्माओं को उनके कर्म के अनुसार शुभ अथवा अशुभ फल प्रदान करता है। मृत व्यक्ति की आत्मा को **'चिन्वतु'** नामक सेतु पार करना पड़ता है जो परलोक को ले जानेवाला सेतु है। सेतु के दूसरी ओर न्यायकर्ता मिथ्र एवं **रश्नु** बैठे रहते हैं और आत्माओं की पृथ्वी पर किये गये कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक में स्थान देते हैं। रश्नु को सदा **'रजिश्त'** (परम न्यायी) की की उपाधि दी जाती है। मृत्यु के पश्चात् दुष्ट व्यक्तियों को दंडित करने के कारण वह सब पापी व्यक्तियों का शत्रु है (फरगार्द ४।५४)[1] । डार्म्स्टीटर का

१. तारापुरवाला, **रि० ज०**, अध्याय ७ पृ० १०१ ।

मत है कि रश्नु की उत्पत्ति मित्र के ही व्यक्तित्व से हुई है और संभवत: यह शब्द पहले मिथ्र का विशेषण था[1]।

रश्नु की भाँति मिथ्र का एक ओर सहायक है जिसे पारसी धर्म में **'श्रओश'** (आज्ञापालन, अनुशासन) की संज्ञा दी गई है[2]। आर्य देवमण्डल में मानव मात्र के पारस्परिक सत्य सम्बन्धों को सुदृढ़ रखने वाले मित्र तथा जगत् के भौतिक एवं नैतिक नियमों (ऋत) के अधिपति वरुण का मित्रावरुणौ तथा मिथ्राअहुरा के रूप में मणि-कांचन संयोग जरथुस्त्र द्वारा भग्न कर दिया गया। मित्र की आचारशास्त्रीय विशेषताएँ अश तथा अहुर से सम्बद्ध कर दी गईं तथा शेष का तिरकार कर दिया गया। सम्भावना तो यहाँ तक है कि जरथुस्त्र ने उसे पूर्णत: राक्षस या 'दएव' की पदवी दे डाली। क्योंकि गाथाओं में एक स्थान पर (यस्न ३२।१०) कहा गया है कि 'सूर्य एवं वृषभ को आँखों से देखना सबसे अधिक बुरा है। संभवत: सूर्य से तात्पर्य मिथ्र से है और वृषभ का उल्लेख उस कथा को सूचित करता है जिसके अनुसार मिथ्र ने एक वृषभ को मार कर अनेक ओषधियों तथा पशुओं को उत्पन्न किया। जरथुस्त्र ने मिथ्र के स्थान पर **'ग्यूश तशन्'** (वृषभ स्रष्टा) नामक एक नये अमूर्त रूप की कल्पना की[3]। किन्तु जैसा कि बार्थोलोमे का मत है 'यद्यपि मिथ्र की उपासना का जरथुस्त्र की मूल शिक्षाओं (गाथाओं) में 'हओम' की भाँति कोई भी स्थान नहीं है किन्तु सामान्य जनता का विश्वास उसमें इतना प्रबल था कि कालान्तर में पुरोहितों को उसकी उपासना की अनुमति देना आवश्यक

---

१. डार्म्स्टीर, जे० अ० भूमिका, पृ० ६१, पाद टिप्पणी।

२. डा० सुकुमार सेन (**'इंडो ईरानिका'** कलकत्ता, चतुर्थ भाग, जुलाई १९५०) का मत है ईरानी **श्रओश** एवं भारतीय **स्कन्द** सर्वथा एक हैं। उन्होंने दोनों की समान विशेषताओं की ओर संकेत किया है और श्रओश का संस्कृत रूप **श्रौष** मानते हुए उसे **'श्रु'** धातु से निष्पन्न माना है। दोनों देवों के साम्य का यह सुझाव तो पूर्णतया असिद्ध और दूरारूढ़ है पर हाँ, श्रओष की श्रु धातु से उत्पत्ति (बात 'सुनने' या मानने की क्रिया) के संबन्ध में कोई सन्देह नहीं है।

३. स्टुअर्ट जोन्स, **मिथ्रइज्म** : ८, पृ० ७५३। तु० की०—माउल्टन **अ० जो०**, पृ० ३४७, ३५७।

हो गया'[1]। सम्भवतः ६ठीं शताब्दी ई० पू० में ही मिथ्र को अपना सम्मानास्पद पद प्राप्त हो गया था क्योंकि ईरान के प्राचीन कलेन्डर में जिसे दारियुस् (लगभग ५०० ई० पू०) ने प्रचलित किया था सातवें महीने का (जो इस समय १७ सितम्बर से १७ अक्टूबर तक पड़ता है) नाम मिथ्र के ऊपर रखा गया है। अवेस्ता का दशम यश्त संपूर्णतः मिथ्र की ही स्तुति करता है; इसमें लगभग १२५ पद हैं। यह यश्त अत्यन्त काव्यात्मक है और कहीं कहीं अत्यन्त ओजपूर्ण हो गया है।

मिथ्र की उत्पत्ति एवं कार्यों के विषय में परवर्ती अवेस्ता में जो कथा वर्णित है उसका संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—मिथ्र की उत्पत्ति नदी के किनारे एक पवित्र गूलर के वृक्ष की छाया में एक कठोर शिलाखण्ड से हुई थी। उत्पन्न होते समय वह एक हाथ में तीक्ष्ण कटार तथा दूसरे में दीपशिखा लिए था। उसने अपनी कटार से वृक्ष की छाल निकाली और उसको पहन लिया। इसके पश्चात् उसने सूर्य से युद्ध करके अपनी शक्ति की परीक्षा करने की ठानी। किन्तु दोनों ने संधि कर ली और एक दूसरे की सहायता करने का वचन दिया।

अहुरमज्द ने एक विशाल एवं शक्तिशाली वृषभ की सृष्टि कर रखी थी। यह वृषभ पर्वतों एवं मैदानों पर निर्द्वन्द्व विचरण किया करता था। मिथ्र ने जाकर उसके सींग पकड़े और ऊपर चढ़ने में सफल हो गया। वृषभ उछल उछलकर तीव्रता से भागने लगा किन्तु मिथ्र ने उसे छोड़ा नहीं। जब वह थक गया तो वह उसे एक गुफा के अन्दर ले जाने लगा किन्तु वृषभ फिर भाग खड़ा हुआ। इस बार सूर्य ने उसकी सहायता के लिये एक पक्षी को भेजा। उसकी सहायता से मिथ्र बैल को पकड़कर गुफा के द्वार पर लाया वहाँ उसने उसे अपने वश में करके उसके पार्श्व में अपनी तीक्ष्ण कटार भोंक दी। वृषभ के शरीर से जो रक्त निकला उससे सब वनस्पतियों एवं पशुओं की उत्पत्ति हुई[2]।

---

१. "Ich nehme an, dass Mithra in der streng Zarathustichen Lehre als Gottheit nicht anerkannt war, ebensowenig z. B. 'Haoma'. Da aber der Glaube an Mithra im Volke zu fest wurzelte, waren die Priester spaeterhin genoetigt, seine Verehrung zuzulassen", **आल्टईरानिशस् वर्टरबुख**, स्तम्भ सं० ११८५।

२. कारनाय : **ईरानियन माइथॉलजी**, अध्याय २, पृ० २८७, २८८। तथा क्यूमों, **दि मिस्ट्रीज़ आफ मिथ्र**, पृ० १३१ तथा आगे।

ग्रिसवोल्ड का मत है कि मिथ्र के प्रति जरथुस्त्र की घृणा का मुख्य कारण यह था कि उसके समय में मिथ्र के स्वरूप का एक अन्य निकृष्ट पक्ष भी था। वह एक योद्धा के रूप में प्रसिद्ध था और युद्ध एवं विजय के देवता के रूप में मीडिया के दस्युगण उसकी उपासना करते थे। प्राचीन देवताओं में प्रकाश एवं अन्धकार के प्रतीकात्मक युद्ध का अनेक स्थानों पर वर्णन प्राप्त होता है अतः मिथ्र के स्वरूप की यह विशेषता उसकी प्रकाशात्मकता का स्वाभाविक विकास थी[1]।

यद्यपि इतने पूर्व मिथ्र के चरित्र में इस प्रकार की विशेषता के अस्तित्व का कोई भी प्रमाण नहीं है और इसलिये मिथ्र के गाथाओं से बहिष्कार में इस कारण की बहुत कम सम्भावना है किन्तु इतना निश्चित है कि ईसवी सन् के कम से कम ५०० वर्ष पूर्व मिथ्र योद्धाओं और सैनिकों का प्रिय देवता बन चुका था। ऋग्वेद में उसे 'सुक्षत्र' कहा गया है (३।५९।४)। यश्त १०।४१ में भी इसका स्पष्ट संकेत है—"[शत्रुओं में] मिथ्र सहसा तीव्र भय उत्पन्न कर देते हैं। रश्नु उसको द्विगुणित कर देता है और श्रओश उनको एक साथ सुरक्षित स्थानों में भाग जाने के लिये बाध्य कर देता है।" मिथ्र का युद्ध से संबन्ध द्योतित करने वाले अन्य संकेत भी इसी यश्त में कई स्थानों पर पाये जाते हैं।

३०० ई० पू० तक सामरिक देवता के रूप में मित्र का महत्त्व और बढ़ गया तथा प्राचीन प्राकृतिक तत्त्व की उपासना के साथ ग्रीस की रहस्यवादी विचारधारा एवं कुछ अंशों में सेमेटिक प्रभाव के सम्मिश्रण से इसकी उपासना का पृथक् सम्प्रदाय ही स्थापित हो गया। अनेक देशों और धर्मों की विचार-धाराओं एवं पूजा पद्धतियों के प्रभाव से इसने एक विचित्र रूप धारण कर लिया। इसी काल में रोम की सेना में अनेक ईरानी सैनिकों का प्रवेश हुआ। उन्होंने युद्ध के पराक्रमी देवता के रूप में (यश्त १०।१३२) मिथ्र की उपासना को सम्पूर्ण रोमन सेना में फैला दिया और सेना के तथा ईरान के व्यापारियों के प्रभाव से स्वल्प समय में ही यह धर्म केवल रोम में ही नहीं अपितु आस पास के देशों में भी —यहाँ तक कि सुदूर पश्चिम में स्थित इंगलैंड तक में—सशक्त रूप से व्याप्त हो गया। रोम में अपराजेय शक्तिशाली मिथ्र के रूप में सूर्य-देव (Sol Invictus Mithras) की उपासना सर्वत्र व्याप्त हो गई। तीसरी शताब्दी के अन्त तक तो ऐसा प्रतीत होने लगा मानों वह एक विश्व धर्म का

---

१. ग्रिसवोल्ड : रि० ऋ०, पृ० ११७ तथा पाद टिप्पणी (५)।

रूप धारण कर लेगा। चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में रोम के अनेक राजा **'मिथ्रधर्म'** (Mithraism) को मानने वाले थे और ईसाई धर्म का रोम तथा शेष यूरोप पर प्रभाव नहीं के बराबर था। यद्यपि धीरे-धीरे ईसाई धर्म के प्रभाव के कारण यूरोप से मिथ्र धर्म समाप्त हो गया किन्तु मिथ्र के प्राचीन मन्दिर एवं मूर्तियाँ अब भी समस्त यूरोप में प्राप्त होती है[१]। इन पंक्तियों के लेखक ने जर्मनी के दक्षिण-पश्चिमी भाग तथा फ्रांस में स्थित अनेक संग्रहालयों में मिथ्र की विविध मूर्तियाँ देखी हैं। ईसाई धर्म के प्रारम्भिक रूप का निर्माण करने में मिथ्र धर्म का भी बहुत कुछ हाथ रहा है और अर्नेस्ट रेनेन का यह कथन ठीक ही है कि यदि ईसाई धर्म का उद्भव नहीं हुआ होता तो आज संसार में मिथ्र की ही उपासना हो रही होती[२]।

रोम में प्राप्त मिथ्र की मूर्तियों का सबसे प्रिय 'अभिप्राय' (motif) वृषभ का वध करते हुए उसका चित्रण है। मिथ्र के दोनों ओर हाथ में दीप शिखा धारण किये हुए दो परिचर भी चित्रित किये गये हैं जिनके रोमन नाम क्रमशः **कोट** तथा **कोटपुट** हैं। संभवतः ये उदित एवं अस्त होते हुए सूर्य के प्रतीक है। कुछ मूर्तियों में सूर्य और उनके दूत पक्षी का भी चित्रण है। कुछ में वृषभ के गले से निकलते हुए रक्त को एक श्वान के द्वारे चाटे जाते हुए दिखाया गया है। मिथ्र की सब से सरल मूर्तियाँ वे हैं जिनमें उसे एक हाथ में कटार तथा दूसरे में सूर्य की प्रतीक दीप-शिखा लिये हुए शिला से निकलते हुए उत्कीर्ण किया गया है[3]।

(३) हओम (वै० सोम)

यद्यपि सोम एक विशिष्ट लता के 'अंशुओं' से निकला हुआ तथा यज्ञ में बहुधा उपयुक्त होने वाला सुस्वादु एवं आनन्ददायक रस मात्र है किन्तु यज्ञ से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण इसमें एक विशेष प्रकार की पवित्र भावना का समावेश हो गया है जिसने इसका लगभग देवीकरण कर दिया है। मुंजवान् नामक किसी पर्वत से सोमलता लाई जाती थी। कुचलकर उसका रस

---

१. मेक्डानल : **लेक्चर्स आन दि कम्पेरेटिव रिलीजन**, पृ० १० (कलकत्ता विश्ववि० में दिये गये भाषण)।

२. ब्लूमफील्ड द्वारा : **रि० वे०**, पृ० ८५ पर उल्लिखित।

३. इन मूर्तियों के विस्तृत विवरण के लिये देखिये—क्यूमों: **मिस्ट्रीज आफ मिथ्र** (अँग्रेजी अनुवाद), शिकागो १९०३, तथा कारनाय, **ईरानियन माइथॉलजी** पृष्ठ २६४ तथा २८८।

निकाला जाता था और छानने के पश्चात् दुग्ध एवं मधु मिश्रित करके विधिवत् देवताओं को समर्पित करने के पश्चात् उसका पान किया जाता था। ऋग्वेद में इस सोम रस को अनेक अलौकिक गुणों के युक्त बताया गया है। किन्तु प्राचीन वैदिक काल में ही सोम की धारणा इस भौतिक रूप से बहुत ऊपर उठ गई थी। उसका मूल स्थान स्वर्ग में माना जाने लगा था और उसका तादात्म्य संसार के अणु-अणु में स्पन्दित प्राणशक्ति से कर दिया गया था[1]।

वैदिक धर्म के दाय के रूप में आर्यों की ईरानी शाखा को भी सोम के उपयोग एवं विधि विधान की प्राप्ति हुई।

यह एक रोचक तथ्य है कि भारत एवं ईरान दोनों स्थानों में सोम का इतना महत्व होते हुए भी और उसे अमरत्व साधन में समर्थ मानते हुए भी जरथुस्त्र ने अपने धर्म से उसका पूर्ण बहिष्कार कर दिया था। गाथाओं में दो स्थान ऐसे हैं जहाँ जरथुस्त्र की **हओम** के प्रति घृणा व्यक्त होती है। यस्न ४८।१० में जरथुस्त्र अहुर से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि 'तुम इस मादक द्रव्य के भ्रष्टाचार को कब समाप्त करोगे जिससे **करपन** (मागी पुरोहित) दुष्कर्म करते हैं !' यद्यपि इस स्थान पर मागी पुरोहितों की चतुरता से हओम का नाम नहीं आने पाया है किन्तु निश्चित रूप से उसी की ओर संकेत है[2]। दूसरे स्थान पर (यस्न ३२।१४) उल्लेख पूर्णतः भ्रान्ति-रहित है। वहाँ कहा गया है कि 'धर्म के शत्रु वृषभ का इसलिये बलिदान करते हैं जिससे **दूरओश** उनकी सहायता करें'। परवर्ती अवेस्ता में अनेक स्थानों पर हओम के लिये दूर-ओश (मृत्यु) विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

जरथुस्त्र की हओम के प्रति इस घृणा का कारण सम्भवतः यह है कि उस समय हओम-रस का सम्बन्ध मागियों के अनेक यातविक कृत्यों से हो गया था और प्राचीन अपरिष्कृत धर्म के ये पुरोहित **वृषभ-हन्ता** मिथ्र की पूजा के रूप में रात्रि में एक वृषभ का बलिदान करते थे। इस कृत्य में अनेक प्राचीन यातविक क्रियाएं भी सम्मिलित थीं। कृत्य के बीच में ही तीव्र मद्य एवं हओम का पान किया जाता था।

---

१. सोम कथाओं की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या के लिये देखें, उल्रिष् श्नाइडर : **डेर सोमराउब डेस् मनु : म्युथॅस् उण्ड् रिटुआल्** (मनु का सोम अपहरण, कथा और कर्मकाण्ड) वीसबाडेन १९७१।

२. माउल्टन : **अ० जो०**, पृ० ७२।

दो अपेक्षाकृत परवर्ती यस्नों, ९ तथा १०, में **हओम** का प्रत्यावर्तन हुआ है। किन्तु अब वह पहले वाला हओम नहीं है। हओम की महत्ता एवं उसका उपयोग ईरान में तब तक पूर्णतः लुप्त हो चुका था अतः हओम केवल देवताओं का प्रिय, मृत्युंजयी एक पेय मात्र रह गया है जिसका प्रतीकात्मक रूप उसके भौतिक रूप से कहीं अधिक प्रबल है। किन्तु फिर भी वैदिक सोम एवं ईरानी हओम की तुलना दोनों को एक ही वस्तु मानने को प्रेरित करती है।

सोम सर्वोत्कृष्ट औषधि है वह वनस्पतियों का राजा है (**सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पति** : ९।११४।२)। अवेस्ता में भी हओम को यह सम्मान प्रदान किया गया है (यस्न १०।१)। ऋ० वे० ५।८५।२ में कहा गया है कि वरुण ने सोम पादप को पर्वतों पर स्थापित किया (**वरुणो....अदधात् सोममद्रौ**)। ठीक इसी प्रकार यस्न १०।४।१० में कहा गया है कि चतुर देवता (अहुर) ने हओम को **'हरंती'** पर्वत पर उसकी घाटियों में स्थापित किया है। वहाँ से कुछ पवित्र पक्षी सोम को पृथ्वी पर लाते हैं (यस्न १०।११,१७) ऋग्वेद में एक श्येन सोम को पृथ्वी पर लाता है (**अमथ्नात् अन्यं परि श्येनो अद्रेः** १।९३।६, **आ यं ते श्येन उशते जभार** ३।४३।७)। ऋ० वे० ३।५३।१४ में सोम को झुकी हुई शाखाओं वाला (**नैचाशाखं** तथा **नम्यांशुः**) कहा गया है। अवेस्ता में भी हओम की यही विशेषता है (यस्न ९।१६)। इस पादप अथवा लता का रंग कुछ भूरा या पीला सा (**हरि** अथवा **ज़रि**) होता है (**परि सुवानो हरिरंशुः** ऋ० वे० ९।९२।१ तथा यस्न ९।१६, ३०)।

दोनों धार्मिक पुस्तकों में सोम-हओम के आध्यात्मिक गुणों का वर्णन सुन्दर काव्यात्मक शैली में किया गया है जो इस अद्वितीय पेय के प्रति हार्दिक प्रशंसा से आपूरित है[1]। सोम प्रत्येक रोग को शान्त करने की क्षमता रखता है; उसका पीने वाला स्वस्थ, प्रसन्न एवं दीर्घायु होता है।

(१) **ते मा रक्षन्तु विस्रसश्चरित्रात् उत मा स्रामाद्यवयन्तु इन्दवः।**
ऋ० वे० ८।४८।५।

(२) **अप त्या तस्थुर् अनिरा अमीवा निरत्रसन्तमिषीचीरभैषुः।**
८।४८।११।

(३) **त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे।** १।९१।६।

ठीक इसी प्रकार अवेस्ता में भी सोम को रोगों का प्रशमन करने

---

१. जीवनजी जमशेदजी मोदी, **ए०रि०ई०**, भाग ६, पृ० ५०६, **हओम**।

वाला माना गया है और दीर्घायु के लिये उससे प्रार्थना की गई (यस्न ६।१६ तथा तथा १०।६) साथ ही उसे ज्ञान, साहस, सफलता, स्वास्थ्य एवं महत्त्व प्रदायक भी कहा गया है (यस्न ६।१७)।

निम्नलिखित ऋचा में सोम को अत्यन्त पराक्रमी, विजेता, कीर्तिशाली तथा सम्पूर्ण योद्धाओं में सर्वोत्कृष्ट बताया गया है—

अषाढं युत्सु पृतनासु पप्रिं स्वर्षामप्सा वृजनस्य गोपाम्।
मरेषुजं सुक्षितिं सुश्रवसं जयन्तं त्वामनु वदेम सोम। १।६१।२१

अवेस्ता के यस्न ६।३०, ३१ में हओम को प्रत्येक युद्ध में विजय प्रदान करने वाला कहा गया है और उससे निर्दोष मनुष्यों को पीड़ित करने वाले दुष्टों का विनाश करने की प्रार्थना की गई है। यही नहीं, हओम के पान से मनुष्यों के सम्पूर्ण कल्मष, असत्य एवं पाप भी दूर हो जाते हैं और मनुष्य नितान्त शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार यह शरीर को ही नहीं आत्मा को भी पुष्ट करता है (यस्न १०।१३)। इसको पीने से मृत्यु पास नहीं आ सकती और मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर लेता है (६।२०)। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर सोमपान से अमर हो जाने का वर्णन है। अतएव सोमपान के पश्चात् न तो शत्रु ही कुछ बिगाड़ सकते हैं और न अन्य कोई दैवी संकट आ सकता है।

अपाम सोमममृता अभूम अगन्म ज्योतिर् अविदाम देवान्।
किन्नूनमस्मान् कृणवद् अरातिः ? किं धूर्तिरमृतमर्त्यस्य ?

ऋ० वे० ८।४८।३

यस्न ६।१६ तथा २१ में हओम के छः विशेष गुण बताए गये हैं। यह स्वर्ग, स्वास्थ्य, दीर्घायु, दुष्टों का दमन करने की शक्ति, शत्रुओं पर विजय तथा चोर एवं वधिकों से सुरक्षा प्रदान करता है। ईर्ष्यालु तथा दुष्ट लोगों से भी यह रक्षा करता है (६।२८)। ज्ञान प्राप्ति के इच्छुक विद्यार्थियों द्वारा, पति प्राप्त करने की इच्छुक कुमारियों द्वारा तथा पुत्र की इच्छुक स्त्रियों द्वारा इसकी विशेष रूप से स्तुति की जाती है[1] (यस्न ६।२२, २३)। हओम का यह गुण संभवतः ईरान का स्वतंत्र विकास है।

इन्द्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण सोम में कुछ इन्द्र के भी गुण आ गये है। इन्द्र वृत्र को मारने के पूर्व सोम रस के कई तडाग पी जाता है। तब

---

१. देखिये—कारनाय : **ई० मा०, पृ० २८२।**

उसमें वृत्र से युद्ध करने के लिये स्फूर्ति आती है। इस दृष्टि से सोम भी **'वृत्रहन्'** तथा **'वृत्राणां हन्ता'** है—**(हन्ता वृत्राणामसि सोम पूर्भित्** । ९।८८।४)

अवेस्ता में भी सोम को **'वॅरेथ्रॅग्न्'** कहा गया है। जिस प्रकार वैदिक वृत्रहन् दैत्यों को **'वधर्'** नामक शास्त्रों से पराजित करता है उसी प्रकार वेरेथ्रग्न् **'वदर्'** से प्रहार करता है। सोम **'स्वर्षा'** (प्रकाश का विजेता) है तो हओम भी **'ह्वरेज्'** है। दोनों ही ज्ञानी एवं बुद्धिमान् **(सुक्रतु/हुख्रतु)** कहे गये हैं। भारत एवं ईरान दोनों देशों में सोमरस के निर्माण की विधि एक ही थी। सोमपादप के अंशु (अवे० **अँसुश्**-डंठल) कुचले जाते थे और रस में दुग्ध एवं मधु मिलाया जाता था (यस्न १०।१३)। ऋग्वेद में सर्वप्रथम सोम रस के निर्माता तीन व्यक्ति कहे गये हैं— **विवस्वान्, त्रित** तथा **आप्त्य**। ठीक ये ही नाम **(वीवङ्हन्त, थ्रित** तथा **आथ्व्य)** अवेस्ता के प्रथम तीन सोम निर्माताओं के भी हैं[1]।

पार्थिव रूप के अतिरिक्त ऋग्वेद में सोम का एक आकाशीय (दिव्य) रूप भी है **(ममत्तु त्वा दिव्यः सोम इन्द्र, ममत्तु यः सूयते पार्थिवेषु** १०।११६।३) वस्तुतः सोम का वास्तविक स्थान आकाश ही है। वहाँ से मातरिश्वा अथवा श्येन उसे पृथ्वी पर लाता है। अतः कई स्थानों पर सोम को आकाश का पुत्र **(दिवः शिशुः**, उदा० **एष स्य मद्यो रसोऽव चष्टे दिवः शिशुः** ९।३८।५)।

अवेस्ता में हओम केवल रस का ही नाम नहीं है। यह एक अत्यन्त प्राचीन उपदेशक का भी नाम है जिसने आदि काल में अज्ञानी मानवों को धार्मिक ज्योति के दर्शन कराये। अवेस्ता में उसे प्राचीन धार्मिक उपदेशकों द्वारा भी पूजित एवं आदृत होते हुए प्रदर्शित किया गया है। नवम यस्न में वह जरथुस्त्र के सम्मुख प्रकट होकर ईरान में धार्मिक भावना के प्रसार का प्राचीन इतिहास वर्णित करता हुआ चित्रित किया गया है[2]। कुछ विद्वानों का मत है कि सुदूर प्रागैतिहासिक काल में हओम अथवा सोम नामका एक वास्तविक व्यक्ति हुआ था। इसी ने एक विशेष लता की खोज करके उसके रस का पान करने एवं देवताओं को अर्पित करने की प्रथा चलाई थी।

---

१. देखिये—मैक्डानल : **वै० मा०**, पृ० ११४।

२. तारापुरवाला : **रि० ज०**, प्रथम अध्याय।

कालान्तर में उस विशिष्ट पादप अथवा लता का नाम ही उसके नाम पर प्रसिद्ध हो गया।[1]

अवेस्ता में हओम के दो भेद हैं। एक सामान्य हओम जो पीतवर्ण का होता है और दूसरा श्वेत हओम या **'गओकरन'** (गोकर्ण)। दस सहस्र प्रकार के बीजों को मिलाकर इस अद्भुत (**गओकरन**) का बीज बना है। एक सुन्दर पौधे के रूप में गओकरन आकाश के **'वउरुकष'** नामक समुद्र के मध्य में उगा हुआ है। इसके चारों और दस सहस्र ओषधियाँ और हैं (फरगार्द २०।४)। यह संपूर्ण वनस्पतियों का राजा है (बुन्दाहिश : ५८।१०) जो कोई इसके किसी भी अंश को खाता है वह अमर हो जाता है (बुन्दाहिश ४२।१२)। सृष्टि के अन्त में प्रलय के पश्चात् पुण्यशाली व्यक्तियों को इसका रस पान करने को मिलता है (बुन्दाहिश : ५९।४)। **अंग्रामइन्यु** ने इसे हानि पहुँचाने के लिये एक **गिरगिट** की रचना की थी। किन्तु उसकी सुरक्षा के लिये **अहुर मज्दा** ने दस **मछलियाँ** नियुक्त कर रखी हैं जो चारों ओर घूमकर सदा उसकी रक्षा किया करती हैं (बुन्दाहिश १८)।

पार्थिव हओम इसी गओकरन का अंश है। इसे एक पवित्र पक्षी ने आकाश से लाकर **अलबुर्ज हर-बरजैति (हरैति)** नामक पर्वत पर स्थापित या किया है।

सोम का एक नाम मधु भी है। कहीं-कहीं दोनों शब्दों को एक दूसरे के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त किया गया हैं। उदा० सोम को **मधुमान्** (९।९६।१३) तथा मधु को **'सौम्य'** (३।५३।१०) कहा गया है। मधु शब्द संभवतः भारोपीय है। ग्रीक में यह शब्द **मेथु**, प्रा० **जर्मन** में **मेठ**, एंग्लो सेक्सन में **मेडु** तथा अँग्रेजी में **मीड** के रूप में प्राप्त होता है। ग्रीक देव कथाओं में ज्येउस् का श्येन आकाश से **मेथु** अथवा अमृत (ग्रीक **अम्ब्रोसिया**) को पृथ्वी पर लाते हुए वर्णित किया गया है। ठीक इसी प्रकार ऋग्वेद में भी एक धातुमय दुर्ग को भग्न करके इन्द्र के दूत श्येन का इन्द्र के लिये उच्चतम आकाश से मधु लाते हुए उल्लेख है। ब्लूमफील्ड, कीथ, मैक्डानल, ग्रिसवोल्ड, तथा कारनाय आदि[2]

---

१. उदा० जीवनजी जमशेदजी मोदी : **हओम, ए० रि० ई०**, भाग ६, पृ० ५०७।

२. देखिये : क्रमशः **रि० वे०** पृ० १४६, **रिलीजन०**, पृ० १७२, **वै० मा०**, पृ० ११४, **रि० ऋ०**, पृ० २१७ तथा **ईरानियन माइथालाजी**, पृ० २८३।

विद्वानों का मत है कि मधु के पृथ्वी में आनयन की यह भारोपीय देवकथा मूल रूप में जल-वर्षण से संबन्धित है। धातुमय दुर्ग मेघ हैं। श्येन तडित् का प्रतिरूप है। मेघों में वनस्पतियों का प्राणाधायक जल (मधुतत्त्व) भरा हुआ है जिसके पृथ्वी पर आगमन से सभी प्राणी तृप्त होते हैं। सोम और उसकी कथाएँ शुद्ध भारतीय हैं किन्तु इस प्राचीन भारोपीय देवकथा का सोम के साथ तादात्म्य हो गया है जिससे मधु एवं सोम की एकात्मता स्थापित हो गई है[1]।

(४) आतर (वै० अग्नि)

प्राचीन फारसी में **'आतर'** अग्नि को कहते हैं। ग्रीक देवमण्डल में **'हैस्तिया'** रोम में **'वेस्ता'** नामक गार्हपत्य अग्नि-देवियों की उपस्थिति से तथा सं० **'अग्नि'** के समानान्तर लेटिन में **'इग्निस्'** तथा लिथुआनियन में **'अग्निस्'** शब्द की प्राप्ति से इतना तो लगभग निश्चित ही है कि आर्यों के अग्नि प्रारम्भ से ही आदर का पात्र थी। प्राचीन काल से चली आ रही इस अग्नि उपासना की उपेक्षा जरथुस्त्र भी नहीं कर सके। आर्यों के प्राचीन प्राकृतिक देवताओं में केवल **'अग्नि'** का ही कई स्थानों पर गाथाओं में निश्चित उल्लेख प्राप्त होता है। जरथुस्त्र के अनुसार अग्नि उस दिव्य, शाश्वत, अनन्त, ईश्वरीय-ज्योति का पार्थिव स्वरूप है और इस प्रकार वह अहुरमज़्दा का दीप्ति युक्त भौतिक प्रतीक है। अहुरमज़्दा के प्रतीक के रूप प्राचीन पारसी धर्म में अग्नि की पूजा का अत्यधिक महत्व था। पारसी धर्म में अग्नि पूजा के इस महत्व को देखकर ही कभी-कभी पारसी भूल से 'अग्नि पूजक' कहे जाते हैं।

यद्यपि वह्नि के अर्थ में वैदिक भाषा में प्रयुक्त **'अग्नि'** एवं प्राचीन फारसी भाषा के **'आतर'** शब्दों में कोई भाषा वैज्ञानिक संबन्ध नहीं है तथापि 'अतर' शब्द से बना हुआ **अथ्रवन्**, जिसका अर्थ पारसी धर्म में पुरोहित या अग्नि की पूजा करने वाला व्यक्ति है वैदिक साहित्य में भी **अथर्वन्** नाम से पाया जाता है। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में अपने पूर्वजों के रूप में (**'पूर्वे पितरः'**) इनका अत्यन्त आदरपूर्वक स्मरण किया गया है; उदाहरणार्थ—

---

१. कीथ : **रिलीजन**, पृ० १७२—

The mead was an Indo-European view....the identifications of Soma was acomplished with it and therefore the application to it of the Soma legends were the immediate outcomes.

अंगिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ऋ०वे० १०।१४।६

कुछ स्थानों पर यह भी कहा गया है कि सर्वप्रथम **अथर्वा** ने ही मन्थन करके अग्नि को उत्पन्न किया। तदुपरान्त अन्य व्यक्तियों ने भी उसी विधि से अग्नि को उत्पन्न करना प्रारम्भ किया।

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत । ६।१६।१३
इममु त्यमथर्ववदग्निं मन्थन्ति वेधसः । ६।१५।१७

ऋग्वेद में कुछ स्थानों पर यह शब्द 'पुरोहित' अर्थ का भी वाची है। प्रतीत होता है कि यह शब्द मूलतः 'अग्नि से सम्बन्ध रखने वाले' प्राचीन 'पुरोहितों' का सूचक रहा होगा। विन्टरनित्स का कथन है कि 'पुरोहित' के लिये प्रयुक्त होने वाला संभवतः यह प्राचीनतम शब्द है। यह भी बहुत संभव है कि प्राचीनतम अग्नि पूजा के साथ कुछ ऐन्द्रजालिक कृत्यों का भी समावेश रहा हो। **'अथर्ववेद'** शब्द इस ओर संकेत करता है। इस वेद का प्राचीन नाम था **'अथर्वाङ्गिरसः'**—इसमें **'अथर्व'** शब्द समृद्धि प्रदान करने वाले, परिवार में शान्ति स्थापित करने वाले तथा रोगों का प्रशमन करने वाले आदि मंत्रों को सूचित करता था और **'अंगिरसः'** शत्रुओं आदि को नष्ट करने अभिशापात्मक मंत्रों को[1]।

वैदिक 'अग्नि' तथा ईरानी 'आतर' में कई समानताएँ हैं। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर अग्नि को 'द्यौः का पुत्र' कहा गया है। उदा०

अग्निरमृतो अभवद्वयोभिः यदेनं द्यौर्जनयत् सुरेताः। (१०।४५।८)
दिवः शिशुं सहसः सूनुमग्निं यज्ञस्य केतुमरुषं यजध्यै। (६।४९।२)

ठीक इसी प्रकार अवेस्ता में आतर को कई स्थानों पर 'अहुरमज़्दा का शिशु' कहा गया है (यश्त १६।४७, फरगार्द ३।१५, ५।१०, १५।२६ इत्यादि)। यदि ऋग्वेद में अग्नि कहीं कहीं द्यौः अथवा इन्द्र का शस्त्र अथवा परिघ है तो आतर को भी अहुरमज़्दा के मुख्य शस्त्र के रूप में चित्रित किया गया है जिससे वह दैत्यों का विनाश करता है। अग्नि की ये दोनों ही विशेषताएँ

१. विन्टरनित्स : **हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर**, प्रथम भाग, अथर्ववेद का विवरण।

अत्यन्त स्वाभाविक हैं क्योंकि आकाश में मेघ घर्षण से जायमान एवं पृथ्वी पर पतित अग्नि को आकाश से उत्पन्न भी कल्पित किया जा सकता है एवं उससे प्रक्षिप्त भी[1]।

वैदिक **आहवनीय, दाक्षिणात्य** एवं **गार्हपत्य** नामक तीन अग्नियों के समान पारसी-धर्म में भी तीन प्रकार की **अग्नियां पाई जाती हैं (यस्न ६२।५)**। ग्रिसवोल्ड तथा श्पीगल के अनुसार ये क्रमशः गृह, ग्राम तथा समुदाय-विशेष से संबन्धित हैं। अवेस्ता में कई स्थानों पर (उदा० २।१२) **आतर** की इन 'सम्पूर्ण अग्नियों' के साथ स्तुति की गई है। इस भाव की तुलना में ऋग्वेद की निम्न ऋचा ली जा सकती है जिसमें **अग्नि** से सभी अग्नियों के साथ यज्ञ एवं स्तुति धारण करने की प्रार्थना की गई है—

विश्वेभिरग्ने अग्निभिः इमं यज्ञमिदं वचः ।
चनो धाः सहसो यहो ॥ ऋ० वे० १।२६।१० ।

जिस प्रकार वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर अग्नि को गृहपति—घर अथवा परिवार का स्वामी—कहा गया है (**कविर्गृहपतिर्युवा,** ७।१४।२). उसी प्रकार यस्न १७।११ में भी आतर को 'प्रत्येक घर का स्वामी' कहा गया है। ऋग्वेद में अग्नि का प्रायः **दमूनाः** विशेषण भी मिलता है। जिसका अर्थ होता है 'गृह से संबन्धित'। 'अहुरमज़्दा के पुत्र' आतर से यश, धन, धान्य ज्ञान, ओज, शक्ति एवं पुत्र-पौत्रादि देने की प्रार्थना की गई है। ठीक इसी प्रकार की प्रार्थनाएँ ऋग्वेद में अग्नि से अनेक स्थानों पर की गई हैं। उदा० ऋ० वे० १।५९।३ में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य में समस्त रश्मियाँ केन्द्रित हैं उसी प्रकार अग्नि में सभी प्रकार के ऐश्वर्य स्थित हैं—

आ सूर्ये न रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरे आ वसूनि ।

इसी प्रकार ऋ० ३।१।१९ में अग्नि से धन, विजय, यश आदि की प्रार्थना की गई है—

अस्मे रयिं बहुलं संतरुत्रं सुवाचं भागं यशसं कृधी नः ॥

ऋ० वे० के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त में ही अग्नि का यह उदार स्वरूप स्पष्ट है जहाँ उससे धन एवं वीरता की याचना प्राप्त होती है और उससे पिता के समान कल्याणकारी होने की प्रार्थना की गई है—

---

१. डार्म्स्टीटरः **जे० अ०, भाग ४, भूमिका पृ० ६२।**

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे। यशसं वीरवत्तमम्। १।१।३
स नः पितेव सूनवे अग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥ १।१।९।

अवेस्ता में आतर को कुछ स्थानों पर (उदा० यस्न १७।१-११) **यज़त** कहा गया है तथा कुछ अन्य स्थानों पर उसकी अमेश-स्पेन्ताओं में भी गणना की गई है (यस्न १।२)। जिस प्रकार **'थ्रित'** या **'थ्राएतोन'** यज़त के (जो तृतीय अथवा आकाशीय अग्नि-तडित्-का ही देवीकरण है) **'अझि दहाक'** से हुए युद्ध को अवेस्ता में प्रायः उल्लिखित किया गया है उसी प्रकार कुछ स्थानों पर अहुरमज़्दा के पुत्र आतर का भी **अझि** (वे० अहि-वृत्र) से संग्राम एवं अन्त में अझि की पराजय वर्णित है। यद्यपि ऋग्वेद में भी इन्द्र का विशेष आयुध **वज्र** और कुछ नहीं केवल अन्तरिक्ष की अग्नि या तडित् मात्र है किन्तु अवेस्ता में इन्द्र के लोप के कारण अझि अथवा वृत्र के वध का कार्य उसके उपकरणों को करना पड़ा है। १९वीं यश्त के ४७ से ५१ तक के ५ पदों में आतर के अझि से युद्ध का जो काव्यात्मक विवरण दिया हुआ है वह संक्षेप में इस प्रकार है : "......अहुरमज्दा का पुत्र **आतर** तब इस विचार से आगे बढ़ा कि तेज (**ख्वरेनान्ह** या **ह्वरेनो**) को मैं पकड़ लूँ किन्तु उसके पीछे से तीन सिर और छः आँखों वाला **अझि** चिल्लाया—रुको, यदि तुम **ह्वरेनो** को ग्रहण करते हो तो मैं तुम्हारा अस्तित्व ही मिटा दूँगा जिससे तुम **अश** के प्राणियों की रक्षा करने के लिए अहुरमज़्दा कीं सृष्टि में नहीं रह जाओगे। आतर डर कर पीछे हट गया तब अझि आगे बढ़ा। अब आतर ने उसे चेतावनी दी कि यदि वह आगे बढ़ा तो उसे जलाकर भस्म कर देगा। अझि कुछ डर कर पीछे हटा। इसी बीच ख्वरेनान्ह या ह्वरेनो **वउरुकष** के समुद्र में पहुँच गया जहाँ **अपां नपात्** ने उसे ग्रहण कर लिया"।

इन समानताओं के होते हुए भी वैदिक अग्नि तथा पारसी आतर की धारणाओं में पर्याप्त भेद भी है। वैदिक साहित्य में अग्नि का देवीकरण पूर्ण है किन्तु अवेस्ता के आतर का मानवीकरण अथवा देवीकरण अधूरा ही है। डार्म्स्टीटर का तो यहाँ तक मत है कि अवेस्ता में आतर की धारणा पूर्णतः तात्त्विक है उसमें कोई भी मानवीय तत्त्व नहीं[1]। आतर अहुरमज़्दा का अंश है। ज़रथुस्त्र का जन्म उसी में हुआ था। अहुर, आतर तथा वोहुमनः ज़रथुस्त्र की रक्षा करते हैं। आतर संपूर्ण मनुष्यों एवं पशुओं में परिव्याप्त है। जब अहुर

---

१. जे० अ० (से० बु० ई० भाग ४) पृ० ७६।

ने आतर का निर्माण किया था तो उसमें केवल प्रकाश एवं तेज मात्र था; **अंग्रामइन्यु** ने उसके साथ धुएँ एवं कालिख का सयोग कर किया। ये सभी उसे अग्नि का सूक्ष्म तात्त्विक रूप सूचित करते हैं।

वैदिक साहित्य में अग्नि को प्राय: **'अतिथि'** कहा गया है। वह देवता है किन्तु मानवों के कल्याण के लिये उसने मर्त्यों के बीच में अपना निवास बना रखा है (ऋ० वे० ८।६०।१)। मनुष्य देवताओं को जो कुछ प्रदान करना चाहते हैं, अग्नि उसको अभीष्ट देवता के पास पहुँचा देता है। इसीलिये वह **'हव्यवाहन'** है। किन्तु पारसी धर्म में अग्नि का यह देवत्वमय रूप नहीं है। अग्नि एक देवता के रूप में नहीं अपितु एक तत्त्व के रूप में पूजनीय है। स्वत: अग्नि की ही उपासना होती है। प्राचीन ईरान में प्रत्येक धार्मिक घर में इसकी स्थिति रहती थी। अग्नि की विशेष पूजा उन मन्दिरों में होती थी जिन्हें **आयदना** कहते थे। छोटे मन्दिरों को **आदरान** कहा जाता था। बड़े मन्दिरों में एक ऊँची वैदिका पर **'बहराम' आतर** स्थापित रहती थी। चन्दन की छ: पवित्र समिधाओं तथा सुगन्धित द्रव्यों से इसे जीवित रखा जाता था। इसको बुझ जाने देने के अपराध का दण्ड मृत्यु था। **बहराम** नामक आतर को सोलह प्रकार की विभिन्न पवित्र अग्नियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न किया जाता था और इस निर्माण कार्य में पूरा एक वर्ष लगता था। इसे सम्पूर्ण अग्नियों की आत्मा समझा जाता था; अत: इसकी पूजा का तात्पर्य था सम्पूर्ण अग्नियों की और तद्द्वारा अहुरमज्दा की उपासना करना[१]।

ईरान में प्राप्त कुछ अग्नि मन्दिरों के खंडहरों तथा पार्थिया के राजाओं की मुद्राओं पर अंकित आकारों से प्रतीत होता है कि ऐसे मन्दिर प्राय: १५ फीट ऊँचे होते थे। मन्दिर की बनावट गोल होती थी और उसमें आठों दिशाओं की ओर आठ द्वार होते थे। इनमें ऊपर एक गुम्बद हुआ करता था। एक दिन में पाँच बार **'मोबद'** अथवा अग्निपूजक मन्दिर में प्रवेश करता था। नासिका को वह एक विशेष प्रकार के कपड़े (**पैतिदान**) से आवृत रखता था जिससे

---

१. डार्म्स्टीटर: **जे०** अ०, प्रथम भाग, पृ० ५६ तथा आगे। अबुल फजल ने 'आइन-इ-अकबरी में लिखा है कि अग्नि पूजा प्रसिद्ध मुगल सम्राट् अकबर ने भी पारसियों से सीख ली थी। एक बार जब अग्नि बुझ गई तो अकबर ने क्रुद्ध होकर उसके पूजक को अपने किले के ऊपर से गिरवाकर मरवा दिया।

अग्नि उसके नि:श्वास से दूषित न हो सके और हाथों में हस्तावाप पहने रहता था। एक एक समिधा को अग्नि पर रखते हुए वह दुर्विचार, दु:शब्द तथा दुष्कर्मों को हटाने के लिए तीन बार **दुश्मन:, दुजूक्त, दुज्वर्श्त**, इन शब्दों का पाठ करता था[1]।

ईरान में अग्नि के ये पूजक संभवत: **मागियों** के वर्ग में से थे। यातविक कृत्यों से पूर्ण उनके प्राचीन धर्म में संभवत: दैत्यों एवं प्रेतादिकों के अपसारक के रूप में अग्नि का एक विशेष स्थान था और जब जरथुस्त्र ने अपने नवीन धर्म में अग्न्युपासना की स्वीकृति दी तो अग्नि पुरोहितों के रूप में उनके प्रतिष्ठित होने में देर नहीं लगी। प्राचीन अग्न्युपासना के साथ यातविक कृत्यों का जो संबन्ध था वह **अथर्वन्** या **अथ्रवन्** शब्द से व्यक्त ही है[2]।

ईरान के विषय में लिखने वाले प्राचीनतम ग्रीक ऐतिहासिक हेरोदोतस ने पारसियों के यज्ञ-विधान के विषय में लिखा है कि 'वे लोग यज्ञ के लिये न किसी अग्नि वेदी का निर्माण करते हैं और न अग्नि में हव्य आदि ही प्रदान करते है। जब वे देवताओं के लिये पशुओं का बलिदान करते हैं तो उसके मांस को कुशा (?) के कोमल आसन पर रख देते हैं और देवताओं का उसी स्थान पर आवाहन करते हैं'[3] स्त्रेबो कथन है कि 'वे उपास्य अग्नि पर बिना छाल वाली सूखी लकड़ियाँ रखते हैं; नीचे से पंखा झलकर उसे प्रदीप्त करते हैं और ऊपर से घी डालते जाते हैं। वे अग्नि को मुख से फूँकते नही और जो कोई अग्नि को फूँकता है अथवा उस पर कोई शव अथवा गोबर (कंडे) रखता है उसे मृत्यु के घाट उतार देते हैं'[4]।

अग्नि के विषय में इन दोनों ग्रीक ऐतिहासिकों का विवरण अक्षरश: ठीक है। उपास्य अग्नि को मुख की वायु से दूषित करना अथवा उस पर गोबर या शव जैसी (अंग्रामइन्यु से संबन्धित) अपवित्र वस्तु रखना अक्षम्य अपराध था। यही कारण था कि भारतीयों की भाँति पारसियों में शवों को जलाने की प्रथा प्रचलित नहीं हुई। जल को भी अत्यन्त पवित्र मानने के कारण शवों को नदी में भी नहीं फेंका जा सकता था। अत: शव को खुले स्थान

---

१. कारनाय, **ईरानियन माइथॉलजी**, पृ० २८४-८५।
२. तु० की०—माउल्टन, **अ० ज़ो०**, पृ० २००।
३. हेरोदोतस् १।१३२, देखिये : **अ० ज़ो०**, पृ० ३९४।
४. स्त्रेबो: १५।१४, देखिये—**अ० ज़ो०** पृ० ४०८।

में मांसाशी पक्षियों द्वारा भक्षण के लिये छोड़ देना ही सर्वाधिक उपयुक्त मार्ग था। यदि अग्नि के आस-पास कोई श्वान या मनुष्य मर जाता था तो शिशिर ऋतु में ९ दिन के लिए और ग्रीष्म ऋतु में एक मास के लिये अग्नि उस स्थान से हटा दी जाती थी जिससे पवित्र अग्नि पर द्रुज् (मृत्यु) का प्रभाव न हो[1]।

ईरान में यद्यपि देवताओं के लिए अग्नि में हवन करने की प्रथा नहीं थी किन्तु देवताओं को यजमान के पास तक बुलाने में अग्नि को सक्षम समझा जाता था और इसलिये देवताओं को बलि प्रदान करते समय पवित्र अग्नि की ओर देखकर प्रार्थना की जाती थी। बिना अग्नि की ओर देखे हुए दी गई बलि देवताओं को ग्राह्य नहीं समझी जाती थीं।

(५) यिम (वै० यम)

वैदिक देवताओं में **'यम'** ही एक ऐसा देवता है जिसका अवेस्ता में अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है। परवर्ती काल में **फ़िरदौसी** के **शाहनामे** में यम के व्यक्तित्व का और भी अधिक विकास हुआ है। यहाँ उसे एक शक्तिशाली एवं योग्य राजा के रूप में चित्रित किया गया है और उससे सम्बन्धित अनेक छोटी-बड़ी देव-कथाओं की सृष्टि हुई है।

यम का ईरानी प्रतिरूप **'यिम'** है। प्रायः इसके साथ **'रूशएत'** (तेजस्वी) विशेषण जुड़ा हुआ मिलता है। **'यिम-रूशएत'** का ही परवर्ती फारसी (शाहनामा) में जाकर **'जमशेद'** बन गया है।

जिस प्रकार ऋग्वेद में **यम** को **विवस्वान् (सूर्य)** का **पुत्र बताया गया** है उसी प्रकार अवेस्ता में भी उसे **'वीवङ्ह्वन्त'** का रूपवान् पुत्र वर्णित किया गया है (वेन्दिदाद २।६)। वीवङ्ह्वन्त ने अहुर को **हओम** की आहुतियों से प्रसन्न करके उसे प्राप्त किया था। अंग्रामइन्यु के आक्रमण और जरथुस्त्र के धार्मिक संशोधन के बीच का समय पारसी परम्परा के अनुसार एक-एक सहस्र वर्षों के तीन कालों में विभाजित किया गया है। इनमें से प्रथम एक सहस्र वर्षों तक पृथ्वी पर **यिम** ने राज्य किया। "उसके राज्य में सभी व्यक्ति ऐश्वर्य से पूर्ण थे, कोई भी मनुष्य अथवा पशु मरता नहीं था। जल कभी सूखता नहीं

---

१. ए० रि० ई०, भाग ६, पृ० ३०; ए० ई० क्राउले **'फायर, फायर-गॉड्स'**।

था। वनस्पतियाँ सदा हरी रहती थी। उस समय न शीत था न ग्रीष्म, न जरा थी न मृत्यु, न शत्रु थे न राक्षस" (यस्न ९।४-५)।

तीन-तीन सौ वर्षों के पश्चात् तीन बार **यिम** के राज्य में पशुओं एवं मनुष्यों की संख्या अप्रत्याशित रूप से बढ़ गई। तब तीनों बार अहुरमज़्दा की आज्ञा से यिम ने पृथ्वी को और अधिक विस्तीर्ण एवं पृथुल किया और ९०० वर्षों के उपरान्त पृथ्वी अपने मूल रूप से द्विगुणित हो गई (वेन्दिदाद (२।९-११)।

तभी अहुरमज़्दा ने यज़तों की एक सभा में यिम को बुलाकर आदेश दिया कि कुछ समय पश्चात् भयंकर प्रलय के द्वारा सभी प्राणी नष्ट हो जायेंगे अतः तुम एक **'वर'** (बाड़ा, चारों ओर से घिरा हुआ रहने का खुला स्थान) का निर्माण करो जिसमें सभी प्राणियों एवं वनस्पतियों के एक-एक सर्वोत्तम युग्म तथा बीज लेकर प्रविष्ट हो जाओ। यिम ने एक सुन्दर 'वर' का निर्माण किया। अहुर ने उसमें एक विशेष प्रकार के प्रकाश का प्रबन्ध किया। इस प्रकार वह 'वर' स्वतः प्रकाशित रहने लगा। उस स्थान पर रहने वाले व्यक्ति केवल वर्ष में एक बार ही सूर्य, चन्द्रमा एवं तारों के उदय अस्त को देख पाते थे। अतः वे एक वर्ष को एक दिन समझते थे (वेन्दिदाद २।४० तथा यश्त १९।२८)। उस 'वर' में शीत और ग्रीष्म का प्रकोप नहीं था अतः प्राणियों के युग्म उसमें आनन्द से रहते थे। पारसी परम्परा के अनुसार प्रलयकाल के पश्चात् यिम का वह 'वर' खुलेगा और प्राणियों के युग्मों से पुनः प्राणियों की तथा वानस्पतिक बीजों से उद्भिज्ज जगत की सृष्टि होगी।

पृथ्वी से यिम के राज्य के अन्त होने के विषय में भी अवेस्ता एक विशेष घटना का उल्लेख करता है। कुछ समय के पश्चात् यिम के हृदय में अहंकार का अंकुर उत्पन्न हुआ। उसने सोचा कि यह पृथ्वी मेरी ही है। मैंने ही अपनी इच्छानुसार इसमें विस्तार किया है। मैंने ही प्राणियों को रोग, जरा एवं मृत्यु से मुक्त किया है। मेरे समान अभी तक न तो राजा हुआ और न होगा। ऐसा सोचकर वह ईश्वर (अहुर) को जानते हुए भी उससे विमुख रहने लगा। उसका मन असत्य एवं अधर्म पर अवलंबित रहने लगा (यश्त १९।३३)। परिणामतः उसका **'तेज'** (ख्वरेनान्ह या ह्वरेनो) एक पक्षी के रूप में उससे निकल गया। निस्तेजस्क हो जाने पर वह प्रभावहीन हो गया और उसके शत्रु **'अभि़ दहाक'** दैत्य ने उसे अपदस्थ करके उसके राज्य पर अधिकार जमा लिया। यिम भाग कर छिप गया। बहुत वर्षों पश्चात् एक बार वह सुदूर पूर्व

में प्रकट हुआ। जैसे ही अझि दहाक को उसका पता चला उसने ककच से उसके खण्ड-खण्ड करवा डाले (यश्त ५।२९-३४, यश्त १९।३४ तथा ४६)।

यिम की इस कथा के लगभग सभी तत्त्व वेदों में वर्णित **यम** के स्वरूप के विकसित रूप मात्र हैं[1]। कई स्थलों पर स्पष्ट रूप से उसे विवस्वान् का पुत्र अथवा **वैवस्वत** कहा गया है (ऋ० वे० १०।१४।५ तथा **'विवस्वन्तं हुवे यः पिता ते'**)। जिस प्रकार अवेस्ता में यिम को एक ऐसे स्थान का स्वामी कहा गया है जहाँ न शीत है न ऊष्मा, न रोग हैं न मृत्यु और जिसे सूर्य, चन्द्र और तारे प्रकाशित नहीं करते; उसी प्रकार ऋग्वेद में भी उसे पितरों के ऐसे लोक का स्वामी कहा गया है जहाँ आनन्द का अखण्ड साम्राज्य है। यह लोक आकाश के तीसरे एवं उच्चतम भाग में है जहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँचती (ऋ० वे० ९।११३।८, **यत्र राजा वैववस्तो यत्रावरोधनं दिवः**) शुक्ल यजुर्वेद १२।६३ में भी **यम** एवं **यमी** को आकाश के सर्वोच्च भाग में निवास करने वाला कहा गया है। इस स्थान पर संगीत एवं वीणा की मधुर ध्वनि व्याप्त रहती है (१०।१३५।७ **इमं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते। इयमस्य धम्यते नालीरयं गीर्भिः परिष्कृतः**)। वहाँ यम एक सघन वृक्ष के नीचे बैठा रहता है (**यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः**)। अवेस्ता के वर की भाँति उसका कार्य मृत व्यक्तियों को अपने लोक में एकत्र करना है (**संगमनं जनानां**), जहाँ वे सुख एवं शान्ति से रहते हैं।

ऋग्वेद में यम को **विश्पति** (ग्राम अथवा नगर-निवासियों का स्वामी तथा पिता) कहा गया है (१०।१३५।१ **अत्रानो विश्पतिः पिता पुराणां अनु वेनति**) सृष्टि में मरने वाला वह पहला व्यक्ति था (**यो ममार प्रथमो मर्त्यानां**, अ० वे० १८।३।१३)। मरकर सर्व प्रथम ऊँचे-नीचे तथा टेढ़े-मेढ़े मार्गों से (**प्रवतो महीः**) से होता हुआ वह सीधे सूर्य की ओर गया और उससे भी ऊपर जाकर उसने अपना लोक स्थापित किया। यम के द्वारा दिखलाये मार्ग से ही उस लोक में उसके पश्चात् सभी मर्त्य (मनुष्य) गये और यम उनका राजा बना रहा (ऋ० वे० १०।१४।१, **परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्**)। अवेस्ता में यिम के द्वारा पृथ्वी को चौड़ी करने तथा प्राणियों के युग्मों को एक 'वर' में सुरक्षित कर देने की धारणा का मूल यही है। अवेस्ता में एक स्थान पर (वेन्दिदाद २।१०) कहा गया है कि [पृथ्वी पर

---

१. डार्मस्टीटर : **जे० अ०**, भाग १, भूमिका खण्ड ३८, पृ० ७५।

प्राणियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाने पर] "यिम सूर्य के मार्ग की दिशा में प्रकाश की ओर बढ़ चला और वहाँ से एक वज्र के प्रहार से पृथ्वी को विस्तृत किया।" ऋग्वेद के उपर्युक्त उल्लेखों से तुलना के बिना इस वाक्य का वास्तविक तात्पर्य जानना कठिन है।

ऋग्वेद में कपोत अथवा उलूक को यम का दूत कहा गया है। ऋग्वेद का पूरा एक (१०।१६५) सूक्त कपोत के घर में प्रवेश करने से उत्पन्न अनिष्ट को दूर करने के लिये है। ठीक इसी प्रकार अवेस्ता में भी राजा यिम का दूत एक पक्षी है जो बाहर से यिम के 'वर' का समाचार लाता है।

अवेस्ता एवं ऋग्वेद के यम में एक अन्तर अवश्य है; ऋग्वेद में यम को मरने वाला प्रथम व्यक्ति बताया गया है और वह वरुण के समान स्वर्ग का राजा है—जहाँ मृत आत्माएँ वास करती हैं। इसके विपरीत अवेस्ता में यिम को प्राचीन काल का सर्व प्रसिद्ध राजा माना गया है जिसका राज्य ईरान का स्वर्णयुग था। उसका मृत्यु एवं मृत व्यक्तियों से कोई संबन्ध नहीं।

इस अन्तर के कारण पर डार्म्स्टीटर एवं कारनाय का अभिमत यह है कि ईरानी देवकथाओं में सृष्टि के प्रथम पुरुष और प्रथम स्त्री के लिये **गय-मरेतन** (**गयोमर्त**) तथा **माश्या** और **माश्योई** की पृथक् एवं पूर्ण कथाएँ थीं,[1] अतः यिम की कथा का विकास इस रूप में न हो सका। कथा में थोड़ा सा परिवर्तन हो गया किन्तु फिर भी यिम प्राचीन काल का प्रथम यज्ञ-कर्ता तथा प्रथम राजा बना रहा[2]।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का दशम सूक्त यम के विषय में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यम की यमला बहन **यमी** मनुष्य जाति की वृद्धि के लिए अपने भाई से विवाह का प्रस्ताव रखती है—

यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने योनौ सह शेय्याय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा॥

किन्तु यम भाई एवं बहन के पारस्परिक संबन्ध को अनुचित, अनैतिक एवं

---

१. इन कथाओं के विस्तृत वर्णन के लिये कारनाय की **ईरानियन माइथॉलजी** अध्याय ३, पृ० २६४-३०० देखिये।

२. कारनाय—**वही**, पृ० ३१३ तथा **जे० अ०**, भूमिका, पृ० ७५।

देवताओं एवं ऋषियों को अमान्य बतलाता हुआ उसे प्रत्यादिष्ट करता है और उससे कहता है कि वह किसी अन्य से यह प्रस्ताव रखे—

न वा उ ते तन्वा तन्वं संपपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् ।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्टि एतत् ।।

ऋग्वेद का यह सूक्त यहाँ समाप्त हो जाता है आगे का विवरण भारतीय साहित्य में कहीं नहीं मिलता। परवर्ती पौराणिक साहित्य में यम की बहन का नाम यमुना है और दोनों का संबन्ध भाई एवं बहन के संबन्ध का उज्ज्वलतम निदर्शन हैं[1]। यद्यपि मूल अवेस्ता में भी इस कथा का कोई उल्लेख नहीं है किन्तु अवेस्ता की पहलवी टीकाओं में यिम एवं यिमक (वै० यमी) के संबन्ध का स्पष्ट उल्लेख है और इसे अत्यन्त पवित्र एवं प्रशंसनीय संबन्ध माना गया है। यहाँ पर मागियों का प्रभाव स्पष्ट है। पहले कहा जा चुका है कि मागियों में निकट संबन्धियों से विवाह करने की सामान्य प्रथा थी। उसको प्रमाणिक सिद्ध करने के लिये उन्होंने प्राचीन धार्मिक लोक-विश्वास का सहारा लिया और उसमें अपेक्षित परिवर्तन किया[2]। बून्दाहिश २३।१ में कहा गया है कि तेजभ्रष्ट हो जाने के पश्चात् यम की बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई। उसने एक राक्षसी से विवाह कर लिया एवं अपनी पत्नी **यिमक** को एक दैत्य को दे दिया। परिणामस्वरूप दैत्यों एवं पूँछवाले बन्दरों जैसे निम्न कोटि के कुरूप प्राणियों की उत्पत्ति हुई।

यिम के 'वर' के संबन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य ध्यान देने योग्य है। ऋग्वेद में यम के इस प्रकार के वर का कोई उल्लेख नहीं है। यम के वर की यह कथा एक प्राचीन प्रलय-कथा से सम्बन्धित है जो थोड़े बहुत परिवर्तित रूप में

---

१. ऋग्वेद के इस गूढ़ सूक्त के मूल उद्देश्य और रहस्य की सन्तोषजनक व्याख्या के लिये प्रो० उलरिष् श्नाइडर का **इंडो-ईरानियन जर्नल** (हॉग, हॉलैण्ड), अप्रैल १९६७ में प्रकाशित लेख **"ऋग्वेद १०-१०"** द्रष्टव्य है।

२. माउल्टन के **अ० जो०** (पृ० २०५ पाद टिप्पणी) में उल्लिखित डॉ० फेसर्टेली के मत के अनुसार ऋग्वेद का यह परवर्ती सूक्त किसी प्रतिवेशी जाति में प्रचलित विवाह सम्बन्ध के ऊपर एक प्रकार का व्यंग्य है [क्योंकि यम-यमी का सम्बन्ध कहीं भी वर्णित नहीं है] और बहुत संभावना है कि यह जाति मागी ही हो।

प्रायः सभी प्राचीन साहित्यों में पाई जाती है। प्राचीन लोक-विश्वास के अनुसार सुदूर प्रागैतिहासिक काल में एक बार संसार में भयंकर बाढ़ आई थी और उसके पश्चात् हिमपात हुआ था। अधिकांश असहाय जनता इसमें नष्ट हो गई। जो थोड़े से लोग बच सके उन्हीं से सृष्टि का पुनः प्रारंभ हुआ।

भारत में यह कथा प्राचीन राजर्षि मनु से सम्बन्धित है। ऋग्वेद में **मनु** को मनुष्य जाति का सर्व प्रथम पूर्वज बताया गया है जो कल्प के आदि में उत्पन्न हुए थे। 'मनुज' 'मानव' एवं 'मनुष्य' संज्ञाएँ भी इसी शब्द से निकली हैं और ऋग्वेद में प्रायः प्रयुक्त हुई हैं। ऋग्वेद अथवा अन्य कहीं भी **यम** को मनुष्य जाति का पूर्वज नहीं कहा गया। वह केवल प्रथम मरणशील व्यक्ति था। सबसे पहले मरने के कारण वह पितृलोक का राजा हो गया[1]। यम-यमी संवाद में आगे **'अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व'** तथा **'अन्येन मदाहनो याहि तूर्णम्'** से स्पष्ट है कि यम के समय में अन्य कई मनुष्यों अस्तित्व था।

यम की भाँति **मनु** भी **विवस्वान्** का ही पुत्र है। उसकी मां का नाम **सवर्णा** है। वैदिक तथा परवर्ती लौकिक साहित्य में उसे **वैवस्वत** कहा गया है। श० ब्रा० की एक प्रसिद्ध प्रलय-कथा के अनुसार जब समुद्र ने बढ़कर पृथ्वी को जलाप्लावित कर दिया तो एक विचित्र दैवी शक्ति सम्पन्न, शृंगयुक्त मत्स्य के आदेश से **मनु** सम्पूर्ण औषधियों के बीज लेकर सप्तर्षियों के साथ एक नौका पर चढ़ गये। उस नौका को वह मत्स्य खींचता हुआ हिमालय पर्वत की एक उच्च अधित्यका में रख आया। जल के हटने के पश्चात् मनु नीचे उतरे। उन्होंने **यज्ञ** किया जिससे **इला** नामक कन्या की उत्पत्ति हुई और उससे मानव सृष्टि आगे बढ़ी[2]।

इस कथा के मूल-तत्त्व वे ही हैं जो यम के 'वर' के प्रसंग में अवेस्ता में वर्णित हैं। प्रलयकाल की आसन्नता से सशंक होकर प्राणियों एवं औषधियों के कुछ बीज एक स्थान पर सुरक्षित कर देना और प्रलय काल के पश्चात् उन्हीं से पुनः सृष्टि की उत्पत्ति दोनों कथाओं का मूल आधार है। यिम एवं मनु

---

१. तु० की०—**वैदिक माइथॉलजी** : पृ० १३६। यही कारण है कि **श० ब्रा०** १३।४।३।३ में मनु-वैवस्वत को मनुष्यों का तथा यम-वैवस्वत को पितरों का राजा कहा गया है।

२. इस कथा का विशेष विवरण **विष्णु** के सम्बन्ध में (अ० ५) देखिये।

दोनों विवस्वान् (वीवङ्ह्वन्त) के पुत्र हैं। ईरान की देवकथाओं में मनु का उल्लेख ही नहीं है। अतः स्वभावतः यह कथा यिम के साथ जोड़ दी गई।

(६) वीवङ्हृन्त (वै० विवस्वान्)

वैदिक **विवस्वान्** शब्द 'वस्' (चमकना) धातु से बना है और यह शब्द किसी न किसी रूप में सम्भवतः सूर्य अथवा प्रकाश से ही सम्बन्धित है किन्तु अवेस्ता में **वीवङ्हृन्त**' शब्द के इस तात्पर्य का कोई संकेत नहीं है। यहाँ वीवङ्ह्वन्त प्राचीनकाल का एक प्रसिद्ध यज्ञकर्ता बताया गया है जिसने यज्ञ में सर्वप्रथम **हओम** (सोमरस) की आहुति दी। फलस्वरूप उसे **यिम** नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। सर्वप्रथम **सोमयज्ञ** करने की विशेषता के अतिरिक्त वीवङ्ह्वन्त के व्यक्तित्व के विषय में अवेस्ता में कुछ नहीं मिलता।

विवस्वान् के मूल रूप के विषय में ऋग्वेद में भी निश्चित संकेत नहीं मिलते। कोई भी स्वतन्त्र सूक्त विवस्वान् की स्तुति में नहीं कहा गया। ऋग्वेद में प्राप्य प्रकीर्ण उल्लेखों में उसे यज्ञ से विशेष रूप से सम्बन्धित बताया गया है। इन्द्र, अश्विनौ, अग्नि, मातरिश्वन् तथा सोम के साथ भी उसका उल्लेख है। नवम मण्डल में वह सोम के साथ विशेष रूप से सम्बन्धित है। विवस्वान् के बालखिल्य सूक्त (४।१) में इन्द्र को विवस्वान् तथा त्रित के साथ **सोम-पान** करते हुए वर्णित किया गया है। विवस्वान् के **आदेश को पाकर** उषाकाल को सुशोभित करती हुई सोम की धाराएँ बहती हैं—

अपानासो विवस्वतो जनन्त उषसो भगम्, सूरा अण्वं वितन्वते।

ऋ० वे० ९।१०।५

सोम विवस्वान् के साथ रहता है (ऋ० वे० ९।२६।४) और आपस् रूपी सात बहनें उसे विवस्वान् के पथ पर अग्रसर करती हैं (ऋ० ९।६६।८)। [चलनी के द्वारा] परिष्कृत सोम को विवस्वान् की पुत्रियाँ (? धियः-हाथ की उंगलियाँ) एक पात्र से दूसरे पात्र में उँड़ेलती हैं[1]।

---

१. यह अर्थ उपर्युक्त दोनों ऋचाओं में विवस्वान् शब्द को व्यक्तिवाचक संज्ञा मानते हुए पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार किया गया है। प्रथम ऋचा में प्रयुक्त विवस्वान् शब्द सायण के अनुसार इन्द्र का वाची है (**विवस्वतः इन्द्रस्य**) और द्वितीय में यजमान का (**विवस्वतः परिचरणवतो यजमानस्य, धियः कर्मसाधनभूता अंगुल्यः, हरितवर्णं**

अधक्षप्ता परिष्कृतो वाजां अभि प्रगाहते ।
दीम् विवस्वतो धियो हरिं हिन्वन्ति यातये । ऋ० वे० ९।१४।५

अवेस्ता और ऋग्वेद में विवस्वान् के सोम से इस प्रकार के सम्बन्ध को देखते हुए और उसके मूल रूप की अस्पष्टता पर विचार करते हुए ओल्डेनबर्ग ने यह निष्कर्ष निकाला है कि विवस्वान् मूलतः प्रकृति के किसी भी तत्त्व से सम्बन्धित नहीं था। प्राचीन लोक विश्वास के अनुसार वह केवल सोम-याग करने वाला मनुष्य जाति का सर्वप्रथम पूर्वज था जिसे बाद में देवतामण्डल में स्थान मिल गया[१]। माउल्टन के अनुसार प्राचीन फारसी में 'वीवङ्ह्वन्त' का अर्थ 'दूर (तक) प्रकाशित होने वाला' है। अतः यह शब्द प्राचीन काल में (सूर्य के प्रकाश से) दैदीप्यमान आकाश का ही धार्मिक नाम था[२]। अश्विन्, अग्नि तथा सोम से उसके सम्बन्ध तथा यज्ञ में उसके स्थान को देखते हुए मैक्डानल तथा रोठ आदि विद्वानों का मत है कि वह उदीयमान रक्ताभ सूर्य को सूचित करता है[3]।

(७) ऐर्यमन् (अर्यमन्)

अर्यमा मूलतः सूर्य से सम्बन्धित देवता है। इसीलिये संभवतः यह वेद में वरुण और मित्र से घनिष्ठतया सम्बन्धित है। लौकिक साहित्य तक में कभी-कभी सूर्य के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है[४]। अवेस्ता में **ऐर्यमा** के इस रूप का कोई संकेत नहीं। मित्र देवता की भाँति यह शब्द भी संभवतः सूर्य के सौहार्दपूर्ण और साहाय्ययुक्त रूप को द्योतित करता था। कुछ स्थानों पर (उदा० ऋ० ५।३।२) अर्यमा शब्द केवल मित्र को ही सूचित करता है किसी देवता को नहीं ('**त्वम् अर्यमा भवसि यत्कनीनां**, हे अग्ने, त्वं कन्यानाम् अर्यमा-मित्रम् भवसि)। **अर्यम्य** शब्द का अर्थ भी मित्र से संबन्धित या मित्रता-

---

सोमं पात्राण्यभिगमनाय प्रेरयन्ति)। यहाँ सायण ने अवश्य किसी प्राचीन परम्परा का अवलम्बन किया होगा किन्तु विवस्वान् शब्द को एतन्नामविशिष्ट देवता के अतिरिक्त अन्य अर्थ में लेने का कोई कारण नहीं दिखता।

१. ओल्डेनबर्ग : **डी रिलीगियोन डेस वेद** पृ० १२२।
२. माउल्टन, **अ० ज़ो०**, पृ० १४९।
३. मैक्डानल, **वै० मा०**, पृ० ४३।
४. **शिशुपाल वध** २।३९ (प्रोषितार्यमणं मेरोरन्धकारस्तटीमिव)।

पूर्ण है (ऋ० ५।८५।७ **अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा, सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा**)। माउल्टन का मत है कि गाथाओं में भी इस शब्द का अर्थ मित्र ही है[1]। ढाला एवं तारापुरवाला का भी यही विचार है कि अवेस्ता में अर्यमा शब्द अपने मूल अर्थ में सौहार्द को ही सूचित करता है[2]।

सूर्यासूक्त तथा गृह्य सूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि वैदिक काल में विवाहोत्सव के समय अर्यमा का भी आवाहन किया जाता था (ऋ० १०।८५।३६)। विवाह के अवसर पर ऐर्यमा की स्तुति का महत्त्वपूर्ण स्थान था। आजकल भी पारसी लोग विवाह के अवसर पर ऐर्यमा की स्तुति में निर्मित इस छोटे से सूक्त **ऐर्येमाइश्यो**' का गान अत्यावश्यक समझते हैं[3]।

आ अइर्यमा इश्यो रफद्राइ जन्तू,
नरअव्याश्चा नइरिव्यश्च जरथुस्त्राहे,
वङ्हउश् रफद्राइ मनङ्हो।

इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार होगी—

आ अर्यमा इष्यः रब्धुं गच्छतु (गन्तु)
नृभ्यश्च नारीभ्यश्च जरथुस्त्रस्य
वासो : रब्धुं मनसः ॥

यह छन्द वैदिक त्रिपाद गायत्री के बहुत अधिक समीप है और इसका भाव यह है कि 'अभीष्ट अर्यमा पुरुषों तथा स्त्रियों की प्रसन्नता के लिये यहाँ

---

१. माउल्टन : अ० जो० पृ० ११७।

२. ढाला : **जोरेस्ट्रियन थियोलोजी** पृ० ११९।

तारापुरवाला : **रि० ज०**, अध्याय १ पृ० १३।

'अर्यमा' तथा 'अरि' आदि शब्दों की बहुमान्य व्याख्या के लिये जर्मन प्रोफेसर पाउल थीमे की प्रसिद्ध पुस्तक **'डेर फ्रेम्डलिंग इम् ऋग्वेद'**, (ऋग्वेद में विदेशी या अपरिचित) लाइप्त्सिष् १९३८, द्रष्टव्य है। इस पुस्तक में प्रो० थीमे ने प्रतिपादिन किया है कि 'अरि' का मूल अर्थ विजातीय या अपरिचित है; जो जाति इन विदेशियों या विजातियों से अच्छा व्यवहार करती थी वह अपने को 'अर्य' कहती थी। 'अरियों' के प्रति किये जाने वाले सौजन्यपूर्ण व्यवहार एवं सौहार्द का ही संरक्षक देवता अर्यमा है।

३. तारापुरवाला : **रि० ज०**, अध्याय १।

पधारें। वे अपने आगमन से जरथुस्त्र को तुष्ट करें तथा वसु मनस् (श्रेष्ठ मन, एक अमेश स्पेन्ता) को प्रसन्नता प्रदान करें।

(८) अपाम्-नपत् (वै० अपां नपात्)

'अपां नपात्' का अर्थ है जल का पुत्र। अवेस्ता में **अपाम्-नपत्** को जल में निवास करने वाला देवता माना गया है। वह अनेक स्त्रियों से घिरा रहता है और शीघ्रगामी घोड़ों पर यात्रा करता है। एक स्थान पर कहा गया है कि जिस समय (देवताओं का) तेज (**ख्वरेनान्ह**, ह्वरेनो) **आतर** से निकलकर दैत्यों की ओर जा रहा था, वह **वउरुकष** समुद्र में गिर पड़ा। उस समय अपाम्-नपत् ने ही उसे बाहर निकाला[1]। पहले कहा जा चुका है (पृ० १११, ११५) कि आकाश ही वउरुकष समुद्र है। अतः यहाँ पर अपाम-नपत् का संबन्ध आकाश की अग्नि (तडित्) से प्रतीत होता है।

ऋग्वेद में वर्णित 'अपां नपात्' का स्वरूप उपर्युक्त विवरण से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। ऋ० वे० १।१८६।५ में उसे मन के समान वेग वाले घोड़ों पर चलने वाला कहा गया है (**येन नपातमपां मनोजुवो वृषणो यं वहन्ति**)। इस देवता का संबन्ध जल तथा अग्नि दोनों से ही समानरूप में प्रतीत होता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का ३०वां सूक्त **'आपस्'** की स्तुति में कहा गया है किन्तु इसकी तृतीय और चतुर्थ ऋचाओं में अपां-नपात् का वर्णन है[2]। सुन्दर आपस्-युवतियाँ उसके चारों ओर घूमती हैं। आपस् में ही उसका जन्म होता है और उनके भीतर से वह प्रकाशित होता है। विद्युत् से परिवेष्टित अपां-नपात् आपस् की गोद में बैठा रहता है और वे उसे लेकर चारों ओर घूमती हैं।

इसी प्रकार के वर्णन के आधार पर ओल्डेनबेर्ग का अनुमान है कि अपां-नपात् मुख्यतः जल से सम्बन्धित देवता है। किन्तु बाद में भ्रमवश उसका आकाशीय जल से उत्पन्न अग्नि (तडित्) से तादात्म्य कर दिया गया। इसकी पुष्टि में उसने दो प्रमाण दिये हैं : प्रथम तो अपां-नपात् की स्तुति में मिलने वाले एक मात्र सूक्त (ऋक्० २।३५) में उसका जलीय स्वरूप ही प्रधान है[3]; द्वितीयतः कर्मकाण्ड में भी इस देवता का सम्बन्ध मुख्यतः

---

१. तु० की०—हिलेब्राण्ड्ट: **वैदिशे मिथोलोगी** प्रथम भाग, पृ० ३७७।

२. **अपां नपातं हविषा यजध्वम्, अपां-नपात् मधुमतीरपो दाः।**

३. **डी रि० डेस् वेद**, पृ० ११९, तथा मैक्स्म्यूलर—**चिप्स फ्राम ए**

जल से ही है—उदा० जब ऋत्विक् यज्ञ के लिये जल लेने जाते है तो उसी की स्तुति करते हैं एवं उसे सर्पिस् की आहुति देते हैं। इसी प्रकार वर्षा करने के लिये जब **'कारीरि-इष्टि'** की जाती है तो भी उसे यज्ञ का मुख्यांश प्रदान किया जाता है[1]।

किन्तु ऋग्वेद के स्थलों से प्रतीत होता है कि अपां-नपात् और कुछ नहीं केवल आकाशीय अग्नि ही है जिसका वर्षा के मेघों के बीच में जन्म होता है। अपां-नपात् को हेमवर्ण का वर्णित किया गया है। उसका भोजन घृत है। वह सुनहले वस्त्रों से परिवेष्टित है और सर्वोच्च स्थान पर स्थित रहकर वह अप्रत्याहृत तेज से चमकता रहता है। अपां-नपात् सूक्त (२।३५) की अन्तिम ऋचा में उसे स्पष्ट रूप से अग्नि के नाम से सम्बोधित किया गया है। (**अयांसम् अग्ने सुक्षितिं जनायायांसमु मघवद्भ्यः सुवृक्तिम्**, २।३५।१५)। साथ ही ऋग्वेद के अग्नि सूक्तों में अग्नि को कई स्थानों पर (उदा० ऋ० वे० १।७०।३, ७।९।३) तथा यजुर्वेद (उदा० ८।२४) में जल का पुत्र (अपां नपात्) तथा आपोगर्भ (जल से उत्पन्न भ्रूण) कहा गया है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर मेक्डानल एवं कीथ का यह निष्कर्ष कि अपां-नपात् केवल आकाशीय अग्नि (तडित्) का ही द्योतक है,[2] जो मेघों के परस्पर घर्षण से उत्पन्न होती है, सर्वाधिक उचित है।

(९) वैरेथ्रेग्न (वै० वृत्रहन्)

वेदों में **वृत्रहन्** नामक कोई भी स्वतंत्र देवता नहीं है। वृष्टि के अवरोधक दैत्य वृत्र का वध करने के कारण यह इन्द्र का एक प्रसिद्ध **विशेषण** मात्र है। यह अत्यन्त रोचक एवं विचित्र तथ्य है कि अवेस्ता में इन्द्र एक भयंकर दैत्य का नाम है जिसका स्थान अंग्रामइन्यु के ठीक बाद है किन्तु वैरेथ्रेग्न (परवर्ती फारसी का **'बहराम'**) के रूप में इन्द्र का यह **विशेषण** अवेस्ता में युद्ध का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण देवता बन गया है।

अवेस्ता का १४वां यश्त उसकी स्तुति में कहा गया है 'यह यश्त अत्यन्त ओजस्वी एवं वीरत्वपूर्ण है। पढ़ते-पढ़ते पाठक युद्ध की झनझनाहट का अनुभव

जर्मन वर्कशाप, पृ० ४१०। हिलेब्राण्ट्, **वैदिशे मिथोलोगी** पृ० ३६५।

१. तु० की०—कीथ, **रिलीजन०**, भाग १, पृ० १३५।

२. **वै० मा०**, पृ० ७०, **रिलीजन०** भाग १, पृ० १३४।

करने लगता है'[1]। विजय का देवता होने के कारण युद्ध में सफल होने के लिये दोनों ही पक्ष उसका आह्वान करते हैं। ठीक इसी प्रकार ऋग्वेद में भी इन्द्र को दोनों सेनाओं के द्वारा स्तुत होते हुए वर्णित किया गया है—

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते, परेऽवर उभया अमित्राः।
समानं रथं चिदातस्थिवांसा, नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥२।१२।८

वर्षा एवं तडित् से संबन्धित होने के कारण **वेरेथ्रघ्न** को वउरुकष (आकाशीय समुद्र) से उत्पन्न वर्णित किया गया है। जिस प्रकार ऋग्वेद में इन्द्र पुनः पुनः **अहि** (वृत्र) को पराजित करता है उसी प्रकार वेरेथ्रघ्न भी **अझि** (दहाक) पर विजय प्राप्त करता है। अझि का एक विशेषण **'विशाय'** भी है इसका अर्थ है ऐसा सर्प जिसकी लार विषमयी है। वेरेथ्रघ्न उसे भी पराजित करता है और उसे **'दमावन्द'** पर्वत पर बन्दी बना देता है[2]।

अवेस्ता में वेरेथ्रघ्न को अनेक प्रकार के आकार ग्रहण करने की सामर्थ्य वाला बताया गया है। इस यश्त में ऐसे दस रूपों का वर्णन है जिनमें बहुत से पशुओं के भी हैं। सर्वप्रथम वह **हरेनो** (तेज) से युक्त वायु के रूप में आता है, फिर वह पीले कान एवं सुनहले सींगों वाले एक सुन्दर वृषभ का रूप धारण करता है, तत्पश्चात् श्वेत **तिश्त्र्य** की भाँति एक सुन्दर श्वेत अश्व में बदल जाता है और उसके पश्चात् लम्बे बालों एवं तीक्ष्ण दाँतों वाले एक भार-वाहक ऊँट के रूप में। सबसे बाद में वह एक सुन्दर युवक के रूप में आता है (यश्त १४।१६-२१)। यह तथ्य ऋग्वेद के **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'** (इन्द्र अपनी गुप्तशक्ति से अनेक रूप धारण करता है) का स्मरण दिला देता है।

उसे 'शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली,' 'विजय से भी अधिक विजयी', 'यश से भी अधिक यशस्वी' एवं 'कृपा से भी अधिक कृपालु' बताया गया है। वारेग्न नामक एक मांसाशी पक्षी उसका दूत है। वह स्वयं भी प्रायः इस पक्षी का रूप धारण किया करता है[3]।

---

१. तारापुरवाला, **दि रिलीजन आफ जरथुस्त्र**; सप्तम अध्याय, पृ० १०२।
२. डार्म्सटीटरः **जेन्द अवेस्ता**, द्वितीय भाग पृ० ५५६।
३. कारनाय का मत है कि विद्युल्लेखा ही यहाँ पर वारेग्न पक्षी के रूप में कल्पित की गई हैं; देखिये—**ईरानियन माइथॉलजी**, पृ० ३६१, टिप्पणी ३०।

उपर्युक्त साम्यों से स्पष्ट है कि वेरेथ्रेग्न और इन्द्र में एकत्व का एक अस्पष्ट सूक्ष्म सूत्र अवश्य ही अनुस्यूत है। अतः मैक्डानल का यह कथन कि अवेस्ता का वेरेथ्रेग्न वैदिक इन्द्र से पूर्णतः भिन्न है[1] और वह विजय का एक स्वतंत्र देवता मात्र है, उचित नहीं प्रतीत होता।

वेरेथ्रेग्न के मूल स्वरूप के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। ओल्डेनबर्ग एवं मैक्डानल का मत है कि प्राचीनतम भारोपीय काल में आकाश एवं वृष्टि के देवता इन्द्र के अतिरिक्त तडित् एवं गर्जन का भी एक स्वतंत्र देवता था। उसे भीमकाय, बहुभक्षी, शक्तिमान् तथा वज्र (तडित्) से दैत्यों का वध करने वाला समझा जाता था[2]। आगे चलकर भारत में दोनों देवताओं की धारणाएँ मिलकर एक हो गई। किन्तु अवेस्ता में वेरेथ्रेग्न नाम से तडिद्गर्जन का ही देवता प्रमुख स्थान का भागी बना रहा और इन्द्र सर्वथा लुप्त हो गया।

बार्थोलोमे का मत है कि प्राचीन फारसी में **'वेरेथ्र'** का अर्थ है **'आक्रमण'** 'वेरेथ्रेग्न' उससे बनी नपुंसक लिंग भाववाचक संज्ञा है जिसका अर्थ है **'आक्रमण का प्रतिरोध'** किन्तु इस प्रकार के युद्ध के एक देवता की कल्पना करने पर यह शब्द पुल्लिग होकर **'आक्रमण का प्रतिरोध करनेवाला' 'विजयी'** आदि अर्थों वाची हो गया। उनके मत से यह शब्द उस समय का है जब ईरानी और भारतीय एक थे (वैदिक भाषा में भी एक **'वर्त्र'** शब्द पाया जाता है जिसका अर्थ 'संकट से रक्षा करने वाला' है। क्या इसका 'वेरेथ्र' से कोई सम्बन्ध है ?)। भारत में इस शब्द का मूल अर्थ लुप्त हो गया और यहाँ **वृत्रघ्न** शब्द में भ्रामक व्युत्पत्ति द्वारा वृत्र नामक एक दैत्य की कल्पना कर ली गयी और वृत्रघ्न शब्द उस विशेष दैत्य के हन्ता देवता का विशेषण हो गया[3]। माउल्टन तथा जुश्ती आदि विद्वानों ने इसका समर्थन किया है।

उपर्युक्त मत बहुत निर्बल भित्ति पर स्थित है। 'वेरेथ्रेग्न' और 'वेरेथ्र' शब्द अवेस्ता में बहुत अधिक अर्वाचीन है[4], केवल यश्त भाग में ही इनके दर्शन

---

१. मैक्डानल: **वै० मा०** पृ० ६६।
२. ओल्डेनबेर्ग : **डी रिलीगियोन डेस वेद,** पृ० १३४
मैक्डानल : **वै० मा०** पृ० ६६
३. बार्थोलोमे : **आल्टईरानिशस् बेर्टरबुख्,** पृ० १४२०; द्रष्टव्य : माउल्टन, **अ० ज़ो०,** पृ० ६६ तथा ४२७।
४. तु० की०—तारापुरवाला : **रिलीजन आफ़ ज़रथुस्त्र** पृ० १०३

होते हैं। आक्रमण, युद्ध आदि के अर्थ में 'वेरेथ्र' शब्द गाथाओं में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। यह पूर्णता निःसंशय है कि 'वेरेथ्रे ग्न' एवं 'वेरेथ्र' जैसे शब्द अपने वैदिक प्रतिरूपों से कहीं अधिक बाद के हैं। अनेक भाषा-वैज्ञानिक कारणों से यह नितान्त असम्भव प्रतीत होता है कि वेरेथ्रे ग्न शब्द वैदिक भाषा से भी बहुत पूर्व भारोपीय काल का हो। अतः इस समस्या का सर्वाधिक युक्तियुक्त समाधान यह है कि इन्द्र का यह वैदिक विशेषण जब ईरानी भूमि में पहुँचा तो इन्द्र की स्थिति के क्षीण होने के कारण एवं 'आझि (अहि = वृत्र) दहाक' के रूप में वृत्र इन्द्र की कथा के दूसरे रूप में स्थित रहने के कारण वृत्रहन् शब्द का '**वृत्र**' अर्थहीन हो गया। कालान्तर में इस शब्द मूल भाव तो लुप्त हो गया किन्तु '**घ्न**' (हन्) या '**ग्न**' परसर्ग का अर्थ (नष्ट करनेवाला, हटानेवाला) बना रहा और इसके सामंजस्य के लिये वृत्र के ईरानी अपभ्रंश 'वेरेथ्र' में धीरे धीरे आक्रमण, अभियान का भाव आ गया। आश्चर्य है कि इन विद्वानों ने अवेस्ता एवं वेदों के क्रम पर ध्यान न देते हुए ऐसी अनर्गल कल्पना कैसे कर डाली[1]।

मैक्डानल, ओल्डेनबेर्ग एवं श्पीगल का यह मत भी अप्रमाणित एवं अयुक्त है कि भारोपीय काल में 'आकाश के गरजने वाले देवता' के अतिरिक्त तडिद्गर्जन का भी एक स्वतन्त्र एवं पृथक् देवता था। प्रथम देवता से मैक्डानल का क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट नहीं है। इस प्रकार के दो पृथक् देवता कभी नहीं रहे। इन्द्र एवं वृत्रहन् की धारणाएँ सदा एक ही रही हैं। इन्द्र मुख्यतः वृष्टि का देवता है और वृत्र वृष्टि का अवरोध करता है। उसे मारे बिना वृष्टि नहीं हो सकती। वृत्रहन् का तडित् के देव से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्द्र के विवरण में (अध्याय ६) यह तथ्य और स्पष्ट होगा है।

आर्मीनिया पर बहुत समय तक ईरान का सांस्कृतिक प्रभाव रहने के कारण उनका युद्ध एवं विजय का यह देवता '**वहग्न**' नाम से वहाँ भीं प्रविष्ट हो गया और बहुत काल तक उनका एक प्रमुख देवता बना रहा[2]।

---

१. तु० की०—कीथ **रिलीजन०** पृ० ३३, पादटिप्पणी।

The theory that the Iranian genius is the old *Sondergott* of the war and Vṛtra an Indian creation through misunderstanding of the term "assault repelling" is quite unacceptable.

२. ए० रि० ई०, प्रथम भाग, पृ० ७९९, '**आर्मिनिया**', एम० एनानिकियन।

(१०) ह्वर् (स्वर् या सूर्य)

ह्वर् अवेस्ता में सूर्य के देवता का नाम है। प्रायः इसे **ह्वर् ख्शएत** (तेजस्वी सूर्य) नाम से संबोधित किया जाता है। जिस प्रकार वैदिक तथा परवैदिक साहित्य में सूर्य को सात अश्वों के रथ पर आसीन बताया गया है (ऋ० वे० ४।१३।३) उसी प्रकार अवेस्ता में भी (यश्त ६।१ आदि) सूर्य को सात घोड़ों के रथ में आकाश में विचरण करते हुए वर्णित किया गया है। ऋग्वेद में सूर्य भास्वान् एवं दीप्तिमान् है। प्रतिदिन उदित होने के कारण वह अमर्त्य है। अन्धकार के दैत्य को वह अपनी किरणों रूपी बाणों से पराजित करके उदित होता है। उसके उदित होने पर दानवों की शक्ति समाप्त हो जाती (ऋ० वे० ७।६३।१, तथा १।१६१।८, **उत्पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टहा। अदृष्टान् सर्वान् जम्भन्त्सर्वाश्च यातुधान्यः**)। अवेस्ता में भी (यश्त ६।२।४) कहा गया है कि यदि सूर्य उदित न हो तो **दएवों** की शक्ति **यज़तों** की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ जाए और वे सभी अच्छी वस्तुओं को नष्ट कर दें। सूर्य के लिये यज्ञ करने वाला **यातु, पैरिका** आदि के प्रभाव को नष्ट करके यज़तों को प्रसन्न करता है।

ऋग्वेद में अनेक बार सूर्य को आकाश के देवता वरुण का नेत्र कहा गया है (ऋ० वे० ७।६६।१०) जिससे वह सभी मनुष्यों के अच्छे बुरे कर्मों का अवलोकन करता है। ठीक यही भाव अवेस्ता में भी प्राप्त होता है। यहां भी **ह्वर्** को अहुरमज़्दा की आंख कहा गया है।

ये उभयनिष्ठ विशेषताएँ दोनों के पूर्ण तादात्म्य को सूचित करती हैं।

(११) वयु (वायु या वात)

वैदिक वायु का अवेस्ता में पर्याप्त उच्च स्थान का भागी है। यही एक ऐसा देवता है जिसका यश्त भाग में ही नहीं अपितु प्राचीनतम गाथा भाग में भी उल्लेख है[1]। यश्त ४२।३ में एक बार इसका नाम (**वयु**) आया है। अवेस्ता के १५ वें में यश्त में भी पूर्णतः उसी का वर्णन है। ऋग्वेद में कहा गया है कि वायु का रथ स्वर्ण-निर्मित है; उसके बैठने का आसन भी सोने का बना है। अपने रथ में बैठकर वह आकाश के सर्वोच्च भाग को भी स्पर्श कर लेता है। (**रथं**

---

१. बार्थोलोमे नामक जर्मन विद्वान् ने अपने गाथाओं के अनुवाद में (श्ट्रासबुर्ग १९०४) यह मत **व्यक्त** किया है कि गाथाओं में किसी भी प्रकार से वैदिक वायु का उल्लेख नहीं है। देखिये तारापुरवाला : **रि० ज़** प्रथम अध्याय, पृ० ९।

हिरण्यबन्धुरमिन्द्रवायू स्वध्वरम् । आहि स्थायो दिविस्पृशम् ४।४६।४ तथा ४।४८।२) । अवेस्ता में भी (यश्त १५।५७) **वयु** के रथ, वस्त्र, मुकुट तथा शिरस्त्राण आदि को स्वर्ण-निर्मित वर्णित किया गया है । उसकी स्वर्ण किंकणियां मधुर शब्द उत्पन्न करती हैं ।

ऋग्वेद में **वात** का भी उल्लेख मिलता है । किन्तु वात का दैवीकरण वायु की अपेक्षा निर्बल है । मुख्यतः वात अथवा **वातासः** का उल्लेख पर्जन्य के साथ पवन या झंझावात को सूचित करने के लिये होता है । अवेस्ता में भी बिलकुल यही स्थिति है । **वात** शब्द यहां भी है पर उसका प्रयोग वायु के देवता को सूचित करने के लिये नहीं अपितु पवनतत्व को सूचित करने के लिये ही हुआ है[1] ।

अवेस्ता में ऋग्वेद की अपेक्षा **वयु** का बहुत अधिक उच्च स्थान है । यहां तक कि अहुरमज़्दा भी अंग्रामइन्यु के विनाश के लिये झंझावात के देवता वयु से प्रार्थना करता है 'उच्च आकाश में विचरण करने वाला एवं महत्त्वपूर्ण कार्य करने की शक्ति रखने वाला' वयु अहुरमज़्दा की सहायता करता है (यश्त १५।३) ।

इसी यश्त में उसे 'प्रकाश का विजेता' एवं 'दैत्यों का विनाशक' आदि विशेषणों से भी संबोधित किया गया है । इनके अतिरिक्त भी उसके लिये कुछ ऐसे विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं जो केवल अहुर के लिये प्रयुक्त होते हैं । यहाँ पर उसकी सहायता के लिये इच्छुक व्यक्तियों की एक सूची दी हुई है जिनमें सर्वप्रथम अहुर का नाम है । परवर्ती अवेस्ता में भी उसे अच्छे राजाओं की सहायता करते हुए वर्णित किया गया है[2] ।

अवेस्ता में वायु का एक अन्य नाम **'राम ह्वस्त्र'** भी है । इस शब्द का अर्थ है—'विश्रामयोग्य गोचरभूमि का स्वामी' । मेघों के खण्डों को प्रायः गायों के रूप में कल्पित किया गया है इसीलिये वायु के लिये ऐसे विशेषण का प्रयोग है । ऋग्वेद १।३४।४ (**तुभ्यं धेनुः सबंदुघा विश्वा वसूनि दोहते । अजनयो मरुतो वक्षणाभ्यः, दिव आ वक्षणाभ्यः**) तथा अ० वे० २।२६।१ में भी वायु को 'गोपालक' बताया गया है; मिथ्र देवता को भी अवेस्ता में (फरगार्द ३।२, यश्त १।३, १।९) विस्तृत गोचर भूमि का स्वामी कहा गया है । इस प्रकार ये दोनों परस्पर घनिष्ठतया संबन्धित हैं ।

---

१. तु० की०-ढाला : **ज़ोरेस्ट्रियन थियोलजी** पृ० १३२ ।

२. तारापुरवाला : **रि० ज़०**, अध्याय ७, पृ० १०५ ।

अवेस्ता में अहुर तथा अंग्रा का युद्ध अन्तरिक्ष में ही होता वर्णित किया गया है। वयु (तत्त्व) का आधा भाग अहुर के अधिकार में है और आधा अंग्रा के। दोनों भागों के बीच में एक शून्य स्थान है, इसका नाम **'वाइ'** है और इसी में इन अच्छी और बुरी शक्तियों का युद्ध होता है।

(१२) उशह् (उषस्)

अवेस्ता में ऋग्वेद की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देवी, ऋषियों की मनोरम कल्पना से प्रसूत **उषस्** का अधिक महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। केवल एक छोटे से यश्त में उसका वर्णन है। इस यश्त के पद्य बहुधा इधर-उधर से लिये गये हैं और काव्यात्मकता के स्थान पर इसमें आचारशास्त्रीयता अधिक है। अवेस्ता में इस देवी का **उशहीन** नाम से पुल्लिग में भी वर्णन होता है। सम्पूर्ण ५वीं गाह में इस देवता का वर्णन किया गया है।

(१३) आरमइति (अरमति)

ऋग्वेद ७।३६।८ **(प्र वो महीमरमतिं कृणुध्वं)** तथा ८।४२।३ की व्याख्या में सायण ने **अरमति** शब्द का अर्थ 'भूमिः' दिया है **(अरमतिम् उपरतिरहितां महीं महतीभूमिम्)**। प्रतीत होता है कि सायण ने यहां पर किसी प्राचीन परंपरा का अवलम्बन किया है क्योंकि ऋग्वेद में अन्य स्थानों पर अरमति शब्द पवित्रता, श्रद्धा अथवा भक्ति का ही मानवीकरण है। अवेस्ता में **आरमइति** पृथ्वी की देवी है किन्तु साथ ही उसे बुद्धि एवं ज्ञान का प्रतीक माना गया है। छः आमेश स्पेन्ताओं में इसका प्रमुख स्थान है। देवों में भक्ति ही प्रातःकलिक यज्ञ तथा अग्नि में हवन आदि क्रियाओं का कारण होती है, इसलिये अवेस्ता में आरमइति का आतर (अग्नि) से घनिष्ठ संबन्ध है और इस संबन्ध पर अनेक कथाओं का भी निर्माण हुआ है (फ़रगार्द १८।५१)। **वैसे ऋग्वेद में अन्य स्थानों पर पृथ्वी** की देवी का स्वतंत्र उल्लेख है और अथर्ववेद में एक विस्तृत, तथा काव्यात्मक सूक्त (१२।१) उसकी स्तुति में कहा गया है।

(१४) थ्रित आथ्व्य (वै० त्रित आप्त्य)

त्रित का अर्थ है 'तीसरा' और ऋग्वेद में यह शब्द अग्नि के तीसरे रूप अर्थात् आकाशीय विद्युत् का द्योतक है। अवेस्ता एवं ऋग्वेद की तुलना करने से प्रतीत होता है कि यह प्राचीनतम वैदिक काल में इन्द्र की भांति वर्षा एवं तडित् का ही देवता था। ऋग्वेद में वर्णित उसका स्वरूप यद्यपि पर्याप्त अस्पष्ट है किन्तु उसके चरित्र की दो विशेषताएँ पुनः पुनः उल्लिखित की गई हैं। प्रथम यह

कि उसे इन्द्र की भांति अनेक वृष्ट्यवरोधक दैत्यों का वध करने वाला कहा गया है; जिन दैत्यों को इन्द्र मारता है उन्हीं को वह भी। दूसरी विशेषता यह है कि इन्द्र की भांति उसका भी सोम से घनिष्ठ संबन्ध वर्णित किया गया है। मैक्डानल का मत है कि त्रित इन्द्र के पूर्व एक महत्त्वपूर्ण वृष्टि के देवता के रूप में प्रतिष्ठित था किन्तु इन्द्र के उत्कर्ष के पश्चात् उसका महत्त्व कम हो गया[1]।

ऋग्वेद में त्रित मानव नहीं अपितु देवता है। नवम मण्डल में अनेक स्थानों पर उसे इन्द्र के लिये सोमरस प्रस्तुत करने वाला कहा गया है। त्रित की पुत्रियां (उँगलियां) सोम की बूँदों को प्रस्तर खण्ड से इन्द्र के लिये निकालती है (ऋ० वे० ९।३८।२ **एतं त्रितस्य योष्णो हरिं हिन्वन्ति अद्रिभिः। इन्दुमिन्द्राय पीतये**)। त्रित के ग्रावन् (प्रस्तरों) के बीच में सोम छिपा रहता है (९।१०२।२)। रस निकालकर त्रित ही उसे शुद्ध करता है (ऋ० वे० ९।३४।४, **भुवत् त्रितस्य मर्ज्यो भुवदिन्द्राय मत्सरः**)। मधुस्रावी सोम को उड़ेलते समय त्रित का नाम लिया जाता है (ऋ० ९।८६।२०, **त्रितस्य नाम जनयन् मधुक्षरत्**)। त्रित केवल सोम प्रस्तुत करता हो ऐसी बात नहीं है, वह सोमपान में भी रुचि लेता है। ऋ० वे० ८।१२।१६ में इन्द्र को विष्णु, त्रित-आप्त्य तथा मरुतो के साथ सोमपान करता हुआ वर्णित किया गया है।

अवेस्ता में भी **थ्रित** हओम का सवन करने वाले प्राचीन वीरों में एक है (यस्न ९।७)। जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है, वह सर्वप्रथम हओम प्रस्तुत करने वालों में तीसरा व्यक्ति माना जाता है (यस्न ९।९-१०); आथ्व्य दूसरा है, और वीवङ्ह्वन्त सर्वप्रथम। इस संजीवन ओषधि से उसका संबन्ध होने के कारण उसे औषध-शास्त्र का सर्वप्रथम प्रचारक भी माना गया है। वह योग्य भिषक्, बलवान्, उदार तथा बुद्धिमान् है। 'उसने रोग को रोग के पास एवं मृत्यु को मृत्यु के पास भगा दिया। अहुरमज़्दा से जब उसने ओषधियों के लिये प्रार्थना की तो उसने स्वर्ग में **गओकेरेन** (श्वेत हओम) के चारों ओर लगी हुई दस सहस्र ओषधियाँ उसे लाकर दीं और उन्हीं से उसने चिकित्सा करनी प्रारम्भ की' (वेन्दिदाद २०।२-४)।

जिस प्रकार अवेस्ता में त्रित एक उत्तम भिषक् है उसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता में (१।८।१०) भी उसे रोगों को दूर करके दीर्घायु प्रदान करने वाला कहा गया है। अथर्ववेद में भी रोग विनाश के मंत्रों में कई स्थानों पर त्रित

---

१. वै० मा०, पृ० ६९।

का आह्वान किया गया है। मैक्डानल का मत है कि अवेस्ता एवं वैदिक साहित्य में त्रित के चरित्र में इस विशेषता का संनिवेश केवल त्रित को अमरत्व संपादक सोमरस का प्रस्तुतकर्ता माने जाने के कारण ही हुआ है[1]। त्रित की तीन सिर वाले वृष्ट्यवरोधक दैत्य को मारने की विशेषता अवेस्ता में उसी के एक दूसरे प्रतिरूप थ्राएतोन से संबन्धित है। वैदिक साहित्य में त्रित का **त्रैतन** भी नाम मिलता है; **थ्राएताओन** या **थ्राएतोन** इसी का ईरानी रूप है। किन्तु जहाँ ऋग्वेद में आप्त्य (जल का पुत्र) शब्द त्रित को द्योतित करने के लिये उसके स्थान पर स्वतन्त्र रूप से भी प्रयुक्त है वहाँ अवेस्ता में थ्राएताओन को आथ्व्य का पुत्र कहा गया है। यह आथ्व्य ईरानी परम्परा के अनुसार थ्रित के पूर्व हओम प्रस्तुत करने वाला द्वितीय व्यक्ति था (यस्न ९।७)।

अस्तु, थ्राएतोन अपनी अदम्य शक्ति से तीन सिर वाले और छः नेत्रों वाले भयंकर दैत्यों (द्रुज्) **अझि दहाक** (दैत्याकार सर्प) आदि का वध करता है। अझि छल एवं कपट की साक्षात् प्रतिमा था। उसे अंग्रामइन्यु ने राजाओं एवं अहुर के पूजकों को सताने के लिये उत्पन्न किया था[2]। **ह्वरेनो** के निकल जाने पर यम से उसी ने राज्य छीन लिया था और उसका वध करवा डाला था। थ्राएतोन और अझि का युद्ध चतुष्कोणिक **वरेन (चथ्रु गओशी वरेनो)** अर्थात् चौकोर आकाश में होता है (वेन्दिदाद १।१८)।

ऋग्वेद में इस तीन सिर और छः नेत्रों वाले दानव का नाम विश्वरूप है। इसे त्वष्टा का पुत्र कहा गया है। आप्त्य (जल का पुत्र) त्रित उससे युद्ध करता है और उसका वध करके गायों का उद्धार करता है (ऋ० वे० १।१५८।५)। इस कार्य में उसे अपने पिता के अस्त्रों से सहायता मिलती है (१०।८।८)। इसी सूक्त की अगली ऋचा में (१०।८।९) इन्द्र को भी बिल्कुल यही कार्य करते हुए वर्णित किया गया है। वह भी विश्वरूप के तीनों सिरों को काट कर गायों पर अधिकार कर लेता है। ऋ० वे० १०।९९।६ में कहा गया है कि इन्द्र ने गरजते हुए त्रिशिरस्क एवं षण्नेत्रवान् विश्वरूप को बन्दी कर लिया एवं बल से उन्मत्त त्रित ने नुकीले वज्र से उसका वध कर डाला (**अस्य त्रितो न्वोजसा वृधानो विपा वराहमयो अग्रया हन्**)।

वैदिक साहित्य में त्रित के विषय में एक अन्य रोचक कथा प्राप्त होती है।

---

१. **वै० मा०**, पृ० ६८।

२. कारनाय, **ईरानियन** माइथॉलजी, पृ० २६९।

श० ब्रा० १।२।३।१-२ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।२।८।१०-११) में त्रित को जल से उद्भूत अग्नि का पुत्र कहा गया है उसके **एकत** तथा **द्वित** नामक दो भाई और बताए गये हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १०५वें सूक्त की व्याख्या करते हुए सायण ने एक कथा का उल्लेख करते हुए कहा है कि त्रित को उसके दोनों भाइयों ने कुएँ में ढकेल दिया था[1]। ऋ० वे० १।१०५।१७ (**त्रितः कूपे अवहितो देवान् हवय ऊतए**) तथा १०।८।७ में त्रित को कुएँ में गिर जाने के कारण सहायतार्थ देवताओं की स्तुति करते हुए वर्णित किया गया है। महाभारत के शल्यपर्व, ३६वें अध्याय में इस कथा का सुन्दर विकास प्राप्त होता है। यहाँ त्रित को एक तपस्वी ऋषि के रूप में चित्रित किया गया है जिसने कुएँ में पड़े होने पर भी तत्रत्य सामग्री से देवों के लिये सोम प्रदान दिया।

अवेस्ता में भी इस कथा की छाया वर्तमान है। थ्राएताओन अझि दहाक का वध करने के लिये अपने दो भाइयों के साथ जाता है किन्तु वे मार्ग में स्वयं थ्राएताओन का ही वध करने की चेष्टा करते हैं।

प्राचीन ईरानी काल का यही थ्राएतोन फ़िरदौसी के शाहनामे का **फ़रीदुन** है जो **ज़ोहाक** (अझि दहाक) से युद्ध करके ईरान को उसके शासन से मुक्त करता है। **फ़रीदुन** एवं **ज़ोहाक** के चरित्र से देवत्व एवं दानवत्व पूर्णतः समाप्त हो गया है। ज़ोहाक केवल ईरान पर राज्य करने वाला एक आततायी अरबी राजा है और फ़रीदुन प्राचीनकाल का एक पराक्रमी वीर मात्र।

अन्य देवता

उपर्युक्त महत्वपूर्ण देवताओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी देवता हैं जिनका केवल उल्लेख अथवा नगण्य वर्णन अवेस्ता में प्राप्त होता है। वेदों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करते हुए भी अवेस्ता में इनका नाम मात्र ही क्यों शेष रह गया—इसके कारण स्पष्ट हैं। इन देवताओं के वास्तविक व्यक्तित्व का निर्माण और पोषण मुख्यतः भारत में ही हुआ था। भारत से विस्थापित होने के

---

१. तु० की०—**बृहद्देवता**—३।१३२-१३७।

त्रितं गास्त्वनुगच्छन्तं क्रूराः सालावृकीसुताः।
कूपे प्रक्षिप्य, गाः सर्वास्तत एवापजह्रिरे ॥
स तत्र सुषुवे सोमं मन्त्रविन्मन्त्रवित्तमः।
देवांश्चावाहयत् सर्वा स्तच्छुश्राव बृहस्पतिः ॥

तथा **नीति मंजरी**—श्लोक २८।

पश्चात् कुछ देवता तो ईरान की भौगोलिक परिस्थितियों तथा संस्कृति के अनुरूप अपने व्यक्तित्व को न ढाल सकने के कारण स्थिर न रह सके। ईरान जैसे शुष्क स्थान में इन्द्र जैसे वर्षा के देवता का महत्त्व संभव नहीं था। कर्मकाण्ड की न्यूनता के कारण उन अधिकांश अल्प महत्त्वपूर्ण देवताओं को भुला दिया गया जिनका यज्ञ आदि में अपेक्षाकृत कम उपयोग था। इसके अतिरिक्त ईरान की ओर अभिगमन करने वाली आर्य शाखा में संभवतः अधिकांश में युद्ध प्रिय क्षत्रिय थे जिनमें रचनात्मक प्रतिभा का बाहुल्य नहीं था। और सबसे प्रमुख कारण यह है कि ज़रथुस्त्र की धार्मिक क्रान्ति के पश्चात् प्राचीन आर्य देवताओं पर से ईरान की जनता की श्रद्धा एवं विश्वास काफी कम हो गया। केवल कुछ ही शेष बचे, उनमें भी एक दो को छोड़कर कालान्तर में अन्य सभी धीरे-धीरे लुप्त हो गये।

अवेस्ता के अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण देवताओं में **इन्द्र** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वैदिक साहित्य के सर्वोच्च आराध्य का अवेस्ता में केवल एक स्थान पर इसी नाम से उल्लेख है, किन्तु देवता के रूप में नहीं अपितु अंग्रामइन्यु के एक विशेष कृपापात्र प्रमुख दैत्य के रूप में[1]। इन्द्र की यह दुर्गति सचमुच शोचनीय है।

नाओङ्हैथ्या भी अवेस्ता में एक दैत्य का नाम है। उसका उल्लेख प्रायः इन्द्र के साथ किया गया है और यह अंग्रामइन्यु की सेना में **स्पेन्ता आरमइति** का विरोधी है। यह वैदिक काल के **नासत्या** (अश्विनौ) का ईरानी प्रतिनिधि है। इस देवता का मूल रूप लुप्त होने के पश्चात् भ्रामक लोक-व्युत्पत्ति से इसकी यह दशा हुई है।

ऋग्वेद के षट् आदित्यों में **भग** देवता की भी गणना है। यह देवता पौराणिक काल तक सुरक्षित चला आया है और बाद में सूर्य से इसका तादात्म्य कर दिया गया है। अवेस्ता का **बग़** (उदार) शब्द अहुरमज़्दा के विशेषण के रूप में पर्सीपोलिस में स्थित अख़मीनियन राजाओं के शिलालेखों प्रयुक्त हुआ है[2]। प्रतीत होता है कि यह शब्द प्राग्वैदिक काल में सभी देवताओं का एक सामान्य विशेषण मात्र था किन्तु बाद में भारत में एक स्वतन्त्र देवता बन गया है।

---

१. डार्म्स्टीटर का मत है कि इन्द्र शब्द अवेस्ता में अग्नि के विनाशकारी रूप का वाची है; **जेन्द अवेस्ता, भूमिका,** पृ० ७२।

२. तारापुरवाला : **दि रिलीजन आफ ज़रथुस्त्र,** अध्याय १, पृ० २७।

अग्नि के लिये (तथा कहीं-कहीं बृहस्पति आदि अन्य देवों के लिये भी) ऋग्वेद में प्राय. **नराशंस** विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का अर्थ है मनुष्यों की स्तुति (नराणाम् आशंसः) अथवा मनुष्यों के द्वारा स्तुत[1]। अवेस्ता में अहुर के दूत का नाम **नैर्योसंह** है (फरगार्द २२।७) जो निश्चित रूप से इसी शब्द का अपभ्रंश है। अवेस्ता के प्राचीन अंशों में यह शब्द भी दिव्य-अग्नि का ही वाची है[2]। किन्तु परवर्ती अवेस्ता में इसका पूर्ण रूप से मानवीकरण हो गया है। जब-जब पृवी पर कोई अशान्ति होती है तब-तब यह अहुर एवं मिथ्र आदि को पृथ्वी पर जाने के लिये प्रेरित करता है। इसका एक अन्य कार्य है—जरथुस्त्र के 'बीज' की रक्षा करना जिससे मनुष्य जाति के उद्धारक जरथुस्त्र के पुत्र **सओश्यन्त** की उत्पत्ति होगी।

ऋग्वेद में **पुरंधी** धन-धान्य एवं समृद्धि की देवी है[3]। यह देवी अवेस्ता में भी **पारेन्दी** नाम से भी प्राप्त होती है। यहाँ भी यह ऐश्वर्य एवं वैभव की देवी है तथा कोषों की रक्षा करती है। इसे छोटी-छोटी घंटियों से स्वनित रथ में आकाश में विचरण करते हुये वर्णित किया गया है।

वैदिक **मास्** की तुलना में अवेस्ता में चन्द्रमा के देवता का नाम **माह्** (अथवा प्राचीन फारसी, **माओङ्ह**) है। अवेस्ता का यह देवता मुख्यतः पशुओं की अभिवृद्धि से सम्बन्धित है। उसे पशुओं के बीज का धारक कहा गया है और इस दृष्टि से वह **वोहुमनो** (पशुओं का अधिष्ठाता देवता) से घनिष्ठतया सम्बन्धित है। अवेस्ता का एक यश्त (७वां) मुख्यतः माओङ्ह की स्तुति में है। इसमें चन्द्रमा को अमेश स्पेन्ता का निवास स्थान कहा गया है (यश्त ७।३)। वहाँ से वह अहुरमज़्दा के द्वारा निर्मित सृष्टि पर कल्याण की वर्षा करते हैं। इसी यश्त में माओङ्ह को प्रायः **रतु** (अश का रक्षक, स्वामी) कहा गया (७।३।, ४, ६) है[4]।

---

१. मैक्डानल : वे० मा० पृ० १००, किन्तु डार्म्स्टीटर का मत है कि यह शब्द देवताओं एवं मनुष्यों के बीच अग्नि का संदेशवाहकत्व द्योतित करता है। पृ० ७० (**ज़ेन्द अवेस्ता, भूमिका**)।

२. तारापुरवाला : वही, अध्याय १, पृ० ३३।

३. द्रष्टव्य : लेखक का **ऋग्वेद में पुरंधि** नामक निबन्ध, **प्राच्यप्रज्ञा** (अलीगढ़), १९६८, पृ० २५-३५।

४. ए० रि० ई० भाग ९, पृ० ५६७, 'ओरमज़्द'।

अवेस्ता एवं वेदों में कुछ प्राचीन आचार्यों के नामों में भी समानता है। **'काव्य-उशना'** का दृष्टान्त इसका रोचक उदाहरण है[1]। ऋग्वेद में वर्णित प्राचीन ऋषियों में उशना का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इन्द्र से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन्द्र उशना के साथ रहने में प्रसन्न होता है (१।५१।११)। ऋ० वे० १।१२१।१२ तथा ५।३४।२ में उसे इन्द्र के लिये वज्र निर्माण करने वाला कहा गया है। **शुष्ण** दैत्य को जीतने में वह इन्द्र की सहायता करता है (५।२९।९)। एक स्थान पर कहा गया है कि उशना ने अग्नि को यज्ञ के देवता के रूप में स्थापित किया (८।२३।१७)। वैदिक 'काव्य-उशना' अवेस्ता में **'कव उशन'** नाम से प्राप्त होता है। यह प्राचीन समय का एक राजर्षि है। वह एक प्राचीन राजा था जिसने अपनी प्रार्थनाओं एवं स्तुतियों के द्वारा दैत्यों (दएवों, को विजित किया था एवं आकाश में निर्बाध रूप से उड़ने की शक्ति प्राप्त की थी। उसके मुखमण्डल से एक तेजपुंज निकलता रहता था। इसी तेजस्विता के कारण उसे **'अश्वरेचो'** (वर्चस्व से पूर्ण) कहा गया है। इसी काव्य उशना को परवैदिक साहित्य (महाभारत आदि) में **शुक्र (आचार्य)** कहा गया है। शुक्र का अर्थ भी 'चमकने वाला' होता है। इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक तथ्य और ध्यान देने योग्य है। ऋग्वेद में इन्द्र से घनिष्ठतया सम्बन्धित होते हुए भी परवर्ती वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में शुक्राचार्य को सदा असुरों का (तथा बृहस्पति को देवों का) गुरु माना गया है। शुक्राचार्य को असुरों का गुरु मानने की धारणा बहुत पूर्व ही प्रचलित हो चुकी होगी क्योंकि तैत्तिरीय संहिता (२।५।८ तथा २।५।११) में कहा गया है कि अग्नि देवों का दूत है तथा काव्य उशना दैत्यों अथवा असुरों का (**अग्निर्देवानां दूत आसीदुशना काव्यो असुराणां**)। संभव है कि असुरों का तात्पर्य अहुर उपासक ईरानियों से हो[2]।

देवताओं के अतिरिक्त वेदों तथा अवेस्ता में दैत्यों आदि के वाची कुछ शब्दों में भी समानता है। वैदिक यातु, द्रुह् (द्रुट्) आदि **यतु** (परवर्ती फ़ारसी, जादू) एवं द्रुज् नामों से अवेस्ता में इसी रूप में पाये जाते हैं किन्तु अवेस्ता में इनका स्थान नगण्य सा होने के कारण हम यहाँ इन्हें उपेक्षित कर सकते हैं।

•

---

१. म० प्र० लखेड़ा, **कवि उशना इन् वेद एण्ड अवेस्ता**, जर्नल ऑफ गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, भाग २९, ३०७-३१४।

२. तारापुरवाला : वही, अध्याय १ पृ० २९।

तृतीय अध्याय

वैदिक तथा परवर्ती देवशास्त्र का सिंहावलोकन

भारतीय परम्परा के अनुसार वेद परमात्मा के निःश्वास हैं। उनका निर्माण किसी ने नहीं किया। ऋषियों की दिव्य दृष्टि ने उस ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष करके शाब्दिक वर्णन किया है। सृष्टि के आदि में लोक कल्याण के लिये परमात्मा ने मनुष्यों को यह ज्ञान-राशि प्रदान की। वे मानव की प्रखर मेधा एवं बुद्धि के विस्तार की सीमायें हैं। वेदों की प्रामाणिकता में अविश्वास करने वाला नास्तिक है—'नास्तिको वेदनिन्दकः'। नष्ट वेदों के उद्धार के लिये स्वयं विष्णु का मत्स्य या हयग्रीव अवतार ग्रहण करना पड़ा। अन्य ग्रन्थों के वाक्यों की प्रामाणिकता पर सन्देह हो सकता हैं किन्तु वेदों के वाक्यों के सम्बन्ध में यह बात नहीं। वे 'स्वतः प्रमाण' है। जो कुछ उनमें कहा गया है वह परम सत्य है।

किन्तु दुर्भाग्य से वेद जिस समय की कृतियां हैं उस समय की राजनैतिक सांस्कृतिक अथवा सामाजिक झलक पाने का हमारे पास कोई भी ऐतिहासक साधन नहीं है। वेदों की भाषा इतनी अधिक आर्ष एवं लौकिक संस्कृत से इतनी अधिक भिन्न है कि संभवतः किसी भी मंत्र का अर्थ 'इदमित्थं' करके निश्चित नहीं किया जा सकता। प्रत्येक मंत्र के एकाधिक अर्थ किये गये हैं और हो सकते हैं। प्राचीन भारत में वैदिक संहिताओं का पठन-पाठन गुरु-शिष्य परम्परा से ही होता रहा है और यह परम्परा कई सहस्रों वर्ष पूर्व ही नष्ट हो चुकी थी अतः संहिताओं पर भाष्य लिखने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। ये सभी भाष्य वैदिक अर्थ परम्परा की केवल एक क्षीण धारा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसे सभी भाष्यों में निर्विवाद रूप से सायणाचार्य (१४ वीं शताब्दी) का भाष्य सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु यह भाष्य मुख्यतः कर्मकाण्डीय है। भाष्यकार के सम्मुख मुख्यतः यही प्रश्न रहा है कि किस सूक्त अथवा मंत्र का यज्ञ में किन स्थानों पर उपयोग होता है। इस क्षेत्र में उसे ऋग्वेद के ब्राह्मणों एवं कल्पसूत्रों से विशेष सहायता मिली है। प्रत्येक वैदिक मंत्र के एक अथवा एकाधिक देवता

परम्परया निश्चित हैं। सायणाचार्य के अनुसार ये देवता केवल बाह्य जगत् के विभिन्न तत्त्वों अथवा शक्तियों के प्रतीक हैं। उनकी दृष्टि में अस्तंगत सूर्य ही वरुण है—

अस्तं गच्छन् सूर्य एव वरुण इत्युच्यते। स हि स्वगमनेन रात्रीर्जनयति।
ऋ० वे० भा० ७।८७।१

इस दृष्टि से सायण के गुरु हैं यास्क एवं शौनक। यास्काचार्य ने निरुक्त में स्थान-स्थान पर प्रत्येक वैदिक देवता के भौतिक स्वरूप का उल्लेख किया है। शौनकीय बृहद्देवता भी देवताओं के स्वरूप के विषय में अधिकांशतः निरुक्त पर ही आधारित है।

तो क्या वेद केवल भौतिक शक्तियों को उपास्य रूप में कल्पित करके उनके लिये किये जाने वाले यज्ञ में उपयुक्त होने वाले कतिपय मंत्रों का संग्रह मात्र है? तो क्या भारतीय परम्परा प्रारम्भ से ही घोर भ्रम में पड़ी रही? वेदों में कौन सा ऐसा अद्वितीय ज्ञान है जिसके लिये भारतीय मनीषी एवं दार्शनिक सदा वेद के अक्षय ज्ञान भण्डार की ओर आशा भरी दृष्टि से देखते रहे?

यह प्रश्न आज का नहीं है। यास्क के समय ही वेदों के प्रतिपाद्य को लेकर गंभीर शास्त्रार्थ हुआ करते थे। यास्क ने वेदों के संबन्ध में ऐतिहासिक, नैरुक्त, प्राकृतिक तथा वैयासिक (आख्यानपरक) मतों का उल्लेख किया है। इस संबन्ध में उसने वृत्र दैत्य का उदाहरण दिया है। नैरुक्त अथवा वैयाकरण कहते हैं कि मेघ ही वृत्र है। ऐतिहासिक कहते हैं कि वह प्राचीन काल के त्वष्टा ऋषि का पुत्र था। प्रकृतिवादी कहते हैं कि जल एवं विद्युत् के मिलने से वर्षा होती है। अग्नि रूपी वज्र से जल का निपातन होता है। प्रतीकात्मक रूप से इसे इन्द्र एवं वृत्र के युद्ध के रूप में चित्रित किया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थ इस विषय में एक आख्यान कहते हैं उनके अनुसार वृत्र एक भयंकर अजगर था। उसने अपने शरीर के विस्तार से जलस्रोतों को रोक दिया। जब इन्द्र ने उसका वध किया तो जल प्रवाहित हो उठे—

तत्को वृत्रः। मेघ इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रो असुर इत्यैतिहासिकाः। अपांच ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णाः भवन्ति। अहिवत्तु खलु मंत्रवर्णाः ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयांचकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे आपः। निरुक्त २।१६

आधुनिक काल में भी १९वीं शती में वेदों के अनुशीलन की ओर ध्यान जाते ही विद्वानों का ध्यान सायण के भाष्य की उपयुक्तता पर गया। पाश्चात्य विद्वत्समाज ने सायण द्वारा संकेतित एवं उल्लिखित सूत्रों के आधार पर चलकर प्रायः प्रत्येक वैदिक देवता के मूलभूत प्राकृतिक स्वरूप को खोजने का यत्न किया और इसे अन्वेषण से प्राप्त निष्कर्षों की अन्य देशों की देवकथाओं से तुलना करके तुलनात्मक देवताशास्त्र की आधार-शिला प्रस्थापित की।

किन्तु फिर भी कतिपय भारतीय विद्वानों को सायणाचार्य की देवता-विषयक व्याख्या से सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने वैदिक देवताओं के स्वरूप का गहन अध्ययन करके उनके स्वरूप की अन्य प्रकार से विशद व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। ऐसे विद्वानों में स्वामी दयानन्द सरस्वती[१], अरविन्द[२] एवं एम० पी० पंडित, डा० रैले[3], लोकमान्य तिलक[४], परमशिव अय्यर[५] तथा वासुदेव शरण अग्रवाल[६] आदि प्रमुख हैं।

स्वामी दयानन्द संभवतः सर्वप्रथम भारतीय विद्वान् थे जिन्होंने सायण भाष्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा स्थापित मत के विरुद्ध चलने का प्रयास किया। सं० १९३३ (सन् १८७६) में प्रारंभ किये गये अपने ऋग्वेद-भाष्य में सर्वप्रथम उन्होंने वैदिक बहुदेव-वाद के मूल में एकदेव-वाद के आधार की स्थापना की। उनका मत था कि वेदों में इन्द्र, वरुण, मित्र, विष्णु आदि विविध नामों से केवल एक परमेश्वर की ही स्तुति की गई है। ये विविध नाम केवल परमात्मा की विभिन्न शक्तियों एवं गुणों के व्यंजक हैं। अपने इस मत की पुष्टि के लिये उन्होंने व्याकरण की सहायता ली और "अनेकार्था: हि धातवः" के सिद्धान्त पर चलकर वैदिक शब्दों के मनोवाञ्छित अर्थ किये। "इदि परमैश्वर्ये" धातु से औणादिक 'रन्' प्रत्यय करने पर इन्द्र शब्द सिद्ध होता है। ऐश्वर्यशाली होने से परमात्मा इन्द्र है। "यः इन्दति, परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः।' "वृत्र,

---

१. 'सत्यार्थ प्रकाश एवं' 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका'।
२. 'आन दि वेद' एवं 'अदिति एण्ड अदर डीटीज इन दि ऋग्वेद'।
३. 'वैदिक गाड्स एज फिगर्स आफ बायालजी'।
४. 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज्' तथा 'ओरियन'।
५. 'ऋक्स'।
६. 'वेद विद्या' 'ऊरु ज्योति' आदि।

वरणे'' अथवा ''वर ईप्सायाम्'' धातुओं से 'उनत्' प्रत्यय करने पर वरुण शब्द बनता है। परमात्मा विद्वान् मुमुक्षुओं को स्वीकार करता है अथवा उनके द्वारा स्वीकार किया जाता है अतः वह वरुण है। यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति अथवा यः शिष्टैः मुमुक्षुभिर्महात्मभिः व्रियते वर्यते वा स वरुणः परमेश्वरः। ''ञिमिदा स्नेहने'' से 'क्त्र' प्रत्यय होने पर मित्र शब्द बनता है। परमात्मा सबसे स्नेह करता है अतः वह मित्र है—मेद्यति स्निह्यति वा स मित्रः, परमेश्वरः। 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से 'नु' प्रत्यय होने पर विष्णु शब्द सिद्ध होता है। परमात्मा सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होने के कारण विष्णु हैं—वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् सः विष्णुः परमेश्वरः[1]।

यद्यपि संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में ३३ तथा उससे भी अधिक देवों का उल्लेख है किन्तु ये केवल व्यवहार मात्र की सिद्ध के लिये हैं। ''सब मनुष्यों के उपासना के योग्य तो देव एक ब्रह्म ही है जो सम्पूर्ण जगत् का कर्ता, सर्वशक्तिमान, सर्वोपास्य, सर्वाधार, सर्वकारण, सच्चिदानन्द स्वरूप, परमात्मा है उसी का अनेक विशेषणों से (३४ देवों के रूप में) वेदों में वर्णन किया गया है''—

'''इत्यादि विशेषणयुक्तं ब्रह्मास्ति स एवैको देवश्चतुस्त्रिंशो वेदोक्त-सिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्योऽस्तीति। ये वेदोक्त-मार्गपरायणा आर्यास्ते सर्वदैतस्यैवोपासनं चक्रुः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च[2]।

जिस दिव् धातु से देव शब्द बनता है उसके क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति एवं गति ये १० अर्थ हैं। इनमें से क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, निद्रा एवं मद ये पाँच अर्थ परमात्मा के भौतिक स्वरूप अर्थात् ३३ देवताओं में पाये जाते हैं और द्युति, स्तुति, कान्ति, मोद तथा गति ये परमात्मा के ही प्रमुख गुण हैं[3]। अतः देव शब्द का मुख्य अर्थ परमात्मा ही है, उसमें अनन्त गुण हैं। गौण रूप से पृथक्-पृथक् एक या दो गुण जिन-जिन तत्त्वों में व्यक्त होते हैं उनको भी देव' कह दिया जाता है। दिव् धातु के मुख्य अर्थ प्रकाश करना' से भी परमात्मा का ही बोध होता है। क्योंकि सूर्य चन्द्रमा आदि अपनी ज्योति से प्रकाशित नहीं होते। परमेश्वर ही उनको प्रकाशित

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, ३१ वां संस्करण, अजमेर १९५६, पृ० ५।
२. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, तृतीय संस्करण, १९३९, पृ० ५९।
३. वही, पृ० ९८।

प्रकाशित करता है । इस विषय में कठोपनिषद् का निम्नलिखित मंत्र (५।१५) प्रमाण है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं यस्य भासा सर्वमिदं विभाति[1] ॥

ऋग्वेद के बहुदेववाद के मूल में एक-देववाद सिद्ध करने के लिये स्वामी दयानन्द ने जिन दैदिक उद्धरणों का उल्लेख किया है उनमें से अधिकांश ऋग्वेद से पर्याप्त अर्वाचीन हैं । पहला उद्धरण उन्होंने श० ब्रा० (१४।४।२।१९-२२) से दिया है—

आत्मेत्येवोपासीत···स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुक्तं भवति । योऽन्यां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम् ।

इन वाक्यों में देवताओं की उपासना छोड़कर आत्मा की उपासना करने का आदेश दिया गया है । स्वामी दयानन्द के अनुसार, 'परमेश्वर ही सब की आत्मा है', अतः आत्मा शब्द से उसी का ग्रहण होता है । ऋग्वेद से इस संबन्ध में दो-तीन मंत्र उद्धृत किये गये हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋ० वे० १०।८१।१

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'

ऋ० वे० १।१६४।४६

अन्य मंत्रों की (उदा० पूषा से संबन्धित ऋ० १।६।१५।५ अष्टक-क्रम) एक-देववाद पुष्ट करने की क्षमता उनकी विशिष्ट प्रकार की व्याख्या से ही संभव है । यजुर्वेद से इस संबन्ध में उद्धरण अन्तिम (४०वें) अध्याय से, जो ईशावास्योपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है, अथवा ३२वें अध्याय से लिये गये हैं ।

---

1. ऋ० भा० भू०, पृ० ८६ । स्वामी जी के अनुसार इस मंत्र का अर्थ है—सूर्य चन्द्रमा, तारे आदि परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते । इन सबका प्रकाश करने वाला वह एक ही है । परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य प्रकाशित हो रहा है ।

उदाहरणार्थ—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः
तदेव शुक्रंतद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।। ३२/१

अन्य अध्यायों के मंत्रों में निम्नलिखित विशेष महत्वपूर्ण है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां, धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।।

य० वे० १७।१६

अन्य उद्धरण उपनिषदों से दिये गये हैं जिनमें स्वभावतः एकदेववाद का प्रतिपादन है ।

इन प्रकार के अन्य वैदिक मंत्रों से अपने दृष्टिकोण की पुष्टि करते हुए दयानन्द ने अपने ऋग्वेद-भाष्य में विभिन्न देवताओं के नामों को परमेश्वर का वाची मानकर और अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक प्रत्येक शब्द के प्रत्येक अर्थ को ईश्वरपरक लगाकर वेदों में देवों के विविध व्यक्तित्वों का खण्डन करके उनको केवल परब्रह्म की ही स्तुति परक माना है । इस संबन्ध में उदाहरण के लिये उनकी व्याख्या पद्धति के अनुसार ऋग्वेद के प्रथम मंत्र का अर्थ उद्धृत किया जाता है—

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ।

१. ज्ञानस्वरूप, २. व्यापक, ३. सबके अग्रणी नेता एवं ४ पूज्य परमात्मा (अग्निम्) की मैं स्तुति करता हूँ (ईले) । वह परमेश्वर १. सबके सामने स्थित रहता है, २. उत्पत्ति से पूर्व जगत् का धारण करने वाला है (पुरोहितम्) यज्ञादि उत्तम कर्मों को प्रकाशित करता है (देवम्) । १. वसन्त आदि सब ऋतुओं का उत्पादक है तथा २. सब ऋतुओं में पूजनीय है (ऋत्विजम्) । वह सब सुखों का प्रदान करने वाला है (होता, हु-दानादानयोः, जुहोति= ददाति इति 'होता' तथा १. प्रलयकाल में सब पदार्थों का ग्रहण करने वाला, २. सूर्यचन्द्रादि रत्नों का धारण करने वाला तथा ३. स्वर्ण हीरक आदि रत्नों को अपने भक्तों को प्रदान करने वाला है (रत्नधातमम्) ।[1]

---

१. सायण के अनुसार इस ऋचा का यह अर्थ है—

हम अग्नि देव की स्तुति करते हैं । वह यज्ञ का सर्वस्व है, वही, पुरोहित, ऋत्विक् एवं होता है और भक्त के लिये धन-संपत्ति का धारण करने वाला है ।

स्वामी जी पुराणों में वर्णित आख्यानों एवं देवकथाओं को कपोल-कल्पना समझते थे। उन्हें केवल उनका वैदिक रूप ही ग्राह्य था। वेदों में प्राप्त ऐसी सभी देवकथाओं की उन्होंने भौतिक स्तर पर व्याख्या करने की चेष्टा की है। यहाँ पर उन्होंने यास्क, सायण एवं सभी पाश्चात्य विद्वानों द्वारा अनुमोदित वैदिक देवों एवं देवकथाओं के प्राकृतिक स्वरूप को निःसंकोच स्वीकार किया है और उनकी कोई आध्यात्मिक या परमेश्वरपरक व्याख्या नहीं की। उदाहरणार्थ इन्द्र द्वारा वृत्र हनन के प्रसिद्ध वैदिक प्रसंग को उन्होंने इस प्रकार व्याख्यात किया है—

"यहाँ सूर्य नाम इन्द्र का है। वह अपनी किरणों से वृत्र अर्थात् मेघ को मारता है। जब वह मरके पृथ्वी पर गिर पड़ता है तब अपने जलरूप शरीर को सब पृथिवी में फैला देता है...जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मार के आकाश से पृथिवी में गिरा देता है तब वह पृथिवी में सो जाता है[1]। इस प्रकार अलंकार रूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनों परस्पर युद्ध के समान करते हैं, अर्थात् जब मेघ बढ़ता है तब तो वह सूर्य के प्रकाश को हटाता है, और जब सूर्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है तब वह वृत्र नामक मेघ को हटा देता है। परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्य का ही विजय होता है...जब जब मेघ वृद्धि को प्राप्त होकर पृथिवी और आकाश में विस्तृत हो के फैलता है तब तब उसको सूर्य हनन करके पृथिवी में गिरा दिया करता है[2]।"

यद्यपि यह ठीक है कि वैदिक संहिताओं में ऐसे मंत्र हैं जिनसे वैदिक देवताओं के एक तत्त्व के ही विभिन्न रूप होने की बात पुष्ट होती है किन्तु सूक्तों की विविध देवपरकता, प्रत्येक देवता का सूक्त के आदि में उल्लेख, वैदिक ऋषियों के हृदय में देवताओं के स्वतंत्र एवं पृथक् अस्तित्व को सूचित करता है। वायु आपस्, उषस्, अग्नि आदि शब्दों से एतन्नामविशिष्ट विभिन्नभौतिकपदार्थ रूप सरल अर्थ न लेकर इन्हें परमात्मा के के वाची कैसे स्वीकार कर लिया जाय? अग्नि शब्द से सीधा-सादा आग का अर्थ न लेकर "अंचु गतिपूजनयोः" अथवा

---

१. ऋ० भा० भू० पृष्ठ ४१६, तु० की०—
इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥ १।३२।१

२. ऋ० भा० भू० ४२०।

'अग,' 'अगि' आदि गत्यर्थक धातुओं से इस शब्द को सिद्ध करके इससे परमेश्वर रूपी खींचा-तानी का अर्थ क्यों लिया जाय ? जिस प्रकार वेदों में एक-देववाद के मंत्र हैं उसी प्रकार अद्वैतवाद, द्वैतवाद तथा बहुदेवतावाद के भी अनेक मंत्र प्राप्त होते हैं। वस्तुतः वैदिक शब्दों के साथ बहुत अधिक उलझने के पश्चात् ही ऐसे अर्थ को प्राप्त किया जा सकता है।

महर्षि अरविन्द ने वेदों के वर्षों के अध्ययन एवं समाधि की अवस्था में प्राप्त अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि वेद में गूढ़ भाषा में उन सत्यों का वर्णन है जिन्हें प्राचीन आर्य ऋषियों ने समाधि एवं आत्मसाक्षात्कार की अवस्था में अपनी अलौकिक अन्तर्दृष्टि से प्राप्त किया था। किन्तु ये तथ्य अत्यन्त रहस्यमय एवं गोप्य समझे जाते थे। सामान्य व्यक्तियों के लिये ये गूढ़ एवं दुरधिगम्य भी थे अतः उनके द्वारा इनका दुरुपयोग ही होता। इसलिये उन ऋषियों ने इन मनोवैज्ञानिक विचारों को एक ऐसी भाषा का आवरण पहना दिया जो द्व्यर्थक थी। जिसका एक अर्थ संसार के अग्नि, जल आदि भौतिक तत्त्वों से सम्बन्धित था और दूसरा गुरु कृपा से ज्ञेय गूढ़ार्थ ही मंत्रों का वास्तविक अर्थ था। यह सूक्ष्म एवं गूढ़ अर्थ गुरु-परम्परा से सुरक्षित रहा करता था। यही कारण है कि प्राचीन ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर कहा गया है कि वेदों का वास्तविक अर्थ गुरु के चरणों में बैठकर ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि वेद में इस प्रकार के कुछ गूढ़ रहस्य न होते और उसमें केवल जड़ पदार्थों पर चेतनत्व की प्रतिष्ठा करके उन पदार्थों का अथवा अन्य काल्पनिक देवताओं का प्रशंसात्मक स्तवन होता तो वेदों की, अगाध एवं अनन्त ज्ञान के स्रोत के रूप में, परवर्ती लौकिक साहित्य में प्रतिष्ठा न होती; उसे संपूर्ण धर्मों एवं विज्ञानों का अक्षय भंडार न समझा जाता।

अरविन्द के इस मत का आधार संक्षेप में इस प्रकार है—

वैदिक संहिताओं में, विशेषतः ऋग्वेद में, ऐसे अनेक क्रियारूप हैं जो परवर्ती संस्कृत में बिलकुल प्राप्त नहीं होते। इन शब्दों का मूल वास्तविक अर्थ जानने का हमारे पास कोई भी उपयुक्त साधन नहीं है। परवर्ती भाष्यकारों तथा वैयाकरणों ने व्याकरण की दृष्टि से इनके जो अर्थ निश्चित किये हैं वे प्रायः प्रसंगानुकूल नहीं हैं। अनेक ऐसे भी शब्द हैं जो लौकिक संस्कृत में तो प्राप्त होते हैं किन्तु वैदिक साहित्य में वे अन्य अर्थों में प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं। अधिकांश स्थानों पर ऐसे शब्द वैदिक मंत्रों के वास्तविक अर्थ के परिज्ञान के लिये अपरिहार्य

हैं। कहीं-कहीं तो ये सम्पूर्ण सूक्त के भाव को परिवर्तित कर देने की सामर्थ्य रखते हैं। किन्तु सायणाचार्य आदि भारतीय आचार्यों एवं पाश्चात्य विद्वानों के विस्तृत भाष्यों को पढ़कर मस्तिष्क में जो एक सामान्य प्रभाव पड़ता है वह यह है कि वेद ऐसे कुछ अर्धसभ्य एवं ज्ञानहीन व्यक्तियों की कृतियाँ हैं जो सीधी-सादी भाषा के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त कर सकने में असमर्थ थे और साथ ही जिनमें क्रमबद्ध चिन्तन शक्ति का भी अभाव था। ऐसे शब्द प्रायः प्राचीन ऋषियों की उस शब्दावली के हैं जिनकी सहायता से उन्होंने गूढ़ मानसिक रहस्यों को वैदिक मंत्रों में व्यक्त किया है।

उपनिषदों में अत्यन्त गूढ़, गंभीर, सूक्ष्म एवं परिपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक विचार प्राप्त होते हैं। ये सब पूर्ववर्ती शून्य से उत्पन्न नहीं हो सकते। मनुष्य एक ज्ञान से ही दूसरे ज्ञान पर पदार्पण करता है। ज्ञान के पूर्ववर्ती अपूर्ण अथवा अस्पष्ट सूत्रों को वह ग्रहण करता है और उस दिशा में चलता हुआ पूर्णता प्राप्त करता है। ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में सहसा पूर्णता नहीं प्राप्त की जा सकती। अतः उपनिषदों की इस उत्कृष्ट मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक विचार-धारा का उद्‌गम वेदों में ही मानना पड़ेगा।

एक बात और है। वैदिक देवताओं और पौराणिक देवताओं के स्वरूप में आश्चर्यजनक अन्तर है। उपनिषद् एवं पुराणों में प्राप्त वैदिक देवता प्रायः किसी न किसी मनोवैज्ञानिक विचार से संबन्धित हैं। वेदों की सरस्वती नदी पुराणों में विद्या एवं ज्ञान की अधिष्ठात्री है। विष्णु एवं रुद्र सर्वोत्कृष्ट स्थान पा गये हैं और विश्व की संरक्षक तथा संहारक शक्तियों के अधिष्ठाता हैं। ईशावास्य-उपनिषद् में सूर्य की ज्ञान के प्रकाशक देवता के रूप में स्तुति की गई है जिसकी कृपा से मनुष्य सत्य को प्राप्त कर सकता है। ऋग्वेद के गायत्री मंत्र में भी सूर्य का यही रूप सामने आता है। इसी उपनिषद् में अग्नि की, कुछ नैतिक विशेषताओं के अधिष्ठाता होने के कारण, स्तुति की गई है। वह मनुष्य को पापों से मुक्त करता है तथा देवमार्ग से ले जाकर आनन्द की प्राप्ति कराता है। वह मनुष्यों की इच्छा-शक्ति का अधिष्ठाता माना गया है और इसलिए उनके सदसत् कर्मों का उत्तरदायी है। सोम पादप, जो वैदिक ऋषियों को एक विशिष्ट प्रकार का रस प्रदान करता था उपनिषदों में मनस्तत्व से संबन्धित है। पुराणों में सोम चन्द्रमा की सज्ञा है और स्थान-स्थान पर चन्द्रमा का मनुष्यों के मन से संबन्ध बताया गया है। ये सब तथ्य वैदिक जड़ात्मवाद अथवा जड़चेतनावाद के ऊपर आधारित

देवोपासना एवं देवों के इन मनोवैज्ञानिक विचारों के अधिष्ठातृत्व के बीच में विभेद के एक स्पष्ट गर्त को सूचित करते हैं[१]।

जो रहस्यमय गूढ़ मनोवैज्ञानिक विचार वेदों की ऋचाओं में सन्निहित है उनकी परिपूर्ण व्यक्ति के लिये भारतीय परम्परा में 'दृष्टि' एवं 'श्रुति' ये दो शब्द प्रचलित हैं। ऋषि सूक्त का रचयिता नहीं है। वह एक अनन्त सत्य एवं अपौरुषेय ज्ञान का द्रष्टा है। वेदों की भाषा श्रुति है। उसमें वे शब्द हैं जो सुदूर निस्सीम आकाश से कम्पित होते हुए उस व्यक्ति के आन्तरिक कर्ण तक पहुँचते हैं जिसने पहले से अपनी आन्तरिक शक्तियों को उनके श्रवण के योग्य बिना रखा है[२]।

अरविन्द के अनुसार राये, रयि, राधस्, रत्न, वाजस् आदि शब्द भौतिक विभूतियों के अतिरिक्त आध्यात्मिक तत्त्वों के भी सूचक हैं। उपनिषदों में राये शब्द आध्यात्मिक शक्ति का सूचक है और एक उपनिषद् में ऋग्वेद से उद्धृत एक मंत्र में भी इसका यह अर्थ है। अतः वेदों में भी इसका यही मनोवैज्ञानिक अर्थ होना चाहिये। ठीक इसी प्रकार यज्ञ एवं उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया भी अधिकांशतः प्रतीकात्मक है और मनुष्य के आन्तरिक एवं बाह्य सभी कर्मों को सूचित करती है। स्वयं गीता में ही यज्ञ शब्द मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाशीलता का वाची है। यज्ञ को संचालित करने का श्रेय पुरोहित को है जिसका अर्थ है 'सामने स्थित'। यह पुरोहित और कुछ नहीं केवल मनुष्य की इच्छाशक्ति है जो सभी कार्यों के लिये उत्तरदायी है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अग्नि इस इच्छा शक्ति का सूचक है और इसीलिये उसे स्थान-स्थान पर पुरोहित कहा गया है। गो का अर्थ गाय के अतिरिक्त किरण भी होता है। किरण अथवा प्रकाश ज्ञान का वाची है। उषा को गोमती तथा अश्वमती कहा गया है अर्थात् वह यजमान को गो तथा अश्व प्रदान करती है। गो और अश्व और कुछ नहीं केवल ज्ञान एवं शक्ति, चेतना एवं ऊर्जा के वाची हैं। इस दोनों की सहायता के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। पणि आर्यों की गायें (गावः) चुरा ले जाते हैं और अन्धकारमय गुफा में बन्द कर देते हैं। स्वर्ग की कुक्कुरी सरमा उनको पुनः प्राप्त करने में सहायता करती है। वस्तुतः सरमा प्रातिभ ज्ञान (Intuition) की प्रतीक है जो मनुष्य के अन्धकारमय अवचेतन मन में स्थित आत्मज्ञान की किरणों (गो) को बाहर लाती है[३]।

---

१. देखिये श्री, अरविन्द : ऑन दि वेद, अध्याय १, पृ० १-१०।

२. अध्याय २, पृ० ११।

३. अध्याय ४, पृ० ४३।

उनके अनुसार इन्द्र आध्यात्मिक ज्ञान से पूर्ण मन का वाची है। अतः इन्द्र को ही इन गायों (ज्ञान) की आवश्यकता रहती है।

सत्य के परिज्ञान से मर्त्यता छोड़कर अमरता प्राप्ति ही वैदिक ऋषियों की दृष्टि में जीवन का उद्देश्य है। पर अमरता अनन्त एवं अखण्ड आनन्दमय है। मन, प्राण एवं स्थूल शरीर का विनाश ही मृत्यु है। जब मनुष्य रोदसी अर्थात् आकाश (मन) एवं पृथ्वी (पांचभौतिक शरीर) को छोड़ देता है तभी वह महः (आनन्द) एवं सत्यम् की स्थिति को प्राप्त करता है[1]। धीः, मनीषा, मनस्, मति, ऋतम्, कवि, विप्र, विपश्चित्, क्रतु, घृतम्, श्रवः आदि के भी अनेक मनोवैज्ञानिक अर्थ श्रीअरविन्द ने निश्चित किये हैं[2]।

वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में बी० जी० रेले के एक नवीन एवं विचित्र मत का भी यहाँ उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। सन् १९३१ में बम्बई से प्रकाशित अपनी मौलिक पुस्तक 'वैदिक गाड्स-एज दि फिगर्स आफ् बॉयल.जी' में उन्होंने प्रतिपादित किया है कि सभी वैदिक देवता मनुष्य के स्नायु संस्थान के विभिन्न चेतना-केन्द्रों तथा क्रियाओं के प्रतीक हैं। देवता के रूप में जिस चेतन सत्ता की वैदिक ऋषियों ने कल्पना की वह मानवीय चेतना का ही प्रतिरूप है। और इस चेतना का अधिष्ठान स्नायु तन्त्र (मस्तिष्क, सुषुम्ना एवं तंत्रिकाएँ) ही देवों का निवास स्थान है। उन्हीं के शब्दों में "मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि वेद स्नायु संस्थान एवं उनकी कार्य प्रणाली पर ऋषियों द्वारा लिखी गई पुस्तकें हैं। इन सबको वैदिक ऋषियों ने एक ऐसी भाषा में व्यक्त किया है जो उनके निवास स्थान[3] से संबन्धित प्राकृतिक दृश्यों से लिये गये

---

१. पृष्ठ ५३।

२. यहाँ अरविन्द के सिद्धान्त का केवल दिग्दर्शन मात्र किया गया है। विस्तार के लिये उनकी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक 'ऑन दि वेद' पठनीय है।

३. इस संबन्ध में रेले तिलक के अनुयायी हैं और उत्तरी ध्रुव को ही आर्यों का मूल निवास स्थान मानते हैं (देखिये-उनकी पुस्तक की भूमिका, पृ० १२-१३)। तिलक के इस मत का संक्षिप्त विवरण आगे दिया गया है।

रूपकों अथवा प्रतीकों से युक्त है[1] ।"

'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' इस प्रसिद्ध लोकोक्ति के अनुसार वैदिक ऋषियों ने मस्तिष्क को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की एक लघु प्रतिकृति समझा । अतः उन्होंने मस्तिष्क के विभन्नों विभागों से संबन्धित इन देवताओं को बाह्य प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों से भी संबद्ध किया है । वैदिक देवताओं के इस स्वरूप पर दृष्टि रखते हुए ही सम्भवतः प्रसिद्ध प्राचीन भारतीय शल्यचिकित्सक सुश्रुत ने कहा है कि वेदों में वर्णित सभी देवताओं का मानव शरीर में स्थायी अस्तित्व है । श्री रेले का विश्वास है कि केवल इसी दृष्टि से व्याख्या करने पर ही वेदों में वर्णित देवताओं की प्रत्येक विशेषता की सन्तोषजनक व्याख्या की जा सकती है । आत्मा जैसी किसी अमूर्त एवं अव्यक्त सत्ता की स्वीकृति के पूर्व मानव चेतना का मूल रहस्य खोजते हुए उन्होंने मानव मस्तिष्क एवं स्नायुमण्डल का सूक्ष्म अध्ययन किया था ।

श्री रेले के सिद्धान्त को पूर्णतः समझने के लिये स्नायुमण्डल का एक संक्षिप्त-सा विवरण [दे देना यहाँ अनुपयुक्त न होगा । यह तो सभी को ज्ञात है कि ज्ञान एवं चेतना का केन्द्र मस्तिष्क है । मस्तिष्क के दो भाग हैं दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र हैं । इनमें एक भाग मस्तक की ओर आगे होता है और दूसरा पीछे । आगेवाला भाग पिछले भाग की अपेक्षा बहुत बड़ा होता है । संवेदन की क्रिया एवं समस्त ज्ञानेद्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का नियमन यहीं से होता है । इसे 'प्रमस्तिष्क' कहते हैं । पिछला 'लघु-मस्तिष्क' शरीर में सन्तुलन स्थापित रखता है । दोनों मस्तिष्कों के बीच में एक दरार-सी होती है । दरार के दोनों ओर के भाग एक समान होते हैं । इस प्रकार मस्तिष्क के चार खण्ड हो जाते हैं । यह महत्वपूर्ण है कि मस्तिष्क का दक्षिण भाग शरीर के वामांग को और वामांग शरीर के दक्षिण भाग को नियन्त्रित रखता है । मस्तिष्क से शरीर में सूचनाएँ

---

4. My conviction as a whole leads me to believe that the Vedas are the books writted on the physiology of the nervous system by different Vedic seers. They describe its structure in a language which is full of metaaphors taken from the natural phenomena. —Preface Pp. XI—XII .

ले जाने के लिये एवं इन्द्रियों से विभिन्न अनुभूतियों को मस्तिष्क तक पहुँचाने के लिये शरीर के प्रत्येक अंग में पतले डोरे जैसी तंत्रिकाओं (अथवा स्नायु) का जाल सा बिछा रहता है। ये सब तंत्रिकाएँ सुषुम्ना नामक एक बड़ी नाड़ी से जुड़ी रहती हैं। यह नाड़ी रीढ़ की हड्डी के बीच के पोले भाग में ऊपर से नीचे तक स्थित रहती है। सुषुम्ना अनेक तंत्रिकाओं का एक समूह है। कपाल के पिछले भाग में जिस स्थान पर सुषुम्ना मस्तिष्क से मिलती है वहाँ उसका ऊपरी सिरा कुछ मोटा हो जाता है। इसे 'मैडुला आबलंगाटा' कहते हैं। मस्तिष्क एवं सुषुम्ना का आवृत करती हुई एक बहुत पतली झिल्ली होती है। इस पतली झिल्ली के ऊपर एक मोटी झिल्ली होती है दोनों के बीच में एक चिकना गाढ़ा-सा द्रव होता है। संक्षेप में यही स्नायु संस्थान है।

श्री रेले ने शरीर-शास्त्र संबन्धी अनेक सूक्ष्म प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि प्रमस्तिष्क ही इन्द्र है। जिस प्रकार आकाश से वर्षा की बूँदें गिरती है उसी प्रकार यह भी तंत्रिकाओं द्वारा शरीर में अनेक सूचनाएँ भेजता रहता है। प्रमस्तिष्क के मध्य भाग में स्थित अनुभूति का केन्द्र थैलेमस् ही अग्नि है। लघु-मस्तिष्क पूषन् है। मैडुला एवं लघु मस्तिष्क के समीप का पोन्स् नामक भाग रुद्र है। यहाँ पर मैडुला से आये हुए तीन स्नायु समूह लघुमस्तिष्क से मिलते हैं। इन्हीं स्नायु रूपी बाणों से संबन्ध के कारण ही रुद्र को धनुर्धर कहा गया है। सुषुम्ना विष्णु है। प्रमस्तिष्क के दाहिने और बाएँ भाग से आकर सुषुम्ना में प्रवेश करने वाले दो स्नायु समूह अश्विनौ शब्द से वाच्य हैं। स्नायुओं के ये तीन समूह ही ऋभु नाम से ऋग्वेद में वर्णित किये गये हैं। ऋग्वेद में कहा गया है कि ऋभुगण ने त्वष्टा के एक चषक को चार चषकों में परिवर्तित कर दिया। यह चार चषक प्रमास्तिष्क के पिछले दो कोषों लघुमस्तिक का एक कोष एवं मेडुला के ही प्रतीकात्मक रूप हैं। मस्तिष्क एवं सुषुम्ना के के चारों ओर का लसिका-द्रव मित्र और वरुण हैं। वरुण को चमकीले वस्त्र पहने हुए वर्णित किया गया है। ये वस्त्र वे ही दोनों झिल्लियाँ हैं जिनके बीच में यह द्रव रहता है। रैले ने ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं का प्रमाण देते हुए यह भी सिद्ध किया है कि रोदसी का अर्थ पृथिवी एवं आकाश नहीं हो सकता। रोदसी शब्द अनेक ऋचाओं में पृथिवी एवं आकाश दोनों के वाची शब्दों के साथ पृथक्-पृथक् भी प्रयुक्त हुआ है और तब भी वह द्विवचन ही है। वस्तुतः यह शब्द प्रमस्तिष्क के दो गोलार्द्धों का वाची है। मुखमण्डल की मांसपेशियों को नियन्त्रित करने वाली एवं वहाँ से प्रमस्तिष्क तक सूचना ले जाने वाली तन्त्रिकाओं

की मरुत् संज्ञा है । ये जाकर उस 'सेतु' (Pons) से मिलती हैं जिसे वैदिक भाषा में रुद्र का नाम दिया गया है । इस प्रकार ये रुद्र के पुत्र हैं । भ्रूण एवं तत्पश्चात् शिशु के रूप में विकसित होने वाला संसिक्त कोष ही हिरण्यगर्भ है, आदि-आदि ।

डा० रैले की ही भाँति वैदिक देवताओं के संबन्ध में एक अन्य विचित्र मत श्री परमशिव अय्यर का है । अपनी 'रिक्स' (Riks) नामक पुस्तक में उन्होंने प्रतिपादित किया है कि ऋग्वेद में उस समय की घटनाओं का उल्लेख है जब पृथ्वी का जन्म ही हुआ था और पर्वतों, नदियों तथा समुद्र आदि का भूतल पर क्रमशः निर्माण हो रहा था । भूतल पर होने वाले विविध प्रकार के परिवर्तनों को ही वैदिक ऋषियों ने ऋग्वेद के रूप में उपनिबद्ध किया है और सम्पूर्ण देवता भूगर्भ विद्या-संबन्धी दृश्यों (Geological Phenomena) के ही वाची हैं । अपने मत की पुष्टि के लिये अय्यर महोदय को भी स्वभावतः स्वामी दयानन्द की भाँति शब्दों के अर्थों में पर्याप्त तोड़-मरोड़ करनी पड़ी है । 'परमे व्योमन्' का अर्थ उनके मत में 'सर्वोच्च आकाश में' नहीं अपितु 'बहुत नीचे' है । 'उमा' शब्द गर्त का वाची है ।

वैदिक देवों की उनकी व्याख्या पद्धति का अनुमान रुद्र और मरुतों की व्याख्या से लगाया जा सकता है । वेदों में वर्णित मरुद्गण की उत्पत्ति, क्रियाओं तथा रूपों से समानता दिखाते हुए उन्होंने सिद्ध किया है कि मरुतों का गण पर्वतों के उच्च शिखरों पर जमे हुए हिम, हिमयुक्त शिखरों तथा बर्फीले झंझावात को सूचित करता है । मरुतों को 'रुद्रस्य सूनवः' तथा 'पृश्निमातरः' (पृश्निः माता येषां) कहा गया है । पृश्नि कुन्तल मेघ (सिरस) है जो सदा ऊँचे पर्वतों के भी ऊपर हवा में तैरता रहता है और कभी पृथ्वी पर नहीं उतरता । ब्राह्मण ग्रन्थों में रुद्र को अग्नि कहा गया है । वस्तुतः रुद्र अन्तरिक्ष की अग्नि (विद्युत् या तडित्) है । इस तडित् के कारण ही उच्च पर्वतीय शिखर तथा उनके ऊपर का वायुमंडल विद्युन्मय हो जाता है और फलस्वरूप मेघ की वाष्प के संयोग से उन शिखरों पर तुहिन कण जम जाते हैं । मरुत् और रुद्र को अनेक ओषधियों का स्वामी तथा रोग विनाशन में निपुण बताया गया है । वस्तुतः विद्युत् के आवेश से युक्त हिमयुक्त तीव्र झंझावात वायुमंडल के रोगोत्पादक कीटाणुओं तथा अन्य हानिकारक तत्वों को नष्ट करके वातावरण को शुद्ध कर देता है । साथ ही

ऐसे झंझावात के पश्चात् विविध प्रकार की ओषधियों की भी तीव्रता से वृद्धि होती है। ऐसा झंझाबात प्रायः अचानक ही उठ खड़ा होता है। अतः मरुतों को विमान अथवा अश्वों के विना ही इतस्ततः विचरण करते हुए वर्णित किया गया है।[1]

इस प्रसंग में श्री बाल गंगाधर तिलक का मत भी उल्लेखनीय है। यद्यपि अरविन्द, रैले या अय्यर की भाँति उन्होंने वैदिक देवताओं की प्रकृति एवं उत्पत्ति के विषय में अपना कोई पृथक् सिद्धान्त स्थिर नहीं किया और इस संबन्ध में मूलतः पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक सिद्धान्त का ही अवलम्बन किया है फिर भी इन्द्र-वृत्र की कथा का आधार लेकर उन्होने इसकी तथा एतत्-संबन्धित अन्य देव-कथाओं की जिस प्रकार से व्याख्या की है उससे वैदिक देवताओं के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद के निम्न मंत्र—

तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य।
यतः परि जार इवाचरन्ती उषो ददृक्षे न पुनर्यतीव॥ ७।७६।३

एवं इसी प्रकार के अन्य उल्लेखों के आधार पर जिनमें अनेक दिनों के पश्चात् सूर्योदय होने का और उषःकाल के बहुत समय स्थिर रहने का उल्लेख है, लोकमान्य ने यह प्रतिपादित किया है कि आर्यों का मूल निवास-स्थान उत्तरी ध्रुव का वह प्रदेश था जहां छः मास का दिन एवं छः मास की रात्रि होती है। इस ध्रुवीय सिद्धान्त की आधारभूत इन्द्र एवं वृत्र की कथा की तिलक ने इस प्रकार व्याख्या की है—

ऋग्वेद में वृत्र का विनाश करके इन्द्र द्वारा जलों को प्रवर्तित करने का उल्लेख है। साथ ही अनेक स्थानों पर यह भी कहा गया है कि उसने बल आदि दैत्यों द्वारा गुफाओं में अवरुद्ध गायों को मुक्त किया। प्रथम कृत्य से इन्द्र को वृष्टि का देवता तथा द्वितीय से सूर्य का देवता समझा जाता है। किन्तु पर्जन्य एवं सूर्य, सविता, विवस्वान्, मित्र आदि वृष्टि एवं प्रकाश के देवों के होते हुए भी ऋग्वेद में इन्द्र का इतना महत्व क्यों है इस प्रश्न का सर्वाधिक सन्तोषजनक उत्तर तब मिल सकता है जब हम यह मानें कि ऋग्वेद में उल्लिखित जल आकाशीय जल है। प्राचीन आर्यों का विश्वास था कि जल वाष्प सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल को चारों ओर से व्याप्त किये हुए है और इन्हीं जलों से पृथ्वी की सृष्टि हुई है;

---

१. टी० परमशिव अय्यर, ऋक्स, पृ० १७-१९।

(उपनिषदों में भी अनेक स्थानों पर कारण-कार्य भाव से आकाश से क्रमशः वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी की उत्पत्ति का वर्णन है[1]) । यह माना जाता था कि ये जल पृथ्वी से पर्याप्त ऊँचाई पर मण्डलाकार रूप में स्थित हैं और धीरे-धीरे पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं। सूर्य-चन्द्र आदि ग्रह इसी जलमण्डल में स्थित होने के कारण पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं।

ध्रुव की महारात्रि शरद् ऋतु से प्रारम्भ होती थी। उस समय सूर्य पृथ्वी के नीचे चला जाता था। वृत्र पृथ्वी के नीचे के इसी अन्धकारमय स्थान का स्वामी दैत्य था। उसका कार्य शरद् ऋतु के आदि में प्रारंभ होता है। यदि इस जलमंडल की गति अवरुद्ध हो जाय तो सूर्य-चन्द्र आदि का उदय बन्द हो जायेगा और संसार एक भयंकर संकट में पड़ जायेगा। अतः उन्होंने एक ऐसे देवता की कल्पना की थी जो वृत्र से निरन्तर युद्ध करता हुआ उसका वध करता है और अन्ततः द्वितीय वर्ष के आदि में आकाशीय जलों को अग्रसारित करता है, जिससे सूर्यादि का पुनर्दर्शन संभव होता है। पृथ्वी के दोनों कोनों पर आर्य कुछ पर्वतों को भी स्थित मानते थे, इसीलिये सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रादि रूपी गायों का इन पर्वत कन्दराओं से निर्गमन का प्रायशः वर्णन है[2]। इसी सिद्धान्त के अनुसार अन्य वैदिक देवताओं की प्रकृति की व्याख्या करते हुए लोकमान्य तिलक ने विष्णु के सम्बन्ध में कहा है कि ऋग्वेद में जिन तीन पदक्रमों का वर्णन किया गया है वे भी सूर्य की पृथ्वी परिक्रमा से ही संबन्धित हैं। ध्रुवीय प्रदेश के छः मास के दिन के अतिरिक्त उदय के पूर्व एवं अस्त के पश्चात् एक-एक मास तक सूर्य का थोड़ा-थोड़ा प्रकाश आता ही रहता है। केवल चार मास ही गहन अन्धकार में आवृत रहते हैं। चार-चार मास के तीन खण्ड ही विष्णु के तीन पद हैं जिनसे वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नाप डालता है। ऋग्वेद में प्रायः कहा गया है कि विष्णु का तृतीय पद मनुष्यों द्वारा अदृष्ट रहता है। केवल दो ही पाद आँखों

---

१. तु० की०, तैत्तिरीय उ० २।१।

2. The waters do dot mean the waters in cloud but the waters or the watery vapours whieh fill the universe and form the material out of which the latter was created... the conqust over the cloud was something far more marvellous and cosmic in character than the breaking of the rain *Arcfie Home in the vedas.* p. 269.

से दिखाई पड़ते हैं[1]। विष्णु का एक प्रसिद्ध विशेषण 'शिपिविष्ट' भी है। इसका अर्थ यास्क ने 'अप्रतिपन्नरश्मिः' किया है जो विष्णु की इस गूढ़ अवस्था का वाची है।

अश्विनौ, वरुण, पूषन्, मित्र, मरुत् आदि देवों की तिलक ने इसी दृष्टि से व्याख्या की है और प्रायः सबका उपर्युक्त सिद्धान्त में उपयुक्त स्थान निश्चित किया है।

वर्तमान युग के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् एवं विचारक श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का उल्लेख किये बिना यह प्रसंग अधूरा रह जायेगा। वैदिक साहित्य के प्रगाढ़ अनुशीलन एवं पाश्चात्य विद्वानों के वेद संबन्धी आलोचनात्मक साहित्य का तुलनात्मक दृष्टि से मनन करने के पश्चात् उन्होंने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि वेदों में सृष्टि के विभिन्न गूढ़ रहस्यों का ही परोक्ष भाषा में वर्णन किया गया है। "सृष्टि की रहस्यमयी प्रक्रिया की व्याख्या वेद की नाना विद्याओं के रूप में उपलब्ध होती है"। मनुष्य के शरीर के अन्दर के विभिन्न रहस्य एवं जगत् के प्रत्येक कण में व्याप्त सृष्टि के रहस्य ये दो ही वे स्रोत हैं जिनसे वैदिक ऋषियों ने देवताओं का निर्माण किया है। 'वेदविद्या' एवं 'उरुज्योति' नामक पुस्तकों में लेखक के वैदिक देववाद सम्बन्धी निबन्धों का संग्रह है

उनके अनुसार वैदिक सृष्टि-विद्या की दृष्टि से विश्व में दो ही मूल तत्त्व हैं, एक देव और दूसरा भूत। देवतत्त्व का ही दूसरा नाम शक्तितत्त्व है। भूत दृश्य और स्थूल हैं। देव या शक्ति सूक्ष्म और अदृश्य है। प्रत्येक भूत एक-एक कूट या ढेर हैं। उसकी विधृति शक्ति या देव कहलाती है। बिना देव के किसी भी भूत की पृथक् सत्ता संभव नहीं। मूलभूत देवतत्त्व एक और अखण्ड है। वही सृष्टि के लिये नाना भाव में परिवर्तित है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति', 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः' यही सृष्टि का मूल सूत्र है। यद्यपि देवताओं के अनेक नाम कहे गये हैं। किन्तु उन सब नामों के मूल में एक ही देवतत्त्व प्रतिष्ठित है—'यो देवानां नामधा एक एव, तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या' (ऋ० १०।८२।३)।

मन, प्राण (लाइफ) और पंचभूतों (मैटर) से इस प्राणिजगत् की सृष्टि हुई है। पंचभूतों में आकाश सर्वाधिक सूक्ष्म है। उसका गुण वाक् है अतः पंचभूतों को वैदिक भाषा में वाक् कहा गया है—'वाङ्मयः प्राणमयः मनोमयः एष आत्मा'।

---

१. द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशो अभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
तृतीयमस्य नकिरादधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः। १।१५५।५

अग्नितत्त्व की व्याख्या करते हुए अग्रवाल जी ने कहा है कि ज्ञान और कर्म की जितनी शक्ति है उस सबका प्रतीक अग्नि है। मूल और तूल दोनों रूपों में जितनी शक्ति और उसके भेद हैं वह सब अग्नि का ही एक-एक रूप है। **'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः'**, जिसका समिन्धन होता है उसे अग्नि कहते हैं। स्थूल काष्ठ या समिधा अग्नि के समिन्धन का एक प्रतीक या उदाहरण मात्र है। अग्नि को हम तब तक प्रत्यक्ष नहीं देख सकते जब तक वह भूत के माध्यम से प्रकट न हो। भूत को क्षर कहते हैं। और उसके भीतर निवास करने वाले अक्षर को देव कहा जाता है—**'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते'** ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त (ऋ० १।१६४) में कहा है कि अक्षर से ही क्षर का जन्म होता है अर्थात् देव या शक्ति से ही भूत का निर्माण होता है। इस अक्षर या देव तत्त्व की अभिव्यक्ति तीन रूपों में हो रही है; वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी, एवं मानव। इन तीनों में जो शक्ति तत्त्व है उसे प्राणाग्नि कहते हैं। प्राण तत्त्व ही वैदिक अग्नि है। प्राण रूपी कोई ज्योति या रोचना मानव केन्द्र में प्रकट होती है और प्राण एवं अपान के रूप में स्पन्दित होती हुई आयु पर्यन्त सक्रिय रहती है, **'अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणदपानती व्यख्यन् महिषो दिवं'** (ऋ० १०।१८९।२)। ये प्राण विराट् आत्मतत्त्व के ही अंशभूत हैं। विराट् आत्मतत्त्व का वैदिक परिभाषा में सर्वोत्तम प्रतीक सूर्य माना गया है—**'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**, जो भौतिक अग्नि का ही विशालरूप है। मैत्रायणी उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त। जो मूर्त है वह असत्य है, जो अमूर्त है वह सत्य है, वही ब्रह्म है, वही ज्योति है। जो ज्योति है वही आदित्य है। जो आदित्य है वही आत्मा है (मै० ६।३)।

प्रज्ञा या मनस्तत्त्व ही वैदिक इन्द्र है। ऋग्वेद में इन्द्र को मनस्वान् कहा गया है—**'यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्'**, (ऋ० २।१२।१)। जहाँ एक या अनेक इन्द्रियों का विकास उपलब्ध है वहाँ इन्द्र या मनस्तत्त्व की सत्ता अवश्य है। कौषीतकि उपनिषत् में इन्द्र ने अपने विषय में कहा है—**'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा'** अर्थात् मैं ऐसा प्राण हूँ जो प्रज्ञा या मनस्तत्त्व के साथ प्राणियों के केन्द्र में आविर्भूत होता हूँ। मन की महती सत्ता अवचेतन प्रज्ञा में है। उसी से सब प्रेरणाओं के स्रोत उन्मुक्त होते हैं। यही रुँधे हुए जलों का इन्द्र द्वारा उन्मोचन है।

मातृगर्भ में शिशु के रूप में विकसित होने वाला गर्भित कोष या भ्रूण ही

हिरण्यगर्भ है—इस कोष से ही जीवन का स्पन्दन प्रारंभ हो जाता है। कोष के भीतर प्रसुप्त उसका केन्द्रक (न्यूक्लियस) विभाजित होते हुए एक राशि या कूट बन जाता है जिसे शरीर कहते हैं। सर्वप्रथम इसी हिरण्यात्मक गर्भ या शिशु का जन्म होता है—**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्** १०।२२१।१)। हिरण्य का अर्थ है अग्नि या ज्योति और गर्भ का अर्थ है शिशु या कुमार (ऋ० १०।१३।३)।

ऋक् एवं यजुर्वेद में अग्नि को '**अन्नाद**' या अन्न का भक्षण करने वाला कहा गया है। जीवों का प्राणात्मक स्पन्दन ही अन्नाद अग्नि का रूप है। अन्न ही सोम है। केन्द्र के बाहर से अन्नरूपी सोम को खींच कर अन्नाद अग्नि पचाता है और शरीर की वृद्धि करता है। '**अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे**' ऋ० १।१। का यही अभिप्राय है। यही सोम की अग्नि में आहुति है। यही सोम याग है। यदि केन्द्र में बैठे अन्नाद अग्नि को सोम न मिले तो यज्ञ की समाप्ति हो जाय और कोष या शरीर के संवर्द्धन का कार्य रुक जाय।

पृथ्वी की सम्पूर्ण प्राणि सृष्टि अन्न (सोम) तथा अन्नाद (अग्नि) के नियम के अधीन है। जिस केन्द्र में प्राण का जन्म होता है उसमें अशनाया या बुभुक्षा का नियम अवश्य काम करता है। बालक भूख से व्याकुल होकर रोता है। अग्नि की सोम के लिये व्याकुलता या भूख को ही ब्राह्मण ग्रन्थों में रुदन कहा है। '**यदरोदीत् तस्माद्रुद्रः** (श० ब्रा० ६।१।३।१०) अग्नि ही रुद्र है। अन्नाद-अग्नि अन्न रूप सोम के बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार अग्नि के दो रूप कहे गये हैं, घोर तथा अघोर। जब अग्नि को सोम नहीं मिलता तो वह घोर या मृत्यु (रुद्र) रूप हो जाता है। बिना सोम के अग्नि अपने केन्द्र को ही नष्ट कर डालता है जैसे घी या तेल के अभाव में दीपक की ज्वाला बत्ती को ही जला डालती है। किन्तु जैसे ही अग्नि को सोम मिलता है वह शान्त हो जाता है और शिव या कल्याण-कारी बन जाता है और सोम से शरीर को पुष्ट करता है। इसी प्रकार इस समस्त विश्व की जो संचालिका शक्ति है वही विराट् सविता देव है। "विश्व रूपी वत्स की माता अनन्त प्रकृति ही अदिति है"। प्राणि जगत् में स्त्री पुरुष के युग्म को ही मित्रावरुणौ कहते हैं, आदि-आदि।

अग्रवाल जी का मत है कि सूर्य, चन्द्र पृथ्वी, समुद्र, मेघ, आकाश, नदी, वृक्ष, वन, जल, अग्नि, आदि जितने भी शत-सहस्र पदार्थ है वे सब अपने-अपने प्रतीक से सृष्टि के रहस्य को प्रकट कर रहे हैं। वे शब्दमयी भाषा की अपेक्षा

अग्नितत्त्व की व्याख्या करते हुए अग्रवाल जी ने कहा है कि ज्ञान और कर्म की जितनी शक्ति है उस सबका प्रतीक अग्नि है। मूल और तूल दोनों रूपों में जितनी शक्ति और उसके भेद हैं वह सब अग्नि का ही एक-एक रूप है। 'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः', जिसका समिन्धन होता है उसे अग्नि कहते हैं। स्थूल काष्ठ या समिधा अग्नि के समिन्धन का एक प्रतीक या उदाहरण मात्र है। अग्नि को हम तब तक प्रत्यक्ष नहीं देख सकते जब तक वह भूत के माध्यम से प्रकट न हो। भूत को क्षर कहते हैं। और उसके भीतर निवास करने वाले अक्षर को देव कहा जाता है—'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते' ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त (ऋ० १।१६४) में कहा है कि अक्षर से ही क्षर का जन्म होता है अर्थात् देव या शक्ति से ही भूत का निर्माण होता है। इस अक्षर या देव तत्त्व की अभिव्यक्ति तीन रूपों में हो रही है; वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी, एवं मानव। इन तीनों में जो शक्ति तत्त्व है उसे प्राणाग्नि कहते हैं। प्राण तत्त्व ही वैदिक अग्नि है। प्राण रूपी कोई ज्योति या रोचना मानव केन्द्र में प्रकट होती है और प्राण एवं अपान के रूप में स्पन्दित होती हुई आयु पर्यन्त सक्रिय रहती है, 'अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणदपानती व्यख्यन् महिषो दिवं' (ऋ० १०।१८९।२)। ये प्राण विराट् आत्मतत्त्व के ही अंशभूत हैं। विराट् आत्मतत्त्व का वैदिक परिभाषा में सर्वोत्तम प्रतीक सूर्य माना गया है—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च', जो भौतिक अग्नि का ही विशालरूप है। मैत्रायणी उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त। जो मूर्त है वह असत्य है, जो अमूर्त है वह सत्य है, वही ब्रह्म है, वही ज्योति है। जो ज्योति है वही आदित्य है। जो आदित्य है वही आत्मा है (मै० ६।३)।

प्रज्ञा या मनस्तत्त्व ही वैदिक इन्द्र है। ऋग्वेद में इन्द्र को मनस्वान् कहा गया है—'यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्', (ऋ० २।१२।१)। जहाँ एक या अनेक इन्द्रियों का विकास उपलब्ध है वहाँ इन्द्र या मनस्तत्त्व की सत्ता अवश्य है। कौषीतकि उपनिषद् में इन्द्र ने अपने विषय में कहा है—'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' अर्थात् मैं ऐसा प्राण हूँ जो प्रज्ञा या मनस्तत्त्व के साथ प्राणियों के केन्द्र में आविर्भूत होता हूँ। मन की महती सत्ता अवचेतन प्रज्ञा में है। उसी से सब प्रेरणाओं के स्रोत उन्मुक्त होते हैं। यही रुँधे हुए जलों का इन्द्र द्वारा उन्मोचन है।

मातृगर्भ में शिशु के रूप में विकसित होने वाला गर्भित कोष या भ्रूण ही

हिरण्यगर्भ है—इस कोष से ही जीवन का स्पन्दन प्रारंभ हो जाता है। कोष के भीतर प्रसुप्त उसका केन्द्रक (न्यूक्लियस) विभाजित होते हुए एक राशि या कूट बन जाता है जिसे शरीर कहते हैं। सर्वप्रथम इसी हिरण्यात्मक गर्भ या शिशु का जन्म होता है—**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्** १०।२२१।१)। हिरण्य का अर्थ है अग्नि या ज्योति और गर्भ का अर्थ है शिशु या कुमार (ऋ० १०।१३।३)।

ऋक् एवं यजुर्वेद में अग्नि को '**अन्नाद**' या अन्न का भक्षण करने वाला कहा गया है। जीवों का प्राणात्मक स्पन्दन ही अन्नाद अग्नि का रूप है। अन्न ही सोम है। केन्द्र के बाहर से अन्नरूपी सोम को खींच कर अन्नाद अग्नि पचाता है और शरीर की वृद्धि करता है। '**अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे**' ऋ० १।१। का यही अभिप्राय है। यही सोम की अग्नि में आहुति है। यही सोम याग है। यदि केन्द्र में बैठे अन्नाद अग्नि को सोम न मिले तो यज्ञ की समाप्ति हो जाय और कोष या शरीर के संवर्द्धन का कार्य रुक जाय।

पृथ्वी की सम्पूर्ण प्राणि सृष्टि अन्न (सोम) तथा अन्नाद (अग्नि) के नियम के अधीन है। जिस केन्द्र में प्राण का जन्म होता है उसमें अशनाया या बुभुक्षा का नियम अवश्य काम करता है। बालक भूख से व्याकुल होकर रोता है। अग्नि की सोम के लिये व्याकुलता या भूख को ही ब्राह्मण ग्रन्थों में रुदन कहा है। '**यदरोदीत् तस्माद्रुद्रः** (श० ब्रा० ६।१।३।१०) अग्नि ही रुद्र है। अन्नाद-अग्नि अन्न रूप सोम के बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार अग्नि के दो रूप कहे गये हैं, घोर तथा अघोर। जब अग्नि को सोम नहीं मिलता तो वह घोर या मृत्यु (रुद्र) रूप हो जाता है। बिना सोम के अग्नि अपने केन्द्र को ही नष्ट कर डालता है जैसे घी या तेल के अभाव में दीपक की ज्वाला बत्ती को ही जला डालती है। किन्तु जैसे ही अग्नि को सोम मिलता है वह शान्त हो जाता है और **शिव** या कल्याण-कारी बन जाता है और सोम से शरीर को पुष्ट करता है। इसी प्रकार इस समस्त विश्व की जो संचालिका शक्ति है वही विराट् सविता देव है। "विश्व रूपी वत्स की माता अनन्त प्रकृति ही अदिति है"। प्राणि जगत् में स्त्री पुरुष के युग्म को ही मित्रावरुणौ कहते हैं, आदि-आदि।

अग्रवाल जी का मत है कि सूर्य, चन्द्र पृथ्वी, समुद्र, मेघ, आकाश, नदी, वृक्ष, वन, जल, अग्नि, आदि जितने भी शत-सहस्र पदार्थ है वे सब अपने-अपने प्रतीक से सृष्टि के रहस्य को प्रकट कर रहे हैं। वे शब्दमयी भाषा की अपेक्षा

कहीं गम्भीर अर्थों के परोक्ष संकेत प्रदान करते हैं। ऋषियों ने अर्थों को इन प्रतीक रूपी खूँटियों पर टाँगकर ही अपने अभिप्रेत की व्याख्या की है। कारण यह है कि प्रतीक रूप में उपयुक्त इन वस्तुओं की रचना मानवी कृति नहीं अपितु नित्य कृति हैं अतः वह अपौरुषेय रचना है। इसलिये इनके द्वारा जो अर्थ ग्रहण किये जाते हैं वे भी अपौरुषेय हैं[१]।"

वैदिक मंत्रो की दुरूहता एवं अनेक प्रकार के अर्थों को व्यक्त करने की क्षमता से वैदिक देवताओं एवं देवकथाओं के विषय में किस-किस प्रकार के परस्पर नितान्त असम्बद्ध मत प्रस्थापित किये जा सकते हैं इसका यह एक संक्षिप्त-सा निदर्शन मात्र है। दर्पण के समान निर्मल एवं स्वच्छ वैदिक मंत्रों में जो कोई भी झाँक कर उनकी पृष्ठभूमि में स्थित रहस्यों को खोजने की इच्छा करता है उसे उनमें अपनी ही भावनाओं का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। इन विविध मतों की विस्तृत समालोचन करना व्यर्थ है। हमारा विश्वास है इन मतों का यह विवरण ही स्वयं अपनी समालोचना साथ ही प्रस्तुत करता है। हो सकता है, प्रत्येक में सत्य का कुछ-कुछ अंश हो। वैदिक ज्ञान-विज्ञान के सम्बन्ध में अभी हम इतनी अधिक प्रारंभिक अवस्था में हैं कि हमको इस सम्बन्ध में प्रत्येक नवीन दृष्टिकोण का स्वागत करना चाहिये।

स्वामी दयानन्द कहते हैं कि अग्नि सूर्य आदि नामों से वेदों में ईश्वर की स्तुति है। अरविन्द का मत है कि वस्तुतः वैदिक मंत्र मनोवैज्ञानिक रहस्यों का ही वर्णन करते हैं केवल प्राकृत जनों से इस रहस्य को अस्पष्ट रखने के लिये ही बाह्य प्रकृति के दृश्यों का उन पर आवरण पहना दिया गया है। रैले कहते हैं कि प्रकृति के विभिन्न तत्वों के आधार पर वैदिक मंत्र शरीर-विज्ञान एवं स्नायु

---

१. अग्रवाल जी की वैदिक देवताओं के स्वरूप की यह व्याख्या, जिसे गुरुवर स्वर्गीय श्री भोलानाथ जी 'वेदों के प्रति रहस्यवादी दृष्टिकोण' नाम से अभिहित किया करते थे, अग्रवाल जी के मथुरा में आयोजित दयानन्द दीक्षा शताब्दी के अवसर पर (२६।१२।५६) सभापति पद से दिये गये भाषण से उद्धृत की गई है। इस भाषण की एक प्रति श्री अग्रवाल जी ने लेखक को देने की कृपा की थी। सामान्यतः ये विचार पर्याप्त दुरूह एवं दुरधिगम्य हैं। ऊपर इनका सरल एवं संक्षिप्त रूप ही प्रस्तुत किया गया है।

संस्थान के रहस्यों पर प्रकाश डालते हैं। अय्यर महोदय भी अग्नि सूर्य आदि नामतः उल्लिखित देवताओं के प्राकृतिक आधार को स्वीकार करते हुए विष्णु इन्द्र आदि अस्पष्ट देवताओं के स्वरूप के आधार पर कुछ भुगर्भशास्त्रीय एवं भौगौलिक तथ्यों की व्याख्या करते हैं। अग्रवाल जी भी स्वीकार करते हैं कि इन्द्र, अग्नि, सूर्य, आपस् इत्यादि प्रतीकों द्वारा सृष्टि के रहस्यों की ही कहानी वेदों में कही गई है। इस प्रकार यह तो एक संशयहीन, अकाट्य एवं सर्वमान्य सिद्धान्त है ही कि वैदिक मंत्र अग्नि, मरुत्, पर्जन्य, उषस् आदि प्राकृतिक शक्तियों के प्रति कहे गये हैं। केवल अग्न्यादि के वास्तविक एवं यथार्थ स्वरूप की व्याख्या पर मतभेद है। यही कारण है कि बहुत प्राचीन काल से ही स्वतः भारतीय वेदज्ञों के एक समुदाय का यह निश्चित विचार हो गया था कि वैदिक देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के ही मानवीकरण (या दैवीकरण) हैं और वैदिक मंत्रों में इन प्राकृतिक दृश्यों में व्यक्त दैवीशक्ति की ही परिष्टुति एवं अभ्यर्थना निहित है।

यास्क के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उसके समय में भी वैदिक देवताओं को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने वाले **'ऐतिहासिक'**, तथा कपोल कल्पना मानने वाले **'पौराणिक'** आदि सम्प्रदाय के विद्वान् विद्यमान थे[1]। किन्तु यास्क स्वयं वैदिक देवता विषयक **'प्राकृतिक सिद्धान्त'** के पक्षपाती थे। वैदिक व्याख्या क्रम में इस सिद्धान्त का आविर्भाव कब हुआ, इस पर निश्चित रूप से कुछ भी कहना असंभव है। कम-से-कम महाभारत, रामायण एवं पुराणों में जिस सामाजिक स्थिति का प्रतिबिम्ब है उससे यही प्रतीत होता है कि उस समय लोग देवताओं के मानव रूप से ही अधिक परिचित थे, प्राकृतिक रूप से नहीं। उनमें सर्वत्र यह विश्वास कार्य करता हुआ प्रतीत होता है कि अग्नि, वायु आदि शब्दों से इन भौतिक पदार्थों का नहीं अपितु इन तत्त्वों के अधिष्ठाता किसी देवता का बोध होता है। किन्तु इतना अवश्य है कि प्राचीनतम ब्राह्मण ग्रन्थों से ही इस सिद्धान्त की पुष्टि में उद्धरण उपस्थित किये जा सकते हैं। "अग्नि-वायु-आदित्य ही मुख्य देवता हैं, अन्य देवता इन्हीं के विविध रूप हैं" यह लगभग प्रत्येक ब्राह्मण ग्रन्थ में सर्वत्र सरलतया प्राप्य वाक्य है। विद्युत् को ही इन्द्र कहते हैं **(स्तनयित्नुरेवेन्द्रः)**, यह श० ब्रा० (११।६।३।९) का ऋग्वेद के सर्वाधिक प्रभावशाली देवता के विषय में मत है।

---

१. इन मतों का आगे विस्तार से उल्लेख किया गया है।

निरुक्तकार के इसी मत का आधार लेकर शौनकीय बृहद्देवता की रचना हुई। बृहद्देवता का रचयिता निरुक्त के दैवत-काण्ड से इतना अधिक प्रभावित है कि अनेक स्थानों पर उसने निरुक्त के वाक्यों को शब्दशः अथवा यत्किंचित् परिवर्तित रूप में अपना लिया है। यास्क का नामतः उल्लेख करने से यास्क से उसके परवर्तित्व में कोई सन्देह नहीं रह जाता। निरुक्त एवं बृहद्देवता दोनों ही सायण के सामने थे। अतः काल की दृष्टि से वैदिक साहित्य से अत्यन्त दूर सायण का इन दोनों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। परिणाम-स्वरूप सायण ने भी ऋग्वेद की मुख्यतः कर्मकाण्डीय दृष्टि से व्याख्या करते हुए देवताओं के प्राकृतिक आधार को स्वीकार किया। सायण-भाष्य का अनुशीलन करने पर पाश्चात्यों को देवताओं एवं देवकथाओं के प्रति एक नई दृष्टि मिली। वैदिक साहित्य से सूत्र प्राप्त होने पर उन्होंने अन्य धार्मिक देवकथाओं की भी इसी दृष्टि से व्याख्या की और तुलनात्मक देवशास्त्र को जन्म दिया। किन्तु इस सिद्धान्त के अनुयायियों ने सदा एक भूल की, और वह है इस सिद्धान्त को सीमातीत मात्रा में आगे बढ़ाना। यह ठीक है कि अग्नि, मरुत् एवं पर्जन्य आदि ने वैदिक देवताओं के मूल स्वरूप के संबन्ध में एक दिशा—और संभवतः ठीक दिशा—प्रदान की। किन्तु साथ ही इस सूत्र की प्राप्ति से प्रोत्साहित होकर इसके समर्थक इतने आगे बढ़े कि प्रत्येक वैदिक (और अवैदिक भी) देवताओं का उद्‌गम प्रकृति या ज्योतिर्मण्डल में खोजा जाने लगा। परिणाम वही हुआ जो अत्यन्त स्वाभाविक था—बहुत से ऐसे देवता थे जिनके स्वरूप की सही व्याख्या न हो सकी और इसलिये उन्हें **'प्राचीनतम'**, **'अस्पष्ट'** या **'अपारदर्शक'** देवताओं की उपाधि दे दी गई। यह भूल यास्क के ही समय से ही प्रारंभ हो गई थी और उसका कुछ देवताओं, (उदाहरणार्थ **अश्विनौ**) के स्वरूप के विषय में एकाधिक प्राकृतिक तत्त्वों को सुझाना यह सूचित करता है कि उसे किसी एक पर दृढ़ विश्वास नहीं है। ब्लूमफील्ड आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्रतिपादित किया है कि सब देवता प्राकृतिक शक्तियों के विविध रूप हैं; यदि हमें उनके उद्‌गम का वास्तविक पता नहीं चलता तो इसका तात्पर्य यह है कि वे देवता 'वैदिक देवताओं की उत्पत्ति परम्परा में सर्वाधिक प्राचीन हैं और इसीलिये उनका स्वरूप कुछ अस्पष्ट हो गया है'। इस पूर्वस्थापित निर्णय के आधार पर आगे बढ़ने पर एवं वेदों में संकेतित देवताओं की त्रित्वात्मता का अनुसरण करने का द्वितीय परिणाम यह हुआ कि सभी देवताओं का स्थान अग्नि, वायु या सूर्य वर्ग में से किसी एक में निश्चित कर दिया गया और तत्तत् वर्ग के विशिष्ट प्राकृतिक तत्त्व से उसका

सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा की गई। अर्यमा, पूषन्, सविता, विवस्वान् आदि सभी सूर्य के ही विविध रूप या विशेषण मान लिये गये। एक ही प्राकृतिक तत्त्व से वैदिक ऋषियों को इतने अधिक देवता गढ़ने का क्या प्रयोजन था और यह संभव है भी या नहीं, इस तथ्य पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। यदि बाह्य प्रकृति के प्रभावशाली दृश्यों को देवत्व प्रदान किया जा सकता है तो अन्तः प्रकृति के भी प्रमुख अमूर्त भावों की उपेक्षा करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता। कम से कम **अदिति, पूषन्, अर्यमा, बृहस्पति, प्रजापति** तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य देवताओं के उद्गम का कारण किसी प्राकृतिक तत्त्व को मानना दुराग्रह ही कहा जायेगा। यदि ऋग्वेद के दशम मण्डल में श्रद्धा, मन्यु, काम आदि भावात्मक देवता प्राप्त हो सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि प्रारंभिक अथवा पूर्व-वैदिक काल में इस प्रकार के देवता न रहे हों। वरुण, मित्र, इन्द्र आदि देवों के प्राकृतिक आधार के सम्बन्ध में वैदिक विद्वान् आज तक एकमत नहीं हो सके हैं और यह पूर्ण संभव प्रतीत होता है कि ऐसे देवताओं का कोई प्राकृतिक आधार रहा ही न हो[1]।

प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है कि प्रायः भारोपीय तथा अधिकांश वैदिक देवताओं की उत्पत्ति के मूल में **जड़-चेतनावाद** का सिद्धान्त कार्य करता हुआ प्रतीत होता है। प्रकृति के विभिन्न शक्तिशाली एवं प्रभावपूर्ण दृश्यों को देखकर प्रकृति के साथ घनिष्ठतया संबन्धित एवं नागरिक जीवन की जटिलताओं से दूर, सरल एवं निश्छल मानव हृदय का उन दृश्यों में चेतना की स्फूर्ति का आरोप कर लेना नितान्त स्वाभाविक है। कालान्तर में तत्तत् विशिष्ट तत्त्वगत यह आरोपित चेतना किसी ऐसी शक्ति की परिकल्पना को जन्म देती है जो उस विशिष्ट तत्त्व की अधिष्ठात्री किन्तु उससे पृथक् है और उसपर नियन्त्रण रखती है। यहाँ से **जड़ात्मवाद** की सीमाएँ प्रारंभ होती हैं। और यद्यपि वैदिक देववाद में जड़ात्मवाद की संभावना का पूर्णतः बहिष्कार नहीं किया जा सकता किन्तु इतना तो निःसंशय ही है कि वैदिक साहित्य में तत्त्व एवं तत्संबन्धित चेतना-शक्ति का परस्पर निरपेक्ष एवं स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करने के लिये दोनों के बीच में विभाजन को कोई रेखा खींचना संभव नहीं है। वस्तुतः ऋग्वेद तक आते-आते जड़ात्मवाद

---

१. सन् १९७८ में पूना के भण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान में हुए **अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या सम्मेलन** के अध्यक्षीय भाषण में प्रो० खोण्डा (Gonda) ने प्रत्येक वैदिक देवता के उद्गम को प्राकृतिक तत्त्वों में खोजने की प्रवृत्ति की फिर आलोचना की है।

के तत्त्व पूर्णतः लुप्त हो चुकते हैं और उनका स्थान एक विकसित बौद्धिक विचार-धारा ले लेती है। जो भी थोड़े बहुत चिह्न बचे हैं वे सिद्ध करते हैं कि भले ही जड़ात्मवाद कभी वैदिक धर्म के मूल रहा हो किन्तु अब नष्ट हो चुका है।

यह कहना तथ्य के कहीं अधिक समीप होगा कि वैदिक ऋषियों को प्रकृति के विभिन्न प्रभावशाली, सशक्त एवं लाभदायक रूपों के पीछे एक ही अज्ञात, सर्वशक्तिमती, सत्ता काम करती हुई प्रतीत होती थी। जड़ दृश्यों के पीछे उनकी दिव्य दृष्टि किसी ऐसी चेतना का अनुसंधान करती थी जो जगत् की प्रत्येक क्रियाशीलता में व्याप्त है। इस प्रकार वे **प्रकृति** के उस विशिष्ट **तत्त्व** की नहीं अपितु उसमें अभिव्यक्त **दिव्य-शक्ति** (Divine Energy) की उपासना करते थे। स्वतः ऋग्वेद के ही अनेक मंत्रों में इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि प्रकृति के विविध अभिरूपों में प्रतिबिम्बित किन्तु उन सबमें एकतया अनुस्यूत एक ही दिव्य शक्ति की, अभिव्यक्ति एवं आश्रय के वैभिन्न्य के कारण नाम भेद से अनेक रूपों में स्तुति की गई है[1]। वैदिक बहुदेवतावाद के मूल में वर्तमान एक-देववाद की यह भावना सर्वाधिक सशक्त रूप में संभवतः इस ऋचा में प्रकट हुई है—

> **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।**
> **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥**
> ऋ० १।१६४।४६

"ऋषि कभी उसे इन्द्र कहते हैं कभी मित्र, कभी वरुण कभी अग्नि; एक ही तत्त्व को विद्वान् अग्नि, यम आदि अनेक रूपों में वर्णित करते हैं।" ऋ० ८।४१।१० में कहा गया है कि उस एक 'अज' तत्त्व से सम्पूर्ण लोकों की रचना हुई है और उसी से आकाश स्थित है—

> **स धाम पूर्व्यं ममे यः स्कम्भेन विरोदसी।**
> **अजो न द्यामधारयन्नमन्तामन्तके समे ॥**

इस ऋचा में 'अज' शब्द का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ऋग्वेद में एतद्-व्यतिरिक्त प्रायः सभी देवताओं की विभिन्न प्रकार से उत्पत्ति का वर्णन है (उदा० १।१३६।११)।

दशम मण्डल में कई स्थानों पर सम्पूर्ण देवताओं की एकात्मकता का उल्लेख है, उदा० १०।११५।५ में कहा गया है कि ऋषि अथवा कवि-गण अपनी स्तुतियों के द्वारा एक ही तत्त्व को अनेक बना देते हैं—

---

1. The Sun, the moon, the stars. the hells and the plains.
   Are not these O Soul ! the Vision of Him who reigns ?
   —Tennyson, *Higher Pentheism*

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।

इसी 'अज' एवं 'एक' तत्त्व की ओर दीर्घतमा ऋषि द्वारा दृष्ट प्रसिद्ध अस्य-वामीय सूक्त (१।१६४) में भी संकेत है—

वि यस्तस्तम्भ षलिमा रजांसि, अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् । (ऋचा ६)

एक अन्य स्थान पर उस सर्वज्ञ एवं सर्व शक्तिमान् की स्तुति करने का उपदेश दिया गया है जो एक और केवल एक है ।—

य एक इत् तमुष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः ।
पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः ।। (६।४५।२६)

ऋग्वेद के प्रसिद्ध हिरण्यगर्भ सूक्त (१०।१२१) में उस 'एक' (हिरण्यगर्भ) को संसार का सर्व प्रथम जनक, सर्वशक्तिमान् तथा सम्पूर्ण देवों का एकमात्र अधिष्ठाता कहा गया है—

(क) **हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।** (ऋचा १)

(ख) **यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।**
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्.......। (ऋचा ८)

(ग) **प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।** (ऋचा १०)

हेनोथीज़्म के प्रबल प्रतिपादक मैक्सम्यूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी यथास्थान स्वीकार किया है कि ऋग्वेद संहिता के संकलन के पूर्व ही वैदिक ऋषियों ने **एक-देववाद** (Monotheism) की धारणा का आविष्कार कर लिया था और इन्द्र, अग्नि तथा प्रजापति आदि विभिन्न नाम इसी एक दिव्य शक्ति के वाची थे[१] । मैक्डानल का भी मत है कि ऋग्वैदिक समय में ही वैदिक ऋषियों के प्रातिभ चक्षु प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों तथा नाना देवताओं के मूल में किसी एक अव्यक्त, सर्वशक्तिमान् सत्ता के दर्शन करते थे[२] ।

यजुर्वेद एवं अथर्ववेद तक आते-आते तो एक-देववाद की यह धारणा और भी प्रबल हो उठती है, यजुर्वेद कहता है—

(क) **तदेवाग्निः तदादित्यः तद्वायुः तदु चन्द्रमाः ।**
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।। ३२।१

---

१. मैक्सम्यूलरः सिक्स सिस्टम्स ऑफ इंडियन फिलासफी, प्रथम भाग, पृ० ६ ।

२. मैक्डानल, वै० मा०, १६ ।

(ख) स नो बन्धुर्जनिता स विधाता, धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशाना, तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।। ३२।१०

(ग) परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्, परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्य, आत्मनात्मानमभिसंविवेश ।। ३२।११

यजुर्वेद के ३० से आगे के अध्याय पूर्णतः एकात्मवाद के प्रतिपादक हैं । ४० वां ईशावास्य उपनिषद् है ।

अर्थववेद के कुछ मंत्र तो इतनी स्पष्टता से एकदेवाद का प्रतिपादन करते हैं कि यदि उनकी स्थिति उपनिषदों में होती तो भी कोई आश्चर्य का विषय नहीं था :—

(क) एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्य···
एक एव नमस्यः सुशेवाः । (२।२।१-२)

(ख) सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।
सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः । (१३।४।४-५)

(ग) एको ह देवो मनसि प्रविष्टो प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ।
(१०।८।२८)

(घ) बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परिजज्ञिरे ।
एकं तदंगं स्कम्भस्य असदाहुः परो जनाः ।। (१०।७।२५)

(ङ) यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः ।। (१०।७।२७)

(च) यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।। (१०।८।१)

किन्तु इस नामरूपादि रहित अज्ञात रहस्यमय शक्ति की अनुभूति अथवा संवेदना सदा अस्पष्ट रहती है । उसका प्रत्यक्षीकरण स्थानान्तरित एवं परिवर्तित होता रहता है । बस इसीलिये उस शक्ति को कभी किसी नाम से पुकारा जाता है, कभी किसी से । कभी अग्नि से नाम उसकी स्तुति की जाती है तो कभी मित्र अथवा वरुण नाम से ।

उपर्युक्त विवरण का यह तात्पर्य नहीं है कि वैदिक संहिताओं में आये हुए सोम, अग्नि, उषस् आदि नामों का संज्ञा के रूप में अपना कोई भौतिक अस्तित्त्व नहीं है और वे केवल परमेश्वर के ही विशेषण हैं । वस्तुतः अग्नि, उषस् आदि

के भौतिक रूप को भुलाकर उनको केवल ईश्वर के गुणों के द्योतक विशेषण मान लेना बहुत कठिन है। स्वामी दयानन्द एवं महर्षि अरविन्द के द्वारा समर्थित यह अद्वैतवाद परवर्ती वैदिक युग में भले ही विकसित हो गया हो किन्तु जिस समय ऋग्वैदिक सूक्तों की रचना हो रही थी उस समय देवताओं का स्वरूप उनके भौतिक एवं आध्यात्मिक रूपों का मिश्रणमात्र था। प्रकृति के किसी विशेष तत्त्व के दृश्यमान एवं अनुभूयमान भौतिक स्वरूप से प्रारम्भ करके वैदिक ऋषियों की दृष्टि उसके पीछे प्रतिबिम्बित किसी दिव्य शक्ति की सामर्थ्य का भी साक्षात्कार करती थी। प्रत्येक देवता के उद्गम के मूल में ये ही दो तत्त्व हैं : उस प्राकृतिक दृश्य का भौतिक स्वरूप और उससे घनिष्ठतया संबद्ध कोई दिव्य ईश्वरीय चेतना। वैदिक ऋषि इसी भौतिक स्वरूप से प्रारंभ करके उस आध्यात्मिक शक्ति तक पहुचे हैं जो सभी में समान है। कुछ देवताओं में उनका भौतिक स्वरूप ही प्रधान है और कुछ में धीरे-धीरे उनका आध्यात्मिक रूप प्रबल होता चला गया है। प्रथम प्रकार के देवताओं के उदाहरण हैं, अग्नि, उषस् सोम एवं दूसरे प्रकार के मित्र, सविता तथा वरुण आदि। वैदिक देववाद की यही विशेषता है कि उसमें हम प्रत्येक देवता को अपनी आँखों के सामने ही उद्भूत होते हुए देखते हैं। अधिकांशतः हमें इसका ज्ञान रहता है कि किसी विशिष्ट देवता के उद्गम की प्रेरणा का मूल स्रोत क्या है। धीरे-धीरे उसमें आध्यात्मिक गुणों का समावेश हो जाता है उसकी शक्ति में अभिवृद्धि होती रहती है और वह देखते ही देखते अपने पूर्ण विकास तक पहुँच जाता है। इस प्रक्रिया के सबसे सुन्दर उदाहरण संभवतः अग्नि एवं सोम हैं। अग्नि का ज्वलनशील, दैदीप्यमान, तेजयुक्त, भौतिक स्वरूप कितना स्पष्ट है किन्तु फिर भी वैदिक ऋषि उस दृश्यमान स्वरूप के बन्धन को तोड़कर निर्बाध गति से उसके आध्यात्मिक स्वरूप की ओर बढ़ते हैं। नीचे के मंत्रांश इसके सुन्दर उदाहरण हैं—

अग्नि ऋत का स्रोत है (६।४८।५)। वह शाश्वत जीवन का केन्द्र है और उसके अनेक नाम एवं रूप हैं, (३।२०।३, ६।६।७)। उसका निवास मनुष्यों के हृदय में है जहाँ से वह बार-बार उत्पन्न होता है (अस्मद्हृदो भूरिजन्मा, १०।५।१) वह सनातन होने पर भी सदा नवीन है (१०।४।१)। वह प्रत्येक वस्तु को देखता है (१०।१८७।४-५)। जितनी भी संसार में उत्पन्न वस्तुएं हैं वह उन सब को जानता है १०।११।१ तथा १०।९१।३)। वह महान् शक्तिशाली है (३।३।४)। जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे प्रविष्ट रहते हैं उसी प्रकार उसमें सभी प्रकार के ज्ञान प्रतिष्ठित हैं (२।५।३), इसीलिये वह

'विश्वविद्' तथा 'विश्ववेदाः' है। अग्नि शक्तिशाली दिव्य सम्राट् (७।६।१) है। वह पृथ्वी एवं आकाश से भी महान् है (१०।८८।१४)। उसकी शक्ति एवं पराक्रम से मनुष्य और देवता तक काँपते हैं (६।६।७, १।५६।५)। उसके अन्दर सभी देवता केन्द्रित हैं (३।११।६, ५।३।१)। एक अग्नि ही सब देवताओं के रूप में स्थित है (२।१।३, ५।१।१–३)। वह नियमों का जाननेवाला तथा सत्यमय है (१।१४५।५, १।७०।१)। उसके नियम (व्रत) कभी नष्ट नहीं होते और पृथ्वी तथा आकाश तक उनका पालन करते हैं (२।८।३, ७।५।४)।

ठीक इसी प्रकार सामान्य सोम-पेय को भी ऋग्वेद के नवममण्डल में स्थान स्थान 'पर संसार को उत्पन्न करने वाली स्फूर्ति तथा ऊर्जा,' 'यज्ञ की सर्व प्रथम प्राचीन आत्मा', 'देवताओं की उत्पत्ति एवं वंश को जानने वाला' 'राजा वरुण की चिन्तनशक्ति', 'ज्ञानस्वरूप', 'प्रकृति के रहस्यों को प्रकट करने वाला' आदि कहा गया है।

यह मानना कठिन है कि अग्नि एवं सोम की ये विशेषताएं केवल उनके भौतिक रूप पर दृष्टि रखकर ही कही गई हैं। निश्चित रूप से ये शब्द इनके अतिभौतिक गुणों के परिचायक हैं और जब अग्नि तथा सोम-रस जैसे सामान्य एवं अत्यन्त स्पष्ट प्रत्यक्ष भौतिक रूप वाले तत्त्वों के पीछे उनके आध्यात्मिक गुणों को खोजा जा सकता है तो विष्णु एवं इन्द्र के लिये तो शंका का कोई स्थान ही नह है।

वैदिक देवताओं का यह आध्यात्मिक पक्ष सभी देवताओं में समान रूप से अनुस्यूत है; अन्तर है केवल भौतिक तत्त्वों का। यही कारण है कि वैदिक देवताओं की स्तुति में उपवर्णित गुणों में परस्पर अत्यधिक समानता है। एक स्थान पर अग्नि ही इन्द्र, विष्णु, मित्र, वरुण आदि सम्पूर्ण देवतामय बताया गया है (२।१), तो अन्य ऋषि अनुभव करते हैं कि सम्पूर्ण देवता इन्द्र में ही निवास करते हैं (३।५४।१७)। तीसरे ऋषि का विचार है कि अदिति ही सब देवताओं की जननी हैं (८।२५।३, ८ ४७।६ आदि)। 'दिवो दुहिता' उषस् द्यौ : की पुत्री (१।३ ।२२) है किन्तु ऋ० वे० १।११३।१६ में उसे देवताओं माँ (माता देवानां) भी कहा गया है। १०।७२।४ में दक्ष को देवताओं का जनक कहा गया है। ऋ० २।२६।३ में ब्रह्मणस्पति के लिये **देवानाम् पितरम्** शब्द कहे गये हैं। सोम, **'पिता देवानां ज निता सुदक्षो'** है (६।८७।२) तथा इन्द्र, विष्णु, सूर्य, अग्नि एवं द्यावा-पृथिवी को उसने ही उत्पन्न किया है (६।६६।५)—

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेः जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥

वस्तुतः वैदिक काल में उस असीम एवं विविध रूपों में सर्वव्यापक तत्त्व को समझने और उसकी स्पष्ट परिभाषा देने की उत्सुकता में वैदिक ऋषियों एवं कवियों ने अपनी बुद्धि एवं विचारधारा के अनुसार उन कई रूपों में उसकी कल्पना की थी जिनमें वे उसकी उपस्थिति एवं शक्ति को विशेष रूप से व्यक्त समझते थे।

प्राचीन भारतीय वैदिक मर्मज्ञों से यह तथ्य छिपा नहीं था। यास्क ने निरुक्त में स्पष्ट कहा है कि महैश्वर्य से संपन्न होने के कारण सब देवताओं की 'आत्मा' एक होते हुए भी कार्य भेद से एक ही देवता की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है। एक ही आत्मा के ये देवता अंग मात्र हैं। संसार के किसी भी तत्त्व की देवता के रूप में स्तुति की जा सकती है। एक ही शक्ति से संबन्धित होने के कारण ये देवता एक दूसरे को उत्पन्न करते हुए तथा परस्पर एक दूसरे के कारण कहे जाते हैं। देवताओं की आध्यात्मिक शक्ति ही सब कुछ है, वही इनका रथ है वही अश्व और वही आयुध। उसी से ये सब कार्य करते हैं—

महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनो अन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति। प्रकृतिसार्वात्म्याच्च। इतरेतरजन्मानो भवन्ति इतरेतरप्रकृतयः। आत्मा वैषां रथो भवति। आत्मायुधम्। आत्मा सर्वं देवस्य। निरुक्त ७।२

बृहद्देवता में भी निरुक्त के इन शब्दों की प्रतिध्वनि प्राप्त होती है—

तासामियं विभूतिर्हि नामानि यदनेकशः।
आहुस्तासां तु मन्त्रेषु कवयोऽन्योन्ययोनिताम् ॥
तेषामात्मैव तत्सर्वं यद्यद्भक्तिः प्रकीर्यते।
तेजस्त्वेवायुधं प्राहुः वाहनं चैव यस्य तत् ॥

बृ० दे० १।७१, ७३।

वैदिक देवताओं का वास्तविक आकार क्या है, इस विषय में निरुक्त में (७।२) एक मनोरंजक वादविवाद प्राप्त होता है। एक मत देवताओं के वास्तविक व्यक्तित्व का अस्तित्व मानता है। उसके अनुसार देवता पुरुषरूप होते

है (पुरुषविधा स्युरित्येकम्), क्योंकि देवताओं की स्तुतियां मनुष्यों के समान ही की जाती हैं और उनके अंग प्रत्यंगों तथा कर्मों का वर्णन भी मनुष्यों की भाँति होता है (चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति)। जैसे "ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू" "यत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते" तथा "युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्र." इत्यादि में इन्द्र की भुजाओं, मुष्टि तथा हनु का वर्णन किया गया है। "कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते" में इन्द्र की पत्नी का वर्णन है। "अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य" में इन्द्र से खाने और पीने की तथा 'आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्" मे आह्वान सुनने की प्रार्थना की गई है। इससे निश्चित होता है कि इन्द्रादि देवता मनुष्य के रूप में ही हैं।

किन्तु दूसरा मत इससे पूर्णतः भिन्न है। इस मत के अनुसार देवता जड़ हैं, वे मनुष्य के समान नहीं हैं ('अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्'), अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी आदि का स्थूल रूप तो स्पष्टतः जड़ ही है। इन तत्त्वों को मनुष्याकार बताना प्रत्यक्ष का अपलाप करना है (अपि तु यद् दृश्यतेऽपुरुषविधं तत्। यथा-ग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी इति)। वस्तुतः इन अचेतन तत्त्वों की भी चेतन के समान स्तुति की जाती है। यह स्तुति वैसी ही है जैसे वेद में जड़ शिलाओं अथवा नदियों की स्तुति, जैसे—

'अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः' इति (ग्रावस्तुतिः)
'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्' इति (नदीस्तुतिः)

अतः यह कहना ठीक नहीं कि पुरुषविध अंगों से स्तुति किये जाने के कारण देवता मनुष्यवत् चेतन हैं। अक्ष (पाँसे) से लेकर ओषधियों तक के लिये वेद में ऐसी स्तुति प्राप्त होती है (अथो एतत्पौरुषविधिकैः अंगैः संस्तूयन्त इत्यचेतनेष्वप्येतद् भवति। अचेतनान्यपि एवं स्तूयन्ते यथाक्षप्रभृतीन्योषधि पर्यन्तानि)। साथ ही यह कहना भी उचित नहीं कि मनुष्यवत् कर्मों के वर्णन से देवता मनुष्याकार हैं क्योंकि 'होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत्' (होता से पूर्व ही ये शिलाएँ भक्ष्य हवि को खा गईं) आदि में खाना क्रिया शिला जैसी जड़ वस्तु के लिये भी उपचार मात्र से कही गई है। अतः देवता जड़ ही हैं।

एक तीसरे मत को मानने वाले व्यक्ति कहते हैं कि वस्तुतः देवता दोनों प्रकार के हैं जड़ भी और चेतन भी। सूर्य, अग्नि आदि प्रकृति तत्व स्वतः भी जड़ पदार्थों के रूप में स्तुत हैं और कभी-कभी इन्हीं तत्त्वों का चेतन रूप भी स्तुत

होता है। दोनों प्रकार के देवता स्वतंत्र हैं और परस्पर इनका कोई संबन्ध नहीं (अपि वोभयविधाः स्युः)।

यास्क का अपना मत यह है कि प्रत्येक देवता की प्रकृति के दो रूप हैं, जड़ तथा चेतन। जड़ रूप तो सबको दिखाई पड़ता है पर चेतन नहीं। किन्तु उसका जड़-रूप चेतन-रूप के अधीन रहता है। पृथ्वी, वायु, अग्नि आदि के भौतिक रूपों को नियन्त्रित करने वाला एक चेतनामय अन्य पक्ष होता है जिसका कर्म सम्बन्ध के कारण पुरुष या मनुष्य रूप में वर्णन किया जाता है। जड़-रूप चेतन रूप के अधिकार में उसी प्रकार रहता है जैसे यजमान के अधिकार में यज्ञ। यजमान के अधीनत्व के कारण ही यज्ञ को 'यजमान का यज्ञ' कहा जाता है।

(पौराणिक) आख्यानों के सिद्धान्त से भी इसकी पुष्टि होती है। उदा० महाभारत (आदि पर्व) में अग्नि की अर्जुन से खाण्डव वन को घेर लेने की याचना है। कारण यह है कि घी पीते-पीते अग्नि को अपचन हो गई है और वे जठराग्नि दीप्त करने के लिये मांस खाना चाहते हैं। अर्जुन के खांडव को चारों ओर से घेर लेने का आश्वासन देने पर सम्पूर्ण वन में अग्नि प्रदीप्त हो उठती है और वन भस्म हो जाता है। यहाँ अग्नि का चेतन स्वरूप वह है जिससे उसने अर्जुन से याचना की है और स्थूल रूप वह जिससे उसने वन को भस्म किया है। दोनों रूपों को मिलाकर ही अग्नि देवता का स्वरूप बनता है (अपि वा पुरुष-विधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः। यथा यज्ञो यजमानस्य)। इस प्रकार इन जड़ अथवा भौतिक रूपों का प्रयोजन पुरुष-विध अथवा चेतन देवताओं के लिये ही है।

तृतीय मत वाले दोनों प्रकार के देवताओं को स्वतंत्र एवं पृथक् मानते हैं किन्तु यास्क के अनुसार प्रत्येक जड़ तत्त्व पर नियन्त्रण रखने वाली एक चेतन शक्ति होती है। इन दोनों रूपों को मिलाकर ही पक्षों का एक साथ वर्णन प्राप्त होता है।

दुर्गाचार्य ने इन चारों मतों को क्रमशः पुरुषविध, अपुरुषविध, उभयविध तथा 'कर्मार्थात्मोभयविध' नामक संज्ञाओं से अभिहित किया है। तृतीय मत में जड़ात्मवाद के स्पष्ट संकेत हैं। जिसके अनुसार देवता एक ऐसी शक्ति के रूप में माना जाता है जो उस विशिष्ट वस्तु में निवास करती है किन्तु उससे स्वतंत्र है। चतुर्थ मत जड़चेतनावाद से प्रभावित है। इससे स्पष्ट है कि यास्क के

समय में ही यह सिद्धान्त स्थिर हो चुका था कि अग्नि, सूर्य, आकाश आदि के ये दृश्यमान भौतिक रूप ही सर्वशक्तिमान् देवता नहीं हैं। इनके पीछे इनको नियंत्रण में रखने वाली एक अन्य शक्ति और है जो देवता का वास्तविक स्वरूप है।

वैदिक देवताओं के भौतिक स्वरूप के विकास के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य ध्यान देने योग्य है। 'देव' शब्द दिव् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है 'चमकना या प्रकाशित होना'; अतः देव का अर्थ प्रकाशमान या भास्वर है। प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है कि इस शब्द के देउस्, देइवस्, थेऑस् आदि अनेक रूपान्तर विभिन्न भारोपीय भाषाओं में पाये जाते हैं। देव-सामान्य के लिये सर्वाधिक प्रचलित शब्द की 'दिव्'धातु से निष्पत्ति यह सूचित करती है कि आर्यों के प्राचीनतम एवं प्रारंभिक देवगण सूर्य अथवा प्रकृति के प्रकाशमान तत्त्वों से ही संबद्ध थे। उनकी धार्मिक चेतना का यही सर्वप्रथम उन्मेष था[1]। उपास्य तत्त्व के अर्थ में देव शब्द के प्रतिष्ठित होने के पश्चात् धीरे-धीरे धार्मिक चेतना के विस्तार और फैलाव के साथ-साथ वृष्टि-जल एवं पृथ्वी आदि तत्त्व भी उपास्यों की श्रेणी में आने लगे और तब इनके लिये भी उपास्य शक्ति के लिये रूढ़ देव शब्द का प्रयोग होने लगा। तब स्वभावतः इन 'अदेव' उपास्यों में वे विशेषताएँ सन्निविष्ट होने लगी जो पहले केवल देवों में ही थीं और क्रमशः सभी देवताओं में तेजस्विता, अमरत्व, पराक्रम, उदारता, कृपालुता तथा जीवाधायकत्व के गुण आ गये। विभिन्न प्रकार के देवताओं के एकीभाव में इस प्रक्रिया के महत्त्व को भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता[2]।

इतना होने पर भी ऋग्वेद के देवमण्डल में ऐसे देवता अपेक्षाकृत बहुत कम हैं जो प्रकृति के प्रकाशमान तत्त्व से सम्बन्धित नहीं हैं। अधिकांश देवता अग्नि (पृथ्वी) विद्युत् (अन्तरिक्ष) तथा सूर्य (आकाश) के ही ऊपर आधारित हैं और जो नहीं हैं उनको भी इसी त्रिक के अन्दर सम्मिलित करने की प्रवृत्ति प्रायः भारतीय वेदज्ञों में रही है—बृहद्देवता बड़े स्पष्ट शब्दों में 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' के अनुसार सम्पूर्ण देवताओं की सूर्यात्मकता प्रतिपादित करता हुआ इन्द्र आदि सभी देवताओं को सूर्य से ही सम्बन्धित सिद्ध करता है। 'सूर्य ही भूत, भविष्य एवं वर्तमान के सब प्राणियों तथा जंगम एवं स्थावर पदार्थों का एकमात्र उत्पत्ति एवं प्रलय स्थान है। जो कुछ इस संसार में था, है, और जो अभी

१. ब्लूमफील्ड : रिलीजन आफ दि वेद, पृ० १०८-९।

२. मैक्समूलर : इंडिया ह्वाट कैन इट् टीच अस, पृ० २१८-१९।

होगा, उस सबका यह कारण है। यही शाश्वत ब्रह्म है। अपने को तीन रूपों में विभाजित करके यही आकाश अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी पर वर्तमान रहता है। अपनी किरणों से पार्थिव जल को सुखाकर और आकाश में ले जाकर यह बरसा देता है, इसलिये इसी को इन्द्र कहते हैं……'

> भवद्भूतस्य भव्यस्य जंगमस्थावरस्य च।
> अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः॥
> असतश्च सतश्चैव योनिरेषा प्रजापतिः।
> यदक्षरं च वाच्यं च यथैतद् ब्रह्म शाश्वतम्॥
> कृत्वैष हि त्रिधात्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति।
> देवान् यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु॥
> एतद् भूतेषु लोकेषु अग्निभूतं स्थितं त्रिधा।
> ऋषयो गीर्भिरर्चन्ति व्यञ्जितं नामभिस्त्रिभिः॥ १।६१-६३
> रसान् रश्मिभिरादाय वायुनायं गतः सह।
> वर्षत्येव च यल्लोके तेनेन्द्र इति स स्मृतः॥ १।६६

देवताओं की उत्पत्ति में ज्योतितत्त्व के इस महत्त्व के कारण तथा आध्यात्मिक दृष्टि से सभी देवों को एक ही मूल शक्ति के विविध रूप माने जाने के कारण वैदिक देवताओं में वैयक्तिकता की मात्रा अधिक नहीं है। प्रत्येक देवता के स्वरूप में कुछ विशिष्ट व्यक्तिगत गुणों को छोड़कर प्रकाश से संबन्धित तेजस्विता, ज्ञान, उदारता तथा आध्यात्मिक पक्ष से सम्बन्धित पृथ्वी आकाश आदि का धारकत्व, अन्य देवों का उत्पादकत्व, अमरता तथा चराचर प्राणियों का अधीश्वरत्व आदि गुण समान रूप से प्राप्य हैं। और कभी-कभी इन समान गुणों ने देवता की व्यक्तिगत विशेषताओं को धूमिल कर दिया है[1]।

वैदिक देवताओं के स्वरूपों की तुलना से एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य भी प्रकाश में आता है। जब कोई वैदिक कवि किसी विशिष्ट देवता का वर्णन करता है तो वह उसे सर्वोत्कृष्ट मान लेता हैं और उसे सम्पूर्ण देवताओं में श्रेष्ठ तथा उच्च सिद्ध करता है। प्रायः प्रत्येक मुख्य देवता की स्तुति में ऐसे मंत्र ढूँढे जा सकते हैं जिसमें उसी को सबसे महान् बताया गया है। उदाहरणार्थं ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्नि को जगत् का शासक, प्राणियों का स्वामी, ज्ञानी राजा, मनुष्यों का मित्र तथा पिता कहा गया है और उसे जगत् की अन्य विविध

---

१. मैक्डानल : संस्कृत लिटरेचर, पृ० ६६।

प्रकार की शक्तियों का अधिष्ठाता बताया गया है । अन्य सूक्त में इन्द्र की महती प्रशंसा की गई है और दशम मण्डल के एक सूक्त में पुनः पुनः कहा गया है : 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः' अर्थात् इन्द्र सभी से श्रेष्ठ है । सोम के विषय में कहा गया है कि वह जन्म से ही महान् है, वह संपूर्ण जगत् का विजेता है तथा सब पर शासन करता है । वह पृथ्वी, अग्नि, सूर्य, इन्द्र तथा विष का निर्माता है एवं मनुष्यों को दीर्घायु प्रदान करता है इस प्रकार वरुण की स्तुति में जितने भी सूक्त कहे गये हैं उनसे वरुण को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शासक तथा बड़े-बड़े देवताओं को भी अपने वश में रखने वाला वर्णित गया है ।

इस प्रकार बारी-बारी से प्रत्येक देवता को उस समय के लिये कवि द्वारा अपने सर्वाधिक उत्कर्ष पर पहुँचा दिया गया है । उसकी स्तुति करते समय अन्य देवताओं का ध्यान नहीं रखा गया । उसकी इस प्रकार से स्तुति की गई है मानों वही एकमात्र, पूर्ण एवं सर्वशक्तिमान् कर्ता हो । मैक्सम्यूलर ने इस वैदिक धारणा के लिये 'हेनोथीज्म' (अथवा कैथोनोथीज्म; मैक्डानल) नामक शब्द प्रयुक्त किया था[1] और उसका मत था कि वैदिक देवमण्डल में किसी भी देवता का अपना निश्चित स्थान एवं महत्त्व नहीं था । केवल कवियों के वर्णन के अनुसार ही कोई-कोई देवता अत्यधिक उत्कर्ष पर पहुँचा दि गये हैं । इस प्रकार वरुण, इन्द्र आदि की श्रेष्ठता केवल औपचारिक है, वास्तविक नहीं ।

इस धार्मिक प्रवृत्ति-विशेष के जो हिन्दू धर्म में बहुत बाद तक प्राप्त होती है, कुछ कारण हैं । इसे अवसरवादिता की संज्ञा देना उचित नहीं है[2] । सर्वप्रथम तो यह केवल कवि की स्वच्छन्दता है । अपने इष्टदेव की स्तुति में कवि का उसे सर्व-गुण सम्पन्न वर्णित करना स्वाभाविक ही है । द्वितीय कारण यह है कि ऋग्वेद के बहुत देवता प्र त के एक ही तत्त्व पर आधारित हैं; उदाहरणार्थ सूर्य, सविता, विष्णु, मित्र, पूषन्, विवस्वान् तथ उषस् आदि सभी देवता निश्चित रूप से सूर्य से

---

१. इसके विशेष विवरण के लि देखिये— क्समूलरः हिस्ट्री आफ एन्श्यन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५३३-३४; फ़िज़िकल रिलीजन पृ० १८०; ओरिजन एन्ड ग्रोथ आफ रिलीजन, पृ० २७१ ।

२. ओल्डेनबेर्ग : डी रि० डेस वेद पृ० १०१; मैक्डानल : वै० मा० पृ० १६; क्लेटनः ऋ० वै० रि० ५८-६०; ग्रिसवोल्डः रि० ऋ० १०६ ।

संबन्धित हैं। अतः गुणों में समानता होना उचित ही है। सूर्य वर्ग से देवताओं की इस स्वाभाविक समानता के अतिरिक्त अन्य देवताओं की पारस्परिक समानता का कारण देव शब्द से व्यक्त गुणों की सर्वनिष्ठता है जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। किन्तु संभवतः सर्वप्रमुख कारण यह है कि सभी देवताओं की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि बिलकुल एक है। एक ही दिव्य शक्ति की अभिव्यक्ति होने के कारण प्रत्येक देवता की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन पूर्णतः स्वाभाविक है। वैदिक देवताओं की प्रकृति की समानता ने एक ऐसी विशेषता को जन्म दिया है जो वैदिक देववाद अपनी स्वतंत्र संपत्ति है : कुछ वैदिक देवताओं की समानता इतनी अधिक बढ़ गई है और उनके स्वरूपों में इतना अधिक तादात्म्य हो गया है कि युग्म के रूप में स्तुति की गई है। दो देवताओं का व्यक्तित्व मिलकर एक हो गया है और दोनों की विशेषताएँ पूर्णतः एकरूप हो गई हैं। मित्रावरुणा (णौ) इसके सुन्दर उदाहरण हैं। इस युग्म की पूर्णतः वे ही विशेषताएँ हैं जो अकेले वरुण की। ऐसे अन्य उदाहरण इन्द्रवरुण, इन्द्रसोम, इन्द्रविष्णु, सोमरुद्र, अग्निसोम तथा अग्निमरुत् आदि हैं[1] इस प्रवृत्ति की चरम सीमा वहाँ लक्षित होती है जहाँ सभी देवता अपने व्यक्तित्त्व को खोकर 'विश्वेदेवाः' नामक एक स्वतंत्र देवगण में परिवर्तित हो गये हैं[2]।

किन्तु प्रत्येक देवता को उच्च मानने की इस भावना ने ऋग्वैदिक देवमण्डल के उस प्रकार के विकास को रोक दिया जैसा कि ग्रीक देवमण्डल अथवा परवर्ती भारतीय पौराणिक देवमण्डल में मिलता है। इन स्थानों पर कुछ देवता बड़े हैं, कुछ छोटे। राजा, मंत्री, सेनापति तथा अन्य विविध प्रकार के पदों के लिये यहाँ स्थान निश्चित है। पूरा देवमण्डल एक सुसंघटित राज्य के समान प्रतीत होता है किन्तु ऋग्वेद में प्रत्येक देवता का अन्य देवता के प्रभाव से मुक्त, एक स्वतंत्र एवं आदरपूर्ण अस्तित्व है—

न हि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः
विश्वे सतो महान्त इत्। ऋ० ८।३०।१

'हे देवो, न तुममें कोई बड़ा है न छोटा। सब समान रूप से महान् हैं'। यही कारण है कि पृथक्-पृथक् देवताओं की स्तुति में, ऋग्वेद में प्राप्त मंत्रों से उनके

---

१. युग्म देवताओं के वि ष विवरण के लिए यान खोण्डा (Jan Gonda, की 'दि डुआल डीटीज इन दि रिलीजन आफ दि वेद, (अम्स्टर्डम १९७४) पुस्तक द्रष्टव्य है।

२. ब्लूमफील्ड: रि० वे०, पृ० ८८ तथा आगे।

उत्कर्ष के संबन्ध में कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता । सूक्तों की संख्या की दृष्टि से क्रमशः अश्विनौ, सोम, इन्द्र यथा अग्नि का ऋग्वेद में उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व होना चाहिये और वरुण, मित्र, विष्णु आदि का उत्तरोत्तर कम; किन्तु ऐसा नहीं है ।

प्रायः ऋग्वेद में देवों की संख्या ३३ अथवा '**त्रिभिः एकादश**' कही गई है (**ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्**,८।२८।१,तथा ८।३०।२,१।३४।११)। यद्यपि एक स्थान पर ३।६।६)सहसा बहुत अधिक(३३३६) देवताओं का भी उल्लेख आया है किन्तु ३३ की संख्या ही अनेक स्थानों पर ऋग्वेद तथा वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों तथा अन्य वैदिक एवं लौकिक साहित्य और निरुक्त आदि से पुष्ट होती है । यजुर्वेद में "त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपति-रासीत्" (१४।३१) कहकर स्पष्ट ही ३३ देवता माने गये हैं । अथर्ववेद में कई स्थानों पर देवों की संख्या 'त्रयस्त्रिशत्" कही गई है—

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ।

निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ।। १०।७।२३

श० ब्रा० में कहा गया है कि १२ आदित्य, ११ रुद्र तथा ८ वसु हैं। द्यौः तथा पृथ्वी को मिलाकर कुल ३३ देवता हैं ।

इन देवों के उद्भव का भी प्रायः वर्णन किया गया है । द्यौः एवं पृथ्वी को अनेक स्थानों पर देवताओं के पिता एवं माता कहा गया है । कुछ अन्य देवताओं द्वारा उत्पन्न बताए गये हैं और कुछ हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति से । देवताओं की इस क्रमिक उत्पत्ति के कारण ऋ० ७।२१।७ में प्राचीन (पूर्व) देवताओं का भी उल्लेख है ।

'**स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्**' (ऋ० ३।४।११) '**देवां अमृतान् पिप्रियं च**' (ऋ० ७।१७।४) '**यत्र देवा अमृतमानशानाः**'(य० वे० ३२।१०)आदि मंत्रों में देवताओं को' अमर कहा गया है । किन्तु कहीं कहीं अग्नि, सोम अथवा सविता आदि के द्वारा भी सम्पूर्ण देवताओं को अमरत्व की प्राप्ति होती हुई बताई गई है ।

१. **त्वां विश्वे अमृतं जायमानं शिशुं न देवा अभिसंनवन्ते (अग्नि),** ६।८।४

२. **देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम् (सविता)** ४।५४।२

वैदिक देवताओं का आकार मनुष्य के रूप समान माना गया है । यह बात दूसरी है कि कुछ देवताओं पर मानवीकरण का बहुत भीना सा आवरण है और उस

पारदर्शी आवरण से उनका मूल स्वरूप स्पष्ट झलकता है। उषस्, सूर्य, वायु, पृथ्वी, द्यौः आदि ऐसे ही देवता हैं जिनका मानवीकरण अधिक दूर तक नहीं जा सका है। किन्तु रुद्र, इन्द्र आदि अन्य देवताओं की शारीरिक विशेषताओं का प्रायः उल्लेख है। इन्द्र की सबल भुजाओं, उदर तथा सुन्दर मूँछों एवं रुद्र के गौर वर्ण तथा कान्तिमय शरीर का प्रायः उल्लेख किया गया है। सूर्य के हाथ एवं अग्नि की जिह्वाएँ भी, जो क्रमशः किरणों एवं ज्वालाओं को सूचित करती हैं, अनेक स्थानों पर उल्लिखित हैं। कुछ देवताओं के वस्त्रों का भी उल्लेख है, उदाहरणार्थ देवी उषस् को चमकीले रेशमी-वस्त्रों से सुसज्जित प्रदर्शित किया गया है। इन्द्र आदि देवताओं के स्वर्ण-कवच का उल्लेख है एवं उनके आयुधों की भी चर्चा की हैं। इन्द्र का प्रिय आयुध वज्र है जिसे कहीं स्वर्ण से निर्मित बताया गया है और कहीं अस्थियों से। रुद्र, धनुष एवं बाण तथा हिरण्मय आभूषण धारण करते हैं। प्राय: प्रत्येक देवता के पास एक रथ है जिसमें वे यज्ञ-भाग ग्रहण करने के लिये पृथ्वी पर आते हैं। इन्हें प्रायः अश्व खींचते हैं। पर कहीं कहीं पूषन् के रथ को बकरों, अश्विन् के रथ को हरिणियों तथा उषस् के रथ को धेनुओं से युक्त बताया गया है।

देवताओं का स्थान सर्वोच्च आकाश, तृतीय धाम या विष्णु का तृतीय पाद है जहाँ वे सोम रस से मत्त होकर प्रसन्नता से रहते हैं और यज्ञ में अपना भाग ग्रहण करने के लिये अथवा उपासकों की सहायता के लिये वहाँ से आते हैं। प्रायः हव्य-वाहन अग्नि भी उनके पास तक उनका भाग पहुँचा देता है। दुग्ध, दधि, घृत, सोम, मधु, तथा यव आदि धान्य एवं अपूप आदि मिष्ठान्न उनको प्रदान किये जाते हैं जिन्हें वे प्रेम से स्वीकार करते हैं। इन्द्र सोम का विशेष प्रेमी है और वह सोम के कई तड़ाग एक साथ पी जाता है।

सभी देवता शक्तिशाली, समर्थ दाता एवं उदार हैं। वे छल से रहित एवं अनैतिक तत्त्वों से पूर्णतः मुक्त हैं। स्तोता की प्रार्थना पर वे असत् को नष्ट करते हैं। वे स्वाभाविक दयालुता, करुणा एवं मैत्री भावना से ओत-प्रोत हैं। हाँ, रुद्र एवं वरुण में राजोचित प्रताप एवं असत्-तत्त्वों के दमन के लिये आवश्यक क्रोध अवश्य पाया जाता है। वे मनुष्य की त्रुटियों अथवा पापों पर उन्हें दण्डित करते हैं। रुद्रदेव की शक्ति (हेति) से बचने की ऋग्वेद में प्रायः प्रार्थना की गई है[1]। जो वरुण के नियमों के विरुद्ध कार्य करता है उसे वरुण

१. परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात्।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृल। २।३३।१४

जलोदर रोग से पीड़ित कर देते हैं। उनके पाश भी भयानक हैं जिनमें बँधा जीव शान्ति नहीं पाता[1]।

अथर्ववेद का अध्ययन करने से पता चलता है कि वैदिक ऋषियों की नये-नये देवताओं की उद्भावना करने की शक्ति अभी क्षीण नहीं हुई है। यद्यपि **१६।२७।११-१३** में **'ये देवा दिव्येकादश स्थ'** आदि वाक्यों में पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में **११-११** देवों का उल्लेख है किन्तु यह ऋग्वेद की स्मृति-मात्र है। वास्तविकता यह है कि अथर्ववेद में लगभग **१५०** छोटे-मोटे देवों का उल्लेख है[2] जिनमें **रोहित, मृत्यु, विद्युत्, व्रात्य, वेन, काम, काल, विराज्, मन्यु, धनपति, आशापाल** आदि देवताओं तथा **विष्कला, सूषणा, अराति** एवं **निर्ऋति** आदि देवियों की धारणा नवीन है। ये देवता पृथ्वी, आकाश, जल, पशु तथा वनस्पति आदि सभी स्थानों में रहते हैं (१।३०।२)। पृथ्वी पर रहने वाले कुछ विशिष्ट देवगण पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं के अधिपति हैं। इनके नाम क्रमशः **हेति, अविष्यु, वैराज** तथा **प्रविध्यन्** हैं (३।२६।१-६)।

अथर्ववेद में कई स्थानों पर कहा गया है कि देवता पहले मर्त्य थे। वे अपने तेज या वर्चस् के द्वारा (३।२२।३), तपस् के माध्यम से, किसी यज्ञ विशेष की सहायता से (४।१४।१) अथवा रोहित की कृपा से अमर हो गये। वे पितरों के साथ स्वर्ग-लोक में निवास करते हैं (६।१२३।३)। मनुष्यों की भाँति उनमें भी परस्पर संबन्ध हैं। **बृहस्पति** और **अथर्वा** क्रमशः देवों के भाई तथा तथा पिता हैं (४।१।७ आदि), **सिनीवाली** उनकी बहन, है (सिनीवालि पृथुष्टके या देवानामसि स्वसा, ७।४८।१)। तृतीय आकाश में एक विशाल वृक्ष पर वे निवास करते हैं (६।६५।१) एक स्थान पर उन्हें जल का भक्षण करते हुए वर्णित किया गया है (यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षम्, १।३३।३)। उनके अपने विशाल नगर तथा दुर्ग भी हैं (५।८।६)। क्षत्रिय तथा वैश्यों की भाँति वे भी आयुध धारण करते हैं (६।१३।१)। उनके गुप्तचर (स्पश) भी बड़े सतर्क और चतुर हैं (१८।१।६)।

यज्ञ का अब भी उनके जीवन में अत्यधिक महत्त्व है। यज्ञ उनका स्वामी

---

१. **अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नो अव या वयं चकृमा तनूभिः।**
अव राजन् पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम्॥ ७।८६।५

२. देखिये एन० जे० शैण्डे : **दि फाउन्डेशन्स ऑफ अथर्वणिक रिलीजन** (डेक्कन कालेज ग्रन्थमाला, भाग ६, संख्या ३, ४), पूना १९४६।

है (७।५।३)। वे प्रजापति के आदेश का पालन करते है (४।२।१)। वे यजमान की रक्षा करते हैं और उसे दीर्घजीवन प्रदान करते हैं (५।३।६ तथा ७।१७।३)। वे सोम पान में आनन्द लेते हैं (६।८६।६)।

किन्तु इतना होने पर भी वैदिक देवों में अब वह शक्ति नहीं है जो उनमें ऋग्वेद में परिलक्षित होती है। यहाँ आकर वे आथर्वणिक पुरोहितों की मंत्र-शक्ति के सामने अशक्त होकर आत्मसमर्पण कर देते हैं। आथर्वणिक पुरोहित अपने मंत्रों के बल से उनसे जो चाहते हैं वह करवा लेते हैं। उनकी इच्छा-शक्ति समाप्त हो चुकी है और मंत्रों तथा अन्य यातविक कृत्यों के वशीभूत होकर उन्हें मंत्रज्ञाता की अभीष्ट-सिद्धि करनी ही पड़ती है। अब वे मंत्रज्ञ के हाथों की कठपुतली हैं। उनका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है, पर जिन कार्यों को करने के लिये उनका आह्वान किया जाता है वे अत्यन्त सामान्य तथा तुच्छ हैं। वे रोगों को दूर करते हैं, शत्रु के लिये कृत्या उत्पन्न करते हैं, किसी स्त्री या पुरुष को अन्य पुरुष या स्त्री के प्रति आसक्त कराते हैं, कृषि की रक्षा करते हैं और मणि तथा वर्मों के द्वारा गर्भस्थ बालक का रक्षण करते हैं। इन्द्र, वरुण, सूर्य तथा अग्नि आदि सभी महान् ऋग्वैदिक देवों का दैनिक जीवन से संबद्ध ऐसे अनेक अवसरों पर विविध मंत्रों में बार-बार आह्वान किया गया है। ऋग्वेद में जहाँ वे यज्ञादि से प्रसन्न होकर अपनी इच्छा से उपासक को समृद्धि आदि प्रदान करते हैं वहाँ अथर्ववेद में आथर्वणिक पुरोहित अपने मंत्रों की शक्ति से उनसे ऐसे कार्य करवाने की सामर्थ्य रखता है। वैदिक देवों की यह तुलनात्मक निर्बलता परवर्ती साहित्य में अधिकाधिक व्यक्त होती चली गई है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित देवमण्डल में वैदिक देवमण्डल की अपेक्षा कोई विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुशीलन से सर्वप्रथम जो तथ्य सामने आता है, वह है यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व। वैदिक संहिताओं के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि उस समय यज्ञ देवताओं की प्रसन्नता के लिये प्रदान किया जाता था। या तो यजमान देवताओं द्वारा किये गये उपकारों की कृतज्ञता के फलस्वरूप यज्ञ करता था और या फिर उसका उद्देश्य यह होता था कि किसी विशिष्ट देवता को सन्तुष्ट करके उसकी कृपा से वह किसी अभीप्सित वस्तु को प्राप्त करे। किन्तु ब्राह्मणों का यजमान देवता की कृपा का न तो प्रार्थी है, न अभिलाषी। प्रत्येक यज्ञ स्वयं में एक स्वतंत्र शक्ति है; प्रत्येक यज्ञ का एक विशेष फल है जिसे वह किसी अन्य शक्ति के बिना स्वयं ही उत्पन्न कर सकता है; उदाहरणार्थ 'ज्योतिष्टोम' यज्ञ करने पर स्वर्ग प्राप्ति एवं 'पुत्रेष्टि' यज्ञ करने

पर पुत्र-प्राप्ति पूर्णतः निश्चित है; उसमें किसी देवता की सन्तुष्टि की अपेक्षा नहीं है। देवताओं के महत्त्व के ह्रास का यह स्पष्ट निदर्शन है।

ब्राह्मणों में भी प्रायः देवताओं की संख्या लगभग वही है जो संहिताओं में। केवल **प्रजापति** नामक एक नवीन कर्मकाण्डीय देवता का नया आविर्भाव हुआ है और इससे उनकी संख्या ३३ के स्थान पर ३४ हो गई है (श० ब्रा० ४।५।७।२, ५।१।२।१३ आदि)। इन देवताओं को ब्राह्मणों में **आदित्य, वसु** एवं **रुद्र** इन तीन वर्गों में विभक्त कर दिया गया है। श० ब्रा० के १४ वें कांड के पंचम अध्याय में इन देवताओं की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

> **त्रयस्त्रिंशत् त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिंशत्। अष्टौ वसवः एकादश रुद्राः द्वादादित्याः, त एकत्रिंशत् इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशदिति। कतमे वसव इति। अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं च आदित्यश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः। एतेषु हीदं सर्वं वसु हितम् एते हीदं सर्वं वासयन्ते। तद् यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसव इति। कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादश। ते यदास्मात् शरीरदुत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति। तद् यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति॥**
>
> **कतम आदित्या इति। द्वादश मासा संवत्सरस्य एत आदित्याः। एते हीदं सर्वं आददाना यन्ति। तद् यदिदं आददाना यन्ति तस्मादादित्या इति। कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिः इति। स्तनयित्नुरेवेन्द्रः यज्ञः प्रजापतिरिति।**

यहाँ अग्नि, पृथ्वी, वायु, द्यौः, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि को वसु-वर्ग में तथा मित्र, अर्यमा, भग, वरुण, दक्ष, अंश, मार्तण्ड, धाता आदि की बारह आदित्यों में तथा अजएकपाद्, अहिर्बुध्न्य, त्र्यम्बक, महेश्वर आदि की रुद्रों में गणना की गई है। जो संपूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त किये हुए हैं अथवा जिनमें ही सब धन स्थित है, वे वसु हैं। जो समय का ग्रहण (आददानाः) करते हुए चलते हैं, वे द्वादश मासों के अधिपति आदित्य हैं। प्राण ही रुद्र हैं क्योंकि वे शरीर से निकलते समय सम्बन्धियों को रुलाते हैं। आदित्यों और वसुओं आदि की यह सूची सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में एक जैसी नहीं है। विष्णु, इन्द्र आदि देवों की गणना में विशेष रूप से मतभेद है। विष्णु को कुछ ब्राह्मणों में आदित्य-वर्ग के अन्दर परिगणित किया गया है और कहीं उसका उल्लेख ही नहीं है। इन्द्र को यहाँ पर तीनों वर्गों से स्वतन्त्र, एक पृथक् देवता माना गया है किन्तु परवर्ती ब्राह्मणों में वह आदित्य वर्ग में ही है। इतना होने पर भी सभी वैदिक देवता इन वर्गों के अन्दर

नहीं आ पाये हैं उदाहरणार्थ विवस्वान्, अश्विनौ, उषस्, त्रित, मातरिश्वन् पर्जन्य, बृहस्पति आदि; और कुछ ऐसे आ गये हैं जिनका संहिताओं में नाम तक तक उल्लिखित नहीं है। रुद्रगण के विषय में कोई निश्चित सूची महाभारत से पूर्व प्राप्त नहीं होती।

श० ब्रा० में ही अन्य स्थानों पर याज्ञवल्क्य ने देवों की संख्या ३०३ या ३००३ भी बताई है। किन्तु उसने कहा है कि वस्तुतः ३०३ या ३००३ उन्हीं देवताओं की महिमाएँ हैं, देवता तो वस्तुतः ३३ ही हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में देवों की प्रायः उतनी ही विशेषताओं का उल्लेख हुआ है जितनी कर्मकाण्ड के लिये आवश्यक हैं। बहुधा ऋग्वैदिक देवों के स्वरूप की एक सामान्य धारणा उनके मस्तिष्क में रहती है और उसी के अनुरूप वे अपनी गाथाओं एवं ऊहाओं का जाल बुनते हैं। श० ब्रा० ३।६।१ में ऋग्वेद के विभिन्न देवों का यह संक्षिप्त स्वरूप देखिये : **'वाग् वै सरस्वती'** (७) **'पशवो वै पूषा'** (२०) **'ब्रह्म वै बृहस्पति'** (११) **'क्षत्रं वा इन्द्रः'** (१६) **'विशो वै मरुतः'** (१७) तथा **'तेजो वा अग्निः'** (१८) आदि।

श० ब्रा० ४।३।५।१ तथा १३।१।७।२ में कहा गया है कि देवता तीन प्रकार के हैं (**'त्रयो वै देवाः', 'त्रयावृतो वै देवाः'**)। यह कथन संभवतः वसु, आदित्य एवं रुद्र के इन्हीं तीन वर्गों से सम्बन्ध रखता है। यह भी हो सकता है कि यह पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं आकाश के अनुसार किये गये वैदिक देवताओं के विभाजन की ओर संकेत करता हो जिसका उल्लेख स्वतः ऋग्वेद (१।१३९।११) में है।

यज्ञ के महत्त्व की वृद्धि के साथ-साथ पुरोहितों एवं ब्राह्मणों का भी महत्व बढ़ता रहा है। श० ब्रा० (२।२।२।६) में कहा गया है कि देवता दो प्रकार के हैं, एक पृथ्वी के देवता और दूसरे दिव्य देवता। पृथ्वी के देवता ब्राह्मण हैं। यजमान यज्ञ करके दिव्य देवों को प्रसन्न करता है और दक्षिणा देकर पृथ्वी देवों को। राजा सबका शासक है किन्तु ब्राह्मणों का नहीं। दोनों की प्रसन्नता से ही अभीष्ट की प्राप्ति होती है—

> **द्वया वै देवाः। ये ब्राह्मणाः शुश्रूवांसो अनूचानाः ते मनुष्यदेवाः तेषां द्वेधा विभक्त एष यज्ञः। आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति। दक्षिणाभिः मनुष्यदेवान्॥**

जिस प्रकार ऋग्वेद में देवों के तीन निवास स्थानों (पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश) का वर्णन है उसी प्रकार श० ब्रा० (६।५।३।३ तथा ६।१।२।१०) में भी देवों का इसी प्रकार निवास स्थान के अनुसार विभाजन है। किन्तु एक

स्थान पर (६।५।२।८) उनके रहने के सप्त लोकों (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्) का वर्णन किया गया है और १०।२।४।४ में कहा गया है कि त्रिलोकी और चार दिशाएँ ही देवों के रहने के सप्तलोक हैं। इससे मिलती-जुलती धारणा अथर्ववेद में भी है जहाँ कहा गया है कि देवता पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश के अतिरिक्त दिगन्तों, नक्षत्रों, जल तथा वृक्ष आदि में भी रहते हैं—

ये देवा दिवि तिष्ठन्ति ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुषु अप्सु अन्तः।
अथर्व० १।३०।३

श० ब्रा० में भी इसे स्वीकार किया गया है (१४।३।२।४)। श० ब्रा० १२।७।३।७ में देवताओं तथा पितरों के पृथक्-पृथक् निवास-स्थानों का उल्लेख किया गया है।

ऋग्वेद में देवताओं की उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित उल्लेख नहीं है किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः सभी स्थानों पर देवताओं की उत्पत्ति प्रजापति से बताई गई है (**प्रजापतिर्देवान् असृजत्**, तै० ब्रा० ३।१०।६)। प्रजापति ब्राह्मण-ग्रन्थों में विकसित एक नवीन देवता है जिसे संसार की प्रत्येक वस्तु का कर्ता माना गया है और जिसकी उत्पत्ति सम्भवतः यज्ञ एवं कर्मकाण्ड के सम्बन्ध से हुई है। प्रजापति का जन्म एक हिरण्मय-अण्ड 'हिरण्यगर्भ' से हुआ है (श० ब्रा० ११।१।६।१) और उसे 'ब्रह्म' (महान्) 'विश्वकर्मा' (सबका निर्माता) 'पुरुष' (चेतन शक्ति) तथा 'धाता' (धारण करने वाला) कहा गया है।

श० ब्रा० (१०।१।३।१) का कथन है कि देवता प्रजापति की श्वास से उत्पन्न हैं। ऐ० ब्रा० (५।३२) का कथन है कि प्रजापति की इच्छा हुई कि मैं अनेक हो जाऊँ। उसने तप किया और उसके प्रभाव से पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को उत्पन्न किया। तब उसने इन तीनों लोकों पर मनन किया। इस चिन्तन से प्रत्येक का अभिमानी एक-एक देवता—पृथ्वी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु तथा आकाश से सूर्य—उत्पन्न हुआ[1]। लगभग यही बात श० ब्रा० (६।५।३।३) में कुछ शब्द-भेद से कहीं गई है। श० ब्रा० में अनेकशः (१।२।४।१, ११।५।३।२ तथा ४।२।४।११) असुरों को भी प्रजापति से उत्पन्न बताया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः कहा गया है कि देवगण पहले अमर नहीं थे किन्तु किसी विशेष यज्ञीय कृत्य को करने के पश्चात् उन्होंने अमरता प्राप्त की

---

१. **अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव वा।**
सूर्यो दिवीति विज्ञेया तिस्र एवेह देवताः॥ बृहद्देवता १।६९

(उदाहरणार्थ श० ब्रा० ११।१।२।१२ तथा ११।२।३।६)। ऐसे उद्धरणों का मूल उद्देश्य कर्मकाण्ड के किसी विशेष अंग की महत्ता द्योतित करना है। उनसे देवों के विषय में तत्कालीन धारणा का परिचय मिलना कठिन है। श० ब्रा० में एक स्थान पर (२।२।२।८-१०) कहा गया है कि 'देव और असुर दोनों ही प्रजापति से उत्पन्न हुए। दोनों एक दूसरे से लड़ते थे किन्तु दोनों ही मरणशील थे; देवों में केवल अग्नि ही अमर्त्य था। अतः जिस देवता को असुर मारते थे वह बिल्कुल मर जाता था। देवों ने स्तुति एवं तपस्या की जिससे वे अमर होकर मर्त्य असुरों को जीत सकें। तब उन्होंने अमर 'अग्न्याधाय' को देखा। उन्होंने कहा कि, आओ हम इस अमर वस्तु को अपनी आत्मा में धारण करें। तब उन्होंने ऐसा ही किया और अमर तथा अपराजेय हो गये'। इसी ब्राह्मण में एक अन्य स्थान पर (११।१।६।१४) कहा गया है कि जिस समय देवता उत्पन्न हुए उस समय उनकी मूल आयु केवल एक सहस्र वर्षों की थी। एक अन्य स्थान पर (श० ब्रा० १०।१।४।१) स्वयं प्रजापति को प्रारम्भ में मर्त्य बताया गया है। उनके केवल प्राण अमर थे, शरीर तो क्षय्य ही था; किन्तु एक कृत्य विशेष के कारण वह अक्षय और अमर हो गया।

ऋग्वेद में अधिकतर असुरों का पृथक्-पृथक् ही उल्लेख प्राप्त होता है। इन्द्र के शम्बर, अहि, बल तथा वृत्र आदि शत्रु बताए गए हैं। किन्तु ब्राह्मणों में देवों की भाँति असुरों की एक स्वतन्त्र श्रेणी बन गई है। उनका एक पूरा समूह है जो कौशल में देवों से कम नहीं है। प्रजापति के उच्छ्वास से देवों की सृष्टि हुई हैं और निःश्वास से असुरों की। असुर भी देवों की भाँति प्रजापति की ही सन्तान हैं (श० ब्रा० १।२।४।८, तै० सं० ३।३।७।१ तथा तै० ब्रा० १।४।१।१), किन्तु उन्हें सदा देवताओं से लड़ते हुए प्रदर्शित किया गया है। असुरों के साथ पिशाचों एवं राक्षसों का भी स्वतन्त्र उल्लेख है। यातविक कृत्य ही उनके कर्मकाण्ड है। उनका पुरोहित 'काव्य उशना' (शुक्राचार्य) है (तां० ब्रा० ६।७।१)। श० ब्रा० (६।५।१।१२-१६) में कहा गया है कि पहले देवता और असुर दोनों ही सत्य तथा असत्यमय थे। देवताओं ने सत्य को अपनाकर असत्य को छोड़ दिया किन्तु असुरों ने असत्य को ही अपनाया अतः वे निर्बल हो गये। प्रायः असुरों को अन्धकार तथा माया से युक्त कहा गया है (श० ब्रा० २।४।२।५)।

श० ब्रा० (३।२।२।२२) में कहा गया है कि देवता कभी सोते नहीं; और न कभी उनकी आँखों में आँसू आते हैं (मै० सं० २।१।१०, ऐ० ब्रा० ५।१।२)।

यज्ञ उनका भोजन है तथा सूर्य उनका प्रकाश । वे अमरता में निवास करते हैं (श० ब्रा० २।४।२।१) । वे प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं, रहस्यमय परोक्ष वस्तुएँ उन्हें प्रिय हैं (**प्रत्यक्षद्विषो हि देवाः परोक्षप्रियाः**, श० ब्रा० ६।१।२।७) । वे जब यज्ञ भाग ग्रहण करते आते हैं तो अदृश्य रहते हैं (श० ब्रा० ३।३।४।६) । वे आनन्ददाता तथा यशस्वी हैं एवं मनुष्यों को उचित मार्ग प्रदर्शित करते हैं। (श० ब्रा० २।१।४।६ तथा ऐ० ब्रा० ४।२५) । श० ब्रा० (३।४।२।६-७) में देवताओं की सर्वज्ञता प्रदर्शित की गई है । जो कुछ भी मनुष्य सोचता है वह उसके निःश्वास में व्याप्त होकर बाहर निकल जाता है और वायु में मिल जाता है । वायु देवताओं को बता देता है कि मनुष्य के मन में क्या है ।

इन्द्र की देवों के ऊपर प्रधानता अभी सुरक्षित है । इन्द्र उनका राजा है और साम उनके वेद हैं (श० ब्रा० १२।४।३।१४) प्रजापति ने इन्द्र को यह पद प्रदान किया है (तै० ब्रा० २।२।१०), किन्तु कहीं कहीं राक्षसों के आक्रमण के भय से देवताओं द्वारा अपनी सुरक्षा के लिये स्वतः इन्द्र को अपना नायक चुनना वर्णित है (श० ब्रा० ३।४।२।१) ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित वैदिक देवताओं के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि वैदिक देवताओं का महत्त्व पर्याप्त क्षीण हो चुका है । यज्ञ की शक्ति के आगे उनकी सामर्थ्य कुछ भी नहीं है । यज्ञ के न मिलने पर वे क्षीण हो जाते हैं और असुरों को परास्त नहीं कर पाते । जो भी कुछ महत्त्व वे प्राप्त करते हैं वह सब यज्ञ के ही कारण है[१] । कहाँ तो ऋग्वैदिक समय में यज्ञ देवताओं की प्रसन्नता के लिये किया जाता था और कहाँ अब वे स्वयं यज्ञ करने के लिये विवश होते हैं (श० ब्रा० ११।५।५।१२, वा० सं० १६।१२) । यज्ञ देवताओं से स्वतंत्र एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है और यज्ञ का अधिष्ठाता प्रजापति सब देवों का उत्पादक है । इस प्रकार उनकी उत्पत्ति तक यज्ञ के अधीन है ।

यज्ञ से ही वे स्वर्ग पर विजय प्राप्त करके उसे अपना निवास स्थान बनाते हैं (श० ब्रा० १।७।३।१ तथा तै० सं० १।७।१।३) । छन्दों तथा सूक्तों से पूजा करने के कारण ही उनका यह महत्त्व हुआ है (श० ब्रा० ३।६।३।१०, मै० सं० ३।२।३, तां० ब्रा० ७।४।२, ऐ० ब्रा० १।६) । असुरों को परास्त करने के लिये शक्ति अब उनमें सोम से नहीं आती, इसे वे यज्ञ करके प्राप्त करते हैं (श० ब्रा० २।५।३।२-३, तै० सं० १।६।१०।२) । वे एक दूसरे की प्रसन्नता के लिये भी

---

१. देखिये, देशमुख : **ओरिजिन् एण्ड डेवलपमेन्ट आफ् रिलीजन इन वैदिक लिटरेचर**, पृ० ३५१-३७०।

यज्ञ करते हैं (श० ब्रा० ५।१।१।२, ११।१।८।२)। साथ ही यज्ञ का स्वयं भी इतना अधिक महत्त्व है कि वे यज्ञ के लिये भी यज्ञ प्रदान करते हैं (ऐ० ब्रा० १।१६; **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः,** ऋ० १०।६०।१६)।

गृह्य-सूत्रों में प्रतिबिम्बित वैदिक देवताओं में कोई उल्लेखनीय नई विशेषता नहीं है। एक तो सूत्र स्वतः अत्यन्त संक्षिप्त हैं और दूसरे धार्मिक कृत्यों के संदर्भ में ही तत्कालीन देवताओं का यदा-कदा विवरण प्राप्त होने के कारण उनके स्वरूप का उचित अनुमान नहीं लगाया जा सकता। फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक देवताओं की महत्ता के ह्रास का जो आभास प्राप्त होता है उसी का विकास सूत्रों में हुआ है। प्रत्येक कृत्य में कुछ विशेष देवताओं का आह्वान किया जाता हैं और उनको हवि प्रदान की जाती है। सभी कृत्यों में अनिवार्यता के कारण अग्नि का अत्यधिक महत्त्व है। साथ ही विष्णु और रुद्र का महत्त्व विशेष रूप से बढ़ गया है। रुद्र के लिये 'शिव' विशेषण भी अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के शक्तिशाली देवता इन्द्र और वरुण का केवल नाममात्र को उल्लेख है। विनायक (गणेश) आदि नवीन देवताओं का भी जन्म हुआ है किन्तु अब भी लोक विश्वास में देवों की संख्या वही ३३ ही है। हिरण्यकेशी गृ० सू० (२।८।७।४) में आग्रहायणी कृत्य के समय यजमान प्रार्थना करता है कि "तीन बार एकादश (त्रिभिः एकादश) देवता जो उदार हैं, जिनके पुरोहित बृहस्पति हैं, सविता की प्रेरणा से मेरा कल्याण करें"।

इसी गृह्य सूत्र में एक अन्य स्थान पर (१।४।°१।४) श्राद्ध कर्म के प्रसंग में कहा गया है कि "भूमि स्थिर है, अग्नि इसका नियामक है, अन्तरिक्ष स्थिर है वायु इसका नियामक है, आकाश स्थिर है, सूर्य इसका नियामक है"। उपनयन संस्कार के समय उपाध्याय ब्रह्मचारी के दक्षिण कर्ण में कहता है "तुम अग्नि एवं पृथ्वी पर स्थिर रहो, वायु एवं अन्तरिक्ष में स्थिर रहो तथा सूर्य एवं आकाश पर स्थिर रहो" (हिरण्य० १।२।६।३)। इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं ब्राह्मणों में अनेकशः उल्लिखित देवताओं का यह त्रिविध विभाजन गृह्य-सूत्रों के समय भी मान्य था।

देवताओं के उद्‌भव के सम्बन्ध में गृह्य सूत्रों में कुछ नहीं कहा गया। गृह्य सूत्रों के लेखक धार्मिक कृत्यों के वर्णन में ही इतने अधिक व्यस्त हैं कि देवताओं के स्वरूप पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने का उन्हें अवकाश ही नहीं है। उनकी चेष्टा यह अन्वेषण करने की रही है किस विशिष्ट धार्मिक कृत्य से

किस वैदिक देवता को सम्बन्धित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद में विष्णु को 'गर्भ का कल्पक' (१०।१८४।१) कहा गया है तो इस संकेत के आधार पर गृह्य सूत्रों में गर्भाधान संस्कार के समय उनका आह्वान किया गया है।

देवताओं के विषय में सामान्य धारणा यही है कि वे विभिन्न दिशाओं में निवास करते हैं, कवच पहनते हैं तथा शक्तिशाली धनुष एवं बाण धारण करते हैं। वे कभी पलक नहीं मारते, निर्निमेष दृष्टि से सावधानता पूर्वक मनुष्य के कर्मों का पर्यवेक्षण किया करते हैं (गोभिल गृह्य ४।६।१६)। उनमें रोग तथा रोग के 'कीटाणुओं' को नष्ट करने की अपूर्व शक्ति है (पारस्कर २।१७।१६।१५)

वस्तुतः गृह्य सूत्रों के रचयिताओं के सम्मुख वैदिक देवों का कोई निश्चित सामान्य स्वरूप नहीं है। ऋग्वेद में विभिन्न देवों की जो विविध विशेषताएँ वर्णित की गई हैं उन्हीं के आधार पर उन्होंने विभिन्न गार्हस्थिक कार्यों के लिये देवों का औचित्य सोचकर उनका आह्वान किया है। यही कारण है विष्णु जैसे महनीय देवों का भी गर्भ की रक्षा जैसे छोटे कार्य के लिये आह्वान किया गया है। गृह्य-सूत्रों में वर्णित देवों की विशेषता के आधार पर किसी देवता के व्यक्तित्व के विषय में निश्चित धारणा बना लेना कठिन है।

रामायण, महाभारत एवं **पुराणों** में आकर हम देवताओं के एक नवीन संसार में आ जाते हैं। सहिताओं में यद्यपि कई देवताओं की मानवीय एव शारीरिक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है किन्तु फिर भी उनका व्यक्तित्व अधिक स्पष्ट नहीं हैं। प्रत्येक के आकार-प्रकार की हम उचित कल्पना नहीं कर सकते और संभवत: यही कारण है कि वैदिक काल में देवों की मूर्तियों के निर्माण का कोई उल्लेख नहीं मिलता[1]। किन्तु पौराणिक काल में प्रत्येक के अंग-प्रत्यंगों एवं चरित का सजीव वर्णन है। वेदों में देवों के व्यक्तित्व की केवल बाह्य रूप-रेखा मात्र है। पर पुराणों एवं महाकाव्यों (रामायण-महाभारत) में इन रेखा-चित्रों में सुन्दर चटकीले रंग भर दिये गये हैं। उदाहरण के लिये विष्णु के बाह्य आकार के विषय में ऋग्वेद पूर्णतः मौन है किन्तु पौराणिक काल में विष्णु के श्यामल वर्ण, कोमल शरीर तथा चार भुजाओं का वर्णन है। इन चारों भुजाओं में वे शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण करते हैं। उनके शरीर पर पीताम्बर पड़ा रहता है और गले में वैजयन्ती माला तथा कौस्तुभ मणि सुशोभित होती रहती है। उनके नेत्र नील कमल के समान है तथा दृष्टि कारुण्यमयी है। गरुड़ उनका वाहन है तथा लक्ष्मी प्रियतमा, जो सदा उनके चरण दबाया करती हैं।

---

१. देखिये, प्रथम अध्याय, अनुभाग ४, पृ० ४०-४१।

क्षीरसागर में उनका निवास-स्थान है जिसे वैकुण्ठ कहते हैं। जय और विजय नामक दो द्वारपाल उनके प्रवेश-द्वार के बाहर खड़े रहकर रखवाली करते हैं।

ठीक इसी प्रकार शिव (वैदिक रुद्र) तथा ब्रह्मा (वैदिक प्रजापति) की भी शारीरिक विशेषताओं का पूर्ण वर्णन है। वेदों में देवों की पत्नियों का केवल औपचारिक वर्णन है। इन्द्र शब्द में स्त्रीलिंग वाचक आनुक् तथा ङीप् प्रत्यय लगाकर इन्द्राणी बन गया और वह इन्द्र की पत्नी हो गई। किन्तु महाकाव्यों एवं पुराणों में इन्द्राणी, पार्वती, लक्ष्मी तथा सरस्वती आदि सभी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। इन्द्र के पुत्र जयन्त का भी वर्णन है जो एक आँख से काना है।

किन्तु साथ ही पुराणकाल में वेद के बहुत से देवता केवल नाममात्र को ही अवशिष्ट रह गये हैं और कुछ पूर्णतः विलुप्त हो गये हैं। ऐसे ह्रासोन्मुख देवताओं में पूषन्, सविता, अर्यमा, मित्र, त्रित तथा अपांनपात् आदि हैं। वरुण तथा इन्द्र आदि का उत्कर्ष पूर्णतः क्षीण हो गया है। वैदिक देवमण्डल का सम्राट् वरुण केवल समुद्रों का राजा मात्र है, विष्णु, शिव आदि के आगे उसकी शक्ति पूर्णतः नगण्य है। अग्नि एक ब्राह्मण के रूप में चित्रित किया गया है। उसका महत्त्व केवल यज्ञ में उसकी उपयोगिता के कारण है, देवता के रूप में नहीं। इन्द्र यद्यपि अब भी राजा है किन्तु अब उसका कार्य केवल अप्सराओं के साथ विलास करना है। कभी-कभी वह पृथ्वी पर भी सुन्दरियों को खोजा करता है; गौतम की पत्नी अहल्या इसका उदाहरण है। राक्षसों का वध करने की उसमें शक्ति नहीं है। रामायण में एक स्थान पर उल्लेख है कि एक बार इन्द्र ने सूर्यवंश के राजा ककुत्स्थ को असुरों का विनाश करने के लिये बुलाया। इन्द्र वृषभ बना और राजा ने उसके ककुद् पर बैठकर युद्ध किया। महाभारत में इन्द्र राक्षसों का विनाश करने के लिये अर्जुन को बुलवाता है। ये दो ही नहीं और भी अनेक राजा इन्द्र की सहायता करते हुए वर्णित किये गये हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में पार्थिव नरेश दुष्यन्त स्वर्ग जाकर इन्द्र के शत्रुओं का संहार करते हैं। कहीं-कहीं तो इन्द्र को मनुष्यों से बुरी तरह हारते हुये वर्णित किया गया है। महाभारत में खाण्डवदाह के समय इन्द्र एवं अर्जुन के घोर युद्ध का वर्णन है जिसमें इन्द्र को मुँह की खानी पड़ती है। श्रीमद्भागवत में कृष्ण द्वारा अपनी पूजा न पाकर इन्द्र का क्रुद्ध होकर घोर वर्षा करना, कृष्ण का गोवर्धन धारण करना और अन्त में इन्द्र का विनम्र होकर कृष्ण के चरणों में गिरना वर्णित है। इन्द्र की तुच्छता का यह सुन्दर निदर्शन है। जब असुर उसे तंग करते हैं तो वह ब्रह्मा, विष्णु या शिव के पास भागता है। दयालु विष्णु प्रायः उसकी विपत्ति

दूर करते हैं। जब बलि ने उसका राज्य छीन लिया तो विष्णु को ही वामन का रूप धारण करके उसकी सहायता करनी पड़ी। यही नहीं, उसे मनुष्यों की भी सहायता की आवश्यकता पड़ती है।

बहुत से नये देवताओं का जन्म भी महाकाव्यों और पुराणों में हुआ है। अधिकतर ऐसे देवताओं का पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में कोई उल्लेख नहीं है। दुर्गा, स्कन्द, गणेश, हनुमान् आदि ऐसे ही देवी-देवता हैं जिनकी उपासना पौराणिक युग में जन्म लेकर आज भी हिन्दू धर्म में व्यापक रूप से प्रचलित है।

पुराणों में प्रायः देवों की संख्या बहुत ऊँची बताई गई है। ऋग्वेद के ३३ देवों को पुराणकारों ने ३३ करोड़ बना दिया है। ब्रह्मपुराण (११०।१४७) तीन-करोड़ पाँच-सौ देवों का उल्लेख करता है (**तिस्र कोटयस्तथा पंचशतानि मुनिसत्तम**)। पर विष्णु पुराण में एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि सब देवता संख्या में ३३ हैं और ये वेदों से उत्पन्न हुए हैं (**सर्वे देवगणास्तात त्रयस्त्रिंशत्तु छन्दजाः १।१५।१३९**)। वेदों की भाँति महाकाव्यों एवं पुराणों में देवों का पृथ्वी आदि स्थानों के अनुसार कोई विभाजन नहीं किया गया। पुराणों की सजीव देवकथाओं के आगे यह धारणा ही पूर्णतः लुप्त हो चुकी है कि देवगण कभी प्रकृति के किसी तत्त्व से सम्बन्धित थे। उनमें यथार्थता एवं वास्तविकता है। पौराणिक कवियों को उनके अस्तित्व में पूर्ण विश्वास है। फिर भी महाभारत में (अनुशासन पर्व, अध्याय १५०) एक स्थान पर श० ब्रा० के ही अनुसार देवताओं का रुद्र, आदित्य तथा वसु वर्ग में परिगणन है। किन्तु इस विभाजन का महाकाव्यों अथवा पुराणों में कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है, यह प्राचीन काल की एक स्मृति मात्र है। साथ ही जो नाम इस सूची में दिये गये हैं उनमें से कुछ श० ब्रा० से पर्याप्त भिन्न हैं; उदाहरणार्थ—

रुद्राः अज-एकपाद् अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, अपराजित, ऋत, पितृरूप, त्र्यम्बक, महेश्वर, वृषाकपि, शम्भु, हवन।

आदित्याः अंश, भग, मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, जयन्त, भास्कर, त्वष्टा, पूषन्, इन्द्र तथा विष्णु।

वसवः धर, ध्रुव, सोम, सविता, अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभास।

अश्विनौ नासत्य तथा दस्र।

एक सामान्य दृष्टि से ही ज्ञात हो जायेगा कि रुद्रगण में अधिकतर शिव के ही विशेषण एकत्र करके रख दिये हैं। हवन एवं ऋत आदि का, पता नहीं, रुद्र से क्या सम्बन्ध है। गीता में कहा गया है—'मैं रुद्रों में शिव हूँ' और शिव का

इस सूची में नाम तक नहीं है। आदित्य-वर्ग में सूर्य से सम्बन्धित कुछ प्राचीन देवता हैं किन्तु जयन्त, भास्कर आदि का अन्यत्र कहीं दूसरी बार नामोल्लेख तक नहीं है। वसु-वर्ग में सविता तथा सोम एवं साथ ही वायु एवं अग्नि को मिलाकर अत्यन्त भ्रान्त कर दिया गया है। धर एवं प्रभास का कोई भी परिचय अन्यत्र कहीं नहीं दिया गया। पता नहीं, ध्रुव वही विष्णु भक्त बालक है अथवा ध्रुव तारा अथवा और कोई। अश्विनौ में एक का नाम नासत्य बताया गया है और दूसरे का दस्र। दोनों ही अश्विनीकुमारों के प्राचीन सम्मिलित विशेषण हैं।

पौराणिक काल में **ब्राह्मणों का उत्कर्ष** भी इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है। महत्त्व इतना अधिक बढ़ गया है कि देवता उनके प्रभाव से थर-थर काँपते हैं। अहल्या से अनुचित सम्बन्ध के कारण गौतम-ऋषि इन्द्र को शाप दे देते हैं और इन्द्र उनसे अनुनय-विनय करता है। इन्द्र का प्रभाव ही क्या है? जो भी १०० अश्वमेध यज्ञ कर ले, वह इन्द्र बन जाता है। किन्तु स्वार्थी इन्द्र की यही चेष्टा रहती है कि कोई भी १०० अश्वमेध न कर सके। रामायण में उसे दिलीप के सौवें यज्ञ का अश्व चुराकर ले जाते हुए वर्णित किया गया है; अश्विनी कुमार यज्ञ में सोम के अधिकारी नहीं हैं किन्तु च्यवन की कृपा से वे सोमपान के अधिकारी बन जाते हैं। भृगु देवाधिदेव-विष्णु की छाती में लात मारने की सामर्थ्य रखते हैं। ऋषि मांडव्य को चोरी के अपराध की शंका में सूली पर चढ़ा दिया जाता है किन्तु वे मरते नहीं। कुछ समय पश्चात् वे सदेह यमलोक पहुँचते हैं और यम से पूछते हैं कि किस अपराध के कारण उसने यह दण्ड उन्हें दिया। उसके उत्तर से असन्तुष्ट होकर वे उसे शूद्र योनि में जन्म लेने का शाप देते हैं। वृत्र जैसे असुर का वध करने पर भी इन्द्र को ब्रह्म-हत्या का पातक लगता है क्योंकि वृत्र को त्वष्टा ब्रह्मर्षि ने उत्पन्न किया है।

अवतारवाद का सिद्धान्त पौराणिक देव-कथाओं की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है। संसार की रक्षा के लिये विष्णु को मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, राम, कृष्ण आदि अवतार ग्रहण करने पड़ते हैं। इनमें से कुछ तो वैदिक साहित्य में ही संकेतित हैं और प्राचीन प्रकृति-कथाओं से सम्बन्धित हैं (उदा० वामन)। कुछ ऐतिहासिक व्यक्ति हैं (राम, कृष्ण आदि) जिन्हें शक्ति एवं सामर्थ्य की अधिकता के कारण विष्णु से सम्बद्ध कर दिया गया है। विष्णु के अतिरिक्त अन्य देवता भी अपनी शक्ति से मनुष्यों को उत्पन्न करने में समर्थ हैं और युधिष्ठिर आदि पञ्च पाण्डव क्रमशः यम, वायु, इन्द्र तथा अश्विनौ (दो) की शक्ति से उत्पन्न माने गये हैं।

देवों और असुरों का युद्ध अब और अधिक सामान्य हो गया है। ऋग्वेद की भाँति अब एक-एक देवता का एक-एक असुर से युद्ध नहीं होता। सभी असुर मिलकर सम्मिलित रूप देवों पर आक्रमण करते हैं और कभी-कभी देवताओं को स्वर्ग से हटाकर वहाँ के राजा बन बैठते हैं। ऐसे पाँच देवासुर संग्रामों का मत्स्य पुराण में उल्लेख मिलता है।

महाकाव्यों एवं पुराणों में देवताओं के सम्बन्ध में **आख्यानों** एवं **उपाख्यानों** का एक विशाल भन्डार उपलब्ध है। प्रत्येक देवता के विषय में उसके अन्य देवताओं, मनुष्यों तथा असुरों के सम्बन्ध से अनेक आख्यानों का जन्म हुआ है। इस भण्डार में ऐसे भी उपाख्यान हैं जिनका मूल वैदिक साहित्य में है किन्तु जिनको कवियों ने अपनी उर्वर कल्पना-शक्ति से अब और अधिक पूर्णता एवं काव्यात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है। पुराणों के ये मनोरम आख्यान सामान्यतः सात वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं—

१. ज्योतिष सम्बन्धी
२. प्रतीकात्मक
३. वैदिक
४. ऐतिहासिक
५. इष्ट देवता की प्रशंसापरक
६. दार्ष्टान्तिक या उपदेशात्मक, तथा
७. लोक विश्वास से उद्‌भूत।

प्रथम वर्ग में ऐसी कथाएँ हैं जो आकाश के (प्रायः रात्रि में दिखाई देने वाले) किसी दृश्य पर आधारित हैं, उदा० विश्वामित्र द्वारा त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग भेजे जाने और इन्द्र द्वारा तिरस्कृत होने पर आकाश में ही लटके रहने की कथा, गंगावतार की कथा, ध्रुव एवं सप्तर्षियों का आख्यान तथा चन्द्रमा के २७ नक्षत्र-पत्नियाँ होने किन्तु रोहिणी के अतिरिक्त अन्य पत्नियों से प्रेम न करने के कारण क्षयी हो जाने आदि की कथाएँ। द्वितीय वर्ग की कथायें पूर्णतः अमूर्त विचारों पर आधारित है और किसी विशेष गूढ़ तत्व की शिक्षा देने के लिये गढ़ी गयी हैं, उदा० भागवत का **पुरञ्जन उपाख्यान** (४।२५-२) या भक्ति के ज्ञान और वैराग्य नामक दो पुत्रों की कथा (भाग०, माहात्म्य अ० ३)। तृतीय वर्ग में वे कथाएं है जो अंशतः वैदिक साहित्य में उल्लखित हैं, जिनका आधार अधिकांश में भौतिक अथवा याज्ञिक है और जिनका पुराणों में विशद एवं रोचक पल्लवन हुआ है। विष्णु के वामन, वराह तथा मत्स्य आदि अवतारों की कथाएँ, इन्द्र द्वारा वृत्र, नमुचि आदि असुरों के वध के आख्यान एवं त्रिपुर-विनाश आदि की कथाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। कुछ कथाएँ ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन-चरित्र पर आधारित हैं। यद्यपि कल्पना के रंगों द्वारा कवि ने

मूल को पर्याप्त चित्र-विचित्र कर दिया है फिर भी उनका ऐतिहासिक रूप अभी लुप्त नहीं हुआ है। रामायण तथा महाभारत की मूलकथाएँ, हरिश्चन्द्र का आख्यान एवं नल-दमयन्ती आदि की कथाएँ इसके उदाहरण हैं। पुराणों में बहुत सी कथाएँ ऐसी भी हैं जो बिना किसी पूर्व आधार के केवल अपने इष्ट-देव का उत्कर्ष सूचित करने के लिये गढ़ ली गयी हैं। वायु तथा शिव पुराण में एक कथा आती है जिसके अनुसार सृष्टि के आदि में जब ब्रह्मा और विष्णु में पारस्परिक श्रेष्ठता का निर्णय करने के लिए विवाद होने लगा तो उसके सामने एक विशाल शिव लिंग प्रकट हुआ। जब दोनों उसके अन्त का पता लगाने में असमर्थ रहे तो शिव ने प्रकट होकर उन्हें उपदेश दिया और उन्हें अपना अंश घोषित किया। किन्तु वैष्णव-पुराण भागवत में बाणासुर के प्रसंग में कृष्ण और शिव के युद्ध का वर्णन है जिसमें कृष्ण की विजय होती है। इसी प्रकार द्वादश स्कन्ध में शिव को विष्णु की माया से भ्रान्त होते हुए वर्णित किया गया है। देवी-भागवत की पचासों कथाएँ इसी प्रकार की हैं। छठे प्रकार की कथाएँ वे हैं जो किसी विशेष नैतिक नियम जैसे सत्य, पातिव्रत्य, अतिथि सत्कार या इन्द्रिय संयम आदि गुणों की व्याख्या करने के लिये उद्भावित की गयी है। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें वार्तालाप के रूप में जीवनोपयोगी अनेक शिक्षाएँ दी गयी है। पद्म पुराण में वर्णित नन्दा गौ (सत्य) तथा पतिव्रता सुकला (पातिव्रत्य) आदि की कथाएँ भी ऐसी ही हैं। गणेश तथा कार्तिकेय आदि से सम्बन्धित कथाएँ प्रायः लोक विश्वास की कथाओं के ही सुसंस्कृत रूप है और इनको पृथक् वर्गीकृत किया जा सकता है।

वैदिक देवों की उत्पत्ति का जो आधार और प्रक्रिया ऋग्वेद में लक्षित होती है, पुराणों में उनकी चरम सीमा प्राप्त होती है। प्रकृति की किसी भी महत्त्वपूर्ण वस्तु अथवा मानसिक भाव आदि को देवता के रूप में मूर्त मान लेना पुराणों के लिए सर्वथा सरल और स्वाभाविक है। भाग० १।१७ में पृथ्वी-देवी का गौ रूप में वर्णन प्राप्त होता है। ब्रह्म पुराण के १२७ वें अध्याय में वेदों को मानव रूप में बोलते हुए वर्णित किया गया है। भाग० ४।२४।१० में समुद्र की कन्या शतद्रुति का उल्लेख है। भाग० ४।१७ में पर्वत एवं वृक्ष आदि भी पृथु को भेंट देते हैं और इसी पुराण में अन्यत्र (२।६।१६) सांख्य दर्शन के २५ तत्त्वों को मूर्त रूप में विष्णु की सेवा करते हुए वर्णित किया गया है। पद्म पुराण (भूमि खण्ड, १२ वें अध्याय) में दुर्वासा एवं दत्तात्रेय के सम्मुख धर्म, ब्रह्मचर्य, सत्य, दम, नियम आदि नैतिक गुण विविध-वस्त्रालंकार-वेष्टित ब्राह्मणों के रूप में उपस्थित होते हैं।

देवताओं का स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व होते हुए भी वे एक ही परम शक्ति के विविध अंश बताये गये हैं। उपनिषदों की विचार धारा के प्रभाव से सब दैवी शक्तियों को एक मुख्य शक्ति से सम्बन्धित करने की प्रवृति प्रायः सर्वदा रही है। भाग० पु० ४।१४।२ में सब देवता एक ही भगवान् के अंश बताए गये हैं। यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश को ब्रह्मपुराण में एक ही शक्ति के तीन रूप बताया गया है—

वेदेन गीयते यस्तु पुरुषः स परात्परः ।
गुणाभिव्याप्तिभेदेन मूर्तोऽसौ त्रिविधो भवेत् ॥
ब्रह्मा विष्णुः शिवश्चेति एक एव त्रिधोच्यते । ब्रह्म० १३०।८९

पुराणों में देवों की प्रकृति के विषय में जो सबसे अधिक विचित्र वस्तु है, वह है उनकी **अस्थिरता एवं निर्बलता ।** तपस्या के बढ़ते हुये महत्त्व के कारण देवताओं के बल की गाथाएँ पृष्ठभूमि में पड़ गयी हैं। तप के प्रभाव के आगे वे निर्बल हैं। पद्म पुराण (भूमि खण्ड, १०वाँ अध्याय) में तपस्वी विष्णुशर्मा इन्द्र को देवराज के पद से भ्रष्ट करके किसी दूसरे को उसके स्थान पर नियुक्त करने का विचार करते हैं। तपस्या से बलशाली हुआ तारकासुर, इन्द्र, विष्णु, वरुण आदि को हरा देता है। विष्णु का सुदर्शन चक्र, इन्द्र का वज्र, वरुण के पाश, अग्नि की शक्ति और वायु का अंकुश, सब उसके ऊपर व्यर्थ हो जाते हैं। यही कारण है कि इन्द्रादि देवों को संकट पड़ने पर सदा तपस्या की शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। पद्म पुराण (१९ वाँ अध्याय) में देवता कालकेय दानवों से पीड़ित होकर अगस्त्य के पास सहायता के लिये पहुंचते हैं और वे समुद्र के जल का पान करके उनकी सहायता करते हैं। वृत्र वध के लिए अब दधीचि जैसे तपस्वी ऋषि की अस्थियों की आवश्यकता पड़ती है। नैतिक गुणों के उत्कर्ष के आगे दैवी शक्ति का यह अपकर्ष भारतीय संस्कृति के क्रमिक विकास की सुन्दर कथा कहता है। पुराणों का यह विश्वास है कि यदि मनुष्य सत्य, अहिंसा, सदाचार आदि में रत रहे तो देवता तक उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। यज्ञादिक बाह्य कृत्यों से देवों को पूजने की अपेक्षा अपने आचरण को उत्तम बनाकर और अपने अन्दर विभिन्न नैतिक गुणों का समावेश करके मनुष्य अतिमानवीय ही नहीं अतिदैवी शक्ति भी प्राप्त कर सकता है।

देवों को पुराणों में पूर्णतः अमर नहीं माना गया। बौद्ध दर्शन के क्षणिक-वाद एवं वेदान्त के प्रभाव के कारण जगत् की अन्य मिथ्या वस्तुओं की भाँति वे भी विनाशशील हैं। प्रत्येक कल्प के आदि में पृथक्-पृथक् देवों की उत्पत्ति

होती है। जैसे सूर्य का उदय एवं अस्त होता है उसी प्रकार इन देवों उत्पत्ति तथा विनाश होता है—

तेषामपीह सततं निरोधोत्पत्तिरुच्यते।
यथा सूर्यस्य मैत्रेय उदयास्तमनाविह॥
एवं देवनिकायास्ते सम्भवन्ति युगे-युगे॥ विष्णु० १।१५।१४०

और वायु पुराण (अ० ६६) के अनुसार तो प्रत्येक मन्वन्तर में देवता ही बदल जाते हैं। देवताओं का ही नहीं अपितु ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश आदि का भी आविर्भाव-तिरोभाव होता है। इस प्रकार देवता अमर नहीं, केवल दीर्घजीवी हैं। उनकी सृष्टि ब्रह्मा ने की है और प्रत्येक सृष्ट वस्तु का लय अवश्य होता हैं (मत्स्य० १५३।१८३)। श्रीमद्भागवत ३।११।२३ आदि में कहा गया है कि इन्द्र के पद पर एक कल्प के चौदह मन्वन्तरों में प्रत्येक में पृथक्-पृथक् १४ व्यक्ति आसीन होते हैं।

वैदिक देवताओं के स्वरूप के उद्भव एवं विकास की यह कथा अत्यन्त रोचक है। अगले पृष्ठों में यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया जायेगा कि किस प्रकार प्रत्येक महत्त्वपूर्ण वैदिक देवता का जन्म हुआ और कैसे उसके स्वरूप का क्रमशः विकास होता हुआ उस रूप में पहुँचा जिसमें पुराणों में उसके दर्शन होते हैं। संसार की किसी भी जाति में देवशास्त्र के विकास का इतना लम्बा इतिहास प्राप्त नहीं होता। भारतीय देवों की इसी अविच्छिन्न परम्परा को ध्यान में रखकर प्राचीन मनीषियों ने कहा था कि यदि वैदिक देवताओं का सही रहस्य जानना हो तो पुराणों का अध्ययन करना चाहिए क्योंकि अल्पज्ञ व्यक्ति से वेद सदा भयभीत रहता है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति॥

विभिन्न विद्वानों ने वैदिक देवताओं का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया है, इनमें से कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का यहाँ उल्लेख किया जाता है :—

पहले कहा जा चुका है कि वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणादि प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में तैंतीस देवताओं का उल्लेख है। पर इन ३३ देवताओं के नाम किसी भी वैदिक ग्रन्थ में निश्चित रूप से नहीं दिये गये। प्रायः २५ या २६ ही ऐसे मुख्य देवता हैं जिनके विषय में ऋग्वेद कुछ कहता है। शेष के नाम भी यद्यपि जोड़कर संख्या ३३ पूरी कर दी गई है और नैघण्टुक के पञ्चम काण्ड में तो ३३ से भी अधिक देवताओं की सूची है, किन्तु इन अवान्तर नामों के विषय में

पर्याप्त मतभेद रहा है। अस्तु, इन देवताओं को अध्ययन की सुविधा के लिये वैयक्तिक विशेषताओं के आधार पर कुछ विशिष्ट वर्गों में विभाजित करने की चेष्टा की गई है।

इस प्रसंग में **'ग्यॉटरनामेन्'** के रचयिता प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् उज़ेनर् का मत सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। रोमन तथा लिथुआनियन धर्म के देवताओं के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि आर्यों के देवमण्डल में देवताओं के स्वरूप का विकास क्रमशः तीन अवस्थाओं में से होकर गया है:—

१—क्षणिक देवता (Augenblickgoetter) ऐसे देवता जो किसी विशेष क्रिया के ऊपर केवल उतने ही क्षण तक अधिकार रखते हैं जब तक वह क्रिया होती रहती हैं। ऐसे देवता सभ्यता के विकास के बहुत प्रारम्भिक काल में पाये जाते हैं। वैदिक साहित्य में इनका कोई चिह्न नहीं है।

२—विशेष देवता (Sondergoetter) ऐसे देवता जो जीवन या प्रकृति के किसी विशेष क्षेत्र से सम्बन्धित होते हैं और उस पर पूर्ण अधिकार रखते हैं, जैसे उषस्, अग्नि आदि।

३—वैयक्तिक देवता (Persoenlichgoetter) जब 'विशेष देवता' धीरे-धीरे अन्य देवताओं के गुणों को आत्मसात् करके अपने व्यक्तित्व को विकसित कर लेते हैं और उस विशेष क्षेत्र से पृथक् होकर स्वतन्त्र हो जाते हैं तो वे इस प्रकार के देवता बन जाते हैं, यथा इन्द्र, वरुण आदि।

उज़ेनर् के इस मत की पहले (प्रथम अध्याय पृ० ६-१०) समीक्षा की जा चुकी है। भारतीयेतर जातियों के, अवैदिक देवमण्डलों से निष्कर्ष निकालकर उज़ेनर् ने वैदिक देवताओं को इस दृष्टि से परखने की चेष्टा की है। अतः वैदिक देवताओं के वर्गीकरण में इससे सहायता नहीं मिलती।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं की स्तुति में कहे गये सूक्तों के आपेक्षिक न्यूनाधिक्य से भी वैदिक देवताओं की महत्ता अथवा तुच्छता का ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्र की स्तुति में ऋग्वेद में सर्वाधिक सूक्त (२५०) कहे गये हैं। इसके पश्चात् अग्नि का स्थान (२००) है। यदि इस प्रकार वर्गीकरण किया जाय तो पाँच वर्ग बन जायेंगे। प्रथम वर्ग में इन्द्र, अग्नि तथा सोम; द्वितीय वर्ग में अश्विनौ, मरुत् तथा वरुण; तृतीय वर्ग में उषस्, सवितृ, बृहस्पति, सूर्य तथा पूषन्; चतुर्थ वर्ग में वायु, द्यावापृथिवी, रुद्र तथा विष्णु एवं पंचम वर्ग में यम तथा पर्जन्य होंगे। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि जिस देवता की स्तुति में अधिक मन्त्र हों वही वैदिक काल में उत्कृष्ट समझा जाता रहा

हो। वरुण की महत्ता निश्चित रूप से इन्द्र तथा अग्नि से अधिक है किन्तु वह द्वितीय वर्ग में है। इन्द्र और अग्नि यद्यपि ऋग्वेद में प्रधान देवता हैं किन्तु सामान्य जनता में भी वे इतने अधिक पूजनीय समझे जाते थे या नहीं, यह कहना बहुत कठिन है। ऋग्वेद में उनका महत्त्व केवल यज्ञ से घनिष्ठतया सम्बन्धित होने के कारण है। मरुद्गण इन्द्र से सम्बन्धित होने के कारण ही अधिक मन्त्रों के भागी हुए हैं। सम्भवतः अश्विनौ पर्याप्त लोकप्रिय थे किन्तु ऋग्वेद में उनका महत्त्व केवल प्रातःकालीन प्रकाश से सम्बन्धित होने के कारण हैं। प्राचीन काल के महत्वपूर्ण देवता, सब देवों के माता-पिता, द्यावा-पृथिवी के लिये ऋग्वेद में केवल छः सूक्त हैं और ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पौराणिक काल के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देवता विष्णु का स्थान केवल चतुर्थ वर्ग में है। स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक काल में देवताओं की आपेक्षिक महत्ता जानने में सूक्तों की यह संख्या कोई सहायता नहीं देती[1]।

वैदिक देवताओं के वर्गीकरण का एक ऐतिहासिक पक्ष भी है। प्रथम अध्याय में कुछ ऐसे देवताओं का उल्लेख एवं वर्णन किया जा चुका है जिनके स्वरूप के सूक्ष्मतम तत्त्व भारोपीय काल में ही प्रादुर्भूत हो चुके थे। जो देवता भारत तथा ईरान के देवमण्डलों में समान हैं वे भी बहुधा प्राचीन समझे जाते हैं। इनके विपरीत रुद्र, बृहस्पति, विष्णु, पूषन् आदि देवताओं के विषय में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे भारत में ही उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार प्रजापति, विनायक एवं दुर्गा जैसे देव-देवियाँ और भी अर्वाचीन हैं जो क्रमशः ब्राह्मणों, सूत्रों तथा पुराणों में उत्पन्न होती हुई प्रतीत होती हैं।

किन्तु इस प्रकार का वर्गीकरण भी दोषमुक्त नही है। द्यौः को छोड़कर किसी भी अन्य वैदिक देवता को भारोपीय नहीं कहा जा सकता। वरुण, पर्जन्य आदि के विषय में पर्याप्त सन्देह है। अश्विनौ का भी अन्य प्राचीन देवमण्डलों में किसी देवता के साथ ऐकात्म्य नहीं प्राप्त होता। सूर्य एवं पृथ्वी आदि की भारोपीय उपासना भी कल्पना पर आधारित है। और, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारत-ईरानी काल की कल्पना ही असंगत है। यह पर्याप्त संभव है कि इन्द्र, वायु, अर्यमा, मित्र आदि देवता भारत में ही उत्पन्न हुए हों और वे केवल भारत से ही ईरान में ले जाए गये हों। शायद ही ऐसा कोई ऋग्वैदिक देवता होगा जिसकी उत्पत्ति के निश्चित काल का परिज्ञान

---

१. कीथ : रिलीजन पृ० ९३, ९४; तथा मैक्डानल : वै०मा० पृ० २०।

हमको हो। अतः वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में इस प्रकार का वर्गीकरण पूर्णतः महत्त्वहीन एवं व्यर्थ है[1]।

पाश्चात्य विद्वानों में संभवतः ब्लूमफील्ड का वर्गीकरण ही कुछ वैज्ञानिक आधार-भित्ति पर स्थित है। वैदिक देवों में अग्नि, उषस् आदि कुछ ऐसे देवता हैं जिनका नाम उनी तत्त्व का द्योतक है जिससे वे उत्पन्न एवं विकसित हुए हैं। दूसरे प्रकार के देवता वे हैं जिनके नाम उन प्राकृतिक तत्त्वों से पर्याप्त दूर हट चुके हैं जिनसे उनका उद्‌भव है किन्तु थोड़े ही अन्वेषण के पश्चात् उनका मूल रूप स्पष्ट हो जाता है, उदाहरणार्थ विष्णु तथा पूषन् आदि को लिया जा सकता है जो सूर्याभिमानी देव हैं। तीसरे प्रकार के देवता वे हैं जिनके विषय में यह तो निश्चित है कि वे प्रकृति के किसी तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं; पर किस विशिष्ट तत्त्व से हुए हैं इसका निश्चिति-पूर्वक निर्णय कभी नहीं हो सकता, उदाहरणार्थ इन्द्र, वरुण तथा अश्विनौ। इसमें प्रागैतिहासिक-भारोपीय तथा भारत-ईरानी काल के देवताओं एवं परवर्ती ऋग्वेद में विकसित श्रद्धा, मन्यु काम, प्रजापति आदि अमूर्त देवताओं को मिलाकर पाँच वर्ग बन जाते हैं[2]।

(१) **प्रागैतिहासिक काल के देवता**—जिनका उल्लेख अन्य आर्य देवमण्डलों तथा अवेस्ता में प्राप्त होता है; उदा० द्यौः, वरुण, मित्र, अर्यमा।

(२) **पारदर्शी अथवा स्पष्ट देवता** (Transparent gods)—जिनका मानवीकरण अपूर्ण है और जो देवता होने के अतिरिक्त प्रकृति के किसी विशेष तत्त्व को भी सूचित करते हैं; उदा० अग्नि, उषस्, वायु, सूर्य।

(३) **अल्प-पारदर्शी, अर्ध-स्पष्ट अथवा धूमिल देवता** (Translucent gods)—ऐसे देवता जिनका व्यक्तित्व उस विशिष्ट प्रकृति तत्त्व से, जो उनका कारण है, पृथक् होकर पर्याप्त विकसित हो चुका है किन्तु फिर भी अदृश्य नहीं हुआ है और थोड़े ही अन्वेषण के उपरान्त जाना जा सकता है; उदा० विष्णु (सूर्य)।

(४) **अपारदर्शी अथवा अस्पष्ट देवता** (Opaque gods)—जो अनेक उपाख्यानों से संयुक्त होकर अपने मूल रूप से बहुत दूर हट चुके हैं और जिनका उद्‌भव जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है; उदा० इन्द्र, वरुण तथा अश्विनौ।

---

१. तु० की०, मैक्डानल : **वै० मा०**, पृ० २१।

२. इसके विस्तृत विवरण के लिये देखिये, ब्लूमफील्ड : **रि० वे०** ८८-८९।

(५) अमूर्त, भावात्मक तथा प्रतीकात्मक देवता—ऐसे देवता जो किसी क्रिया-विशेष अथवा भाव को सूचित करते हैं अथवा देवता या राक्षस के रूप में किसी कामना अथवा भय को व्यक्त करते हैं। उदा० प्रजापति, विश्वकर्मा, बृहस्पति, पुरुष, काल, श्रद्धा, काम, निऋ`ति मन्यु, ।

ब्लूमफील्ड के इस विभाजन में अनेक कमियाँ हैं। इस विभाजन के मूल सिद्धान्त वैदिक-देवताओं की उत्पत्ति के समय एवं उनकी मूल प्रकृति पर आधारित हैं इसलिये इसमें दोनों प्रकार के दोष हैं। ऐतिहासिक विभाजन का पूर्वोल्लिखित मुख्य दोष इसमें भी है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कौन से देवता प्रागैतिहासिक हैं और कौन से पूर्णतः वैदिक। बहुत से देवता ऐसे हैं जो प्रागैतिहासिक होते हुए भी अन्य वर्गों में स्थान पाने के अधिकारी हैं। उदाहरणार्थ **वात** देवता वायु से सम्बन्धित है। इस प्रकार यह पारदर्शी देवता है। किन्तु अवेस्ता में भी इस देवता के दर्शन होते हैं। अतः यह प्रागैतिहासिक भी हो सकता है। **इन्द्र** अस्पष्ट देवता होते हुए भी अवेस्ता में उल्लिखित है। **वरुण** को ब्लूमफील्ड ने प्रागैतिहासिक माना है किन्तु उसके उद्भव का निश्चय न होने से वह अस्पष्ट वर्ग में भी है। **अग्नि** पारदर्शक होते हुए भी प्रागैतिहासिक है और **मित्र** प्रागैतिहासिक तथा अस्पष्ट दोनों।

इस विभाजन में दूसरी कमी यह है कि देवताओं की स्पष्टता अथवा अस्पष्टता के निर्णय के कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है, यह सर्वथा ऐच्छिक है। कुछ **वरुण** को आकाश देवता मानकर अर्ध-स्पष्ट मानने के पक्ष में हो सकते हैं तो और कुछ उसे अस्पष्ट देवताओं में रखना चाहेंगे। **पूषन्** (अर्धस्पष्ट) तथा **अर्यमा** (प्रागैतिहासिक) आदि देवताओं को भी अस्पष्ट माना जा सकता है।

वस्तुतः इन सब विभाजनों में प्राचीन भारतीय वेद-व्याख्याता यास्काचार्य की ही विभाजन प्रणाली सर्वाधिक अनवद्य है। यास्क मुनि ने सम्पूर्ण देवताओं को विश्व में उनकी स्थिति के अनुसार तीन वर्गों में विभाजित किया है—

१. **आकाश-स्थानीय देवता**—जैसे वरुण, सूर्य, विवस्वान्, विष्णु आदि।
२. **अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता**—जैसे इन्द्र, वायु, मातरिश्वन्, पर्जन्य, रुद्र आदि।
३. **पृथ्वी-स्थानीय देवता**—जैसे पृथ्वी, अग्नि, बृहस्पति, सोम आदि।

यास्क का कथन है कि प्रत्येक वर्ग में ११-११ देवता हैं। स्वतः ऋग्वेद में ही इन तीन वर्गों में प्रत्येक में एकादश देवताओं का उल्लेख किया गया है—

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामधि एकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्।। ऋ० १।१३९।११

इस स्पष्ट उल्लेख के अतिरिक्त निम्न तीन सूक्तों में भी देवताओं की संख्या का तो नहीं किन्तु उनके त्रेधा विभाजन का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है—

शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः (देवा)। ७।३५।११

मां धुरिन्द्रं नाम देवता दिवश्च ग्मश्चापां च जन्तवः। १०।४९।२

देवाँ आदित्याँ अदितिं हवामहे ये पार्थिवासो दिव्यासो अप्सु ये। १०।६५।९

ठीक इसी प्रकार अथर्ववेद में देवताओं के इस विभाजन का उल्लेख है, किन्तु यहाँ भी प्रत्येक वर्ग के देवताओं की संख्या नहीं दी गई—

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु।। अथर्ववेद १०।९।१२

ऋग्वेद में कहीं-कहीं तेंतीस के अतिरिक्त भी कुछ देवताओं का उल्लेख है—

१. **विश्वैर्देवैः त्रिभिरेकादशैरिह अद्भिः मरुद्भिः भृगुभिः सचा भुवा।**
सजोजषा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना।। ऋ० ८। ५।३

२. **स त्रींरेकादशाँ इह यक्षच्च पिप्रयच्च नो।**
विप्रो दूतः परिष्कृतो नभन्तामन्यके समे।। ८।३९।९

३. **श्रुष्टीवानो हि दाशुषे देवा अग्ने विचेतसः।**
तान् रोहिदश्व गिर्वणस्त्रयस्त्रिंशतमा वह।। १।४५।२

नैघण्टुक के पंचम काण्ड में, जिसकी व्याख्या में यास्क ने देवताओं का यह त्रेधा विभाजन प्रदर्शित किया है, प्रत्येक वर्ग में ११ से भी अधिक देवताओं की गणना है। कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण देवता (१) इल, रात्रि, वनस्पति, अश्व, शकुनि, (२) मृत्यु, मन्यु, तार्क्ष्य, क्षेत्रपति, दधिक्रा तथा (३) वृषाकपि, मनु, वसु, समुद्र तथा दध्यङ् आदि हैं। इस सूची में पृथ्वी तथा त्वष्टा की गणना तीनों ही वर्गों में हैं। अग्नि तथा उषस् पृथ्वी स्थानीय तथा मध्यम-स्थानीय (अन्तरिक्ष) दोनों वर्गों में हैं। अग्नि, वरुण, यम तथा सवितृ अन्तरिक्ष-स्थान में भी परिगणित हैं और आकाश स्थान में भी।

यास्क ने कहा है कि नैरुक्तों के सिद्धान्त के अनुसार केवल तीन ही देवता हैं। पृथ्वी-स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष-स्थानीय वायु अथवा इन्द्र तथा द्युस्थानीय सूर्य। तत्तत् वर्गों के समस्त देवता इन्हीं तीन प्रतिनिधि देवताओं के विविध रूप हैं। सर्वकार्यक्षममत्व तथा ऐश्वर्य के कारण एक ही देवता के

विविध नाम हो जाते हैं। साथ ही जब एक ही देवता के विभिन्न कर्मों का वर्णन किया जाता है तो कर्मवैविध्य के कारण उनके पृथक्-पृथक् नामों का उल्लेख किया जाता है, जैसे एक ही ब्राह्मण कर्म के अनुसार होता अध्वर्यु, ब्रह्मा तथा उद्गाता हो जाता है—

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथ्वीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तासां महाभाग्याद् एकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति अपि ता कर्मपृथक्त्वात्। यथा होताध्वर्यु-ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः। निरुक्त ५।२

बृहद्देवता में भी सम्पूर्ण देवताओं को इन्हीं तीन प्रमुख देवों का विविध रूप मानकर देवों के त्रित्ववाद का प्रतिपादन किया गया है। शौनक का कहना है कि मुख्यतः ये ही तीन देवता हैं और शेष इनकी विभूतियाँ हैं; यही कारण है कि मन्त्रों में एक देवता को दूसरे का उत्पादक कहा गया है। किन्तु कुछ लोगों का मत है कि इन तीनों देवों की ये विविध विभूतियाँ उस विशिष्ट स्थान के पृथक् और स्वतन्त्र देवता हैं—

अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च।
सूर्यो दिवीति विज्ञेया तिस्र एवेह देवताः॥
एतासामेव माहात्म्यान्नामान्यत्वं विधीयते।
तत्तत्स्थानविभागेन तत्र तत्रेह दृश्यते॥
तासामियं विभूतिर्हि नामानि यदनेकशः।
आहुस्तासां तु मन्त्रेषु कवयोऽन्योन्ययोनिताम्॥
यथास्थानं प्रदिष्टास्ताः नामान्यत्वेन देवताः।
तद्भक्तास्तत्प्रधानाश्च केचिदेवं वदन्ति ताः॥
पृथक् पुरस्ताद्ये तूक्ता लोकाधिपतयस्त्रयः। १।६९-७३

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है वैदिक साहित्य में इस त्रित्ववाद का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। स्वयं ऋग्वेद के ही एक मन्त्र से प्रतीत होता है कि समस्त देवों में सूर्य, वायु एवं अग्नि को सर्वप्रमुख मानने और उन्हें क्रमशः आकाश, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी से सम्बद्ध करने की धारणा पर्याप्त प्राचीन है—

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्। अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः। १।१५८।१

पृथ्वी आदि प्रत्येक स्थान में पृथक्-पृथक् देवताओं की सत्ता मानने का मत प्राचीन याज्ञिकों का है। सप्तम अध्याय के द्वितीय पाद में आगे निरुक्तकार

ने इस मत का उल्लेख किया है। याज्ञिक कहते हैं कि विभिन्न नामों का होना ही अनेक देवताओं के अस्तित्व का प्रमाण है। यदि एक व्यक्ति अनेक कार्य करे तो सब के अनुसार उसका नाम परिवर्तित नहीं हो जाता; और एक कार्य को बाँटकर बहुत से व्यक्ति भी कर सकते हैं—

अपि वा पृथगेव स्युः। पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि। यथो एतत्कर्मपृथक्त्वादिति बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः।

यास्क का कथन है कि देवों की एकता (एकत्र परिगणन) इनके स्थान तथा कार्यों की समानता से निर्धारित की गई है—

तत्र संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं चोपेक्षितव्यम्।

जो देवता एक ही स्थान से संबद्ध हैं और एक ही प्रकार के कर्म करते हैं उनका एकत्व स्वीकार किया जाना स्वाभाविक ही है।

वस्तुतः सब देवता एक ही परमात्मदेव की विभूतियाँ हैं। उनके भिन्न-भिन्न अंशों को लेकर भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना कर ली जाती है। इस प्रकार एकत्ववाद, त्रित्ववाद और बहुत्ववाद सभी अपनी अपनी दृष्टि से ठीक हैं

यास्क के इस वर्गीकरण से प्रत्येक देवता के मूल प्राकृतिक रूप को समझने में सहायता मिलती है। देवों की विशेषताओं एवं स्थान पर दृष्टि रखने से उनके मूल तत्त्व को प्रायः सरलता से जाना जा सकता है। किन्तु साथ ही यास्क के इस विभाजन को प्राचीन मुख्य देवताओं की गणना से आगे बढ़ाना और प्रजापति, त्वष्टा, बृहस्पति, श्रद्धा, काम आदि अमूर्त एवं भावात्मक देवों को भी इनमें परिगणित कर लेना उचित नहीं होगा।

इस प्रबन्ध में इन्हीं तीन वर्गों के आधार पर वैदिक देवताओं के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन करके उनके क्रमिक विकास पर प्रकाश डाला जायेगा।

●

चतुर्थ अध्याय

द्युस्थानीय देवता (१)

आदित्यगण

प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है कि आर्यों की देवता-विषयक सर्वप्रथम तथा प्रमुख धारणा आकाश की दीप्तिमान् शक्तियों से संबन्धित थी। दिव् धातु से बना देव शब्द ही इसका परिचायक है। आकाश से सम्बन्धित दिव्य शक्तियों में आदित्यों का गण वैदिक साहित्य में अपने महत्त्व के कारण अद्वितीय स्थान रखता है। ऋग्वेद के अनेक उत्कृष्ट देवता इसमें परिगणित हैं। इनका पौराणिक काल में अदिति के १२ पुत्रों के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। **अदिति** के पुत्र होने के कारण ये **आदित्य** कहलाते हैं[1]। यथपि इनके नामों में पूर्णतः एकरूपता नहीं पाई जाती किन्तु श्रीमद्भागवत ६।६।३९ में दी गई निम्न सूची ही यत्किंचित् अन्तर से सर्वत्र प्राप्त होती है—

विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाथ सविता भगः।
धाता विधाता वरुणो मित्रः शक्र उरुक्रमः॥

विधाता के स्थान पर विष्णु पुराण[2] **अंशु** की गणना करता है जो ऋग्वेद

---

१. **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (अष्टा० ४।१।८५) के अनुसार अदिति शब्द से अपत्यार्थक ण्य प्रत्यय।

२. **मारीचात् कश्यपाज्जाता आदित्या दक्षकन्यया।**
तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनरेव हि।
अर्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च।
विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च॥
अंशुर्भगश्चातितेजा आदित्या द्वादश स्मृताः।
विष्णु० पु० १।१५।१३१-१३३

में परिगणित **अंश** का ही प्रतिरूप प्रतीत होता है। मत्स्यपुराण[1] में अंशु के स्थान पर **अंशुमान्** शब्द आता है जो पूर्णतः सूर्य का पर्यायवाची है। पर इसी पुराण में एक अन्य स्थान पर (१७०।५७) आदित्यों की सूची में न अंशुमान् का उल्लेख है और न **सविता** का। इनके स्थान पर **धनद** (कुबेर) और **पर्जन्य** की गणना की गई है[2]। वायु पुराण (६६।७३) विधाता के स्थान पर अंश तथा सविता के स्थान पर पर्जन्य को स्वीकार करता है।

अंशु के स्थान पर अंश की गणना के अतिरिक्त महाभारत (आदि० ६६।३६-३७) की सूची विष्णु पुराण से मिलती है (**अदित्यां द्वादशादित्या संभूता भुवनेश्वराः। धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च। भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा। एकादश तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते**)। किन्तु परवर्ती महाभारत (अनु० १५०।१५) तथा हरिवंश पु० में **जयन्त** को भी आदित्य स्वीकार किया गया है। सामान्यतः इसे इन्द्र का पुत्र समझा जाता है। पर लगता है जयन्त कुछ प्राचीन है क्योंकि कुछ ब्राह्मणों में भी सविता या विधाता के स्थान पर स्वतंत्र रूप से उसकी गणना हुई है।

यहाँ स्मरणीय है कि पर-वैदिक काल में सर्वत्र आदित्यों के द्वादशत्व का वर्णन होने पर भी वैदिक काल के प्रारंभ में आदित्यों की संख्या छः से अधिक नहीं थी और इन छः आदित्यों के नाम थे—मित्र, वरुण, अर्यमा, भग, दक्ष तथा अंश। ऋग्वेद के एक प्राचीन मंत्र (२।२७।१) में इनका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः॥

एक स्थान पर (६।११४।३) यह संख्या बढ़ा कर सात कर दी गई है पर यह

---

१. **इन्द्रो धाता भगस्त्वष्टा मित्रोऽथ वरुणो यमः।**
विवस्वान् सविता पूषा अंशुमान् विष्णुरेव च।
मारीचात् काश्यपादाप पुत्रानदितिरुत्तमान्। मत्स्य० पु० ६।४,५

२. **इन्द्रो विष्णुर्भगस्त्वष्टा वरुणो ह्यर्यमा रविः।**
पूषा मित्रश्च धनदो धाता पर्जन्य एव च।
इत्येते द्वादशादित्याः........। मत्स्य पु० १७०।५६,५७।

नवीन प्रवेष्टा कौन है इसका उल्लेख नहीं किया गया (**देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभिरक्ष णः**)। एक अपेक्षाकृत अर्वाचीन मन्त्र में (१०।७२।८,९) अदिति के आठ पुत्र बताए गये हैं, किन्तु यह कहा गया है कि उनमें से वह सात को देवों के पास ले गई और आठवें **मार्ताण्ड** को, जो मृत अण्ड से उत्पन्न हुआ था, पृथ्वी पर ही छोड़ दिया; तथापि बाद में उसे भी अपना लिया —

> **अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जाता तन्वस्परि ।**
> **देवाँ उपप्रैत् सप्तभिः परा मार्तण्डमास्यत् ॥**
> **सप्तभिः पुत्रैरदितिरुपप्रैत् पूर्व्यं युगम् ।**
> **प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥ ऋ० वे० १०।७२।८,९ ।**

शतपथ ब्राह्मण (३।१।३।३) इस संबन्ध में एक मनोरंजक लघुकथा का उल्लेख करता है—"अदिति के आठ पुत्र थे किन्तु उनमें से सात ही आदित्य कहलाते थे। जो आठवाँ पुत्र मार्तण्ड नामक अदिति ने उत्पन्न किया वह हस्त-पाद आदि अवयवों से रहित एक मांसपिण्ड मात्र था। आदित्यों ने देखा कि यह हम लोगों की आकृति से नहीं मिलता अतः उन्होंने उसके अवयव आदि विभक्त किये। तब वह एक तेजस्वी मनुष्य रूप में परिणत हो गया। उसका नाम विवस्वान् हुआ और उससे सब मनुष्यों का जन्म हुआ —"

अष्टौ ह वै पुत्रा अदितेः। यांस्त्वेतद्देवाः आदित्या इत्याचक्षते सप्त ह एव ते। अविकृतं हाष्टमं जनयाञ्चकार मार्तण्डम्। संदेघो ह एवास यावानेव ऊर्ध्वं स्तावांस्तिर्यङ् पुरुषः सम्मितः इत्युहैके आहुः। ते उ ह एते ऊचुः देवा आदित्याः यदस्मान् अजनिमा तदमुया इव भूद् हन्त विकरवाम इति तं विचक्रुः यथा अयं पुरुषो विकृतः। यम् उ ह तद् विचक्रुः सः विवस्वानादित्यस्तस्य इमाः प्रजाः।

श० ब्रा० ३।१।३।३

तै० सं० ६।५।६।१ में भी कहा गया है कि अदिति के गर्भ से दूसरी बार एक अपरिपक्व अण्ड का जन्म हुआ (**तस्यै व्यृद्धमण्डमजायत**)। महा० (शान्ति २४३।५७) में भी इस सम्बन्ध में एक छोटी सी कथा है कि अदिति ने देवों की विजय के लिये पकाये गये यज्ञिय अन्न में से ब्रह्मचारी बुध को भिक्षा नहीं दी जिससे उसने अदिति को शाप दिया कि तुम्हारे गर्भ से एक मृत अण्ड का जन्म होगा। उस मृत अण्ड से उत्पन्न होने के कारण श्राद्धदेव संज्ञक विवस्वान् मार्तण्ड

नाम से प्रसिद्ध हुए[1]। हरिवंश पुराण में भी कहा गया है कि कश्यप ने पुत्र स्नेह से अज्ञान के कारण कहा कि वह मरा नहीं है अपितु अण्ड में स्थित है (इससे वह मृत बालक जीवित हो गया और) इस प्रकार उसका नाम मार्तण्ड पड़ा—

न खल्वयं मृतोऽण्डस्थ इति स्नेहादभाषत।
अज्ञानात् कश्यपस्तस्माद् मार्तण्ड इति चोच्यते॥ हरिवंश पु० ५।५४६

यह सब उस प्राचीन वैदिक कल्पना का ही उज्जृम्भण है जिसके अनुसार जगत्-कर्ता प्रजापति-रूप सूर्य की उत्पत्ति एक हिरण्मय अण्ड से हुई है। अस्तु; अदिति द्वारा मार्तण्ड को छोड़ने तथा बाद में स्वीकार कर लेने का कथात्मक रहस्य यही है। पर मार्तण्ड के जन्म के पश्चात् अदिति के आठ पुत्र हो जाते हैं और संहिताओं तथा ब्राह्मणों में बार बार इन्हीं का उल्लेख किया जाता है। अथर्ववेद की "**अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्रा**" (८।९।२१) पंक्ति पहले उल्लिखित की जा चुकी है। तै० सं० में भी मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंशु, भग, इन्द्र और विवस्वान् (मार्तण्ड) का उल्लेख है[2]। ऐ० ब्रा० १।१।९।१ भी इन्हीं आठ आदित्यों का उल्लेख करता है—

---

१. **अदितिर्वै देवानामन्नमपचद् एतद्भुक्त्वा असुरान् हनिष्यन्तीति। तत्र बुधो व्रतचर्यासमाप्तौ आगच्छद् अदितिं चावोचत् भिक्षां देहीति। तत्र देवैः पूर्वमेतत् प्राश्यं नान्येन इत्यदितिः भिक्षां नादात्। अथ भिक्षा-प्रत्याख्यानरुषितेन बुधेन ब्रह्मभूतेन अदितिः शप्ता अदितेरुदरे भवि-ष्यति व्यथा विवस्वतो द्वितीयजन्मन्यण्डसंज्ञितस्य अण्डं मातुर-दितया मारितं स मार्तण्डो विवस्वान् अभवत् श्राद्धदेवः।**

अन्त का वाक्य पूर्णतः स्पष्ट नहीं है मार्तण्ड की उत्पत्ति विषयक ब्राह्मणग्रन्थों के उल्लेख भी कुछ अस्पष्ट से हैं।

मार्तण्ड की उत्पत्ति एवं व्युत्पत्ति आदि के लिये देखिये, पञ्च-विंश ब्रा० २३।१२।६ महाभारत आदि० ३।१३, मार्कण्डेय पुराण ७७।१०१,१०९ तथा ।१०५।१९।

२. देखिए, ऋग्वेद २।२७।१ का सायण भाष्य। '**ते च तैत्तरीये अष्टौ पुत्रासो अदितेरित्युपक्रम्य स्पष्टमनुक्रान्ताः मित्रश्च वरुणश्च धाता च अर्यमा च अंशुश्च भगश्च इन्द्रश्च विवस्वांश्च एते इति**'।

अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनमपचत् । तस्यै उच्छेषणमददुः तत् प्राश्नात् सा रेतोऽधत्त धाता च अर्यमा च अजायेताम् । सा द्वितीयमपचत्.... ....तस्यै मित्रश्च वरुणश्चाजायेताम् । सा तृतीयमपचत्........तस्यै अंशश्च भगश्चाजायेताम् । चतुर्थमपचत्........तस्यै इन्द्रश्च विवस्वांश्चाजायेताम् ॥

महा० सभा० ११।१०) में इसी प्रकार आदित्यों की (छः) युग्मों में गणना है किन्तु तै० सं० और ऐ० ब्रा० की इस सूची पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि ऋ०वे० २।२७।१ में प्राप्त **दक्ष** का नाम इस सूची में नहीं हैं । इसके अतिरिक्त **धाता, विवस्वान्** और **इन्द्र** ये तीन नवीन नाम और आ गये हैं । प्रतीत होता है कि इस समय तक अदिति की दक्ष पुत्री के रूप में दृढ़ प्रतिष्ठा हो चुकी थी अतः स्वभावतः दक्ष का नाम अदिति के पुत्रों से निकाल दिया गया । ऋग्वेद में धाता के स्वरूप की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं मिलती किन्तु परवर्ती वैदिक संहिताओं में वह उन तीन चार महत्त्वपूर्ण देवों में से एक है जिन्होंने आगे चलकर प्रजापति की उत्पत्ति में योग दिया । इन्द्र ऋग्वेद में अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता था, द्युस्थानीय नहीं । अतः तब उसका आदित्यगण में सन्निवेश कठिन था । पर देवों के इस स्थान सम्बन्धी वर्गीकरण के सिद्धान्तों के शिथिल हो जाने पर उसका यहाँ प्रवेश हो गया[1] । विवस्वान् ऋग्वेद में पूर्णतः सूर्य का वाची है, उसका भौतिक स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है जब कि इस प्राचीन सूची में कुछ अस्पष्ट सौर देवता परिगणित हैं । बाद में सविता के साथ उसका भी इनमें प्रवेश हो जाता है ।

शतपथ ब्राह्मण में आकर आठ से यह संख्या एकदम बारह कर दी गई है पर इनके नामों का उल्लेख नहीं किया गया और ऐसा भी प्रतीत होता है कि श० ब्रा० आदित्यों के स्वरूप के विषय में इससे अधिक कुछ नहीं जानता कि वे आकाश से सम्बन्धित हैं । यहाँ तक कि उनके अदिति के पुत्र होने का भी श० ब्रा० ने उल्लेख नहीं किया । श० ब्रा० ६।१।२।८ उनकी उत्पत्ति के विषय में कहता है कि जब प्रजापति की वाणी का मन से संयोग हुआ तो वह बारह बिन्दुओं से गर्भवती हो गई । उससे द्वादश आदित्यों का जन्म हुआ जिन्हें प्रजापति ने दिशाओं, प्रदिशाओं में स्थापित किया । वस्तुतः ब्राह्मणों की रहस्य-

---

१. वैसे श० ब्रा० ११।६।३ ५ में इन्द्र की आदित्यों से पृथक् गणना है ।

मयी शैली में यह प्रजापति की मानसी सृष्टि का वर्णन है । सृष्टि-उत्पत्ति की सरलतम प्रक्रिया यह है कि प्रजापति ने मन में जिस वस्तु का संकल्प किया और वाणी से उसे कह दिया वह उसी रूप में बन गई—

स मनसा एव वाचं मिथुनं समभवत् सा द्वादश द्रप्सान् गर्भ्यभवत् ते द्वादशादित्याः असृज्यन्त तान् दिव्युपादधात् । श० ब्रा० ६।१।२।८

ऐ० ब्रा० १।२।४ में भी बारह आदित्यों का उल्लेख है ।

तै० सं०, ऐ० ब्रा, कौ० ब्रा० तथा श० ब्रा० आदि लगभग सभी प्राचीन ब्राह्मणों में आदित्यो का पुरोहितों के एक विशिष्ट वर्ग के रूप में भी उल्लेख हैं । वे पहले इसी पृथ्वी पर थे और मरणधर्मा थे किन्तु किसी विशेष यज्ञिय कृत्य द्वारा उन्होंने अमरत्व तथा आकाश में स्थान प्राप्त किया । अंगिरावंशीय ब्राह्मणों (आंगिरसों) से प्रायः उनकी प्रतिस्पर्धा वर्णित की गई है । ऐ० ब्रा० १।३।५ में कहा गया है कि ये आदित्य (और अंगिरस) पूर्वकाल में मर्त्य थे किन्तु उन्होंने 'अग्नि द्वारा अग्नि में यज्ञ किया' (अर्थात् अग्नि में हवन कर के उसकी उपासना की) जिनसे वे स्वर्ग पहुंच गये । यह जो अग्नि की आहुति है वह स्वर्ग ले जाती है'—

आदित्याश्चैव इहासन् अंगिरसश्च । तेऽग्रे अग्निना अग्निम् अयजन्त । ते स्वर्गं लोकमायन् । सैषा स्वर्ग्या आहुतिः । ऐ० ब्रा० १।३।५

अन्य ब्राह्मणों में अंगिरसों तथा आदित्यों के परस्पर यज्ञ करवाने का भी उल्लेख है । कौषीतकि ब्राह्मण (३०।६) में यह कथा अधिक विस्पष्ट है । अंगिरस अगले दिन सोमयाग करने वाले थे अत: उन्होंने अग्नि को दूत बनाकर आदित्यों को यज्ञ में विभिन्न पद सँभालने के लिए आमन्त्रित किया । आदित्यों ने अग्नि से कहा कि हम तो आज ही यज्ञ कर रहे हैं और हमने तुमको (अग्नि को होता (तु० की० **अग्निर्होता कविक्रतुः** ऋ० वे० १।१।५) बृहस्पति को ब्रह्मा, अयास्य को उद्गाता तथा घोर को अध्वर्यु चुना है (ये सभी अंगिरस हैं), अत: आप हमारा यज्ञ करायें । अंगिरसों ने मना कर दिया जिससे उन्हें पाप लगा और वे आदित्यों के ६० वर्ष पश्चात् स्वर्ग पहुँच सके ।

पर ऐ० ब्रा० ६।५।८,९ का कथन है कि अंगिरसों ने आदित्यों का यज्ञ करवाना स्वीकार कर लिया । यज्ञ समाप्ति के अनन्तर स्वर्ग जाते हुए आदित्यों ने

अंगिरसों को पृथ्वी दान में दे दी। पर अंगिरसों के अधिकार में आते ही वह तपने लगी और सिंहनी होकर लोगों को खाने दौड़ी। तब आदित्यों ने सूर्य रूपी श्वेत अश्व[1] को निष्क्रय के रूप में देकर पृथ्वी वापिस ले ली[2]।

थोड़े बहुत अन्तर से यही कथा श० ब्रा० ३।५।१।१३-१९ में भी प्राप्त होती है।

ब्राह्मण ग्रंथों में आकर बड़ी से बड़ी वैदिक शक्तियाँ भी सामान्य यजमानों का सा आचरण करते हुए वर्णित की गई हैं। यज्ञ ही उनके सामने एक प्रमुख कर्त्तव्य है। अतः यहाँ आदित्यों का सामान्य ब्राह्मणों में परिवर्तित हो जाना कोई असाधारण बात नहीं।

लगता है ब्राह्मण ग्रन्थों में आदित्यों को ऋषिगण मानने की धारणा काफी बद्धमूल हो चुकी थी क्योंकि ऐ० ब्रा० के १३ वें अध्याय में प्रजापति के तेज

---

१. सूर्य के श्वेत अश्व के रूप में वर्णन के लिये देखिये **अथर्व** २०।१३५।७-१०। **श० ब्रा०** ३।५।१।१९ में इस अश्व का सूर्य के साथ तादात्म्य किया गया है—

अथैभ्यः सूर्यं दक्षिणामनयन्। तं प्रत्यगृह्णन्.........अस्माभिरेष प्रति गृहीतो य एष तपतीति। तस्मात् सद्यः क्रियोऽश्वः श्वेतोदक्षिणा।

२. **ब्रह्मपुराण** (१५५/१-१४) में यह कथा बड़े सुन्दर ढंग से पल्लवित की गयी है। पौराणिक काल में गौ के अतिशय महत्त्व के कारण यहाँ श्वेत अश्व का स्थान कपिला गौ ने ले लिया है। संक्षेप में वह इस प्रकार है :—

गौतम्या दक्षिणे पारे आदित्यान् मुनिसत्तम।
अयाजयन्नंगिरसो दक्षिणां ते भुवं ददुः।
अंगिरोभ्यस्तदादित्याः तपसेंऽगिरसो ददुः।
सा भूमिः सैंहिकी भूत्वा जनान् सर्वानभक्षयत्।३।
तत्रसुस्ते जनाः सर्वे अंगिरोभ्यो न्यवेदयन्।
आदित्याननुगत्वाथ वाचमंगिरसोऽब्रुवन्।
भुवं गृह्णन्तु या दत्ता नेत्यादित्यास्तदाब्रुवन्।
निवृत्तां दक्षिणां नैव प्रतिगृह्णन्ति सूरयः।
तथापि क्रयरूपेण गृह्णीमो दक्षिणां भुवम्।
तथेत्युक्ते तु ते देवाः कपिलां शुभलक्षणाम्।
गंगायाः दक्षिणे पारे भुवः स्थाने तु तां ददुः।

से विभिन्न ऋषियों की उत्पत्ति का वर्णन है और इनमें आदित्यों का भी उल्लेख है। अपनी पुत्री के प्रति आसक्त होने पर प्रजापति[१] के वीर्य से एक तडाग बन गया। यह व्यर्थ न जाय यह सोच कर देवों ने उसे अग्नि वैश्वानर से घेर दिया। उसके ऊपर मरुत् बहने लगे; अग्नि ने उसे जलाया। उसका एक अंश अग्नि के जलाने के कारण चमकने लगा (अदेदीदिवत्), वे ही आदित्य बन गये[२]—

इदं प्रजापतेः रेतः सिक्तमधावत् । तत् सरोऽभवत् । ते देवा अब्रुवन् मेदं रेतो दुषदिति । तदग्निना वैश्वानरेण पर्यादधुः । तन्मरुतः अधून्वत् । तदग्नि-र्वैश्वानरः प्राच्यावयत् । तस्य यद् रेतसः तृतीयम् अदेदीदिवत् (तद्) आदित्या अभवन् । ऐ० ब्रा० ३।३।९।१०

ऐ० ब्रा० के इस प्रसंग में दिव् (चमकना) धातु से आदित्य शब्द की व्युत्पत्ति बताई गई है। व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध होते हुए भी यह व्युत्पत्ति संभवतः आदित्यों के मूल स्वरूप के सर्वाधिक समीप है। क्योंकि यह तो लगभग निश्चित ही है कि आदित्यगण में परिगणित देवता अपने मूल रूप में किसी न किसी प्रकार प्रकाश से अवश्य संबन्धित थे। महाभारत काल में भी आदित्यों का यह स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट था। आदि० ६५। १४–१५ में कहा गया है कि अदिति के गर्भ से प्रकट बारह आदित्य सूर्य के ही विभिन्न रूप है—

द्वादशैते समाख्याता आदित्याः सूर्यरूपिणः।
अदितेर्गर्भसम्भूताः सर्वदेवपुरोगमाः ।।

पर ब्राह्मणग्रन्थों में आदित्य शब्द की अन्य प्रकार से भी व्याख्या की गई है, उदाहरणार्थ **श० ब्रा० ११।६।६।८ (बृहदारण्यक उ० ३।९।५)** में कहा गया है कि वर्ष के द्वादश मास ही द्वादश आदित्य कहलाते हैं। ये मास संसार की प्रत्येक वस्तु लेते हुए (**आददानाः**, व्याप्त करते हुए) जाते हैं, इसीलिए इनको आदित्य कहते हैं।

कतमे आदित्या इति । द्वादशमासाः संवत्सरस्य एते आदित्याः। एते हि इदं

---

१. इस कथा की व्याख्या के लिये देखिए ९वाँ अध्याय, **'प्रजापति'**।
२. इसी प्रकरण में ठीक इसी प्रकार भृगु-अंगिरस् तथा बृहस्पति की भी उत्पत्ति वर्णित की गई है।

सर्वम् आददाना यान्ति । यद् इदं सर्वम् आददाना यन्ति तस्माद् आदित्या इति ॥

शब्दान्तर से श्रीमद्भागवत का कथन है कि वेदरूप, आदि-पुरुष, भगवान् सूर्य लौकिक कर्म संचालन के लिए अपने को बारह भागों में बांट कर वसंत आदि छः ऋतुओं में तदनुरूप ऋतुगुणों (मौसम) का विधान करते हैं—

स एष भगवानादिपुरुषः........लोकानां स्वस्तये आत्मानं त्रयीमयं कर्मशुद्धिनिमित्तं द्वादशधा विभज्य षट्सु वसन्तादिषु ऋतुषु यथोपजोषम् ऋतुगुणान् विदधाति । भाग० पु० ५।२२।३

परवर्ती हिन्दू धर्म में प्रलयकाल के अवसर पर प्रकाशित होने वाले बारह सूर्यों की कल्पना इन्हीं आदित्यों का ही विकसित रूप है। बारह मासों को आदित्य मानने की कल्पना का उद्भव संभवतः अदिति को आनन्त्य अथवा निस्सीम-काल का प्रतीक मानने से हुआ है। यदि अदिति उस समाप्तिहीन, निरन्तर प्रवहमान, समय को द्योतित करती है जिसकी इकाई वर्ष है तो अदिति के पुत्रों का वर्ष के बारह मासों से तादात्म्य हो जाना नितान्त स्वाभाविक है। विष्णु पुराण (२।१०) में कहा गया है कि बारह मासों में सूर्य का रथ विभिन्न आदित्यों से अधिष्ठित होता है—

स रथोऽधिष्ठितो देवैरादित्यैर्ऋषिभिः तथा ॥ २।१०।२

चैत्र में सूर्य के रथ में धाता, वैशाख में अर्यमा, ज्येष्ठ में मित्र, आषाढ़ में में वरुण, श्रावण में इन्द्र, भाद्रपद में विवस्वान्, आश्विन में पूषा, कार्तिक में पर्जन्य, मार्गशीर्ष में अंश, पौष में भग, माघ में त्वष्टा तथा फाल्गुन में विष्णु विराजमान होते हैं। स्पष्ट है कि वर्ष के विभिन्न मासों में सूर्य के ताप के विभिन्न रूप देखकर एक ही सूर्य के इन बारह रूपों को एक-एक मास से संबन्धित कर लिया गया[1]। प्रो० रोठ ने आदित्यों के इतने भौतिक रूपों को स्वीकार नहीं किया है। उसके अनुसार आदित्य मुख्यतः भावात्मक देवता हैं। अनन्तता रूपी आदिति तत्त्व उनको धारण करता है। अदिति के पुत्र होने के कारण वे अनश्वर, शाश्वत और सनातन हैं। जिस अमर और अनश्वर तत्त्व में वे निवास करते हैं

१. देखिये, त्रिवेणीप्रसाद सिंह : **हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ ;** पृष्ठ ४७, ४८।

वह दिव्य (आकाशीय) ज्योति है। आदित्य न तो सूर्य के प्रतीक हैं, न चन्द्रमा के और न तारों के; अपितु इस सम्पूर्ण भौतिक प्रकाश के पीछे जो एक अनन्त ज्योति तत्त्व है, वे उसके धारण करने वाले हैं[1]।

आदित्यों की एक अत्यन्त सन्तोषजनक व्याख्या ग्रिसवोल्ड[2] ने भी की है। उनके अनुसार सभी आदित्य वैदिक देवमण्डल के सर्वोत्कृष्ट एवं आदरणीय देवता वरुण के ही विभिन्न विशेषण मात्र हैं। सम्पूर्ण आदित्यों के लिए मिलकर वेदों में सम्भवतः ऐसी कोई बात नहीं कही गई जो वरुण के लिए सत्य न हो। वरुण की भाँति वे भी नैतिक तत्त्वों से युक्त हैं। ऋत की रक्षा करते हैं और पापों को क्षमा करते हैं। अतः प्रतीत होता है कि उनका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। वे वरुण के ही स्वरूप की विभिन्न विशेषताओं के मानवीकरण मात्र हैं और उसके ही महान् व्यक्तित्व के अंश हैं। विभिन्न आदित्यों और वरुण के स्वरूप को मिला कर ही पूर्व-वैदिक काल के इस महान् देवता का चित्र खींचा जा सकता है जो अपने उत्कर्ष के कारण वैदिक देवमण्डल में अप्रतिम था, और जिसके बनाये नियमों को तोड़ने की सामर्थ्य देवों में भी नहीं थी। मित्र शब्द मैत्री और सुलह का वाची है और वरुण के सामाजिक रूप को व्यक्त करता है। अर्यमा का अर्थ है सुहृद् अथवा वर का परिचित और यह वैवाहिक संबन्ध की पवित्रता का द्योतक है। भग का अर्थ है भाग्य अथवा सम्पत्ति और यह देवता वरुण की सौभाग्यप्रदायिनी प्रकृति तथा उदारता का बोध कराता है। दक्ष का अथ निपुणता या कौशल है और यह शब्द वरुण की शक्ति एवं चातुर्य का परिचायक है। इसी प्रकार अंश शब्द का अर्थ भाग है और इससे प्रतीत होता है कि देवता वरुण किसी व्यक्ति को उसके प्राप्त अंश से विमुख नहीं करता—आदि। इस प्रकार सामूहिक रूप से आदित्य गण दिव्य-ज्योति से संबन्धित होते हुए भी सत्य, पवित्रता और ऋत के रक्षक भी हैं। वे भौतिक (प्रकृति संबन्धी) तथा नैतिक दोनों प्रकार के शाश्वत एवं अभंग्य सांसारिक नियमों के संस्थापक हैं[3]।

---

१. **त्साइटश्रिफ्ट डेऽर दॉइशेन मार्गेनलैण्डिशेन गेजेलशाफ्ट** : भाग ६, पृ० ६८ तथा आगे।

२. डा० एच० डी० ग्रिसवोल्ड, **दि रिलीजन आफ् दि ऋग्वेद** : पृ० १४३।

३. **वही**, पृ० १४४, १४५।

ग्रिसवोल्ड के मत में पर्याप्त सामंजस्य है और निःसंदिग्धतया आदित्यगण के सभी प्राचीन देवता अमूर्त भावों के मानवीकरण मात्र है। ऋग्वेद में ही उनका व्यक्तित्व अत्यन्त धुँधला है और बाद में तो उनका नाम-मात्र अवशिष्ट रह गया है। भग शब्द भारोपीय है, और जैसा कि प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है, यह देवों का एक सामान्य विशेषण मात्र था। क्रमशः द्वितीय तथा चतुर्थ अध्याय में मित्र एवं दक्ष की भावात्मक प्रकृति पर भी प्रकाश डाला गया है। अंश और भग में कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। और अर्यमा का यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों में सूर्य से तादात्म्य किमा गया है तो भी ऋग्वेद में कई स्थानों पर यह केवल सुहृद् या मित्र का भाव रखता है। किसी बड़े देवता के प्रमुख विशेषणों का पृथक् होकर स्वतंत्र देवता बन जाना ऋग्वेद में अस्वाभाविक नहीं है; उदाहरणार्थ विवस्वान् और सविता देवता सूर्य के ही प्राचीन विशेषण मात्र हैं।

ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के २७ वें सूक्त में आदित्यों की सामान्य विशेषताओं का पर्याप्त परिचय मिलता है। यहाँ उन्हें भास्वर, पवित्र, पाप तथा कलंक से रहित, अदम्य, विस्तृत, गंभीर, अवंचनीय तथा कई नेत्रों से युक्त कहा गया है—

आदित्यासः शुचयो धारपूता अवृजिना अनवद्या अरिष्टाः ॥२॥

त आदित्यास उरवो गभीरा अदब्धासो दिप्सन्तो भूर्यक्षाः ॥३॥

वे न कभी सोते हैं और न पलक मारते हैं, उन्हें कोई धोखा नहीं दे सकता। वे सबके कर्म देखते हैं और मनुष्यों की रक्षा करते हैं—

अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय ॥९॥

वे मनुष्य के हृदय के अन्दर तक देख लेते हैं तथा छली और सज्जन को अच्छी प्रकार पहचानते हैं। दूर की (अज्ञात) वस्तु भी उनके समीप हैं—

१. अन्तः पश्यन्ति वृजनोत साधु सर्वं राजभ्यः परमा चिदन्ति ॥२।२७।३

२. पाकत्रा स्थन देवाः हृत्सु जानीथ मर्त्यम् ॥ऋ०८।१८।१५

संसार की स्थावर-जंगम दोनों प्रकार की वस्तुओं की वे रक्षा करते हैं; वे अत्यन्त पवित्र (ऋतावानः) है। उनके नियम पूर्णतः निश्चित है (धृतव्रताः) वे असत्य से घृणा करते हैं और पापियों को दण्ड देते हैं—

धारयन्त आदित्यासो जगत् स्था देवा विश्वस्य भुवनस्य गोपाः ।
दीर्घाधियो रक्षमाणा असुर्यमृतावानश्चयमाना ऋणानि ॥२।२७।४

आदित्यों में से मित्र तथा वरुण से पापों को दूर करने की विशेष रूप से प्रार्थना की जाती है (२।२७।१४)। आदित्य जिसकी रक्षा करते हैं वह उसी प्रकार सुरक्षित हो जाता है जैसे योद्धा कवच से—

युष्मे देवा अपि ष्मसि युध्यन्त इव वर्मसु । ऋ० वे० ८।४७।८

अथर्ववेद में भी आदित्यों का लगभग यही स्वरूप प्राप्त होता है। उनका निवास स्थान परम व्योम में है। मृत व्यक्ति देवयान से जाकर उनके निवास स्थान तक पहुँच जाता है (अ० वे० २।१२।४)। अ० वे० ७।७।१ में उनका निवास गहरे समुद्र में बताया गया है जो संभवत: प्रकाश के समुद्र का द्योतक है—

तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति किंचन ।।

एक स्थान पर आदित्यों (तथा विश्वेदेवों) के उपासक को उत्तम प्रकाश में ले चलने की प्रार्थना की गई है—

इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु
अ० वे० १।९।१ ।

वे शत्रुओं से मनुष्य की रक्षा करते हैं (अ० वे० ६।२।१५) और युद्ध के समय अपने उपासक के साथ-साथ जाकर उसकी सहायता करते हैं (५।२१।१०)।

तै०सं० (६।२२) तथा श०ब्रा० (३।४।२।१) में वरुण को आदित्यों का नेता तथा अधिपति बताया गया है किन्तु वरुण के परवर्ती ह्रास के कारण यह पद इन्द्र को प्राप्त हो गया है। अदिति के गर्भ से उसका जन्म सर्वप्रथम हुआ है। अत: अवस्था की दृष्टि से वह इन आदित्यों में सबसे बड़ा है। विष्णु यद्यपि सबसे छोटे हैं किन्तु अपने गुणों के कारण उनका महत्त्व सबसे अधिक है—

जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ।

महा० आदि० ६६।६७ ।

पद्‌म ७।२० में अदिति के इन पुत्रों को देवों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। हरिवंश (११५४८ वां श्लोक) तथा म० पु० १७६।५७ में भी इन्हें सर्वोत्कृष्ट देवता माना गया है—

इत्येते द्वादशादित्या वरिष्ठास्त्रिदिवौकसः ।

किन्तु पुराणों में परिपूर्ण रूप से विकसित पुनर्जन्म के सिद्धान्त की लपेट में कहीं-कहीं ये आदित्य भी आगये हैं। वेदों के अक्षय और अमर आदित्यों की आयु पुराणों में आकर केवल एक मन्वन्तर की रह गई है। प्रत्येक मन्वन्तर में वे पुनर्जन्म ग्रहण करके एक नया रूप धारण करते हैं। विष्णु पुराण १।१५।१२८-१३०,१३४ में कहा गया है कि आदित्य इस मन्वन्तर से पूर्ववर्ती चाक्षुष मन्वन्तर में **तुषित** नामक देवता थे। मन्वन्तर के समाप्त होने पर इन्होंने अदिति के गर्भ से जन्म ले लिया और आदित्य कहलाये—

> **पूर्वमन्वन्तरे श्रेष्ठाः द्वादशासन् सुरोत्तमाः ।**
> **तुषिता नाम तेऽन्योन्यम् ऊचुर्वैवस्वतेऽन्तरे ॥**
> **उपस्थितेऽतियशसश्चाक्षुषस्यान्तरे मनोः ।**
> **समवायीकृताः सर्वे समागम्य परस्परम् ॥**
> **आगच्छत द्रुतं देवा अदितिं सम्प्रविश्य वै ।**
> **मन्वन्तरे प्रसूयामस्तन्नः श्रेयो भवेदिति ॥**
> **एवमुक्त्वा तु ते सर्वे चाक्षुषस्यान्तरे मनोः ।**
> **मारीचात् काश्यपाज्जाता अदित्या दक्षकन्यया ॥**
> **चाक्षुषस्यान्तरे पूर्वमासन् ये तुषिता सुराः ।**
> **वैवस्वतेऽन्तरे ते वै आदित्या द्वादश स्मृताः ॥**

वायु पुराण (६६ वाँ तथा ६७ वाँ अध्याय) तो आदित्यों के कल्प के आरम्भ से लेकर अब तक सात जन्मों का उल्लेख करता है। कल्प के आदि में प्रजापति ने अपने मुख से दर्श, पौर्णमास, बृहत्, रथन्तर, आकूत, आकूति, वित्ति, सुवित्ति, कूति, अधीष्ट, अधीति और विज्ञाति इन बारह मनुओं की उत्पत्ति की। इन्हीं को जय नामक देवगण भी कहते हैं। ये सब मन्त्रमय शरीर वाले हैं (वस्तुतः ये नाम यज्ञिय कर्मकाण्ड से सम्बन्धित विभिन्न संज्ञाओं के मानवीकरण मात्र हैं)। ब्रह्मा ने उन्हें सृष्टि करने की आज्ञा दी पर वे मुक्ति के प्रयत्नों में लग गये जिससे ब्रह्मा ने उन्हें सात बार जन्म लेने का शाप दिया। अतः स्वायंभुव मन्वन्तर में वे अजिता के गर्भ से अजित नामक देवगण के रूप में, स्वारोचिष मन्वन्तर में तुषिता के गर्भ से तुषित गण के रूप में, औत्तम मन्वन्तर में सत्या के गर्भ से सत्यगण के रूप में, तामस मन्वन्तर में हर्या से हरिगण के रूप में तथा चारिष्णव मन्वन्तर में निकुष्ठा के गर्भ से वैकुण्ठगण के रूप में उत्पन्न हुए। छठे चाक्षुष मन्वन्तर में वे धर्म की पत्नी

साध्या के गर्भ से साध्यगण के रूप में तथा इस वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर में अदिति के गर्भ से आदित्यों के रूप में उत्पन्न हुए।

यह वर्णन कुछ विचित्र सा है और अन्य ग्रन्थों में प्राप्त आदित्यों के सामान्य स्वरूप से मेल नहीं खाता। विशेष रूप से सम्पूर्ण जगत् के निर्माण, पालन तथा संहार करने में समर्थ, परमेश्वर रूपी विष्णु का प्रत्येक मन्वन्तर में जन्म और तिरोभाव किसी भी पुराण में वर्णित विष्णु की प्रकृति से भिन्न है। यह ठीक है कि इस समस्या का समाधान विष्णु-परमेश्वर को आदित्यगण के 'विष्णु' से पृथक् मान कर एवं उनके उपेन्द्र-रूप अथवा वामन अवतार को आदित्यों की सूची में परिगणित करके किया जा सकता है, किन्तु बहुत संतोष-जनक यह नहीं है क्योंकि न तो उपेन्द्र-विष्णु के किसी अन्य रूप का पूर्ववर्ती मन्वन्तर में उल्लेख मिलता है, और न ही ब्रह्मा द्वारा विष्णु की उत्पति किसी पुराण द्वारा मान्य है। इन्द्र और वरुण जैसे देवों की भी निरन्तर उत्पत्ति एवं विनाश आदि का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। अतः यही सम्भव प्रतीत होता है कि वायुपुराणकार आदित्यगण को विष्णु, इन्द्र, वरुण एवं विवस्वान् आदि देवों से पृथक् कुछ तुच्छ एवं कम महत्त्वपूर्ण देवों का एक समूह मात्र मानता है। पर विष्णु पुराण तो बड़े से बड़े देवों की उत्पत्ति में कोई आश्चर्य नहीं मानता। उसके अनुसार इन सभी ३३ वैदिक देवताओं की उत्पत्ति एवं निरोध सदा हुआ ही करता है—

सर्वे देवगणास्तात त्रयस्त्रिंशत्तुछन्दजाः
तेषामपीह सततं निरोधोत्पत्तिरुच्यते। १।१५।१३६

अस्तु, आदित्यगण के सब देवताओं का पृथक्-पृथक् वर्णन आगे के पृष्ठों में किया जाएगा। यहाँ वेदों के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ओल्डेनबर्ग के उस मत का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है जिसके अनुसार आदित्यगण के प्राचीन सदस्य भारतीय सृष्टि नहीं है अपितु किसी सेमेटिक देश से लेकर वैदिक देवमण्डल में समाविष्ट कर लिये गये हैं[१]। इस मत की विस्तृत समीक्षा द्वितीय अध्याय में अहुरमज़्दा की व्याख्या में की जा चुकी है। संक्षेप में उसका कहना है कि ईरानी 'अमेश-स्पेन्ता' और वैदिक 'आदित्य' एक ही हैं और दोनों बेबीलोनिया से आर्य देवमण्डल में आये हैं। जिस प्रकार ईरानी धर्म में छः अमेश-

१. (अ) **डी रिलोगियोन डेस वेद** (तृतीय संस्करण, १९२३), पृ० १९०
(आ) **त्सा० डेर दा० मा० गे०**, भाग ५० पृ० ४३ तथा आगे।

स्पेन्ता है और उनका अधिपति अहुर-मज़्दा है उसी प्रकार वैदिक काल में वरुण छः आदित्यों का अधिपति है और इस प्रकार कुल सात आदित्य हैं। ये सात आदित्य सूर्य (मित्र) चन्द्र (वरुण) तथा सप्ताह के अन्य पाँच ग्रहों को द्योतित करते हैं। उसके अनुसार वरुण तथा अहुरमज़्दा के स्वरूप में जो नैतिक तत्त्वों का उत्कर्ष है वह आर्य धर्म से बाहर की वस्तु है। वरुण तथा मित्र एवं अहुर के अतिरिक्त आर्य धर्म में नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट अन्य कोई देवता नहीं हैं। किन्तु बेबीलोन में ये तत्त्व बहुत पहले ही विकसित हो चुके थे और ये विभिन्न ग्रहों को व्यक्त करने वाले देवों से सम्बन्धित थे। अतः जब आर्यों ने इन ग्रहों के स्वरूप पर विकसित देवों को आदित्यों के रूप में ग्रहण किया तो ये तत्त्व भी उन्हीं के साथ आ गये।

ओल्डेनबर्ग का यह मत पूर्णतः निराधार है। सबसे बहली बात तो यह है कि अमेशस्पेन्ता और आदित्यों में दूर-दूर तक कोई समानता नहीं है। ईरान में अमेशस्पेन्ता की कल्पना बहुत अर्वाचीन और पूर्णतः ज़रथुस्त्र के नये धर्म से सम्बन्धित है, प्राचीन ईरानी धर्म से नहीं। समान स्रोत से उत्पन्न देवों के नाम में ध्वनि का कुछ न कुछ क्षीण साम्य अवश्य होना चाहिये। यदि नामों का साम्य न हो तो प्रकृति का तो कम से कम होना ही चाहिये। किन्तु १–वोहु मनः (सद्विचार) २–अश वहिश्त (श्रेष्ठ पवित्रता) ३–ख़शत्र वहर्य (सुन्दर राज्य) ४–आरमइति (मैत्री या संज्ञान) ५–हउर्वतात (स्वास्थ्य) और ६–समेरतात (अमरता) इन छः अमेशस्पेन्ताओं का किसी भी आदित्य से भावसाम्य नहीं है। एक विशेष बात और है। ईरानी धर्म में वैदिक आदित्यों में से अर्यमा (ऐर्यमन्), भग (बग़) तथा मित्र (मिथ्र) के नाम पाये जाते हैं किन्तु ये अमेशस्पेन्ता की सूची में सम्मिलित नहीं है। इसके अतिरिक्त आदित्यों की सात संख्या वेदों में केवल एक बार उल्लिखित है। यह स्थिर नहीं है। प्राचीन वैदिक मन्त्रों में वरुण सहित केवल छः आदित्यों का ही उल्लेख है और परवर्ती मन्त्रों में कम से कम आठ का उल्लेख मिलता है।

अमेशस्पेन्ताओं पर एक दृष्टि डालने से ही स्पष्ट हो जाता है कि ये पूर्णतः भावात्मक और अमूर्त हैं और इनका किसी भी प्राकृतिक तत्त्व से दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है, ग्रहों जैसी परम भौतिक वस्तु से उनके साहचर्य की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। आदित्यों और अमेशस्पेन्ताओं के इस भावात्मकस्वरूप के कारण ही उनसे, प्राकृतिक तत्त्वों से उद्भूत अन्य

देवों की भाँति, कोई भी पौराणिक कथा सम्बन्धित नहीं है। वस्तुतः उनके स्वरूप में इसका अवकाश ही नहीं है।

ईरानी धर्म के अश-वहिश्त या ऋत का उल्लेख ओल्डेनबर्ग के पश्चात् तेल-एल-अमर्न में कीलकाक्षर में लिखे कुछ ऐसे मृत्फलकों में पाया गया है जो कम से कम १६०० ई० पू० के हैं और यह समय ओल्डेनबर्ग द्वारा बेबीलोनियन प्रभाव के लिये निश्चित किये गये समय से कम से कम २०० वर्ष पूर्व है। स्पष्ट है कि ऋत के नैतिक नियम तथा इससे सम्बन्धित अमेशस्पेन्ता (अशवहिश्त) की कल्पना ईरान में सैमेटिक प्रभाव के बहुत पूर्व ही विद्यमान थी[1]।

इसके अतिरिक्त यह मानना कि प्राचीन भारतीय ईरानी आर्य नैतिक तत्त्वों से बहुत दूर थे और वे किसी नैतिक देवता की उद्भावना नहीं कर सकते थे, घोर पक्षपात पूर्ण होगा। जिन आर्यों की उपासना में ज्योतिष्मान् आकाश से सम्बन्धित सर्वोच्च देवता द्यौः की उपासना का समावेश था उनके धर्म में नैतिक तत्त्वों की उत्पत्ति बहुत सरल थी और तेल-एल-अमर्न के मृत्फलकों ने सामियों से भी पूर्व आर्य धर्म में ऐसे तत्त्वों की उपस्थिति निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दी है। स्वतः ज़रथुस्त्र की धार्मिक क्रान्ति यह सूचित करती है कि आर्य नैतिक विचारों और मूल्यों की दृष्टि से पिछड़े हुए नहीं थे।

सूर्य तथा अन्य सौर देवता

'देव' शब्द स्वयं इस तथ्य का प्रमाण है कि आर्यों की दिव्य शक्ति सम्बन्धी प्राचीनतम धारणा प्रकाश से सम्बन्धित थी। अतः ऋग्वेद में सूर्य एवं प्रकाश के अनेक रूपों से सम्बन्धित अनेक प्रकार के देवों की प्राप्ति और परिणामस्वरूप द्युस्थानीय देवों की सर्वाधिक संख्या आश्चर्य का विषय नहीं है।

ऋग्वेद में सूर्य के भौतिक रूप से प्रत्यक्षतया सम्बन्धित देवता का नाम 'सूर्य' ही है। इस देवता का मानवीकरण अत्यधिक अपूर्ण है। सूर्य के रूप में वैदिक ऋषियों ने संसार को प्रकाश देने वाले एवं प्रातःकाल प्रत्येक व्यक्ति में नवशक्ति का संचार करके उसे कार्यों में संलग्न कर देने वाले, आकाशस्थ

---

१. देखिये, ब्लूमफ़ील्ड : **दि रिलीजन ऑफ दि वेद**, पृ० ११, १३, १३५, १३६।

ज्योतिष्पिण्ड का ही वर्णन किया है। सूर्य का भासमान मंडल ही ऋषियों के सम्मुख प्रमुख रूप से वर्ण्य रहा है, उसका आधिदैविक स्वरूप नहीं।

सूर्य आकाश के पुत्र हैं (**दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत।** ऋ० १०।३७।१)। उनको अदिति का पुत्र या आदितेय भी कहा गया है (१०।८८।११)। उनके उदय के अनन्तर ही मनुष्य के नेत्र सांसारिक विषयों को देख पाते हैं अतः वे प्राणियों के एकमात्र नेत्र हैं (**सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुः, अ० वे० १३।१।४५ तथा ऋ० वे० १०।१५८।४**) । अ० वे० ५।२४।९ में सूर्य को नेत्रों का अधिपति बता कर उससे अपनी (आँखों की ?) रक्षा करने की प्रार्थना की गई है (**सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मामवतु**)। ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त में कहा गया है कि सूर्य की उत्पत्ति विराट्-पुरुष के नेत्रों से हुई है (**चक्षोः सूर्यो अजायत, १०।९०।१३**) और **ऋ० १०।१६।३** में कहा गया है कि मरने पर मनुष्य के चक्षु (या दर्शन शक्ति) सूर्य में मिल जाते हैं (**सूर्यं चक्षुर्गच्छतु**)।

प्रकृति के कोने कोने में सूर्य की रश्मियों के प्रवेश के कारण सूर्य को 'बहुत दूर तक देखने वाले' कहा गया है। **'उरुचक्षा'** (ऋ० ७।३५।८) तथा **'दूरेदृश्'** (१०।३७।१) विशेषण विशेष रूप से उनके लिये प्रयुक्त हुए हैं। सब कुछ देखने के कारण वे **'विश्वचक्षा'** (१।५०।२) भी हैं। सूर्य मनुष्यों के सभी कृत्यों को देखते हैं (**पश्यन् जन्मानि सूर्यः**, ऋ० १।६०।७)। वे प्राणियों के शुभ (ऋजु) एवं अशुभ (वृजिन) कर्मों को जानते हैं (**ऋजु मर्त्येषु वृजिना च पश्यन् अभिचष्टे सूरो अर्य एवान्**, ऋ० ६।५१।२)। वे संसार को स्थिर रखने वाले एवं जगत् के रक्षक (**विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपा,** ७।६०।२) है। उनके बिना इस संसार की कल्पना नहीं की जा सकती अतः उन्हें इस स्थावर तथा जंगम जगत् की आत्मा कहा गया है (**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च, १।११५।१**)।

सूर्य के रथ को सात अश्व खींचते है। इन अश्वों का रंग हरित वर्ण का है। ऋग्वेद में इनका प्रायः उल्लेख हुआ है (**आ सूर्यो यातु सप्ताश्वः, ५।४५।९; सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य, १।५०।८; अयुक्त सप्त हरितः सधस्थात्, ७।६०।३; भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य, १।११५।३**)। सूर्य की यह विशेषता पौराणिक काल तक अविच्छिन्न चली आई है। लौकिक संस्कृत में सप्तसप्तति एवं हरिदश्व या हरितहय आदि सूर्य के सामान्य विशेषण हैं।

उषा-काल के पश्चात् सूर्योदय होने के कारण ऋग्वेद में सूर्य को उषा

(रूपी माताओं) की गोद में खेलते हुए (या सुशोभित होते हुए) वर्णित किया गया है—

विभ्राजमानः उषसामुपस्थाद् रेभैरुदेति अनुमद्यमानः (७।६३।३)।

किन्तु कहीं-कहीं उषा को सूर्य की योषा (पत्नी) भी कहा गया है (७।७५।५)।

पूर्व से पश्चिम तक आकाश में विचरण करने के कारण कहीं कहीं सूर्य को 'अरुष (भूरे या लाल) वर्ण का सुन्दर पंखों वाला पक्षी' भी कहा गया है (**उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः**, ऋ० ५।४७।३)। उनकी उपमा तीव्र गति से उड़ने वाले श्येन से दी गई है (**रघुः श्येनः पतयदन्धो अच्छा**, ५।४५।६)।

सूर्य अपने प्रकाश से अन्धकार के दानवों एवं चुड़ैलों (यातुधान्यः) का विनाश करते हैं (**अदृष्टान् सर्वान् जनान् जंभयन् सर्वाश्च यातुधान्यः**, ऋ० १।१९१।८) ऋ० १०।३७।४ में कहा गया है कि वे दुःखों, रोगों एवं दुःस्वप्नों का शमन करते हैं (**अस्मद् ...अपामीवाम् अप दुःष्वप्न्यं सुव**)।

सूर्य आकाश का रत्न (दिवोरुक्म, ऋ० ७।६३।४) है। उन्हें 'पृश्निरश्मा' (अनेक वर्णों का प्रस्तर, ऋ० ५।४७।३) भी कहा गया है। सूर्यदेव के विषय में केवल एक ही लघु देवकथा प्राप्त होती है और वह यह कि इन्द्र ने सूर्य को जीत कर उनसे उनका चक्र छीन लिया (**यत्रोत बाधितेभ्यः चक्रं कुत्साय युध्यते। मुषाय इन्द्र सूर्यम्** ॥ ऋ० ४।३०।४)।

शु० यजुर्वेद में सूर्य को स्वयंभूः कहा गया है (**स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिः....** २।२६)। १३।३ में कहा गया है कि वह ब्रह्म (विशाल) है। उसका जन्म सबसे पहले हुआ है और वह संसार की वर्तमान तथा भविष्यकाल में होने वाली सब वस्तुओं का मूल कारण है (**ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् ... सतश्च योनिमसतश्च देवः**)। ७।४२ में ऋग्वेद का **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' मंत्र भी उद्धृत किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय सूर्य को जगत् का आदिकारण अथवा प्रजापति मानने की धारणा धीरे धीरे उद्बुद्ध हो रही थी। इस सम्बन्ध में बृहदेवता के निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं—

भवद्भूतस्य भव्यस्य जंगमस्थावरस्य च।
अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभव प्रलयं विदुः॥
असतश्च सतश्चैव योनिरेषा प्रजापतिः।
यदक्षरं च वाच्यं च यथैतद् ब्रह्म शाश्वतम्॥ बृ० दे० १।६१, ६२

२।२६ में सूर्य को तेज प्रदान करने वाला (**वर्चोदा**) कहा गया है और उससे वर्चस् प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। १०।६२ में कहा गया है कि पणियों ने जो गायें छिपाई थीं उनके एक भाग को इन्द्र ने तथा दूसरे भाग को सूर्य ने प्रकट किया—

त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं...... इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान ।

जो निश्चित रूप से अन्धकार के आवरण में छिपी किरणों (गावः) के सूर्य द्वारा प्रातःकालीन उद्धार की ओर संकेत है।

विष्णु एवं भागवत पुराणों में सूर्य के रथ के आगे पीछे अनेक गन्धर्वों एवं अप्सराओं के चलने का उल्लेख है। इसका आधार सम्भवतः य० वे० १८।३६ का यह मन्त्र है जिसमें सूर्य को गन्धर्व तथा उसकी किरणों को अप्सराएँ कहा गया है—

'सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयो अप्सरसः आयुवो नाम'।

यजुर्वेद के सूर्य विषयक शेष मन्त्र प्रायः ऋग्वेद से लिये गये हैं।

अथर्ववेद में आकर सूर्यदेव जादूगरों एवं वैद्यों के हाथ के खिलौने बन गये हैं। मुख्य रूप से उनका आह्वान विभिन्न रोगों को दूर करने के लिये तथा शरीर को और अधिक कान्तिशाली तथा वर्चस्वी बनाने के लिये किया जाता है। शत्रुओं को नष्ट करने के लिये सूर्य की प्रार्थना की जाती है (अ० वे० १।६।२)। २।२१।१ में स्तोता सूर्य से अपने प्रचण्ड ताप द्वारा ऐसे मनुष्यों को नष्ट करने की प्रार्थना करता है जिनसे वह घृणा करता है या जो उससे घृणा करते हैं। सूर्य दिखाई पड़ने वाले एवं अदृश्य दोनों प्रकार के कृमियों को नष्ट करता है (६।२३।६)। अ० वे० ६।५२।१ में कहा गया है कि पर्वतों के पीछे से उगने वाला आदित्य राक्षसों को नष्ट करता है। सूर्य रोगों को नष्ट करता है और मनुष्य को दीर्घायु बनाता है (८।१।५,१२)। वह मनुष्य को मेधावी भी बनाता है (६।१०८।१)।

ब्राह्मण ग्रन्थों में आकर आदित्य शब्द सूर्य के लिये ही विशेष रूप से रूढ़ हो गया है (उदा० श० ब्रा० ६।१।२।३ तथा ६।४।१।८ आदि)। वैसे तो अथर्ववेद में ही आदित्य शब्द अनेकशः सूर्य का वाची है किन्तु इस शब्द प्रयोग की चरम सीमा ब्राह्मणों में ही है। 'आदित्य' विशेषण ने अब मूल शब्द 'सूर्य' को तिरस्कृत कर दिया है। श० ब्रा० में अस्सी प्रतिशत स्थानों पर

सूर्य को द्योतित करने के लिये आदित्य शब्द का प्रयोग है और बीस प्रतिशत में सूर्य का। **श० ब्रा०** २।१।२।१८ में इस शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए कहा गया है कि रात्रि में अनेक ज्योतिष्पिण्ड प्रकाशित होते रहते हैं किन्तु सूर्य उदित होते ही उनका क्षत्र या तेज हरण कर लेता है (आ-दा), इसी से उसे आदित्य कहते हैं। क्षत्र से हीन वे ज्योतिष्पिण्ड 'नक्षत्र' (न क्षत्रं येषां) कहलाते हैं।

नाना ह वा एतान्यग्रे क्षत्राणि आसुः। यथैवासौ सूर्यः, एवम्। तेषामेव उद्यन्नेव वीर्यं क्षत्रमादत्त। तस्मादादित्यो नाम, यदेषां वीर्यं क्षत्रमादत्त[1] (आ-दा)। एतद् वा अनपराद्धं नक्षत्रं यत्सूर्यः॥

श० ब्रा० की यह व्याख्या हमें आदित्य शब्द की निरुक्त में दी गई व्याख्या का स्मरण कराती है। यास्क ने इस शब्द की चार व्याख्याएँ की हैं—'रसों (जल) को ग्रहण करता है' 'नक्षत्रों के प्रकाश को ग्रहण करता है' 'प्रकाश से आदीप्त होता है' या 'अदिति का पुत्र है'।

आदित्यः कस्माद् ? आदत्ते रसान्। आदत्ते भासं ज्योतिषाम्।
आदीप्तो भासा इति वा। अदितेः पुत्रः इति वा। **निरुक्त १।४**

चौथी व्युत्पत्ति ही आदित्य शब्द का मूल अर्थ है। तीसरी पूर्णतः ऐच्छिक है। दूसरी व्युत्पति श० ब्रा० से ली गई है। प्रथम व्युत्पत्ति तथ्यों की दृष्टि से सन्तोषजनक है; इसी व्युत्पत्ति की ओर संकेत करते हुए बृहदेवताकार ने कहा है—

रसान् रश्मिभिरादाय वायुनायं (सूर्यः) गतः सह।
वर्षत्येव च यल्लोके तेनेन्द्र इति स स्मृतः॥ बृ० दे० १।६८

श० ब्रा० १४।२।१।२१ में कहा गया है कि सूर्य की एक रश्मि का नाम 'वृष्टिवनि' (वृष्टि प्रदान करने वाली) है उससे वह (जलवृष्टि द्वारा) संपूर्ण प्रजा का भरण करता है। रश्मियों से जल ग्रहण करके बरसाने के कारण ही ब्राह्मण ग्रंथों में बृहदेवता की भाँति इन्द्र एवं आदित्य का तादात्म्य

---

१. तु० की, अ० वे० ७।१३।१

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे।

आ पूर्वक दा धातु से आदित्य की व्युत्पत्ति के लिये **तै० आ०** १।१४।१ का यह वाक्य भी देखिये—**यो असौ तपन् उदेति। स सर्वेषां प्राणिनां प्राणान् आदाय उदेति'।**

किया गया है। **श० ब्रा० ८।५।३।२** में कहा गया है '**अथ यः स इन्द्रः असौ स आदित्यः**। **श० ब्रा० ६।२।३।६** में कहा गया है कि आदित्य (अपनी किरणों से) समस्त आकाश को व्याप्त कर लेता हैं। ६।२।३।१७ में भी लगभग यही भाव प्राप्त होता है—**उद्यन् वा एष इमांल्लोकानापूरयति**। **कौ० ब्रा०** ५।८ तथा **ऐ० ब्रा०** ६।५।६ में व्यापनशीलता की इसी विशेषता के कारण सूर्य को **अश्व** (अश्-व्याप्तौ) कहा गया है। ६।२।३।१८ में उसे समुद्र कहा गया है जो संभवतः प्रकाश के समुद्र से उसका सम्बन्ध सूचित करता है। वह एक सुपर्ण पक्षी है (६।२।३।१८)। आदित्य को ही धाता कहा जाता है (६।५।१।३७) क्योंकि वही समस्त संसार को धारण तथा उत्पन्न करता है (**यत एवं सर्वमपि दधद् विदधद् अतिष्ठत् तस्मादसौ धाता**, सायण)। ७।३।२।१२ में कहा गया है कि सारी प्रजा प्रजापति-आदित्य की सन्तान है और आदित्य नीचे झुककर स्नेह से उन्हें सूँघता (चूमता) हुआ चला जाता है (**असावेव तदादित्यः इमा प्रजाः अभिजिघ्रति**)। सूर्य की किरणें वज्र के समान हैं उनसे वह राक्षसों को नष्ट करके मनुष्यों को अभय प्रदान करता है (**ते एतं वज्रम् अपश्यन्-अमुमेवादित्यम्। एतेन वज्रेण पुरस्ताद् रक्षांसि नाष्ट्रा अपहत्य अभये अनाष्ट्रे स्वस्ति समश्नुते**, ७।३।२।१०)। ३।३।४।८ में पुनः कहा गया है '**सूर्यः पुरस्तान् नाष्ट्रा रक्षांसि अपघ्नन् एति**'। २।१।४।६ में सूर्य को पापों का नष्ट करने वाला कहा गया है (**सूर्य एवैषां पाप्मनो अपहन्ता**)।

सूर्य संसार के सम्पूर्ण प्राणियों का नेत्र है क्योंकि उसके उदय होने पर ही आँखों में ज्योति आती है। यदि आँख में कोई रोग हो तो सूर्य को चरु प्रदान करना चाहिये (**सूर्यो वै प्रजानां चक्षुः। यदा हि एवैष उदैति अथैतं सर्वं चरति। चक्षुषा एव अस्मिन् तच्चक्षुर्दधाति। स यच्चरुर्भवति**)। १२।६।२।८ तथा १४।३।१।२८ में सूर्य को सर्वोत्कृष्ट ज्योति (**सूर्यो वै ज्योतिरुत्तमम्**) कहा गया है और **श० ब्रा०** १४।३।२।६ तो यहाँ तक कहता है कि सूर्य सब देवों की आत्मा है (**सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा**)। वह संसार में सबसे ऊपर प्रतिष्ठित है (श० ब्रा० ६।३।४।२३, **अमुं तदादित्यमस्य सर्वस्योत्तमं दधाति। तस्मादेषो अस्य सर्वस्योत्तमः**)।

दिन और रात्रि के समूह का नाम ही आयु है। सूर्य दिन और रात्रि का नियामक है अतः ऋग्वेद में उससे आयु को बढ़ाने की प्रार्थना की गई है (ऋ०

८।४।७) किन्तु श० ब्रा० का रचयिता एक निराशावादी की भाँति कहता है कि (मनुष्यों की आयु में दिन और रात को घटाने के कारण) सूर्य ही मृत्यु है। जो सूर्य से नीचे है वह मरणशील है। देवता उससे ऊपर रहते हैं अतः वे अमर हैं—

तद्वा एष एव मृत्युः य एष तपति य एतस्माद् अर्वाच्यः प्रजास्ताः म्रियन्ते। अथ या पराच्यः ते देवाः। तस्मात् ते अमृताः। **श० ब्रा० २।३।३।७**

गृह्यसूत्रों में सूर्य का स्वरूप अपने भौतिक रूप से अधिक पृथक् नहीं हो सका है। जहाँ भी तेज, यश या वर्चस् की आवश्यकता होती है वहाँ सूर्य का आह्वान किया जाता है। **गोभिल गृ० सू० ३।४।२१** में समावर्तन संस्कार के अवसर पर स्नातक सूर्य से अपने अन्दर तेज के संचार की प्रार्थना करता है। इसी प्रकार **आश्वलायन गृ० सू० १।२१।४** में भी विद्यार्थी का सर्वप्रथम अध्यापन प्रारम्भ करते हुए गुरु सूर्य से अपने अन्दर मेधा, तेज एवं शक्ति स्थापित करने की अभ्यर्थना करता है।

सूर्य को धन, ऐश्वर्य तथा पशु आदि का स्वामी माना जाता था। **गोभिल०** ४।५।३०-३२ आदि में सामान्य सुख, एवं धन की प्राप्ति के लिये सूर्य की विभिन्न कालों में उपासना का विधान है।

हिरण्यकेशी गृ० सू० १।२।७।१० में सूर्य को प्रतिज्ञाओं तथा नियमों का रक्षक माना गया है। गुरु शिष्य को आदित्य के नियन्त्रण में रखता है और शिष्य सूर्य से प्रार्थना करता है कि वह ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का सफलता पूर्वक पालन कर सके।

हिरण्य० २।६।१६।४ में सूर्य को राक्षसों एवं पापों को दूर करने में समर्थ बताया गया है और **पारस्कर** १।८।७ तथा १।६।३ में सूर्य को पूर्व दिशा में भासित होने वाला देवों का नेत्र कहा गया है। उससे दीर्घजीवन प्रदान करने की प्रार्थना करते हुये इच्छा व्यक्त की गई है कि उपासक उसे सौ शरद् ऋतुओं तक देखता रहे।

रामायण, महाभारत एवं पुराणों में सूर्य के स्वरूप पर दृष्टि डालने से पूर्व अच्छा यह होगा कि हम ऋग्वेद के कुछ अन्य छोटे-छोटे सौर देवताओं के स्वरूप पर भी दृष्टि निक्षेप कर लें जिन्होंने अपने व्यक्तित्व को पौराणिक सूर्य के व्यक्तित्व में विलीन करके सूर्य के परवर्ती विकास में सहयोग दिया है और

परिणामस्वरूप जिनके नाम बाद में सूर्य के केवल सामान्य विशेषण मात्र बन कर रह गये हैं।

विवस्वान्

यह शब्द प्रकाशमान होना, या चमकना अर्थ की **वस्** धातु में **वि** प्रत्यय पूर्वक बना है। वस् धातु ही उषा शब्द के मूल में भी है। विवस्वान् शब्द का अर्थ है तेजस्वी। अतः यह तो निश्चित ही है इस शब्द का मूलतः सूर्य से किसी न किसी रूप में सम्बन्ध था। अवेस्ता में वीवङ्ह्वन्त नामक देवता की प्राप्ति से इसकी पर्याप्त प्राचीनता निश्चित होती है। ऋग्वेद तक आते आते इस देवता का मूल स्वरूप अधिकांशतः लुप्त हो गया है और इसमें अनेक मानवीय विशेषताएं आ गई है।

इनकी पत्नी का नाम **सरण्यू** है। वह त्वष्टा की पुत्री है। उसने यम को अपने गर्भ से उत्पन्न किया है (**यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश, ऋ० १०।१७।१**)। यम के लिये **वैवस्वत** विशेषण ऋग्वेद में प्रायः प्रयुक्त हुआ है (ऋ० १०।१४।१)। ऋग्वेद में संकेतित एक अन्य कथा के अनुसार विवस्वान् ने अश्विनौ को भी अपनी इसी पत्नी से उत्पन्न किया है[1] (ऋ० १०।१७।२)। उन्हें मनुष्यों के आदिपूर्वज मनु के भी पिता कहा गया है (ऋ० ८।५२।६)। **अ० वे०** ८।१०।२४ तथा **श० ब्रा०** १३।४।३।३ में भी मनु के लिये 'वैवस्वत' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार विवस्वान् इस सम्पूर्ण प्रजा के आदि-जनक हैं। इसी को दृष्टि में रख कर **श० ब्रा०** ३।१।३।४ तथा **तै० सं०** ६।५।६ में कहा गया है कि सभी मनुष्य विवस्वान् की सन्तान है—

(१) **स विवस्वान् आदित्यः तस्येमाः प्रजाः।**

(२) **ततो विवस्वान् आदित्यो अजायत तस्य वा इयं प्रजाः यन्मनुष्याः।**

ऋग्वेद में एक स्थान पर (१०।६।३।१) तो देवों तक को विवस्वान् के पुत्र या '**जनिमा विवस्वतः**' कहा गया है। आदित्यों के प्रसंग में श० ब्रा० की उस कथा का तो उल्लेख किया ही जा चुका है (पृष्ठ २०३) जिसके अनुसार अविस्पष्ट देह वाले मांस-पिण्ड मार्तण्ड में जब अवयव आदि का विभाजन किया गया तो उसका नाम विवस्वान् पड़ा (३।१।३।२, ३, ४)।

---

१. इस कथा का विस्तृत विवरण **अश्विनौ** शीर्षक में देखिये।

विवस्वान् के स्थान या सदन का भी ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है जहाँ देवता आनन्द से विचरण करते हैं (**यस्मिन् देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते**, ऋ० १०।१२।७)। अवेस्ता में वीवङ्ह्वन्त को संसार में सबसे पहले यज्ञ करने वाला एवं सोम (हओम) रस का सेवन करने वाला बताया गया है। ऋग्वेद में नवमंडल में भी अनेक स्थानों पर सोम का विवस्वान् से घनिष्ठ सम्बन्ध वर्णित किया गया है। सोम विवस्वान् के साथ रहता है (**संवसान विवस्वतः**, ६।२६।४) और उनकी पुत्रियों (उँगलियों) द्वारा परिशुद्ध किया जाता है (६।१४।५), आदि आदि।

जिस प्रकार ऋग्वेद में सूर्य देवता सूर्यमंडल के नितान्त भौतिक स्वरूप स्वरूप का प्रतिनिधि है उसी प्रकार विवस्वान् उसके आधिदैविक स्वरूप का। अत्यन्त प्राचीन काल में ही आर्यों में सूर्य की जड-जगत् एवं मनुष्यों तथा देवों आदि के मूल-कारण के रूप में मान्यता थी। विवस्वान् देवता के रूप में सूर्य के ऐसे ही रूप पर विशेष बल दिया गया है। सृष्टि के आदि पुरुष या आदि चेतन प्राणी के रूप में ही उन्हें प्रथम यज्ञकर्ता तथा प्रथम सोमाभिषविता माना गया है। पुराणादिकों में जहाँ सूर्य के मानवी या दैवी रूप का वर्णन हुआ है वहाँ विवस्वान् शब्द ही उनके नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। विवस्वान् एवं सूर्य के तादात्म्य के विषय में भारतीय साहित्य में कभी भ्रान्ति नहीं रही। श० ब्रा० १०।५।२।४ में ही कहा गया है कि इस सूर्य को ही विवस्वान् कहते हैं क्योंकि वह दिन एवं रात्रि को प्रकाशित या विभाजित करता है—

असौ वा आदित्यो विवस्वान्। एष हि अहोरात्रे विवस्ते॥

अथर्ववेद तथा ब्राह्मणों में विवस्वान् का महत्त्व उत्तरोत्तर गिरता गया है और गृह्यसूत्रों में तो उनका उल्लेख भी नहीं प्राप्त होता।

सविता

ऋग्वेद के सौर देवताओं में संभवतः सविता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यह शब्द 'सू' धातु से बना है जिसके तीन अर्थ होते हैं, प्रेरित करना, उत्पन्न करना तथा रस निकालना। संभवतः प्रथम अर्थ ही इस शब्द के मूल में अभिप्रेत है। प्रातः कालीन सूर्य के विविध कर्मों में प्रेरक तथा सद्विचारों के उद्बोधक स्वरूप को ही सविता नाम से स्मरण किया जाता था। प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र

में बुद्धि को सत्कर्मों की और प्रेरित करने के लिये इन्हीं सविता देवता का स्तवन किया गया है—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् । ऋ० वे० ३।६२।१०

यहाँ सविता देवता के जिस उत्तम तेज (वरेण्य भर्ग) का उल्लेख किया है उससे इनका प्रकाश से सम्बन्ध स्पष्ट परिलक्षित होता है।

प्रातःकालीन सूर्य से सम्बन्धित होने के कारण स्वभावतः सविता का सुनहले रंग या स्वर्ण से विशेष सम्बन्ध है। उन्हें **हिरण्याक्ष** (१।३५।८), **हिरण्यबाहु** (६।७१।१), **हिरण्यहस्त** (१।३५।१०) या **हिरण्यपाणि** (१।३५।६) तथा **हिरण्यजिह्व** (६।७१।३) कहा गया है। उनके केश भी स्वर्ण के रंग के हैं (**हरिकेशः** १०।१३९।१)। उनके पास एक सोने का रथ है (१।३५।२) जिसके जुएँ आदि भी स्वर्णनिर्मित हैं (१।३५।२)।

सविता के बाहुओं का विशेष रूप से उल्लेख है। वे अपनी भुजाओं को उठाकर मनुष्यों को विविध कर्मों में प्रेरित करते हैं (**प्र बाहू अस्राक् सविता सवीमनि निवेशयन् प्रसुवन् अक्तुभिः जगत्**, ४।५३।३)। उनके ये बाहु भुवन के अन्त तक व्याप्त हो जाते हैं (२।३८।२ तथा ४।५३।४)। निश्चित रूप से यहाँ सूर्य की किरणों ('कर') का उल्लेख है।

सूर्य एवं सविता का तादात्म्य ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में प्राप्त होता है। ऋ० ४।१४।२ में कहा गया है कि सविता ने अपनी ज्योति को पृथ्वी से अत्यन्त ऊपर स्थापित किया है और सूर्य अपने प्रकाश से अन्तरिक्ष एवं द्यावापृथिवी को व्याप्त करते हैं।

ऊर्ध्वं केतुं सविता देवो अश्रेत् ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वन् ।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं वि सूर्यो रश्मिभिश्चेकितानः ॥

ऋ० १०।१५८।१-४ तथा १।३५।१-११ में भी सविता एवं सूर्य को पूर्णतः एक ही माना गया है। दो-तीन स्थानों पर सूर्य को ही 'मनुष्यों का प्रसविता' कहा गया है, जो उन्हें कर्मों की ओर प्रेरित करता है—

उद्वेति प्रसविता जनानां महान् केतुरर्णवः सूर्यस्य, ७।६३।२
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः....७।६३।४

पर देवताओं के रूप में सूर्य एवं सविता का पृथक्-पृथक् अस्तित्व होने के कारण कहीं कहीं दोनों का एक ही स्थान पर स्वतन्त्र रूप से भी उल्लेख है (उदा० १।३५।६, १।१२३।३, ५।८१।४ आदि)।

कहीं कहीं पूषा, मित्र एवं भग आदि अन्य सौर देवों से भी सविता का तादात्म्य किया गया है। **स नः पूषा अविता भुवद्** (३।६२।६), **उत पूषा भवसि देव यामभिः** (५।८१।५), **उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः** (५।८१।४) **सुवाति सविता भगः** (५।८२।३) तथा **उदुष्य देवः सविता ययाम........भगो हव्यो मानुषेभिः** (७।३८।१) आदि मंत्र इसके प्रमाण हैं।

सायण ने ऋ० ५।८१।४ की व्याख्या में लिखा है कि सूर्य को उदय से पूर्व सविता कहते हैं और उदय से अस्त तक सूर्य—

उदयात् पूर्वभावी सविता। उदयास्तमयवर्ती सूर्यः।

और यास्क का मत है कि सविता का समय वह है जब आकाश में उजेला छा जाता है और प्रकाश की किरणें नभमण्डल में विकीर्ण होने लगती है—

तस्य कालो यदा द्यौः अपहततमस्का आकीर्णरश्मिर्भवति।

पर ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में (उदा० २।३८।१) सविता का सायंकालीन सूर्य से सम्बन्ध प्रतीत होता है। वे मनुष्यों एवं पशुओं को सुलाते भी हैं और जगाते भी (**निवेशने प्रसवे चासि भूमनः**, ६।७१।६)। वे अश्वों को रथों से मुक्त कराते हैं और पथिकों को विश्राम देते हैं (२।३८।३)। सविता के सूर्यास्त से इसी सम्बन्ध के कारण श० ब्रा० में सविता का सूर्य से तादात्म्य करते हुए पश्चिम दिशा का सविता से विशेष सम्बन्ध माना गया है—

प्रतीचीमेव दिशम्। सवित्रा प्राजानन्नेष वै सविता य एष तपति। तस्मादेष प्रत्यङ् एति। प्रतीची हि एतेन दिशं प्राजानन्। प्रतीची हि एतस्य दिक्[1]।
श० ब्रा० ३।२।३।१८

'सू' धातु का अर्थ उत्पन्न करना भी होता है। अतः सविता का अर्थ संसार का उत्पादक मानकर वैदिक साहित्य में कहीं कहीं उन्हें प्रजापति भी कहा गया हैं। ऋ० वे० ४।५३।२ में सविता के लिये प्रजापति विशेषण आता है (**दिवो धर्मा भुवनस्य प्रजापतिः**)। श० ब्रा० १२।३।५।१ में कहा गया है कि

१. इस सम्बन्ध में पृ० १३१ पर कौ० ब्रा० का उद्धरण भी देखिये।

जो सविता है वही प्रजापति है (**यो हि एव सविता स प्रजापतिः**) और तै० ब्रा० १।६।४।१ का कथन है कि प्रजापति ने सविता होकर इस प्रजा का निर्माण किया (**प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत**)। तै० सं० २।१।६ में सविता को प्रसव अथवा प्रजाओं का अधिपति कहा गया है (**सविता ह वै प्रसवानामीशे**)। ऋग्वेद में प्रजापति-त्वष्टा को भी दो स्थानों पर सविता कहा गया है। (**देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः**, ३।५५।१९)।

प्रतीत होता है कि सविता शब्द मूलतः विश्व में जीवनीशक्ति एवं स्फूर्ति के प्रदायक तथा कर्मों में प्रेरक सूर्य का एक विशेषण मात्र था किन्तु कालान्तर में वह अपने महत्त्व के कारण अपने भौतिक रूप से पृथक् होकर एक सूक्ष्म देवता बन गया। 'सू' धातु का मूल अर्थ 'प्रचोदित करना' या 'आगे ठेलना' प्रतीत होता है जिससे दो भाव विकसित होते हैं—भौतिक अर्थ में 'गर्भस्थ शिशु को जन्म देना' (षूङ् प्राणिप्रसवे) और सूक्ष्म अर्थ में 'प्रेरित करना' (षू प्रेरणे)। सविता के प्रसंग में दोनों अर्थ सुरक्षित हैं किन्तु प्रधानता दूसरे अमूर्त, भावात्मक अर्थ की है। **सू से निष्पन्न प्रसवीता, प्रसव, आसुवत् सवाय, सोषवीति, आसुव** तथा **परासुव** आदि सभी शब्दों में प्रेरित करने का भाव निहित है।

वस्तुतः परवर्ती युग में सविता की केवल यही एक विशेषता मुख्य रूप से अवशिष्ट रह गई है। **सविता वै देवानां प्रसविता,** यह ब्राह्मण ग्रंथों में सर्वत्र प्राप्त होने वाला वाक्य है। श० ब्रा० में ही यह वाक्य लगभग १०० बार प्रयुक्त हुआ है (उदा०, श० ब्रा० १।१।२।१७)। इस पर सायण ने लिखा है **'देवानां मध्ये सविता खलु प्रसविता, स्व-स्व व्यापारेषु सर्वस्य लोकस्य प्रेरयिता, सूते प्रेरयतीति सविता इति तन्नामव्युत्पत्तेः'**[1] यजुर्वैदिक संहिताओं में जहाँ कहीं यजमान या ऋत्विक् आदि के द्वारा किसी भी यज्ञ पात्र के ग्रहण करने का विधान है वहाँ सर्वत्र यह कहा जाता है कि तुम्हें सविता की प्रेरणा से ग्रहण

---

१. **मत्स्य पुराण १२५।३७** में सविता शब्द की एक विशेष व्युत्पत्ति दी हुई है। इसके अनुसार यह शब्द स्रु-झरना (स्रवण) धातु से बना है। इससे (सूर्य से) तेज विकीर्ण होता रहता है इसलिये इसे सविता कहते हैं—

स्रवति स्यन्दनार्थेषु धातुरेष निगद्यते।
स्रवणात् तेजसश्चैव तेनासौ सविता स्मृतः॥

कर रहा हूँ (**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे······· गृह्णामि,** **वाज० सं० १।१०**)। ब्राह्मणग्रंथों के कर्मकाण्ड में इस सवितृप्रसव का इतना महत्व है कि इसके सम्बन्ध में एक कथा का निर्माण किया गया है। प्रजापति रूपी मृग के रुद्र के वाण से विद्ध प्राशित्र भाग को जब देवों ने भग को दिया तो उसके नेत्र ही जल गये। खाते ही पूषा के दांत टूट गये किन्तु जब वह बृहस्पति को दिया गया तो वे शीघ्रता से सविता के पास उसके प्रसव (प्रेरणा, अनुज्ञा, अनुमति) के लिये पहुँचे। सवितृ-प्रसूत प्राशित्र को खाने से उनका कुछ नहीं बिगड़ा।[1]

> **तत् वृहस्पतये पर्याजिह्रुः। स बृहस्पतिः सवितारमेव प्रसवाय उपाधावत्। सविता वै देवानां प्रसविता। इदं मे प्रसुव इति। तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत्। तदेनं सवितृप्रसूतं नाहिनत्।**

इस सम्बन्ध में ऐ० ब्रा० ७।४।२ के, '**न वै तस्य काचन रिष्टिर्भवति सवितृप्रसूतस्य**' (श० ब्रा० १।७।४।८) शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं।

शुक्ल यजुर्वेद में सविता के लिये सत्य-सव या सत्य-प्रसव विशेषण प्रायः आये हैं। उनकी एक विशेषता वस्तुओं तथा मनुष्यों को पवित्र करना भी है। **देवस्त्वा सविता पुनातु** (१।३), **देवो मा सविता पुनातु अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः** (४।४) आदि मंत्र इसके उदाहरण है। वे हिरण्यपाणि हैं (१।१६) वे प्राणियों को चैतन्य करने वाले, सर्वज्ञाता, बुद्धि प्रदाता, कर्मों, में प्रेरक तथा धनादि के प्रदाता कहे गये हैं (२२।११,१२,१३,१४)। **य० वे०** १७।५८ में उनका सूर्य से स्पष्ट तादात्म्य किया गया है। २।१२ में उन्हें यज्ञपति बता कर उनसे यज्ञ की रक्षा करने की प्रार्थना की गयी है (**एते ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुः तेन यज्ञमव........**)। **य० वे०** ३३।६९ में भी उनसे अपनी सामान्य रक्षा करने की प्रार्थना की गई है (**रक्षा माकिर्नो अद्य शंस ईशत**)। ४।२५ में उन्हें आकाश में विद्यमान, दिव्य, बुद्धिदाता, सत्य प्रेरणा वाले रत्नों के धाम तथा अपरिमित द्युति वाले कहा गया है।

य० वे० १।२५ में सविता के सैकड़ों पाशों का उल्लेख है जिनसे वे अपने द्वेषकों तथा द्वेष्यों को बाँधते हैं (**सवितः परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्यो अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। तमतो मा मौक्**)। यह वाक्य ऋग्वैदिक वरुण का स्मरण दिलाता हैं। वरुण की भाँति ऋग्वेद में सविता को भी व्रतों का रक्षक कहा गया है (**व्रतानि देवः सविता अभिरक्षते**, ४।५३।४)।

---

१. इसकी विस्तृत व्याख्या रुद्र देवता के प्रसंग में देखिये।

अथर्ववेद ७।२५।१ में भी सविता को सत्यधर्मा कहा गया है। वे सत्य के पुत्र (सत्यस्य सूनुः), सुन्दर वाणी से युक्त, युवक तथा कल्याणकारी (सुशेव) हैं (अ० वे० ६।१।२)। उनकी प्रेरणा से मनुष्य कर्म करते हैं (**देवस्य सवितुः सवे-कर्म कृण्वन्तु मानुषाः**, ६।२३।३)। उनका जन्म हिरण्यवर्ण के पवित्र जल में हुआ है (**हिरण्यवर्णा शुचयः पावकाः यासु जातः सविता**, अ० वे० १।६३।१)। वे एक मंगलमय देवता हैं और विश्व का कल्याण करते हैं (**देवः सुकृत् सविता विश्ववारः**, ५।२७।३)। ऋग्वैदिक अग्नि की भाँति उन्हें 'कविक्रतु' (अत्यधिक ज्ञानी या उच्च विचारों से पूर्ण) तथा 'रत्नधाम' (ऐश्वर्यों के अधिष्ठाता) एवं सत्यसव कहा गया है (७।१४।१)। अ० वे० ७।१६।१ में उनसे प्रार्थना की गई है कि वे उपासक की उन्नति करें, उसे सौभाग्य प्रदान करें और तेजस्वी बनायें (**सवितर्वर्धयैन ज्योतयैनं महते सौभगाय**)।

२।२६।१ में सविता से वन में भ्रान्त पशुओं को पुनः गोष्ठ में वापिस लाने की प्रार्थना की गई है (**सह यन्तु पशवो ये परेयुः अस्मिन् तान् गोष्ठे सविता नियच्छतु**)। ऋग्वेद में भटके हुए पशुओं को घर लाने का यह काम पूषन् का है किन्तु दोनों के सौर देवता होने के कारण विशेषताओं का यह आदान प्रदान स्वाभाविक ही है।

सविता स्त्रियों के शरीर से बुरे लक्षणों को दूर करते हैं (१।२८।१) और उन्हें सुन्दर पति की प्राप्ति कराते हैं (२।३६।८)। दीर्घायु के लिये भी सविता की प्रार्थना की गई है (३।११।४)। वे अनेक प्रकार के अपशकुनों को दूर करते हैं (१९।८।४)।

ब्राह्मण ग्रंथों में सविता और सूर्य का पूर्ण तादात्म्य प्राप्त होता है। दोनों की एकता पूणतः प्रतिष्ठित हो चुकी है। श० ब्रा० ३।२।३।१८, ४।४।१।३ तथा ५।३।१।७ आदि में स्पष्ट कहा है कि 'आकाश में तपने वाला' एवं 'विचरण करने वाला' सविता है—**एष वै सविता य एष तपति। एति वा एष**। पुनः २।६।३।८ में कहा गया है **एष वा सूर्यो य एष तपति**, अतः दोनों का साम्य स्पष्ट है। सूर्य अग्नि का ही आकाशस्थ रूप है, अतः श० ब्रा० ६।३।१।६ में सविता को भी अग्नि कहा गया है। ६।२।३।१२ में अग्नि, आदित्य एवं सविता इन तीनों का तादात्म्य प्राप्त होता है। अग्नि ही आकाशस्थ सूर्य है और यही सूर्य-रश्मि तथा स्वर्णकेश सविता आकाश की अजस्र ज्योति का उत्पादक है—

असौ वा आदित्य एषो अग्निः। एष सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सविता एनद् ज्योतिः उद्यच्छति अजस्रम्।

सविता आकाश में प्रकाशित होने वाली अमर एवं दिव्य ज्योति है। यह मनुष्यों, पशुओं तथा पादपों को वसु तथा तेज प्रदान करता है। जिसे यह कम तेज प्रदान करता है वह अल्पायु होता है और जिसे अधिक, वह दीर्घायु—

तदेतत् वसु चित्रं राधः। तदेष सविता विभक्ताभ्यः प्रजाभ्यो विभजति। भूय इव ह त्वेकाभ्यः प्रयच्छति कनीय इवैकाभ्यः। तद् याभ्यो भूयः प्रयच्छति ता ज्योक्ततमां जीवन्ति। याभ्यः कनीयः, कनीयस्ताः। **श० ब्रा० १०।२।६।५**

सविता को (इन्द्र तथा अग्नि के साथ) ब्रह्मचारी का रक्षक माना गया है (११।५।४।३)। उनका वर्षा ऋतु से विशेष संबन्ध वर्णित किया गया है (१२।८।२।३३)। पर उनका मुख्य कार्य विभिन्न कर्मों में मनुष्यों को प्रेरणा देना ही है, उन्हें स्थान स्थान पर **'सत्यप्रसविता'** कहा गया है (कौ० ब्रा० ५।२,६।१४ तथा तै० सं० १।८।१६) और **श० ब्रा०** १३।४।२।६ में उनके **प्रसविता, आसविता,** तथा **सत्य-प्रसविता,** ये तीन रूप माने गये हैं। एक स्थान पर यह भी कहा गया है मनुष्य का मन ही सविता है क्योंकि वही सदसत् कर्मों में प्रेरित करता है (**मनो ह वास्य सविता**, ६।३।१।१३)।

जिस प्रकार यजुर्वेद में सविता को पवित्रकारी माना गया है उसी प्रकार श० ब्रा० ३।१।३।२२ में कहा गया है कि जिसको सविता पवित्र कर देते हैं वह अत्यन्त पुनीत (सुपूत) हो जाता है—

तद् वै सुपूतं यं देवः सविता पुनात्। तस्मादाह देवो मा सविता पुनातु।

अब हम ऋग्वैदिक ब्राह्मणों पर आते हैं। ऐ० ब्रा० ४।२।१ तथा **कौ० ब्रा०** १८।१ में सविता की पुत्री **सूर्या** के सोम से विवाह का वर्णन है। यहाँ सविता शब्द निश्चित रूप से सूर्य का वाची है और **सूर्या** है उसकी पुत्री **उषा**। इसके अतिरिक्त **ऐ० ब्रा०** ७।४।२ में आये एक उल्लेख से सविता और सूर्य का स्पष्ट तादात्म्य सूचित होता है। यहाँ कहा गया है कि जिस दिन यजमान यज्ञ में दीक्षित होता है उस दिन प्रातःकाल उसे उदीयमान सूर्य की उपासना करते हुए (**उद्यन्तम् आदित्यम् उपतिष्ठेत्**) कहना चाहिये, **"देवसवितर्देवयजनं मे देहि"**। आगे कहा गया है कि सविता द्वारा प्रसूत (अनुमत) व्यक्ति की कोई हानि नहीं होती और वह उत्तरोत्तर बढ़ने वाली लक्ष्मी को तथा प्रजाओं के ऐश्वर्य को प्राप्त करता है (**उत्तरोत्तरिणीं ह श्रियमश्नुते, अश्नुते ह प्रजानामैश्वर्यम्**)।

श० ब्रा० ३।२।३।१८ की भाँति **कौ० ब्रा०** ७।६ में सविता का पश्चिम दिशा से विशेष संबन्ध माना गया है। यहाँ आई एक कथा के अनुसार जब देवगण यज्ञ द्वारा स्वर्ग पहुँचे तो वे दिग्भ्रान्त थे। सवितृ ने उनसे कहा कि मैं तुम्हारे लिये एक दिशा खोजूंगा, मेरे लिये हवि प्रदान करो। देवों ने ऐसा ही किया। तब उन्होंने देवों को पश्चिम दिशा का ज्ञान दिया। "सविता आकाशवर्ती आदित्य है, वह सदा पश्चिम की ओर जाता है, पूर्व की ओर कभी नहीं, क्योंकि वह उस दिशा का स्वामी है"।

ऋग्वेद एवं यजुर्वेद में सविता को जो स्थान-स्थान पर **हिरण्यबाहु** या **हिरण्यपाणि** कहा जाता है उसकी एक कर्मकाण्डीय व्याख्या **कौ० ब्रा०** ६।१३ में पाई जाती है। यहाँ कहा गया है कि एक बार देवों ने यज्ञ किया तो ब्रह्मा का भाग सविता को दे दिया, किन्तु उसे लेते ही उनके दोनों हाथ भग्न हो गये तब देवों ने उन्हें सोने के हाथ दे दिये, इससे उन्हे **हिरण्यपाणि** कहा जाता है।

गृह्यसूत्रों में सविता का व्यक्तित्व विद्याध्ययन करने वाले ब्रह्मचारियों के विशेष अभिरक्षक के रूप में उभरा है (तु० की०, **श० ब्रा० ११।५।४।३ प्रजापतये त्वा परिददामि, देवाय त्वा सवित्रे परिददामि। एते वै श्रेष्ठे वर्षिष्ठे देवते। एताभ्यामेवैनं श्रेष्ठाभ्यां वर्षिष्ठाभ्यां देवताभ्यां परिददाति। तथा हास्य ब्रह्मचारी न कांचनार्तिनमार्च्छति**)। उपनयन संस्कार के अवसर पर गुरु शिष्य के कन्धे पर हाथ रखता हुआ कहता है कि मैं तुमको सविता के संरक्षण में रखता हूँ (**देवाय त्वा सवित्रे परिददामि, गोभिल० २।१०।३२**)। सविता ही बालक के हृदय एवं मस्तिष्क में सद्विचारों को उत्पन्न करके बौद्धिक एवं नैतिक उत्कर्ष के लिये उसे सामर्थ्य प्रदान कर सकते हैं। उपनयन संस्कार के पश्चात् तीन रात्रि तक सविता को इसीलिये बालक पक्व-ओदन प्रदान करता है। हस्त नक्षत्र सविता को विशेष प्रिय है अतः उसी दिन अध्ययन प्रारम्भ किया जाता है। और यदि किसी दिन किसी दुःस्वप्न या अमंगल के कारण बालक का ध्यान पढ़ाई से उचट जाता है तो सविता की प्रार्थना की जाती है (**दुःखस्वप्नेष 'अद्य नो देव सवितर्' इति**[1] **एताम् ऋचं जपेत्, गोभिल०** ३।३।३२॥ तुलना की०, ऋ० वे० १०।३७।४, १।३५।६ तथा अ० वे० १६।८।४), **हिरण्यकेशी गृ० स०** १।२।५।४ में शिष्य गुरु के पास जाकर कहता है कि मुझे विद्या दीजिये, मैं सविता द्वारा प्रसूत एक विद्यार्थी के रूप में आपके पास रहूँगा। गुरु उसका हाथ

---

१. द्रष्टव्य, **छान्दोग्य आरण्यक** २।१।५।

पकड़ता हुआ कहता है कि सविता ने तुम्हारा हाथ पकड़ा है, वह तुम्हारी रक्षा करे (हिरण्य० १।२।५।६)।

हिरण्यकेशी २।५।३ में सविता को पितरों के लिये भी विशेष रूप से कल्याणकारी बताया गया है। सविता की प्रेरणा प्राप्त करने वाला पितरों को पुरोडाश प्रदान करता है और सविता उसे पितामह तथा प्रपितामह के लिये ग्राह्य बनाते हैं (तु० की०, ऋ० वे० १०।१७।४ जहाँ सविता का पितरों से सम्बन्ध है)।

यज्ञादि कर्मों में सविता की प्रेरणा या अनुमति तो प्रायः सर्वत्र प्राप्त ही की गई है (**'देव सवितः प्रसुवेति'**, गोभिल १।३।४)।

पूषा

पूषन् शब्द पुष् धातु से बना है और इसका अर्थ है **पोषक, पुष्ट करने वाला**। ऋग्वेद में यह देवता **सूर्य** की कल्याण-कारिणी एवं मनुष्यों को पुष्ट करने वाली शक्ति का प्रतीक है। उनके **पुष्टिंभर** तथा **पुरुवसु** आदि विशेषण इस ओर संकेत करते हैं। वे अत्यधिक धन के स्वामी हैं (**ईशानं राधसो महः**, ऋ० वे० ६।५५।२। वे धन की धारा तथा वसु की राशि प्रदान करते हैं (६।५३।३)।

सूर्य से उनका सम्बन्ध ऋग्वेद में सर्वत्र प्राप्त होता है। सूर्य की भाँति वे भुवनों एवं जीवों को स्पष्टतया देखते हैं (३।६२।९)। वे विश्व का अवलोकन करते हुए आगे बढ़ते हैं (**विश्वमन्यो अभिचक्षाण एति**, २।४०।५)। उनका स्थान अत्यन्त ऊँचे आकाश में है (**दिव्यन्यः सदनं चक्र उच्चा**, २।४०।४)। वे सवितृ की प्रेरणा से विचरण करते हैं (**यस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्**, य० वे० १७।५८)। उनका एक अपना प्रमुख विशेषण **आघृणि** (प्रकाशमान) है जो बाद में **घृणि** रूप में सूर्य का विशेषण बन गया है। पूषा को अपनी माता अथवा भगिनी (उषा) का जार भी कहा गया है (**मातुर्दिधिषुम् अब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः**, ६।५५।५) जो निश्चित रूप से उनके सूर्य होने का परिचायक है। ६।५८।४ में कहा गया है कि देवों ने **सूर्या** (उषा) के प्रेमी **पूषा** को उसी को प्रदान कर दिया (**यं देवासो अददुः सूर्यायै कामेन कृतं तवसं स्वंचम्**)। सूर्यासूक्त में पूषा से कहा गया है कि वे वधू का हाथ पकड़ कर ले जायें और गृहस्थ सुख प्राप्ति के लिये आशीर्वाद दें (**पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्य**, १०।८५।२६)।

विन्टरनित्स का कथन है कि ऋग्वेद के देवमंडल में आने से पूर्व पूषन् संभवतः किसी छोटी आभीर जाति के सूर्य देव थे[1]। वस्तुतः ऋग्वेद में वर्णित पूषन् की मार्गों को जानने, यात्रियों की रक्षा करने तथा खोये पशुओं को घर लौटा लाने आदि की विशेषताएँ विन्टरनित्स के इस कथन की पुष्टि करती है। वे प्रत्येक मार्ग के संरक्षक एवं स्वामी है। इसीलिये उन्हें प्रायः **पथस्पति** कहा गया है (**पथस्पथः परिपतिं वचस्या**, ६।४९।८;० **वयमुत्वा पथस्पते**, ६।५३।१)। वे पथ प्रदर्शक (**प्रपथ्य**) भी हैं अतः यात्री पूषा को हविप्रदान करके ही यात्रा प्रारम्भ करते हैं और भटकने पर पुनः **ऋ० वे० ६।५३** सूक्त से पूषन् की स्तुति करते हैं (आश्व० गृ० सू० ३।७।८ तथा शांखा० श्रौ० सू० ३।४।९)। **शांखायन गृ० सू० २।१०।१०** में पूषा के लिये उनका सायंकालीन बलिभाग घर की देहली के बाहर रख देने का विधान है। मार्ग के अधिपति होने के कारण ही ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर पूषन् से मार्ग के विघ्नों एवं वृकों, दस्युओं आदि को दूर रखने की प्राथना की गयी है (**यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति। अप स्म तं पथो जहि।** ऋ० १।४२।२; **अप त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितं। दूरमधि स्रुतेरज।** ऋ० १।४२।३)।

मार्गों के ज्ञाता होने के कारण पूषा पशुओं के पीछे-पीछे चलकर उनकी रक्षा करते हैं (**पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षतु अर्वतः**, ६।५४।५)। वे उन्हें गड्ढ में गिरने से बचाते हैं, उनके शरीर को क्षत-विक्षत नहीं होने देते, उन्हें इधर-उधर भटकने से रोकते हैं और सुरक्षित घर ले आते हैं (**माकिर्नेशन् माकीं-रिषन् माकीं स शारि केवटे। अथारिष्टाभिरागहि**, ६।५४।७)। खोये हुए पशु को पुनः घर लौटाने के लिये ऋग्वेद में पूषा से प्रायः प्रार्थना की गई है (**पुनर्नो नष्टमाजतु**, ६।५४।१०)। उनका चाबुक पशुओं को सीधे मार्ग पर ले जाता है। (**या ते अष्ट्रा गोओपशाघृणे पशुसाधनी** ६।५३।९)। **शांखा० गृ० सू०** ३।९।१ में बाड़े से गायों के भाग जाने या खो जाने पर पूषा की स्तुति करने का विधान किया गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में भी पूषन् का पशुओं से यह सम्बन्ध पूर्णतः सुरक्षित है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

---

१. विन्टरनित्स : **हिस्ट्री आफ् इंडियन लिटरेचर** : प्रथम भाग, पृ० ६५। मेरे गुरु प्रो० उलरिष् श्नाइडर (**म्युंस्टर वि० वि०**) भी पूषन् को यूनानी तथा रोमन आभीर-देवों, क्रमशः **पान्** (Pan) तथा **फ़ाउनुस्** (Faunus) से संबद्ध करते हैं।

पूषन् के लिये ऐसे भी विशेषण प्रयुक्त हुए हैं जो ऋग्वेद में प्रायः इन्द्र, वरुण या रुद्र आदि महान् देवों से सम्बन्धित है, उदाहरणार्थ **असुर** या **शक्र** (शक्तिशाली ५।५१।११,८४।१५) **ईशान** (स्वामी, ६।५४।८) **त्वेष** (पराक्रमी या, भयानक ६।४८।१५) एवं **क्षयद्वीर** (वीरों के शासक, १।१०।६४)। उनके रक्षितृत्व पर विशेष बल दिया गया है और उन्हें **रक्षिता, पायुः** (१।८६।५), **गोपा** (१०।१७।३) तथा **अविता** (८।४।१८) कहा गया है। वे पुष्टि के सखा (१०।२६।७), अन्न के स्वामी तथा उदारचेता (इलस्पति, मघवा, ६।५८।४) हैं।

पूषन् की शारीरिक विशेषताओं का भी ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है। रुद्र की भाँति वे भी **कपर्द** (बालों का जूड़ा) धारी हैं (कपर्दिनम् ६।५५।२)। उनके दाढ़ी एवं मूछें भी हैं (१०।२६।७)। वे अपने हाथ में सोने बर्छी (वाशी, १।४२।६), अंकुश या चाबुक (अष्ट्रा ६।५३।६) तथा आरा (६।५३।५), रखते हैं। उनके रथ में बकरे जुते रहते हैं। पूषन् अत्यन्त कुशल सारथी हैं। उन्हें **रथीतम** कहा गया है (६।५६।२, ३)। वे दही तथा आटे का बना हुआ पुआ या **करम्भ** खाते हैं (१।१३८।४)।

शु० **यजुर्वेद** में पूषा की केवल तीन चार ही विशेषताओं का उल्लेख प्राप्त होता है। अश्विनौ के बाहुओं के समान पूषा के हस्त भी यहाँ विशेष प्रसिद्ध है और यजमान वस्तुओं को ग्रहण करते समय "·····**पूष्णोर्हस्ताभ्यामाददे**" अवश्य कहता है। पूषा मार्ग के रक्षक हैं (**पूषा अध्वनस्पातु** ४।१६)। वे पशुओं के अधिपति हैं (**पूष्णा पशुभिः** १०।३०) तथा उन्हें 'सर्वज्ञ' (**विश्ववेदाः** २५।१६) एवं 'रक्षक' कहा गया है।

अथर्ववेद में पूषन् का उल्लेख लगभग ३० बार हुआ है। यहाँ वे मुख्यतः पृथ्वी की उर्वरा शक्ति बढ़ाने वाले तथा मनुष्यों एवं पशुओं को समृद्ध करने वाले देवता के रूप में सामने आते हैं। वे खोई वस्तु को पुनः प्राप्त कराते हैं। (**पुनर्नो नष्टामाजतु सं नष्टेन गमेमहि, अ० वे० ७।६।४**)। **अ० वे०** ५।२८।३ में उन्हें अन्न एवं पशुओं को प्रदान करने में विशेष समर्थ बताया गया है। मार्गों के अधिपति होने के कारण ६।६७।१ में आये एक मंत्र में पूषा की इसलिये स्तुति की गई है कि वे शत्रुओं के सब मार्ग बन्द कर दें जिससे वे घिर जायें। **अ० वे०** १८।२।५३ में अन्त्येष्टि क्रिया के समय पूषन् से मृतक को स्वर्ग के मार्ग से ले जाने की प्रार्थना है और १।११।१ में गर्भिणी स्त्री के कष्टरहित प्रसव के लिये उनका आह्वान किया गया है।

ब्राह्मण ग्रंथों में पूषन् की लगभग वे ही विशेषताएँ संक्षेप में प्राप्त होती हैं जो ऋग्वेद में उल्लिखित है। उदा० **श० ब्रा०** ५।२।५।७, तथा ५।३।१।६ आदि में पशुओं को पूषा से सम्बन्धित बताया गया है (**पौष्णाः पशवः**)। ५।२।५।७ में पूषा को पशुओं का उत्पादक कहा गया है (**प्रजननं वै पूषा**)। **श० ब्रा०** ३।१।४।६ में पुनः ये शब्द प्राप्त होते हैं **पशवो वै पूषा। पुष्टिर्वै पूषा। पुष्टिर्वै पशवः।** **तै० सं०** १।५।१ में भी पूषा को पशुओं का अधिपति कहा गया है। **श० ब्रा०** १।१।२।१७ में पूषा के लिये **भागदुघः** विशेषण आया है (**भागं दोग्धीति भागदुघः भागप्रदः इत्यर्थः**—सायण)।

सर्वत्र **पुष्** धातु से ही पूषन् की सिद्धि की गई है। "पुष्टिर्वै पूषा" इसका प्रमाण है। पुष्टि से इसी सम्बन्ध के कारण एक स्थान पर वायु को (१४।२।१।६) तथा एक स्थान पर पृथ्वी को (४।५।६।६) पूषा बताया गया है। महीधर का मत है कि षोषणकारी वृष्टि का प्रेरक होने के कारण वायु पूषा है और सायण ने पृथ्वी के विषय में लिखा है—**पोषणात् पृथिवी पूष्णा रक्षितस्य प्रच्युतिर्नास्ति।**

तै० सं० ५।१।२ में पूषा को मार्गों का स्वामी या सही मार्ग पर ले जाने वाला कहा गया है (**पूषा वा अध्वनां सन्नेता**) और **तै० स०** २।१।१ में कहा गया है कि वे शक्ति तथा बल प्रदान करते हैं (**पूषा वा इन्द्रियस्य वीर्यस्य अनुप्रदाता**)।

पशुओं पर पूषा के आधिपत्य को सूचित करने के लिये **तै० सं०** २।४।४ में एक छोटी सी कथा आती है कि एक बार प्रजापति ने पशु उत्पन्न किये किन्तु वे उनके दूर चले गये तब प्रजापति ने पूषा को हवि प्रदान करके उन्हें प्राप्त किया क्योंकि पूषा पशुओं के स्वामी हैं—

> **··· प्रजापतिः पशूनसृजत्। ते अस्मात् सृष्टाः परांच आयन्।**
> **····तान् पूषा चान्ववैता सो अब्रवीत्। अनया मा प्रतिष्ठ। अथ त्वा**
> **पशव उपावर्त्स्यन्तीति········ततो वै प्रजापतिं पशवः उपावर्तन्त।**

श० ब्रा० ४।२।५।२२ में पूषा के लिये करंभ प्रदान करने का विधान है। ऋग्वेद में ही यह पूषा का प्रिय खाद्यपदार्थ है। **श० ब्रा०** १।७।४।५–८, **कौ० ब्रा०** ६।१३ तथा **तै० सं०** २।६।८ में इसकी व्याख्या में एक कथा दी गई है। देवों ने मृग-रूपी प्रजापति का रुद्र के बाण से विद्ध अंश पूषा को खाने को

दिया किन्तु उसे खाते ही उनके दाँत टूट गये। इसी से उन्हें पिसा अन्न खाने को देते हैं।[1]

ते होचुः पूष्णा एनत् परिहरेति। तत् पूष्णो पर्याजह्रुः तत् पूषा प्राश, तस्य दतो निर्जघान। तस्मादाहुः अदन्तकः पूषेति। तस्माद्यं पूष्णे चरुं कुर्वन्ति प्रपिष्टानाम् (तण्डुलानामितिशेषः—हरिस्वामी) **एव कुर्वन्ति यथा अदन्तकाय एवम्। श० ब्रा० १।७।४।७**

सूर्य से संबन्ध होने के कारण **ईशावास्योपनिषद्** में पूषा ने अत्यधिक उत्कर्ष प्राप्त किया है। ईशावास्य के कुछ मंत्रों में सूर्य की परमात्मा के रूप धारणा की गई है। अतः पूषा शब्द सर्वपोषक ब्रह्म का वाची बन गगा है। १५ वें श्लोक में कवि कहता है कि "सत्य का मुख हिरण्मय-पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन्, सत्य रूपी धर्म को देखने के लिये तुम उसे हटा दो"—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ ईश० उ० १५

सत्य की खोज करने के लिये उपनिषद् के कवि की पूषन् से यह प्रार्थना समस्त उपनिषद् साहित्य में अद्वितीय है। अगले श्लोक में पूषन् (रूपी सूर्य या परमात्मा) के लिये **ऋषि** (ज्ञानी), **यम** (नियामक) तथा **प्राजापत्य** (प्रजा के स्वामी) विशेषण प्रयुक्त हुए हैं और सूर्य रूप में उनसे अपनी रश्मियों को समेट कर आदित्य-मण्डलस्थ पुरुष के दर्शन कराने की प्रार्थना की गई है—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह। ईश० उ० १६

गृह्यसूत्रों में भी पूषा के सम्बन्ध में प्रायः उन्हीं विशेषताओं का उल्लेख है जो ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होती है। **आश्वालायन गृ० सू० ३।८।१०** में भयपूर्ण मार्ग में चलने से पूर्व पूषा की स्तुति करने का विधान है। किसी भी कार्य से दूर जाने वाले व्यक्ति पहले पूषा की कृपा की कामना करते हैं (उदा०, काठक गृ० सू० २।११।४)। पूषा को वैवाहिक सुख का प्रदाता भी समझा जाता है। विवाह संस्कार के अवसर पर पूषा को विशेष रूप से लाजा (खीलें) प्रदान की जाती है (गोभिल० २।२।७ तथा द्राह्यायण १।३।२५)। **हिरण्यकेशी** १।६।२०।२ तथा **काठक** ३।१।५ में विवाह के अनन्तर वर वधू से कहता है कि पूषा तुम्हें हाथ पकड़ कर घर ले चले और गृहलक्ष्मी के रूप में तुम घर में आनन्द से

---

१. इसकी विस्तृत व्याख्या रुद्र के प्रसंग में देखिये।

रहो (**पूषा त्वेता नयतु हस्तगृह्य........गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वा विदथमावदासि**)। **गोभिल०** २।२।१६ तथा **हिरण्यकेशी** २।१।५।११ में बालक के चूडाकर्म के अवसर पर भी पूषा का आह्वान किया गया है और उनसे बालक को दीर्घायु बनाने की प्रार्थना की गई है। **शांखायन गृ० सू०** १।६।६ में प्रातःकाल अग्निहोत्र के समय पूषा के लिये हवि प्रदान करते हुए यजमान कहता है कि "पूषा पशुओं एवं धन के स्वामी हैं। वे हमें इन दोनों से युक्त करें"। यजुर्वेद में उल्लिखित पूषन् के हस्तों का प्रायः गृह्यसूत्रों में भी वर्णन आया है (**पूष्णोर्हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णामि असौ........गोभिल०** २।१०।२६)। **गोभिल गृ० सू०** २।८।१०,१३ में पशुओं की वृद्धि एवं पुष्टि के लिये पूषा से प्रार्थना की गई है। पशुओं की मार्ग में रक्षा करने के लिये भी प्रायः गृह्यसूत्रों में विविध ऋग्वैदिक मन्त्रों के पाठ का विधान किया गया है।

महाकाव्यों तथा पुराणों में पूषा का केवल नाम-मात्र शेष रह गया है। उनके स्वरूप का विकास बिल्कुल उलटी दिशा में चला है। उत्तरोत्तर उनकी महत्ता का ह्रास ही होता गया है। ऋग्वेद में उनका व्यक्तित्व सर्वाधिक पूर्ण है किन्तु पुराणों में अत्यधिक अस्पष्ट एवं अपूर्ण हैं। रामायण में केवल एक स्थान पर उनका उल्लेख है। रावण के साथ जब सभी देवता युद्ध करने आते हैं तो पूषा भी त्वष्टा के साथ अपनी सेना लेकर आते हैं। उन्हें 'आदित्य', 'निर्भय' तथा 'महावीर्य' कहा गया है—

तथादित्यौमहावीर्यौ त्वष्टा पूषा च दंशितौ।
निर्भयौ सह सैन्येन तदा प्राविशतां रणे॥ रामा० उत्तर० २७।३६

वस्तुतः पूषा का उल्लेख ऐसे ही स्थानों पर किया गया है जहाँ देवों के किसी सामूहिक कार्य का वर्णन है और इसलिये अन्य देवों के नामों की सूची के साथ-साथ इस प्राचीन वैदिक देवता के नाम का भी उल्लेख करना आवश्यक हो गया है। उदाहरणार्थ **महाभारत आदि०** २२६।६७ में वे खाण्डवदाह के अवसर पर अन्य सभी देवों के साथ अर्जुन से युद्ध करते हैं और **शल्य०** ४५।४३,४४ में जब सभी देवता स्कन्द को वर प्रदान करते है तो वे भी उसे दो पार्षद प्रदान करते हैं।

पूषा का केवल एक ही पौराणिक कथा से सम्बन्ध है और वह है रुद्र के द्वारा दक्ष-यज्ञ के विध्वंस की। इस कथा में पूषा को रुद्र का विरोधी प्रदर्शित

किया गया है अतः रुद्र के गणेश्वर वीरभद्र उन्हें गिराकर उनके दांत उखाड़ लेते हैं—

स वै विध्वंसितं यज्ञं दृष्ट्वा पूषा समभ्यगात् ।
पूष्णो दन्तानथोत्पाट्य वीरभद्रो न्यपातयत् ॥ ब्रह्म० १०६।२५

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि वीरभद्र ने पूषा के दाँत इसलिये निकाले कि जब दक्ष शिव की निन्दा कर रहा था तो वे दाँत निकाल कर हँस दिये थे—

पूष्णश्चापातयद् दन्तान् कालिंगस्य यथा बलः ।
शप्यमाने गरिमाणि सोऽहसद् दर्शयन् दतः ॥ भाग० ४।६।२१

महा० द्रोण० २०२।४६ तथा **सौप्तिक,** १८।१६ में भी शिव द्वारा पूषा के दाँत तोड़े जाने का उल्लेख हुआ है। अब वे **यजमान के दाँतों से** केवल पिसा हुआ अन्न खाते हैं (**पूषा तु यजमानस्य दद्भिर्जक्षतु पिष्टभुक् । भाग०** ४।७।४)।

स्पष्ट है कि यह **श० ब्रा० १।७।४।७** में उल्लिखित प्रसंग का ही परवर्ती विकास है जिसके अनुसार प्राशित्र खाने से पूषा के दाँत गिर गये थे। और **ऋ० वे०** १।३८।४ में करम्भ पूषा का प्रिय भोजन है ही।

अर्यमा

अर्यमा देवता के लिये ऋग्वेद में कोई सूक्त नहीं प्राप्त होता। पर आदित्यों के प्रसंग में उनका बहुधा उल्लेख किया गया है। इस शब्द का अर्थ है मित्र, साथी या परिचर और ऋग्वेद में प्रायः इस अर्थ में जातिवाचक संज्ञा के रूप में इसका प्रयोग भी हुआ है—**नार्यमणं पुष्यति नो सखायं कैवलाघो भवति केवलादी।** यहाँ अपने परिचर एवं मित्र के साथ भोजन करने का उपदेश है। अर्यमा शब्द से बना अर्यम्य शब्द मित्र शब्द से बनी भाववाचक संज्ञा 'मित्र्यं' के समान है और मैत्री का अर्थ रखता है (**अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा, ऋ०** ५।८५।३)। विवाहादि के अवसर पर कुमारियों का सहायक तथा रक्षक होने के कारण अग्नि को एक स्थान पर कन्याओं का मित्र कहा गया है (**त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि, ऋ० ५।३।२**)।

प्रतीत होता है कि अर्यमा पारस्परिक सौहार्द से सम्बन्धित प्राचीन काल

के कोई अमूर्त देवता हैं[1] जो बाद में स्वरूप के अनिश्चय के कारण आदित्य मण्डल में प्रविष्ट कर लिये गये और इसी सम्बन्ध से बाद में इनका नाम सूर्य का वाची हो गया। अवेस्ता में यह शब्द **ऐर्यमन्** रूप में प्राप्त होता है (देखिये पीछे पृ० १२५)।

ब्राह्मण ग्रन्थों में अर्यमा के विषय में इतना ही ज्ञात होता है कि वे सूर्य हैं। अर्यमा एवं सूर्य का पूर्ण तादात्म्य **तै० सं०** २।३।४ तथा **श० ब्रा०** ५।३।१।२ में प्राप्त होता है। **तै० सं०** के इस उद्धरण में तीन बार अर्यमा को आदित्य बताया गया है और कहा गया है कि स्वर्ग, धन तथा कल्याण की कामना करने वाले को अर्यमा को चरु प्रदान करना चाहिये—

अर्यम्णे चरुं निर्वपेत् स्वर्गकामो असौ वा आदित्यो अर्यमा अर्यमणमेव स्वेन भागेन उपधावति स एवैनं सुवर्गं लोक गमयति। अर्यम्णे चरुं निर्वपेत् यः कामयेत दानकामा मे प्रजाः स्युरिति असौ वा आदित्यो अर्यमा यः खलु वै ददाति सो अर्यमा। अर्यम्णे चरुं निर्वपेत् यः खलु कामयेत स्वस्ति खलु जनतामियाम् असौ वा आदित्यो अर्यमा। तै० सं० २।३।४

श० ब्रा० ५।३।१।२ में कहा गया है कि बृहस्पति-याग के लिये ब्राह्मण को श्वेत गौ दक्षिणा के रूप में देनी चाहिये क्योंकि ऊपर की दिशा बृहस्पति की है और उससे ऊपर अर्यमा (सूर्य) का मार्ग है (जो किरणों के कारण श्वेत है)—

....तस्य शितिपृष्टो गौर्दक्षिणा। एषा वा ऊर्ध्वा बृहस्पते- दिक्। तदेष उपरिष्टाद् अर्यम्णः पन्थाः।

(ऊर्ध्वा दिक् बृहस्पतिदेवताका। तस्या उपरिष्टाद् अर्यम्णः। सूर्यस्य एषः परिदृश्यमानः पन्था-मार्गः। स च किरणसंबन्धात् श्वेतः—सायण)

निरुक्त में (११।२४) यास्क ने भी अर्यमा को सूर्य का वाची माना है।

---

१. प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पाउल थीमे ने अपने Der Fremdling im Ṛgveda नामक ग्रंथ में अर्यमा को मूलतः **अरि** अर्थात् अतिथि, अभ्यागत से सम्बन्धित देवता बताया है, और स्वतः **आर्य** शब्द को इससे सम्बन्धित माना है (पृ० १२६, पादटि० २)।

पुराणों में अर्यमा की पितरों के अधिपति के रूप में मान्यता है। जिस प्रकार इन्द्र देवों के राजा हैं उसी प्रकार अर्यमा पितरों के। गीता में भगवान् कृष्ण पितरों में अपने को अर्यमा बतलाते हैं (**पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्**, १०।२९)। ऋग्वेद (१०।१४) शु० यजुर्वेद (१९।४५) तथा श० ब्रा० १२।८।१९ एवं १३।४।३।६ में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में पितरों का अधिपति **यम** को बताया गया है। वह क्षत्र (राजा) है और पितर **विश्** (प्रजा)। वैदिक साहित्य में नरकों का कोई उल्लेख नहीं है किन्तु पुराणों में नरकों की धारणा का विकास होने पर पितरों तथा मृतात्माओं के प्राचीन राजा यम नरक के अधिपति बन गये हैं। यम का जो स्थान रिक्त हुआ उसमें अस्पष्ट-स्वरूप वाले इस देवता की नियुक्ति कर दी गई। यही नहीं, कभी-कभी तो अर्यमा यम के दूसरे कार्य, नरकाधिपतित्व की भी देखभाल कर लेते हैं। जब माण्डव्य ऋषि यम को शूद्र-योनि में जाने का शाप देते हैं और यम विदुर के रूप में पृथ्वी पर जन्म लेते हैं तो १०० वर्षों तक अर्यमा यम के स्थान पर पापियों को दण्ड देते रहते हैं—

अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथावदघकारिषु ।
यावद्दधार शूद्रत्वं शापाद् वर्षशतं यमः ॥ भागवत० १।१३।१५

पितरों के अधिपति होने के कारण पृथ्वी दोहन के समय श्राद्धदेवता पितर अर्यमा को बछड़ा बना कर कच्ची मिट्टी के पात्र में कव्य रूपी दूध दुहते हैं।

वत्सेन पितरोऽर्यम्णा कव्यं क्षीरमधुक्षत ।
आमपात्रे महाभागा श्रद्धया श्राद्धदेवताः ॥ भागवत ४।१८।१८

महा० आदि० ६५।१५, शान्ति० २०८।१५ आदि में अर्यमा का द्वादश आदित्यों में परिगणन किया गया है।

मित्र

ऋग्वेद में मित्र देवता का स्वतंत्र उल्लेख बहुत कम है। वरुण के साथ मिलाकर **मित्रावरुणा (णौ)** नाम से उनका प्रायः वर्णन हुआ है। किन्तु इस युगल देवता में भी मित्र का अपना व्यक्तित्व नहीं के बराबर है क्योंकि मित्रावरुण में ऐसी कोई विशेषता नहीं है जो अकेले वरुण न पाई जाती हो। केवल एक ही सूक्त (३।५९) उनके लिये प्राप्त होता है, इसमें भी उनकी दो तीन विशेषताओं का वर्णन है। मित्र अपने आदेश से (अथवा स्तुत होने पर)

मनुष्यों को अपने अपने कर्मों में प्रेरित करते हैं (**यातयति**) और निर्निमेष दृष्टि से मनुष्यों (**कृष्टीः**) को देखते हैं[1]—

मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुतद्याम् ।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत ॥ ऋ० ३।५९।१

पृथ्वी और आकाश को धारण करने की विशेषता तो लगभग सभी देवों में समान है परन्तु **'यातयज्जन'** मित्र की अपनी एक विशेष उपाधि है (**यातयज्जनो गृणते सुशेवः** ३।५९।५) क्योंकि अग्नि के लिये एक बार कहा गया है कि वह मित्र की भाँति 'यातयज्जन' (**मित्रं न यातयज्जनम्** ८।१०२।१२) है। मित्र से सम्बन्ध के कारण यह विशेषण एक बार मित्रावरुणौ के लिये (५।७२।२) तथा दोनों से संपर्क के कारण एक बार अर्यमा के लिये भी आया है (१।१३६।३)। मनुष्य के कर्मों को अपलक दृष्टि से देखने की विशेषता मुख्यतः वरुण की है।

वरुण की भाँति मित्र के व्रतों या नियमों का भी वर्णन किया गया है। जो इन व्रतों का पालन करता है वह समृद्धिशाली होता हैं। उसे न कोई मार सकता है और न जीत सकता है; उसे कोई भी व्याधि नहीं होती—

प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन ।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्ततो न दूरात् ॥ (५।३९।२)

अथर्ववेद १३।३।१३ में वरुण का सायंकाल से तथा मित्र का प्रातःकाल से सम्बन्ध वर्णित किया गया है (**स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रात-**

---

१. रोठ तथा मैक्डानल आदि विद्वानों के अनुसार यातयति' का अर्थ है 'एक स्थान पर एकत्र करना' इसकी इसकी पुष्टि में वे **जनं च मित्रो यतति बुवाणः** (७।३६।२) आदि मंत्र उद्धृत करते हैं। सायण ने इसे **यत्** (**प्रयत्न करना**) का णिजन्त रूप माना है जो सबसे उपयुक्त है। 'एकत्र करने' का मित्र के विषय में क्या अर्थ हो सकता है ? इसी प्रकार कृष्टि शब्द भी मनुष्य मात्र का वाची है—किसानों या हल जोतने वालों का नहीं। इस सम्बन्ध में यास्क का मत ही सर्वाधिक उपयुक्त है—

कृष्टीः इति मनुष्यनाम—विकृष्टदेहा भवन्ति ।

रुद्यन्) और ६।३।१८ में कहा कहा है कि मित्र प्रातःकाल उसे प्रकाशित करें जिसे वरुण ने छिपा रखा था (**वरुणेन समुब्जितं मित्रः प्रातर्व्युब्जतु**)। इन संकेतों से मित्र का सूर्य या प्रकाश से विशेष संबन्ध व्यक्त होता है। इस सम्बन्ध की पुष्टि अवेस्ता में मित्र के स्वरूप पर दृष्टि निक्षेप करने से तथा रोमन साम्राज्य में अपराजेय सूर्य (Sol Invictus) के रूप में इसकी उपासना किये जाने से भी होती है। संभवतः धूम रूपी अन्धकार से आवृत होने के कारण ही ऋग्वेद ५।३।१ में सद्योजात-अग्नि को वरुण तथा प्रदीप्त-अग्नि को मित्र का रूप माना गया है—

त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः ।

संभवतः इसी आधार पर **श० ब्रा०** २।३।२।१२ में भी कहा गया है कि जब अग्नि की ज्वालाएँ शान्त हो जाती हैं और थोड़ी-थोड़ी अग्नि लकड़ियों में जलती रहती है तो वह मित्र देवता के समान होती है। उस समय वह हानि-कारक नहीं होती। मित्र भी सभी का सुहृद् है। वह किसी का वध (पीडो-त्पादन) नहीं करता। वह अत्यन्त शान्त है और (स्वभाव में) ब्राह्मण (के समान) है—

अथ यत्रैतत् प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति । तर्हि हैष भवति मित्रः । यमाहुः सर्वस्य वा अयं ब्राह्मणो मित्रम् । न वा अयं कंचन हिनस्ति ।

मित्र के इसी पक्ष पर ब्राह्मणों में सबसे अधिक बल दिया गया है। **तै० सं०** ५।१।६ में कहा गया है कि मित्र देवों में सर्वाधिक मंगलमय है (**मित्रो वै शिवो देवानाम्**) और **श० ब्रा०** ५।३।२।७ में कहा गया है कि मित्र किसी की हानि नहीं करते, वे सबके मित्र हैं। अतएव मित्र को भी कोई हानि नहीं पहुँचाता। न उनके काँटा गड़ता है और न कोई व्रण होता है—

न वै मित्रः कंचन हिनस्ति। सर्वस्य हि एव मित्रो मित्रम्। न मित्रं कश्चन हिनस्ति। नैनं कुशो न कण्टको विभिनत्ति। नास्य व्रणश्चनास्ति।

अवेस्ता में जिस प्रकार मित्र को पारस्परिक संधि की शर्तों का संरक्षक कहा गया है उसी प्रकार **तै० सं०** २।१।८ में भी इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें कहा गया है कि यदि कोई संग्राम में रत व्यक्ति शान्ति

एवं सन्धि चाहता है तो उसे मित्र की उपासना करनी चाहिये। मित्र दोनों पक्षों को आपस में मिलते हैं—

मैत्रमालभेत संग्रामे संयत्ते समयकामी मित्रमेव स्वेन भागधेयेन उपधावति। स एवैनं मित्रेण संनयति।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आज से ३४०० वर्ष पूर्व बोग़ाज़क्यूइ में हित्तिति एवं मितानी जातियों की जो सन्धि हुई थी उसमें मित्र के आवाहन का क्या महत्त्व था। यह कुछ आश्चर्य का विषय है कि लौकिक साहित्य में मित्र शब्द के पुल्लिग में सूर्य-वाची होते हुए भी ब्राह्मणों में कहीं सूर्य एवं मित्र का स्पष्ट तादात्म्य नहीं किया गया। तै० सं० में केवल एक स्थान पर आये दो वाक्यों से सूर्य एवं मित्र की एकरूपता ध्वनित होती है। वाज सं० ३६।१८ में कहा गया है कि हम मित्र के नेत्र से सब प्राणियों को देखें और सब प्राणी हमें भी मित्र के नेत्र से देखें—

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।

इसमें सन्देह नहीं कि मित्र के नेत्रों से देखने का तात्पर्य मैत्री, सहानुभूति सौहार्द या प्रेम की दृष्टि से देखना है पर तै० सं० २।६।८ में ठीक इसके समानान्तर एक उद्धरण प्राप्त होता है जिसमें कहा गया है कि मैं तुम्हें सूर्य के नेत्रों से देखता हूँ, क्योंकि सूर्य कभी किसी को हानि नहीं पहुँचाता—

सूर्यस्य त्वा चक्षुषा प्रतिपश्यामि इत्यब्रवीत्।
न हि सूर्यस्य चक्षुः कंचन हिनस्ति।

पूषा की भाँति पुराणों एवं महाभारत में मित्र का वहीं उल्लेख है जहाँ औपचारिक रूप से क्रमशः सभी देवताओं का वर्णन किया गया है, उदा० अर्जुन के जन्म के समय आये हुए देवों की (आदि० १२२।६६), खाण्डव दाह के अवसर पर अर्जुन से युद्ध करने के लिये आये देवों की, (वही, २२६।३६) तथा स्कन्द को आशीर्वाद देने के लिये आये देवों की (शल्य० ४५।४१) सूची में। पुराणों में मित्र का देवरूप में प्रायः कहीं उल्लेख नहीं है और यह शब्द पूर्णतः सूर्य का वाची बन गया है।

सूर्य देवता का पौराणिक स्वरूप

वैदिक विवस्वान्, सविता, पूषा तथा अर्यमा आदि देवों का व्यक्तित्व पौराणिक युग में सूर्य के साथ मिल गया है और इन सबने मिलकर पौराणिक देवमंडल के एक शक्तिशाली तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता को जन्म दिया है। उनके इसी महत्त्व के कारण उनकी उपासना का एक पृथक् सम्प्रदाय ही चल पड़ा और प्राचीन भारत में सैकड़ों वर्षों तक सहस्रों व्यक्ति उन्हें अज्ञानान्धकार के नाशक, विद्या के प्रकाशक, विविध कामनाओं के पूरक तथा स्वास्थ्य-प्रदाता देवता के रूप में अपना इष्टदेव मानते रहे। **मत्स्य पु० ५२।२१** तथा २४ में ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा सूर्य को एक रूप मान कर इन्हें संसार की चार सर्वोत्कृष्ट शक्तियाँ कहा गया है इनमें भी सूर्य (पूषा) तो शेष तीनों के ही आधार हैं—

ब्रह्मा विष्णुश्च भगवान् मार्तण्डो वृषवाहनः।
इमा विभूतयः प्रोक्ता चराचरसमन्विता ॥
ब्रह्मादीनां परं धाम त्रयाणामपि संस्थितिः।
वेदमूर्तावतः पूषा पूजनीयः प्रयत्नतः ॥

"वेदमूर्तावतः पूषा पूजनीयः प्रयत्नतः" वाक्य से स्पष्ट है कि पूषा शब्द पूर्णतः सूर्य का वाची है। इसी प्रकार **मत्स्य०** ७८।६,७ में भी पूषा एवं अर्यमा शब्द सूर्य के वाची माने गये हैं। यहाँ सूर्य के लिये किये जाने वाले मन्दार-सप्तमी नामक व्रत में विभिन्न नामों से सूर्य की उपासना का वर्णन है—

दक्षिणे तद्वदर्काय तथाऽर्यम्णेति नैऋते।
पूष्णेत्युत्तरतः पूज्यमानन्दायेत्यतः परम् ॥

पद्म पुराण ७६।३५ में सूर्य की स्तुति में उनके—

सुवर्णरेता मित्रश्च पूषा त्वष्टा गभस्तिमान्।

आदि नाम आये हैं जिससे मित्र एवं पूषा (तथा त्वष्टा) का उनसे तादात्म्य स्पष्ट है। पूषा शब्द **महा० वन पर्व** ३।१६ में भी सूर्य के लिये प्रयुक्त हुआ है।

विष्णु पुराण ३।११।३९ में सूर्य के लिये विवस्वान् तथा सविता विशेषण आये हैं और उन्हें जगत् को प्रेरित करने वाले कहा गया है—

नमो विवस्वते ब्रह्मभास्वते विष्णुतेजसे।
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मसाक्षिणे ॥

ब्रह्मपुराण ८६।२२ में भी सविता शब्द पूर्णतः सूर्य के लिये आया है—

तत्पुत्रवचनं श्रुत्वा सविताऽचिन्तयत् तदा ।

श्रीमद्भागवत ५।७।१४ में कहा गया है कि राजा भरत आदित्य की निम्न-लिखित श्लोक से स्तुति किया करते थे—

परोरजः सवितुर्जातवेदो देवस्य भर्गो मनसेदं जजान ।

जिसकी शब्दावली स्पष्ट रूप से सविता सम्बन्धी वैदिक ऋचाओं से प्रभावित है ।

वैदिक सूर्य केवल सूर्यमण्डल के भौतिक स्वरूप का परिचायक है, किन्तु धीरे धीरे इनका व्यक्तित्व पूर्ण हो गया है और ये पूर्ण विग्रहवान् देवता बन गये हैं । पौराणिक साहित्य में वाल्मीकि रामायण के सर्वप्राचीन होने के कारण यहाँ पर सूर्य का भौतिक-रूप दैवी-रूप में संक्रान्त होता हुआ दिखाई देता है। उत्तर० ३५।२६ में कहा गया है कि हनुमान सूर्य-बिम्ब को फल समझ कर उसकी ओर झपटे । ३१ वें श्लोक में कहा गया है कि उसी दिन राहु भी सूर्य को ग्रसने आ रहा था क्योंकि चन्द्र एवं सूर्य उसकी बुभुक्षा मिटाने के साधन है (**बुभुक्षापनयं दत्वा चन्द्रार्कौ मम वासव,** ३५।३४) । इन दोनों ही श्लोकों में सूर्य का भौतिक-रूप ही कवि के समक्ष है किन्तु सहसा वह सूर्य के दैवी-रूप पर आ जाता है और कहता है कि सूर्य क्रुद्ध होकर हनुमान् को दग्ध कर सकते थे किन्तु वे यह सोच कर रुक गये कि एक तो यह शिशु है और दूसरे इससे भविष्य में देवों का महत्त्वपूर्ण कार्य सधेगा—

शिशुरेष त्वदोषज्ञ इति मत्वा दिवेश्वरः ।
कार्यं चात्र समायत्तमित्येवं न ददाह सः ॥ उत्तर० ३५।३०

महाभारत आदि० ६६ तथा **अनु० १५०** अध्यायों में सूर्य अथवा विवस्वान् से संबन्धित एक अत्यन्त प्राचीन कथा प्राप्त होती है जिसमें सूर्य के दैवी एवं भौतिक रूपों का विचित्र सम्मिश्रण है । लगभग महाभारत के ही आधार पर यह कथा **भागवत० ८।१३, विष्णु० ३।२।२-१२ मत्स्य० ११।१-४१, वायु० ८४,** तथा ब्रह्म ८९ अध्यायों में भी प्राप्त होती है । इसके अनुसार सूर्य के संज्ञा (सरण्यू, सुरेणु, उषा) नामक एक पत्नी थी जो त्वष्टा या विश्वकर्मा की पुत्री थी । यम एवं यमुना (या यमी) नामक उसकी दो युग्म संतानें थीं । मार्तण्ड का तेज इतना प्रचण्ड था कि संज्ञा उसे अधिक दिनों तक नहीं सह सकी । उसने अपने शरीर से अपनी ही जैसे एक स्त्री बनाई, जिसका सवर्णा या **छाया**

नाम पड़ा और उससे अपने बच्चों की देखभाल करने तथा पति को सन्तुष्ट करने के लिये कह कर वह वन में जाकर एक बडवा के रूप में तपस्या करने लगी। सवर्णा के शनैश्चर तथा मनु नामक दो सन्तानें हुईं। सूर्य को पहले तो कुछ पता नहीं चला किन्तु बाद में उन्हें सवर्णा की नीच प्रकति तथा बच्चों के प्रति किये गये भेदपूर्ण व्यवहार के कारण उसके संज्ञा होने में सन्देह हो गया। ध्यानस्थ होकर उन्होंने देखा तो पता चला कि संज्ञा वन में तप कर रही है। वे वहाँ पहुँचे और उससे दोनों अश्विनी-कुमारों को उत्पन्न किया। दोनों त्वष्टा के पास पहुँचे वहाँ संज्ञा ने सूर्य के तेज को सहन करने में असमर्थता प्रकट की। इस पर देव-शिल्पी त्वष्टा ने सूर्य को शाण पर चढ़ा कर उसे इधर उधर से काट-छाँट कर अपेक्षाकृत छोटा, गोल तथा कम तेजस्वी बना दिया[1]। सूर्य के कटे-छटे अंश से उसने विष्णु के चक्र तथा शिव के शूल आदि का निर्माण किया। सूर्य का तेज अब जीव लोक के लिये सुसह्य हो गया। विष्णु पुराण से इस कथा के कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं :—

सूर्यस्य पत्नी संज्ञाभूत् तनया विश्वकर्मणः।
मनुर्यमो यमी चैव तदपत्यानि वै मुने[2] ॥२॥

असहन्ती तु साभर्तुस्तेजश्छायां युयोज वै।
भर्तृशुश्रूषणेऽरण्ये स्वयं च तपसे ययौ ॥३॥

छायासंज्ञा ददौ शापं यमाय कुपिता यदा।
तदा नेयमसौ बुद्धिरित्यासीद् यमसूर्ययोः ॥५॥

ततो विवस्वानाख्याते तयैवारण्यसंस्थिताम् ॥
समाधिदृष्ट्या ददृशे तामश्वां तपसि स्थिताम् ॥६॥

---

१. महाकवि भवभूति ने उत्तरामचरित ६।३ में इस कथा की ओर संकेत किया है—

त्वष्टृयन्त्रभ्रमिभ्रान्तमार्त्तण्डज्योतिरुज्ज्वलः।

२. अन्य पुराणों में प्रायः मनु को सवर्णा का पुत्र बताया गया है और उसके लिये सावर्णि विशेषण प्रयुक्त हुआ है। देखिये, **मार्कण्डेय०** ८१।१ **सावर्णिः सूर्यतनयो यो मनुः कथ्यतेऽष्टमः**; तथा ८१।९३ **सूर्याज्जन्म समासाद्य सावर्णिर्भविता मनुः।**

आनिन्ये स पुनः संज्ञां स्वस्थानं भगवान् रविः।
तेजसः शमनं चास्य विश्वकर्मा चकार ह ॥८॥

भ्रमिमारोप्य सूर्यं तु तस्य तेजोनिशातनम् ।
कृतवानष्टमं भागं स व्यशातयदव्ययम् ॥९॥

यत्तस्माद् वैष्णवं तेजः शातितं विश्वकर्मणा ।
जाज्वल्यमानमपतद् भूमौ मुनिसत्तम ॥१०॥

त्वष्टैवं तेजसा तेन विष्णोश्चक्रमकल्पयत् ।
त्रिशूलं चैव शर्वस्य शिविकां धनदस्य च ॥११॥

विष्णु० ३।२।२-११

इसमें सन्देह नहीं कि यह कथा सूर्य द्वारा उषा के पीछा किये जाने और पश्चिम में उसे प्राप्त कर लेने की वैदिक कथा का ही रूपान्तर है[1]। किन्तु कथा के पूर्वार्द्ध में कवि ने सूर्य के गार्हस्थिक जीवन की एक झाँकी देकर जो उसका मानवी रूप चित्रित किया है, उत्तरार्द्ध में वह त्वष्टा द्वारा सूर्य को काट-छाँट कर छोटा करने के विवरण से मेल नहीं खाता। उत्तरार्द्ध में सूर्य शब्द केवल सूर्य-बिम्ब को सूचित करता है। उसके तेज-शकलों से चक्र, शूल आदि का निर्माण भी इसकी पुष्टि करता है। प्राकृतिक तत्त्वों के भौतिक रूप का यह अधमानवीकरण भारतीय देवशास्त्र की प्रमुख विशेषता है। अग्नि, चन्द्रमा एवं वायु आदि के विषय में भी बिलकुल यही बात है। यहाँ स्मरणीय है कि विवस्वान् एवं संज्ञा की कथा अपने मूल रूप में बृहद्देवता ७।१-७ में भी पाई जाती

---

१. देखिये ब्रह्म पु० ९७ अध्याय (संपूर्ण)। यहाँ सूर्य की पत्नी का नाम उषा है— (**तस्य पत्नी उषा ख्याता त्वाष्ट्री त्रैलोक्यसुन्दरी, दुष्प्रेक्षं तं स्वकं कान्तं ध्यायन्ती निश्चला उषा। ३,१२**)। निम्नलिखित श्लोक पर भी ध्यान दीजिये—

धावन्तीं तां प्रियामश्वामश्वरूपधरः स्वयम् ।
पर्यधावद् यतो याति उषा भानुस्ततः ततः ॥२८॥

सूर्य के तेज का विशकलन पश्चिम दिशा में प्रभास क्षेत्र के निकट (सोमनाथ के समीप) हुआ था जो निश्चित रूप से सायंकाल में सूर्य की तेजहीनता की ओर संकेत करता है।

इस कथा की विस्तृत व्याख्या **अश्विनौ** तथा **प्रजापति** के विवरण में देखिये।

है तथा इसके संकेत ऋग्वेद में भी है पर **बृ० दे०** की कथाओं में केवल अश्विनौ के जन्म तक वर्णन है; उसमें त्वष्टा के द्वारा सूर्य के तेज के खंडन का उल्लेख नहीं है।

महा० वन० ३०६।५ में कहा गया है कि वैसे तो सूर्य तेजपिण्ड मात्र हैं किन्तु दिव्यदृष्टि वालों को वे कवच-कुण्डलधारी पुरुष के रूप में दिखाई पड़ते हैं। **विष्णु पुराण** (४।१३।६५) में देव रूप में सूर्य की कुछ शारीरिक विशेषताओं का वर्णन किया गया है। सत्रजित् की स्तुति से प्रसन्न होकर सूर्यभगवान् नीचे आते हैं और तब वह उन्हें नाटे कद के, अत्यन्त उज्ज्वल, किंचित् ताम्र-वर्णा तथा पीले नेत्रों वाले पुरुष के रूप में देखता है—

ततस्तम् आताम्रोज्ज्वलं ह्रस्ववपुषम् ईषद् आपिंगलनयनम् आदित्यमद्राक्षीत्।

सूर्य का यह दैवी रूप महाभारत के अनेक प्रसंगों में प्रस्फुटित हुआ है। यहाँ वे एक भक्त-वत्सल, उदार तथा दानी देवता के रूप में सामने आते हैं। **वन० पर्व** के तृतीय अध्याय में वन जाते हुए युधिष्ठर अपने जीवन-यापन के लिये सूर्य की स्तुति करते हैं। सूर्य प्रसन्न होकर उन्हें एक अक्षयपात्र प्रदान करते हैं जिससे पाण्डव मनचाहा भोजन प्राप्त कर सकते हैं (३।७२)। विराट् पर्व में दुरात्मा कीचक से त्रस्त द्रौपदी जब सूर्य की स्तुति करती है तो वे उसकी रक्षा के लिये एक राक्षस को नियुक्त कर देते हैं। (१५।१६-२०)।

महाभारत में सूर्य-देव की मानव सन्तानों का भी वर्णन है। **आदि०** १११ तथा **वन०** ३०७।२८ में सूर्य के तेज से कुन्ती के गर्भ द्वारा अपरिमित पराक्रमी वीर कर्ण के जन्म का उल्लेख है। कुन्ती राजा कुन्तिभोज की पुत्री थी। दुर्वासा ऋषि को प्रसन्न करके उसने एक ऐसा मंत्र प्राप्त किया था जिसके द्वारा पुत्र प्राप्ति के लिये किसी भी देवता का आह्वान किया जा सकता था। परीक्षा लेने के लिये उसने सूर्य को बुलाया और उनके संयोग से उसके कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। गंगा में स्नान करके अर्घ्य देते हुए कर्ण और सूर्य की प्रत्यक्ष बातचीत हुआ करती थी (वन० ३०१।१-१०)। सूर्य को अत्यधिक पुत्र वत्सल बताया गया है। इन्द्र जब छल से कर्ण से कवच कुण्डल मांगने का विचार करते हैं तो सूर्य कर्ण को स्वप्न में सावधान करते हैं (वन० ३००।१०-२०)। आदि पर्व १७२।१-५ में सूर्य की एक अन्य सुन्दरी कन्या **तपती** का उल्लेख है जिसे वे वसिष्ठ की प्रार्थना पर राजा संवरण को प्रदान कर देते हैं (आदि १७२।२६)।

सूर्य देव को विविध प्रकार की विद्याओं का अधिष्ठाता माना गया है। इस सम्बन्ध में महर्षि वैशम्पायन के शिष्य याज्ञवल्क्य द्वारा सूर्य से शुक्ल यजुर्वेद प्राप्त करने की कथा महाभारत **शान्ति०** **३१८।६-१२** तथा ३६३ अ०, **विष्णु पु०** ३।५।१-२१ तथा **भागवत०** १२।६।६१-७३ आदि में प्रसिद्ध है। इसके अनुसार एक बार वैशम्पायन ने अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से अप्रसन्न होकर कहा कि तुमने जो कुछ भी मुझसे पढ़ा है वह छोड़ कर चले जाओ—

ततः क्रुद्धो गुरुः प्राह याज्ञवल्क्यं महामुनिम्।
मुच्यतां यत् त्वयाधीतं मत्तो विप्रावमानक॥ **विष्णु० ३।५।८**

याज्ञवल्क्य रुधिर से भरे मूर्तिमान् यजुर्वेद को उनके सामने ही वमन करके चले गये और नये यजुर्मन्त्रों की प्राप्ति के लिये त्रयीमयात्मक सूर्य की स्तुति करने लगे (**ऋग्यजुःसामभूताय त्रयीधाम्ने च ते नमः**; विष्णु० ३।५।१५)। सूर्य अश्व (वाजी) का रूप धारण करके आये और याज्ञवल्क्य को उन मन्त्रों का उपदेश दिया जो उनके गुरु को भी ज्ञात नहीं थे। वाजि रूपी सूर्य से उपदिष्ट होने के कारण उन मन्त्रों की संहिता वाजसनेयी संहिता कहलाई—

एवमुक्तो ददौ तस्मै यजूंषि भगवान् रविः।
अयातयाम संज्ञानि यानि वेत्ति न तद्गुरुः॥
....वाजिनस्ते समाख्याताः सूर्योऽप्यश्वोऽभवद्यतः॥

विष्णु० ३।५।२७, २८।

इसी प्रकार **रामायण** में सूर्य बालक-हनुमान् को सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करने का वर देते हैं (उत्तर० ३६।१४)—

यदा तु शास्त्राण्यध्येतुं बुद्धिरस्य भविष्यति।
तदास्य शास्त्रं दास्यामि येन वाग्मी भविष्यति॥

और बड़े होने पर हनुमान् उदय से अस्त तक उनके पीछे जाते हुए व्याकरण तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन करते हैं—

असौ पुनर्व्याकरणं ग्रहीष्यन् सूर्योन्मुखः पृष्ठगमः कपीन्द्रः।
उद्यद्गिरेरस्तगिरिं जगाम ग्रन्थं महद् धारयनप्रमेयः॥

उत्तर० ३६।४५

ऋग्वेद १।१६४।२ में सूर्य के एक चक्र वाले रथ का वर्णन है जिसमें तीन

नाभियाँ हैं और जो सात नामों वाले अश्व के द्वारा खींचा जाता है, जो अजर एवं अमर है तथा जिसमें सम्पूर्ण प्राणी निवास करते हैं—

सप्त युंजन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिणाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ।।

मत्स्य पु० १२५।३८ (तथा आगे) **वायु०** ५१।६०-७६, तथा **भागवत०** ५।६१।१३ आदि में इस रथ की प्रतीकात्मक व्याख्या की गई है। गायत्री, त्रिष्टुप् आदि सात वैदिक छन्द ही सूर्य के सात अश्व हैं **(यत्र हयाश्छन्दोनामानः सप्तारुणयोजिताः वहन्ति देवमादित्यम्; भाग० ५।२१।१५)**। संवत्सर ही उनके रथ का एक चक्र है। उसमें मास रूपी बारह अरे हैं। ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर उसकी तीन नाभियाँ हैं और छः ऋतुएँ ही उसकी नेमियाँ हैं, आदि—

यस्यैकं चक्रं द्वादशारं षण्नेभि त्रिणाभि संवत्सरात्मकम्
आमनन्ति । **भाग० ५।२१।१३**

मत्स्य पुराण में सूर्य के इस तीव्रगामी, एक सहस्र रश्मियों से भासमान तथा सात घोड़ों से युक्त रथ का सुन्दर वर्णन है जिससे वे मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए दिन और रात का विभाजन करते हैं—

सूर्यः सप्ताश्वयुक्तेन रथेनामितगामिना ।
श्रिया जाज्वल्यमानेन दीप्यमानैश्च रश्मिभिः ।।
उदयास्तगचक्रेण मेरुपर्वतगामिना ।।
सहस्ररश्मियुक्तेन भ्राजमानेन तेजसा ।
चचार मध्ये लोकानां द्वादशात्मा दिनेश्वरः ।।

मत्स्य० १७३।२१-२३

मत्स्य पु० के उपर्युक्त उद्धरण में सूर्य का 'द्वादशात्मा' विशेषण मननीय है। **श० ब्रा०** १६।६।३।८ में कहा गया है कि १२ मास ही द्वादश आदित्य हैं। इसकी पुराणों में (**विष्णु पु०** २।१०) इस प्रकार व्याख्या की गई है कि सूर्य का रथ प्रतिमास विभिन्न आदित्यों से अधिष्ठित होता है। उदा० चैत्र मास में धाता-आदित्य, क्रतुस्थला-अप्सरा, पुलस्त्य-ऋषि, रथभृत्-यक्ष, तथा तुंबुरु-गन्धर्व उनके रथ पर विराजमान रहते हैं। क्रमशः अन्य मासों में अर्यमा, मित्र, वरुण, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, अंश तथा त्वष्टा आदि आदित्य उनके रथ के अधिष्ठाता होते हैं। इसी प्रकार अप्सराओं, ऋषियों, यक्षों तथा गन्धर्वों में भी परिवर्तन होता रहता है।

भागवत॰ ५।२२।३ में कहा गया है कि सूर्य वेद-स्वरूप हैं। उनका शरीर त्रयीमय है। वे साक्षात् नारायण हैं जो लोक कल्याण के लिये अपने शरीर को (द्वादश आदित्य रूपी) बारह भागों में विभक्त करके विभिन्न ऋतुओं का विभाजन करते हैं—

स एष भगवानादिपुरुष एव साक्षान्नारायणो लोकानां स्वस्तये आत्मानं त्रयीमयं कर्मविशुद्धिनिमित्तं कविभिरपि च वेदेन विजिज्ञास्यमानो द्वादशधा विभज्य षट्सु वसन्तादिषु ऋतुषु यथोपजोषम् ऋतुगुणान् विदधाति।

संभवतः पूर्व समुद्र के जल से उत्पन्न होने और पश्चिम समुद्र के जल में ही लीन हो जाने के कारण ही सूर्य को नारायण कहा गया है। **मत्स्य॰ १६५।१** सूर्य को योगी, सत्त्वमूर्ति तथा विभावसु भी कहा गया है—

भूत्वा नारायणो योगी सत्त्वमूर्तिविभावसुः।

विष्णु पु॰ २।८।५६ सूर्य को विष्णु के अंश से उत्पन्न अविकारी ज्योति कहता है—

वैष्णवोंऽशऽपरः सूर्यो योऽन्तर्ज्योतिरसंप्लवम्।

यजुर्वेद ३।१६ में कहा गया है कि रात्रि के समय अग्नि सूर्य के तेज से संयुक्त रहता है— **सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसा अगथाः समृषीणां स्तुतेन।** इसी आधार पर **मत्स्य पु॰ १२७।१०, ११** में कहा गया है कि रात्रि के समय सूर्य के तेज का चतुर्थांश अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है और दिन में अग्नि का चतुर्थांश सूर्य में। इसीलिये दिन में अग्नि प्रभाहीन रहती है किन्तु रात्रि में अत्यधिक भासमान होती है—

प्रभा सौरी तु पादेन अस्तं याति दिवाकरे।
अग्निमाविशते रात्रौ तस्मादग्निः प्रकाशते॥
उदिते तु पुनः सूर्ये ऊष्माग्नेस्तु समाविशेत्।
पादेन तेजसश्चाग्नेः तस्मात् सन्तपते दिवा॥

सूर्यग्रहण का सर्व-प्राचीन स्पष्ट उल्लेख **ऋग्वेद ५।४०।५-८** में ही प्राप्त होता है जहाँ कहा गया है कि स्वर्भानु नामक असुर ने सूर्य को अन्धकार से आवृत करके छिपा दिया—

यत् त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा अविध्यद् असुरः।

तै० सं० २।१।२ तथा **श० ब्रा०** ५।३।२।२ में इस सम्बन्ध में एक कथा का वर्णन किया गया है कि एक बार स्वर्भानु ने सूर्य पर आक्रमण करके उसे अन्धकार से आवृत कर दिया। तब सोम (चन्द्रमा) एवं अग्नि ने अन्धकार को दूर करके सूर्य को पुनः प्रकाशित किया। यह स्वर्भानु पौराणिक देवशास्त्र में राहु है। **रामा० उत्तर०** ३५।३१ आदि में इसका उल्लेख है। **महा० आदि०** १९।५ में कहा गया है कि स्वर्भानु राक्षस अमृत मंथन के अवसर पर देवता का रूप धारण करके अमृत पी रहा था कि सूर्य एवं चन्द्र ने इस भेद का उद्‌घाटन कर दिया। विष्णु ने उसका सिर काट डाला। आज भी वह अपने पुराने वैर का बदला लेने के लिये सूर्य-चन्द्रमा को ग्रसता है।

उपर्युक्त कथा से पुनः सूर्य का दैवी तथा भौतिक रूप एक साथ स्पष्ट होता है। वस्तुतः सूर्य का अत्यधिक मानवीकरण होने पर भी उसके भौतिक, तेजस्वी-स्वरूप को आँखों से ओझल करना नितान्त असम्भव था। यही कारण है कि सूर्य को अर्घ्य देते समय जहाँ उपासक उन्हें 'भक्तवत्सल' तथा 'कुंडलांगदभूषित' कहता है वहीं उन्हें 'सहस्ररश्मि' तथा 'विश्वरूप' नामों से भी संबोधित करता है—

नमस्ते विश्वरूपाय नमस्ते विश्वरूपिणे।
सहस्ररश्मये नित्यं नमस्ते सर्वतेजसे॥
नमस्ते रुद्रवपुषे नमस्ते भक्तवत्सल।
पद्मनाभ नमस्तेऽस्तु कुंडलांगदभूषित।
नमस्ते सर्वलोकेषु सुप्तांस्तान् प्रतिबुध्यसे॥

पद्म पु० २०।१७२-७४

पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों के लिए प्राणस्वरूप होने के कारण ऋग्वेद में सूर्य को स्थावर-जंगम की आत्मा कहा गया है (ऋ० १।११५।१)। ऊपर उद्‌धृत **बृहद्देवता** (१।६१,६२) के दो श्लोकों में भी सूर्य की ऐसी ही धारणा है। पुराणों में आकर सूर्य के प्रजापतित्व की धारणा और अधिक विकसित हुई। उन्हें पृथ्वी आदि लोकों का कर्ता, सत् एवं असत् पदार्थों का उत्पादक, चर एवं अचर पदार्थों का स्वामी एवं प्राणियों की आत्मा कहा गया है और इसी रूप में ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में उनकी उपासना समस्त भारत में प्रचलित हुई। **महा० वन०** ३।१५-७२ में युधिष्ठिर सूर्य की स्तुति करते हुए उन्हें जगत् का चक्षु तथा प्राणियों की आत्मा कहते हैं—

त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम्।

यही नहीं, परब्रह्म के व्यक्त रूप होने के कारण वे समस्त प्राणियों के मूल कारण तथा योगियों, ज्ञानियों एवं मुमुक्षुओं की अन्तिम गति भी हैं—

त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम् ।
त्वं गतिः सर्वसांख्यानां योगिनां त्वं परायणम् ।
अनावृतार्गलाद्वारं त्वं, गतिस्त्वं मुमुक्षताम् ॥
महा० वन० ३।१५, १६ ।

भागवत० ५।२०।४६ में भी सूर्य को देवता, पशु, पक्षी, मनुष्य तथा उद्भिज्ज जगत की आत्मा माना गया है—

देवतिर्यङ् मनुष्याणां सरीसृपसवीरुधाम् ।
सर्वजीवनिकायानां सूर्य आत्मा दृगीश्वरः ॥

ऋग्वेद में प्रजापति विश्वकर्मा के लिये कहे गये **"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः"** (१०।८१।३) की पृष्ठभूमि पर सूर्य को प्रजापति सिद्ध करने वाले ब्रह्मपुराण के ये श्लोक देखिये :—

देवोऽसौ विश्वतश्चक्षुर्यो देवो विश्वतोमुखः ।
यो रश्मिभिस्तु धमते दिव्यं यो जनको मतः ॥
स सूर्य एक एवात्र साक्षाद्रूपेण सर्वदा ।
स्थितिं करोतु तन्मूर्तौ भविष्यन्त्यखिला स्थिताः ॥
ब्रह्म० पु० ११०।४१-४२

सूर्य के इस उत्कर्ष के कारण कोई आश्चर्य नहीं यदि उन्हें पद्म पुराण में (सृष्टिखण्ड, ७५।३-२०) ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र एवं अग्नि, वायु आदि का भी कारण एवं 'ब्रह्म के स्वरूप से प्रकट उनका ही उत्कृष्ट तेज' बता दिया गया है। सूर्य प्रत्यक्ष देवता हैं। विष्णु, शिव आदि के दर्शन सबको नहीं हो सकते, केवल हृदय में उनका साक्षात्कार होता है। किन्तु सूर्य भगवान् सबको मूर्त रूप में सदा दिखते हैं। ये चराचर जगत् में सर्वत्र व्याप्त हैं और उनके अतिरिक्त संसार में और कुछ नहीं है—

त्वं च ब्रह्मा त्वं च विष्णू रुद्रस्त्वं च जगत्पते ।
त्वमग्निः सर्वभूतेषु वायुस्त्वं च नमो नमः ॥
सर्वगः सर्वभूतेषु न हि किंचित् त्वया विना ।
चराचरे जगत्यस्मिन् सर्वदेहे व्यवस्थितः ॥

वरुण

ऋग्वेद के देवों में आदर एवं मान की दृष्टि से सम्राट् वरुण सर्वोत्कृष्ट पद के भागी हैं। यद्यपि ऋग्वेद में इन्द्र के लिये सर्वाधिक सूक्त कहे गये हैं और उनके क्रिया कलापों का, विशेषतः सोमपान एवं वृत्रहनन का अत्यन्त विस्तार से वर्णन है किन्तु नैतिक दृष्टि से वरुण का स्तर इन्द्र से कहीं अधिक ऊँचा है। वे एक परम शक्तिशाली, निश्चित नियमों के पालन करने और करवाने वाले, बुद्धिमान् सम्राट् हैं और सभी देवता उसके व्रतों (नियमों) का पालन करते हैं।

निरुक्तकार ने कहा है **'वरुणो वृणोतीति सत:'** (निरुक्त १०।४)—सबको आच्छादित कर लेने के कारण उन्हें वरुण कहते हैं। **गोपथ ब्राह्मण** १।७ में भी वरुण शब्द की यही व्युत्पत्ति प्राप्त होती है—**यच्च वृत्वा अतिष्ठत् तद् वरुणो अभवत्। तं वा एत वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण।** 'वृ—आच्छादने' धातु से बना यह शब्द सम्भवतः मूल रूप में आकाश के विशाल विस्तार का द्योतक था। मनुष्य के नेत्रों की सीमा से भी आगे सुदूर क्षितिज के पार तक विस्तृत आकाश ने ही प्राचीन आर्यों के हृदय में वरुण जैसे सर्वदर्शी, सर्वज्ञ एवं मनुष्य की प्रत्येक क्रिया पर दृष्टि रखने वाले, दैवी शासक वरुण की कल्पना को जन्म दिया। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् रोठ का मत है कि वरुण विशेषतः रात्रि के आकाश से सम्बन्धित थे। रात्रि में प्रकाश के अभाव के कारण नेत्रों की दर्शन शक्ति सीमित हो जाती है। तब आकाश सिमट कर छोटा प्रतीत होने लगता है और वरुण तथा उसके उपासकों में और अधिक सामीप्य की भावना आ जाती है[1]। रोठ के इस मत में सत्य का कुछ अंश अवश्य प्रतीत होता है। क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में मित्रावरुणौ का क्रमशः दिन और रात्रि से बार-बार संबन्ध बताया गया है—उदाहरणार्थ **ऐ० ब्रा०** ४।२।४ में कहा गया है कि मित्र दिन है और वरुण रात्रि (**अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुण उभे वा एषोहोरात्रे**) और **तै० सं०** २।१।७ का कथन है कि दिन मित्र से संबन्धित है तथा रात्रि वरुण से। अतः मित्र के लिये श्वेत तथा वरुण के लिये कृष्ण पशु का आलभन करना चाहिये (**मैत्रं वा अहर्वारुणी रात्रिः....मैत्रं श्वेतमालभेत वारुणं कृष्णम्........**)[2]।

---

१. देखिये, **त्साइटश्रिफ़्ट डेअर मार्गेनलैन्डिशेन गेज़ेलशाफ़्ट**—भाग ६ पृ० ७०।

२. इस संबन्ध में **श० ब्रा०** ५।२।५।१७ का भी कथन महत्त्वपूर्ण है जिसके अनुसार प्रत्येक काली वस्तु वरुण की है।

सायण भी **ऋ० वे० ७।८७।१** के भाष्य में कहते हैं कि अस्तंगत सूर्य ही वरुण कहलाता है (**अस्तंगच्छन् सूर्य एव वरुण उच्यते......**)। पर इतना होने पर भी वरुण की क्रियाशीलता रात्रि तक ही सीमित नहीं है, वे प्रमुखतः आकाश के ही देवता है।

वरुण तथा उनके ग्रीक एवं ईरानी प्रतिरूप क्रमशः ऊरानॅस् तथा अहुरमज़्दा का प्रथम एवं द्वितीय अध्यायों में विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। वैदिक देवमण्डल में केवल वरुण के लिये ही मुख्यतः राजा या सम्राट् शब्द का प्रयोग हुआ है (ऋ० वे० १।२७।७, ८;४।१।२;५।४०।७ आदि)। २।२७।१० में कहा गया है कि वरुण समस्त प्राणियों का राजा है, चाहे वे देवता हों, चाहे असुर या मनुष्य (**त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवाः असुरा ये च मर्त्याः**)। ५।८५।३ में उसे संपूर्ण भुवन का राजा (**विश्वस्य भुवनस्य राजा**) तथा ७।८७।६ में समस्त सत् पदार्थों का स्वामी (**सतो अस्य राजा**) कहा गया है। राजा के रूप में किसी पर आश्रित न होने के कारण वह **स्वराट्** (२।२८।१) है।

वरुण का नैतिक पक्ष तथा क्रियाशीलता ही ऋग्वेद के कवियों के समक्ष मुख्यतः वर्ण्य रही है। अतः उनकी शारीरिक विशेषताओं तथा आकार-प्रकार का अपेक्षाकृत बहुत कम उल्लेख है। वरुण के नेत्र का प्रायः उल्लेख हुआ है। इससे वरुण कर्म करते हुए मनुष्यों को देखते हैं (**येन पावक चक्षुषा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि १।५०।६**)। बहुत दूर तक देख सकने के कारण वरुण की एक उपाधि 'उरुचक्षस्' भी है (**मृलीकायोरुचक्षसम् १।२५।५**)। वरुण का यह नेत्र और कुछ नहीं, सूर्य ही है क्योंकि ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर सूर्य को वरुण या मित्रावरुण का नेत्र बताया गया है (**उद् वां चक्षुर्वरुण सुप्रतीकं देवयोरेति सूर्यस्ततन्वान्**, ७।६१।१। **नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे......... दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत**, १०।३७।१)। वरुण सुनहले रंग की एक चादर (द्रापि) ओढते हैं और चमकीले वस्त्र धारण करते हैं (**विभ्रद् द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त्र निर्णिजम्**, १।२५।१३)। **श० ब्रा०** में वरुण को एक गौरवर्ण, स्वर्णाकृति, खल्वाट एवं पिंगलाक्ष व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है (**साक्षादेव वरुणमवयजते शुक्लस्य खलतेः विक्लियस्य, पिंगाक्षस्य मूर्धनि जुहोति**, श० ब्रा० १३।३।६।५)।

वरुण के निवास स्थान का भी ऋग्वेद में प्रायः वर्णन मिलता है। उनका प्रासाद स्वर्णमय है और वह सर्वोच्च आकाश में बना हुआ है (**आ यद्योनिं हिरण्ययं वरुण मित्र सदथः**, ५।६७।२; **तिष्ठथो रथं\`\`\`परमे व्योमनि** ५।६३।१)।

उनका भवन अत्यन्त विशाल है और वह सहस्रों स्तंभों (स्थूणों) पर आधृत है **बृहन्तं गर्तमाशाते, ५।६८।५; सहस्रस्थूण आसाते, २।४१।५)**। अपने इसी भवन में बैठकर वे जगत् के सम्पूर्ण कार्यों का निरीक्षण करते हैं (**अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति १।२५।११**)। सायंकाल सूर्य भी जगत् के कार्यों का विवरण देने के लिये उनके घर जाता है (७।६०।१)।

वरुण ने संसार के पालन के लिये कुछ निश्चित नियमों (व्रतानि) का निर्माण किया है और संसार की प्रत्येक क्रिया इन्हीं नियमों से नियन्त्रित है। उनके व्रतों के ही कारण पृथ्वी एवं आकाश अपने-अपने स्थान पर स्थित है। (**अस्तम्नात् द्यामसुरो विश्ववेदा अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः। आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राट् विश्वेतानि वरुणस्य व्रतानि,** ८।४२।१ तथा ६।७०।१ आदि)। उन्होंने ही सूर्य को द्युलोक में स्थापित करके प्रकाशित किया है (७।८६।१, ८।४१।१० आदि) और आकाश में विचरण करने का मार्ग निर्धारित किया है (**उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ, १।२४।८**)। साथ ही उन्होंने ही मनुष्यों के हृदयों में सद्विचार, जल में अग्नि तथा पर्वतों में सोम को भी स्थापित किया है। (**हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्सु अग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ,** ५।८५।२)। अपने नियमों से राजा वरुण संसार का पालन करते हैं (**ऋतेन विश्वा भुवना विराजथः** ५।६३।७) और उनके नियम वहाँ तक व्याप्त हैं जहाँ तक सूर्य के घोड़े भी नहीं जा सकते। (**ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान् ५।६२।१**)।

वरुण का प्रभाव तथा माहात्म्य इतना अधिक व्यापक है कि आकाश में उड़ने वाले पक्षी तथा दूरगामिनी सरिताएँ भी उनके साम्राज्य की सीमा, बल तथा क्रोध का पार नहीं पा सकतीं (**न हि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्चनामी पतयन्त आपुः। नेमा आपो अनिमिषं चरन्ती....१।२४।६**)।

वरुण में सम्पूर्ण प्राणियों सहित समस्त भुवन निवास करते हैं (**परि धामानि मर्मृशद् वरुणस्य पुरो गये,** ८।४८।७ आदि) वरुण सर्वज्ञ हैं। वे आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की स्थिति को तथा समुद्र में चलते हुए पोतों की गति को जानते हैं। जो कुछ भी इस संसार में हो चुका है या होगा वरुण को उन सब का ज्ञान है (**वेदा यो वीनां पदम् अन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः, १।२५।७॥ अतो विश्वानि अदभुता चिकित्वाँ अभिपश्यति। कृतानि या च कर्त्वा, १।२५।११**)।

वरुण के नियम पूर्णतः स्थिर एवं अनतिक्रम्य हैं। इसीलिये वरुण के लिये प्रायः **धृतव्रत** विशेषण का प्रयोग हुआ है। मित्र और वरुण प्रकृति के नियम ऋत के पोषक तथा रक्षक (ऋतावृधौ, १।२३।५) हैं। देवता तक मित्र और वरुण के बनाये नियमों का पालन करते हैं और उनको तोड़ने का साहस नहीं कर सकते (**न वां देवा अमृता आ मिनन्ति व्रतानि मित्रावरुणा ध्रुवाणि, ५।६९।४, विश्वेदेवा अनु व्रतं, ८।४१।४**)। उनके व्रतों का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति वरुण का कोपभाजन बनता है (७।८६।३,४)। नैतिकता तथा सत्कर्मों के सर्वोत्कृष्ट परिपालक होने के कारण वरुण पापियों को, विशेषतः असत्य-वक्ताओं को कड़ा दण्ड देते हैं। ऐसे व्यक्तियों को वे अपने पाशों से बाँध लेते हैं, जो सात-सात शृंखलाओं से बने हुए हैं और तीन प्रकार के हैं (**ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः। सिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तः यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु;** अ० वे० ४।१६।६)। **ऋ०** ।६५।३ में मित्र और वरुण को पाश धारण करने वाले, अनृत का दमन करने वाले तथा दुष्ट मनुष्यों के शत्रु कहा गया है। वरुण के ये पाश रस्सियों से नहीं बने हैं फिर भी प्राणी इनमें पूर्णतः जकड़ जाता है (७।८४।२)। ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर वैदिक कवियों की वरुण के प्रति यह प्रार्थना प्राप्त होती हैं कि वे हमें अपने पाशों से छुड़ायें (**प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशात्, ६।७४।४; उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत** १।२५।२१ आदि)।

वरुण स्वयं तो सर्वज्ञानी (चिकित्वान्) हैं ही साथ ही उनके कुछ दूत या गुप्तचर भी हैं। ये आकाश से उतरकर भूमि पर विचरण करते हैं और अपनी सहस्रों आँखों से सब कुछ देख लेते हैं (**दिवः स्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अभि पश्यन्ति भूमिम्**, अ० वे० ४।१६।४)। इन बुद्धिमान् चरों को कोई धोखा नहीं दे सकता (**सन्ति स्पशो अदब्धासो अमूराः**, ऋ० ६।६७।५)।

वरुण को ऋग्वेद में प्रायः असुर या शक्तिशाली कहा गया है। अपनी माया या रहस्यात्मक शक्ति से वे जगत् का पालन करते हैं, 'सूर्य से पृथ्वी को नापते हैं' और उसे मेघाच्छन्न करवा कर मधुबिन्दुओं की वर्षा करवाते हैं (**इमामूष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्रवोचम्........वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण। तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते;** ५।८५।५ तथा ५।६३।४)।

वरुण का जल से विशेष सम्बन्ध है। **ऋ० वे०** के पंचम मंडल का सम्पूर्ण ६३ वाँ सूक्त उनकी जलवर्षण शक्ति का वर्णन करता है। **ऋ०** ७।६४।२ में मित्रावरुण को सिन्धुपती--नदियों या समुद्र के स्वामी—कहा गया है। वरुण समुद्र के जल में विचरण करते हैं (**अद्भिर्याति वरुणः समुद्रैः,** १।१६१।१६)। वरुण ने ही समुद्र को चारों ओर से वेलाबद्ध किया है (**अव सिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्थात्,** ७।८७।६)। सातों नदियाँ वरुण के विशाल मुख (समुद्र) में जाकर गिरती हैं (८।६९।१२)। एक स्थान पर नदियों को वरुण के वस्त्र बताया गया है (**वना वसानो वरुणो न सिन्धून्,** ९।९०।२)। प्रतीत होता है कि वरुण से सम्बन्धित जल एवं समुद्र मुख्यतः अन्तरिक्षगत हैं। आपस् सूक्त (७।४९) में कहा गया है कि अन्तरिक्ष में वर्तमान जलों के बीच में उनके राजा वरुण मनुष्यों के कर्मों का अवलोकन करते हुए विचरण करते हैं (**यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्, ऋचा ३**)। वरुण अपने कबन्ध (या मशक) को उलटा करके पृथ्वी पर पानी बरसाते हैं (**नीचीनवारं वरुणः कबन्धं प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्....उनत्ति भूमिं पृथिवीमुत द्याम्.... ५।८५।३,४**) **ऋ०** ८।४१।८ में वरुण के समुद्र का आकाश से स्पष्ट संबन्ध बताया गया है ((**स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति**)। आकाश में रहने वाले वरुण का अन्तरिक्ष के जलों से सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही है[1]।

वर्षा जल से इसी सबन्ध के कारण संभवतः वरुण को सौ अथवा सहस्र ओषधियों का स्वामी कहा गया है और उनसे मृत्यु तथा कष्ट को दूर रखने की प्रार्थना की गई है (**शतं ते राजन् भिषजः सहस्रम् उर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु। बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिद् एनः प्रमुमुग्धि अस्मात्** १।२४।९)। **ऋ० १।२४।११** का कवि वरुण से प्रार्थना करता है कि वे उसकी स्तुति को स्वीकार करें और अप्रसन्न होकर उसकी आयु क्षीण न करें (**अहेलमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्रमोषीः**)।

अथर्ववेद में भी वरुण के विषय में पर्याप्त नवीन मन्त्र प्राप्त होते हैं। वरुण शब्द लगभग **१५०** बार अथर्ववेद में आया है। उनके लिये यहाँ **शतवृष्ण्य** (अत्यन्त शक्तिशाली या सैकड़ों कामनाओं को पूर्ण करने वाले, अ० वे० १।३।३)

---

१. वरुण के जल से संबन्ध की विशिष्ट व्याख्या के लिये देखिये—
Heinrich Lüders : *Varuṇa*, Vol. I (Varuṇa und die Wasser), Göttingen 1951.

असुर, उग्र (अ० वे० १०।१०।२), **सत्यधर्मा** (निश्चित नियम वाले, अ० वे० १।१०।३), **इषिर** (प्राणवान्, अ० वे० ५।१।६) तथा **दिवः कविः** (अ० वे० ५।१३।१) आदि विशेषण प्रायः प्रयक्त हुए हैं। अथर्ववेद में वरुण की महत्ता को सर्वाधिक सशक्त शब्दों में व्यक्त करने वाला सूक्त ४।१६ है जो समस्त वैदिक साहित्य में अद्वितीय है। इस संसार के पालक वरुण सभी मनुष्यों को अत्यन्त समीप से देखते हैं। छिप कर भी यदि कोई कुछ करता है तो वे उसे भी जानते हैं। बैठे, चलते, छिपे हुए या किसी गुप्त स्थान में स्थित मनुष्य को भी वे जानते हैं। जहाँ पर दो व्यक्ति छिप कर मंत्रणा करते हैं वहाँ एक तीसरे व्यक्ति वरुण उपस्थित रहते हैं—

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।
यस्तायन्मन्यते चरन् सर्वं देवा इदं विदुः॥
यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतंकम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मंत्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः॥

अ० वे० ४।१६।१,२

पृथ्वी और आकाश के अन्दर जो कुछ भी है उस सब को वरुण जानते हैं। यहाँ तक कि प्राणियों के निमेष तक उनकी गिनती में रहते हैं (४।१६।५, **संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्**) आकाश में उड़ने वाला भी वरुण के पाशों से नहीं बच सकता। उनके दूत सब जान लेते हैं (४।१६।४)। पृथ्वी और अन्तरिक्ष के समुद्र वरुण की कुक्षि हैं। किन्तु वे थोड़े से जल में भी अपने को सीमित कर लेते हैं (**उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी, उतास्मिन्नल्प उदके विलीनः** ४।१६।३)।

वरुण को राजा माने जाने के कारण (३।४।५,६) अथर्ववेद में राज्य तथा राजत्व की प्राप्ति के लिये अनेक ऐन्द्रजालिक मंत्रों में वरुण का आह्वान किया गया है (उदा० ६।८८।२ तथा ३।५।४)। राज्य से भ्रष्ट राजा को सन्तुष्ट होने पर वरुण पुनः राज्य दिलवाते हैं (३।३।३)।

अ० वे० १०।६।४४ में शत्रु के लिये आभिचारिक मंत्रों से युक्त जल को चारों दिशाओं में फेंकने का विधान है। ये जल वरुण के पाश बन कर शत्रु को तथा उसके भोजन एवं प्राणों को आबद्ध कर लेते हैं।

सर्वप्रथम **अ० वे०** में ही वरुण को पश्चिम दिशा का स्वामी कहा गया है इस दिशा से आने वाले सर्पों तथा अन्य आपत्तियों से वे मनुष्यो की रक्षा करते हैं (३।२७।३)।

अ० वे० ७।८३।१ में उनके घर का भी उल्लेख मिलता है। यह घर स्वर्ण निर्मित है और जल में बना हुआ है (**अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः**)।

शुक्ल यजुर्वेद में वरुण के लिये केवल छः पूरे सूक्त प्राप्त होते हैं और इनमें से एक भी नया नहीं हैं। सभी ऋग्वेद से लिये गये हैं। शेष मंत्र अधिक महत्त्व-पूर्ण नहीं हैं। लगता है कि यजुर्वेद में वरुण अपने ऋग्वैदिक महत्त्व को छोड़ चुके हैं। **यजु०** ८।३७ में इन्द्र को 'सम्राट्' तथा वरुण को केवल 'राजा' कहा गया है (**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**)। १०।३० में वरुण को शक्ति या ओजस् का अधिपति कहा गया है और १०।२८ में उनके लिये **सत्यौजाः** विशेषण प्रयुक्त हुआ है। ७।९ में मित्रावरुणौ को ऋतावृधौ भी कहा गया है। वरुण के पाशों का भय अब भी पूजक के हृदय में बना हुआ है। ८।२३ में वह वरुण और उनके पाशों को प्रणाम करता है (**नमो वरुणाय अभिष्ठितो वरुणस्य पाशः**) और २२।१२ में आदित्य (अदिति के पुत्र) वरुण से उन पाशों को शिथिल करने की प्रार्थना की गई है। इस अदिति की कृपा से मनुष्य 'अदिति' (मुक्ति, बन्धन-हीनता; दिति = बन्धन) प्राप्त करता है। वरुण का जल से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। २६।१ में कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि का पृथ्वी से, वायु का अन्त-रिक्ष से, तथा आदित्य (सूर्य) का द्यौः से सम्बन्ध है उसी प्रकार वरुण और आपस् भी परस्पर संसक्त है—

आपश्च वरुणश्च सन्नेते तेमे संनमतामदः।

महाकाव्यों एवं पुराणादिकों में वरुण ऐसे अश्वों के स्वामी के रूप में विख्यात हैं जिनका सारा शरीर श्वेत किन्तु एक कर्ण काला हो। श्रीमद्भागवत ९।१५।६,७ में जब गाधि अपनी पुत्री सत्यवती के विवाह हेतु ऋचीक से कन्या शुल्क के रूप में ऐसे एक सहस्र घोड़े माँगते हैं, तो वे वरुण से ही उनको लाकर देते हैं[1]। इस धारणा का बीज यजु० २९।५८ में खोजा जा सकता है। यहाँ कहा गया है कि सम्पूर्णतया कृष्ण किन्तु एक चरण से श्वेत अश्व वरुण का होता है (**वारुणः कृष्णः एकशितिपात् पेत्वः**)।

कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं में आकर यद्यपि वरुण का वह उत्कर्ष एवं समादर सुरक्षित नहीं रह पाया है जो ऋग्वेद तथा अंशतः अथर्ववेद में प्राप्त

---

१. देखिये आगे पृ० २७०।

होता है किन्तु संक्षेप में उनके स्वरूप की मूल विशेषताएँ लगभग वे ही हैं जो ऋग्वेद में प्राप्त होती हैं। **तै० सं० २।२।६** में कहा गया है कि यदि दो व्यक्ति आपस में कोई समझौता या प्रतिज्ञा करें तो जो उनमें से उसे पहले भग्न करता है उसे वरुण अपने पाशों से जकड़ देते हैं—

यो समभाते तयोर्यः पूर्वो अभिद्रुह्यति तं वरुणो गृह्णाति ॥

तै० सं० ६।६।२ में कहा गया है कि वरुण का वास जल में है अतः वरुण-विषयक अवभृथ-स्नान जल में संपादित किया जाता है। इससे यजमान वरुण को अपने घर में ही सन्तुष्ट करता है।

अपो अवभृथमवैति। अप्सु वै वरुणः। साक्षादेव वरुणमवयजते।

एक अन्य स्थान पर आपः (स्त्रीलिंग) को वरुण की पत्नियाँ बताया गया है (**आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्,** ५।५।४)। तै० सं० २।३।१२ में वरुण का अश्वों से विशेष सम्बन्ध बताया गया है प्रजापति ने वरुण को एक अश्व प्रदान किया। यह उसका प्रमुख पशु है (**प्रजापतिर्वरुणाय अश्वमनयत्। स स्वां देवतामार्च्छत्....**)।

तै० सं० २।३।१३ में वरुण के पाशों का भी उल्लेख है। पापी व्यक्तियों को वे इसी से बद्ध करते हैं—

वरुण एवं वरुणपाशेन गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो भवति।

वरुण के पाशों का उल्लेख **तै० सं० ६।६।३** में भी हुआ है और इसी खण्ड में ऋग्वेद १।२४।९ की भाँति वरुण की अनेक औषधियों का उल्लेख किया गया है।

अब हम ब्राह्मणों पर आते हैं। यहाँ भी वरुण के स्वरूप में कोई उल्लेख-नीय परिवर्तन नहीं है। हाँ यह अवश्य है कि प्रजापति आदि के आगे वरुण एक अत्यन्त सामान्य कोटि के तुच्छ से देवता हैं जिनको समय-समय पर यज्ञ भाग तो दिया जाता है किन्तु अब उनसे भयभीत होने का कोई कारण नहीं रह गया है क्योंकि उनकी सार्वभौम सत्ता कभी की लुप्त हो चुकी है। तथापि उनका नृपत्व अभी सुरक्षित है क्योंकि **श० ब्रा०** १२।८।३।१० में स्पष्ट कहा गया है—**वरुणो वै देवानां राजा।** ब्राह्मणों की धारणा के अनुसार चक्रवर्ती राजा बनने के लिये राजसूय यज्ञ करना नितान्त आवश्यक है। अतः **श० ब्रा० ५।४।३।१** तथा ५।४।३।२१ में कहा गया है कि वरुण ने ही सर्वप्रथम राजसूय यज्ञ किया था और इसीलिये वे देवों के राजा बने—

वरुणाद् ह वा अभिषिषिचानाद्.... । ....वरुणसवो वा एष यद्राजसूयमिति । वरुणो अकरोदिति त्वेवैष एतत्करोति ।।

इसी ब्राह्मण में एक अन्य स्थान (२।२।३।१) पर कहा गया है कि वरुण ने अग्न्याधान के कृत्यों को करके राज्य प्राप्त किया—

वरुणो हैनद् (अग्निं) **राज्यकाम आदधे** (अग्न्याधानं चकार) **स राज्यमागच्छत् । तस्मात् यश्च वेद यश्च न, वरुणो राजेत्येवाहुः ।**

ऐ० ब्रा० में एक राजा के रूप में वरुण को सम्मानास्पद स्थान प्राप्त है। एक छोटा सा प्रसंग है कि एक बार देवों के पारस्परिक अनैक्य के कारण असुरों ने उन्हें बहुत पीड़ित किया। तब देवों ने एकत्र होकर आपस में यह निश्चय किया कि हम लोग अपने-अपने प्रिय शरीर राजा वरुण के पास ग्रहणक के रूप में रख दें और जो छल से विभक्त हो, उसे अपना शरीर कभी प्राप्त न हो—

....ते अब्रुवन् हन्त या एव न इमा प्रियतमाः तन्वः ता अस्य वरुणस्य राज्ञो गृहे संनिदधाम ह एताभिः एव नः स न संगच्छातै यो न एतद् अतिक्रामाद्य आलुलोभयिषाद् इति । ऐ० ब्रा० १।४।७

श० ब्रा० ५।३।३।६ में वरुण को धर्म अथवा नियमों का स्वामी (धर्मपति) कहा गया है। वे सांसारिक नियमों के धारक (धृतव्रत) हैं। उनके बनाये सभी नियम सत्य हैं, तथा वे सत्य के पालक (सत्ययुज्) हैं (५।४।४।१०)। **श० ब्रा०** ५।४।६।३१ में वरुण को **आर्पयिता** या 'हानि पहुँचाने वाला' कहा गया है। यह दण्ड वे उन्हें देते हैं जो उनके नियमों के विरुद्ध कार्य करते हैं।

अ० वे० ३।२७।३ की भाँति **श० ब्रा०** ८।६।१।७ में भी वरुण को पश्चिम दिशा का स्वामी कहा गया है। परवर्ती साहित्य में सर्वत्र वरुण पश्चिम दिशा के दिक्पाल के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

कौषीतकि ब्राह्मण ५।४ तथा १८।४ में कहा गया है कि वरुण का घर जल में है अतः वरुण के लिये जल में ही बलि देनी चाहिए। इससे यजमान वरुण को उनके घर में ही सन्तुष्ट करता है। **श० ब्रा०** ५।३।४।१२ में भी वरुण को जल का स्वामी बताया गया है (**वरुण्या वा एता आपो भवन्ति**)। जल में डूब कर होने वाली अकाल मृत्यु से बचने के लिये वरुण को जौ का चरु दिया जाता

है (**श० ब्रा०** १३।३।८।१) क्योंकि वरुण जिससे अप्रसन्न होते हैं उसकी मृत्यु जल में होती है। **श० ब्रा०** १२।६।२ ४ में जल में पड़ने वाले आवर्त को वरुण का पुत्र अथवा भ्राता कहा गया है (**यो ह वा अयमपामावर्तः····स हैष वरुणस्य पुत्रो भ्राता वा**)। जल की शपथ खाकर पाप करना वरुण के प्रति अपराध है (वहीं)।

वरुण के पाशों का भी ब्राह्मण ग्रंथों में प्राय: उल्लेख मिलता है। जिनसे वे अपराधियों को बाँधते हैं। **कौ० ब्रा०** ५।३ में एक यज्ञिय कथा आती है जिसमें कहा गया है कि एक बार वैश्वदेव यज्ञ के द्वारा प्रजापति ने पुत्र उत्पन्न किये। उन्होंने उत्पन्न होते ही वरुण के यव का भक्षण करना प्रारम्भ कर दिया। वरुण ने अपने पाशों से उन्हें बाँध लिया। तब वे बालक प्रजापति के पास गये और उनसे वरुण को प्रसन्न करने के लिए किसी यज्ञिय कृत्य का आविष्कार करने को कहने लगे। प्रजापति ने **वरुण-प्रघास** इष्टि द्वारा वरुण को प्रसन्न किया। तब वरुण ने उन्हें अपने पाशों से तथा साथ-साथ अन्य संकटों से भी मुक्त कर दिया। श० ब्रा० में यह कथा तो प्राप्त नहीं होती किन्तु ५।२।४।२ में इतना अवश्य कहा गया है कि प्रजापति ने वरुणप्रघासों से सम्पूर्ण प्रजा को वरुण के पाशों से मुक्त करके नीरोग तथा संकटरहित किया—

वरुण-प्रघासैर्वै प्रजापतिः प्रजा वरुणपाशात् प्रामुञ्चत्। ता अस्यानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्राजायन्त।

इसी प्रकार क्रमश: २।५।२।१० तथा ५।२।५।१६ में वरुण के इन पाशों का उल्लेख हुआ है—

(क) **वरुणो ह वा अस्य प्रजा अगृह्णात्। तत्प्रत्यक्षं वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति।**

(ख) **तत् सर्वस्मादेवैत् वरुणापाशाद् सर्वस्माद् वरुण्यात् प्रजाः प्रमुंचति।**

श० ब्रा० ५।३।१।५ में कहा गया है कि अश्व वरुण के अपने पशु हैं (**स हि वारुणो यदश्वः**)। यह कथन शु० य० वे० २६।५८ तथा तै० सं० २।३।१२ की याद दिलाता है जहाँ वरुण का अश्वों से विशेष संबन्ध बताया गया है)। **श० ब्रा०** ८।४।३।१३ में पुनः वरुण को एक शफवाले पशुओं अर्थात् अश्वों का स्वामी कहा गया है (**एकशफाः पशवः असृज्यन्त··· वरुणो अधिपतिरासीत्**)।

श० ब्रा० ५।२।५।१७ में वरुण का काली वस्तुओं से विशेष सम्बन्ध स्थापित

किया गया है। यज्ञ में वरुण के लिये एक काला वस्त्र दक्षिणा है क्योंकि सभी काली वस्तुएँ वरुण की हैं (**कृष्णं वासो वारुणस्य। तद्धि वारुणं यत् कृष्णम्**)। यह वाक्य वरुण के रात्रि से सम्बन्ध की ओर पुनः एक संकेत करता है।

वरुण का मूल प्राकृतिक आधार अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ऋग्वेद में वरुण से सम्बन्धित कोई भी गाथा प्राप्त नहीं होती। ब्राह्मणों में भी सामान्यतः यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। किन्तु **ऐ० ब्रा०** की सप्तम पंचिका के तृतीय अध्याय में वर्णित शुनःशेप की कथा में वरुण प्रमुख पात्र हैं। कथा मुख्यतः उन्हीं के चारों ओर घूमती है[1]। यह कथा ऋग्वेद के प्रथम मंडल के २४ वें सूक्त की व्याख्या में कही गई है और इसमें वरुण का उदार, नियम पालन में कठोर किन्तु साथ ही करुणामय व्यक्तित्व जिस प्रकार उभरा है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इक्ष्वाकु वंशी राजा हरिश्चन्द्र वरुण से कहते हैं कि यदि नरक से उद्धार पाने के लिये उनके एक पुत्र हो जाय तो वे उसी की बलि देकर वरुण को सन्तुष्ट करेंगे (**स वरुणं राजानमुपससार पुत्रो मे जायतां तेन त्वा यजे**)। पुत्र होता है, किन्तु पुत्र-स्नेह के कारण राजा वरुण को टालते रहते हैं और क्रमशः उन्हें दस दिन बाद, बालक के दूध के दाँत निकलने पर, अन्न के दाँत निकलने पर तथा कवच धारण करने के योग्य होने पर आने के लिये कहते हैं। जब उनके पुत्र **रोहित** को यह पता चलता है कि पिताजी मेरी बलि देकर यज्ञ करने वाले हैं तो वह धनुष लेकर वन में चला जाता है। इधर प्रतिज्ञा भंग करने के कारण वरुण हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग से पीड़ित कर देते हैं। यह सुनकर रोहित लौटना चाहता है किन्तु इन्द्र उसे बार-बार रोक देते हैं। अन्त में वह अजीगर्त के पुत्र **शुनःशेप** को अपने स्थान पर बलि देने के लिए खरीद लेता है। वरुण उसकी बलि स्वीकार करने के लिये तैयार हो जाते हैं। पर विश्वामित्र की प्रेरणा से यूप में बद्ध शुनःशेप वरुण की मार्मिक एवं हृदयद्रावी स्तुति करता है जिससे प्रसन्न होकर वरुण उसे छोड़ देते हैं और राजा को भी रोगमुक्त कर

---

१. शुनःशेप की यह कथा ऐ० ब्रा० के अतिरिक्त **शांखायन श्रौतसूत्र** में भी प्राप्त होती है। लाइप्त्सिष् (पू० जर्मनी) के संस्कृत प्रोफेसर डा० फ्रीडरिख वैलर ने दोनों पाठों की तुलना करके उनका पाठ-समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है जिससे कथा के विकास पर भी प्रकाश पड़ता है, द्रष्टव्य—

Friedrich Weller : *Die Legende vom Śunaḥśepa im Aitareya-Brāhmaṇa und Śāṅkhāyanaśrautaśūtra*, Berlin 1956.

देते हैं। हरिश्चन्द्र की इस कथा ने पुराणों में आकर एक नया मोड़ लिया है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

इस कथा में वरुण का मानव रूप अत्यन्त स्पष्ट है। यह रूप **ऐ० ब्रा०** ३।३।१० तथा **श० ब्रा०** ११।६।१ (सम्पूर्ण) में और अधिक स्पष्ट हो जाता है जहाँ महर्षि भृगु को वरुण का पुत्र कहा गया है। **श० ब्रा०** के इस उद्धरण में एक छोटी सी कथा है कि एक बार भृगु अपने को अपने पिता वरुण से विद्या और ज्ञान में श्रेष्ठ समझने लगे। वरुण ने उन्हें चारों दिशाओं में घूम कर आने के लिये कहा। सभी ओर भृगु ने नरक के क्रूर दृश्य देखे। उनके लौटकर खिन्न होकर बैठ जाने पर वरुण ने उन्हें अग्निहोत्र का उपदेश दिया।

गृह्यसूत्रों में मुख्यतः गृह्यकर्मों के सम्बन्ध में ही वैदिक देवों का उल्लेख होने से उनका वास्तविक रूप छिप गया है। पर फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि वरुण के उत्कर्ष का उत्तरोत्तर ह्रास ही होता गया है और गृह्यसूत्रों में उनकी वह स्थिति भी नहीं रही है जो ब्राह्मण ग्रन्थों में है। वरुण की प्राचीन विशेषताओं में से बहुत कम का सूत्रग्रंथों में उल्लेख आया है। ऋग्वेद में वरुण को परमज्ञानी अथवा सर्वज्ञ कहा गया है। इसी आधार पर **खदिरगृह्यसूत्र** २।२।३५ में जातकर्म संस्कार के अवसर पर बालक की मेधा तथा बुद्धि की वृद्धि के लिये मित्रावरुण की ऋचा पढ़कर घृत चटाने का विधान है। परवर्ती साहित्य में 'प्रचेता' (ज्ञानी) विशेषण वरुण की सामान्य संज्ञा ही बन गया है[1]। पुंसवन संस्कार के अवसर पर भी न्यग्रोध शाखा को वृक्ष से तोड़ते समय वरुण का आह्वान किया जाता है (गोभिल० २।६।८, **यद्यसि वारुणी वरुणाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि**)। **गोभिल०** ४।७।१४ में कहा गया है कि न्यग्रोध वरुण का वृक्ष है, अतः नया घर बनवाने वाले व्यक्ति को ध्यान रखना चाहिये कि उसके घर के पश्चिम की ओर यह वृक्ष न रहे, नहीं तो शस्त्रपीडा का भय रहता है (**न्यग्रोधाच्छस्त्रसंपीडा....न्यग्रोधो वारुणो वृक्षः**)। गृह-प्रवेश के समय भी वरुण की स्तुति की जाती है। सम्भवतः ऋग्वेद में उल्लिखित वरुण के विशाल प्रासाद ने बाद में वरुण का गृहों से संबन्ध जोड़ दिया। ऋग्वेद में वरुण के घर में सहस्रों खंभे हैं और न्यग्रोध वृक्ष भी वायवी-जड़ों द्वारा बने अनेक खंभों से युक्त होता है। वरुण का नियमों एवं व्रतों से अब भी सम्बन्ध है। उपनयन

---

१. तु० की०—'**प्रचेता वरुणः पाशी यादसांपतिरप्पतिः**', **अमरकोश**, दैवतकाण्ड, स्वर्गवर्ग ६४।

के अवसर पर गुरु बालक का हाथ पकड़ता हुआ कहता है कि आज से 'वरुण ने तुम्हारा हाथ पकड़ लिया है' अर्थात् ब्रह्मचारी को नियम एवं अनुशासन से रहना पड़ेगा।

वरुण के पाशों का स्मरण अभी भी बना हुआ है। समावर्तन के अवसर पर स्नातक अपनी मेखला को उतार कर कहता है कि हे वरुण अब तुम अपने इस पाश से मुझे मुक्त करो (गोभिल० ३।४।२३, **मेखलामवमुंचत। उदुत्तमं वरुण पाशमिति....**)। सामर्थ्यशाली होने के कारण विघ्नों एवं संकटों का विनाश करने के लिये वरुण का प्रायः आह्वान एवं स्तवन किया जाता है। घर में किसी अपशकुन के होने पर (जैसे यदि घर में कपोत घुस आए, या मधुमक्खियाँ छत्ता बनाने लगें अथवा किसी यूप में पत्तियाँ आने लगें, आदि) वरुण की ही इस अमंगल के विनाश के लिये स्तुति की जाती है (हिरण्यकेशी १।५।१७)। विवाह के अवसर पर भी वधू की रक्षा के लिये वरुण से प्रार्थना की जाती है (हिरण्यकेशी १।६।१९)।

महाभारत एवं **रामायण** में आकर हम देवकथाओं के एक नये संसार में प्रवेश करते हैं। किसी भी देवता के विषय में गृह्यसूत्रों सी अस्पष्टता यहाँ प्राप्त नहीं होती। प्रत्येक का व्यक्तित्व अत्यन्त स्पष्ट तथा मानवी है।

वरुण अब त्रिलोकी के अधिपति नहीं है। उनके पास केवल जलों का साम्राज्य है। **महा० शल्य० ४७।९-१०** में कहा गया है कि प्रजापति ने वरुण को जलों के आधिपत्य पर नियुक्त किया। **विष्णु० १।२२।३** भी इसकी पुष्टि करता है—**जलानां वरुणं तथा** (ब्रह्मा राजानमकरोत्)। **महा० आदिपर्व २२४।१-३** में वरुण को जल के वासी, उसके स्वामी तथा पश्चिम दिशा के अधिपति कहा गया है। **भाग० ३।१७।२९** में उनके लिये 'अपां पतिः' विशेषण आया है। जल एवं समुद्र के स्वामी होने के कारण जल में रहने वाले मकर, मत्स्य आदि सभी प्राणी वरुण के अनुचर कहे गये हैं। वह 'यादसां-पति' है। **भागवत० ३।१७।२५** में कहा गया है कि जब हिरण्याक्ष समुद्र में कूद पड़ा तो वरुण के सैनिक, जलचर जीव, भय से इधर-उधर भाग गये—

तस्मिन् प्रविष्टे वरुणस्य सैनिकाः यादोगणाः सन्निधयः ससाध्वसाः।
अहन्यमाना अपि तस्य वर्चसा प्रर्धाषता दूरतरं प्रदुद्रुवः॥

वरुण की राजधानी का नाम विभावरी है। यह समुद्र के मध्य में स्थित है—

मौर्व्याभिजघ्ने गदया विभावरीम् आसेदिवान् तात पुरीं प्रचेतसः ।
भाग० ३।१७।२६

रामायण उत्तर० २३।२० में वरुण के दिव्य प्रासाद का वर्णन किया गया है जो श्वेतमेघ के समान आभा वाला है और कैलाश पर्वत की भाँति उच्छ्रित तथा भासमान है—

ततः पाण्डुरमेघाभं कैलासमिवभास्वरम् ।
वरुणस्यालयं दिव्यम् अपश्यद् राक्षसाधिपः ।।

न तो यह गृह अथर्ववेद की भाँति हिरण्मय है और न ऋग्वेद में वर्णित भवन की भाँति सहस्रस्थूणायुक्त ।

वरुण की पत्नी एवं पुत्रों का भी उल्लेख मिलता है । **रामा० उत्तर०, २३वें** सर्ग में वरुण की अनुपस्थिति में उनके कई पुत्रों द्वारा अपनी नगरी से निकल कर राक्षसराज रावण से युद्ध करने का उल्लेख है । महाभारत में वरुण की दो पत्नियों का उल्लेख है, देवी (जिसके **बल** नामक एक पुत्र तथा **सुरा** नामक एक कन्या है) तथा **गौरी (महा० उद्योग० ११७।६)** । उनके मन्त्री का नाम **प्रभास** है ।

भाग० ३।१७।२८ में वरुण को असुर लोक (पाताल) का भी पालक कहा गया है, जो सम्भवतः उनके वैदिक विशेषण 'असुर' का प्रभाव है । वे लोकपाल हैं, उनकी कीर्ति दूर-दूर तक व्याप्त है और युद्ध में अनेक वीरों के छक्के छुड़ाकर तथा देवों और दानवों को परास्त करके उन्होंने प्राचीन काल में राजसूय यज्ञ किया था । ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित वरुण की यह विशेषता क्षीण रूप में अभी भी वरुण से सम्बन्धित है । पर उनमें अब संहिता अथवा ब्राह्मण-कालीन सामर्थ्य एवं शक्ति कहाँ ? इसीलिये जब हिरण्याक्ष पूर्व-पराक्रम की याद दिलाते हुए उन्हें युद्ध के लिये चुनौती देता है तो वे शान्ति पूर्वक कहते हैं कि अब हमारा शरीर ओजहीन एवं शान्त हो गया है, तुम किसी दूसरे से जाकर लड़ो—

स्मयन् प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचवत् जगाद मे देह्यधिराज संयुगम् ।
त्वं लोकपालोऽधिपतिर्बृहच्छ्रवा वीर्यापहो दुर्मद वीरमानिनाम् ।।
विजत्य लोकेऽखिलदैत्यदानवान् यद्राजसूयेन पुरायजत् प्रभो ।।

रोषं समुत्थं शमयन् स्वया धिया व्यवोचदंगोपशमं गता वयम् ।
भाग० ३।१७।२७,२६

ऋग्वेद के सर्वोच्च एवं सर्वाधिक सामर्थ्यशाली देवता वरुण में अब एक सामान्य असुर से भी लड़ने की शक्ति नहीं है। **विष्णु पुराण** ५।२६।१० में राजा वरुण के एक दिव्य जलवर्षी राजछत्र का उल्लेख है जिसे नरकासुर छीन ले गया था (**छत्रं यत् सलिलस्रावि तज्जहार प्रचेतसः**)।

महा० (**उद्यो० ११७।६**) में वरुण की **देवी** नामक पत्नी से उत्पन्न जिस **सुरा** नामक कन्या का उल्लेख है उसे अन्यत्र **वारुणी** भी कहा गया है। **भागवत १०।६५।१६, २०** तथा **विष्णु पु० ५।२५।१-७** में वरुण बलराम के उपभोग के लिये वारुणी को उनके पास भेजते हैं (**उपभोगार्थमत्यर्थं वरुणः प्राह वारुणीम्**) और वह एक कदम्ब के कोटर से फूट पड़ती है। बलराम उस वारुणी (कादम्बरी-मदिरा) का पान करते हैं। **ब्रह्मपुराण** के १२६ वें अध्याय में हिरण्य दैत्य के पुत्र **महाशनि** का युद्ध की इच्छा से वरुण के पास जाना वर्णित है। चतुर वरुण उसे अपनी पुत्री (वारुणी) पत्नीरूप में देकर छुटकारा पाते हैं और साथ ही क्रीडा के लिये यौतुक के रूप में अपना घर समुद्र भी दे देते हैं। यह वारुणी मदिरा का ही सुन्दर मानवीकरण है जो दैत्यों को स्वभावतः प्रिय है। जल अथवा रस के साथ वरुण का विशेष सम्बन्ध ही बाद में मद्य से वरुण के संबन्ध के रूप में विकसित हुआ है। **भाग० २।१०।१७** में रस के अधिपति होने के कारण वरुण को जिह्वा का अधिष्ठाता कहा गया है।

महा० शल्य० ४६।११, १२ में कहा गया है कि वरुण अत्यधिक यज्ञ किया करते हैं। सरस्वती नदी के किनारे यमुना तीर्थ में उन्होंने एक विशाल राजसूय यज्ञ किया था। उसी से उन्होंने लोकपालत्व प्राप्त किया तथा अत्यन्त पराक्रमी हो गये। **वन-पर्व** के १३४ वें अध्याय में एक विचित्र कथा आती है। इसके अनुसार **बन्दी** नामक वरुण का पुत्र वरुण के द्वारा निरन्तर किये जाने वाले यज्ञों में भाग लेने के लिये पृथ्वी के प्रकाण्ड पंडितों को शास्त्रार्थ में हरा कर नदी में डुबवा देता था जिससे वे वरुण के पास पहुँच जाते थे। **भाग० ४।१६।१०** तथा ४।२२।५६ में कहा गया है कि वरुण का शरीर, कोष तथा राज्य अत्यन्त सुरक्षित है और पृथु के राज्य की स्थिरता की वरुण के राज्य से तुलना की गई है। रत्नाकर के स्वामी होने के कारण वरुण का रत्नादिकों के स्वामी माने जाना स्वाभाविक है। **भाग० २।३।७** में कहा गया है कि धन-संपत्ति (कोष) की इच्छा करने वाले व्यक्ति को वरुण की उपासना करनी चाहिये— **कोषकामः प्रचेतसम् (यजेत)**।

वरुण के पाशों का अब भी उल्लेख होता है पर अब वे एक सामान्य शस्त्र बन गये हैं जिनका प्रयोग कोई भी कर सकता है। **महा० आदि० २२६।३२-३७** में कहा गया है कि खांडवदाह के अवसर पर वरुण अपने पाश तथा अशनि लेकर अर्जुन से लड़ने आये थे। बाद में इन्होंने अर्जुन को अपना पाश नामक अस्त्र प्रदान किया (वन० ४१।२७-३२)। **भाग० ५।२४।२३** में कहा गया है कि भगवान् विष्णु ने वरुण को पाशों से बलि को बाँधा था (**वरुण-पाशैश्च सम्प्रतिमुक्तः**)। **भाग० ७।५।५०** में हिरण्यकशिपु अपने शण्ड और अमर्क नामक गुरु पुत्रों को आदेश देता है कि जब तक शुक्राचार्य न आयें तब तक प्रह्लाद को 'वरुणपाशों' से बाँध रखिये—

इमं तु पाशैर्वरुणस्य बद्ध्वा निधेहि भीतो न पलायते यथा।

महाभारत में केवल पाश ही नहीं अपितु गाण्डीव धनुष को भी वरुण का विशेष अस्त्र बताया गया है। **विराट्० ४३।६** में कहा गया है कि इन्होंने सौ वर्षों तक गाण्डीव धारण किया बाद में उसे 'अक्षय' तरकस सहित अग्नि को दे दिया (आदि० २२४।१-६)। रामायण के बालकाण्ड (सर्ग ७७, प्रथम श्लोक) के अनुसार शिव का प्रसिद्ध धनुष परशुराम ने राम की परीक्षा के लिये उन्हें चढ़ाने को दिया था। राम के द्वारा धनुष चढ़ा दिये जाने पर निस्तेजस्क होकर वे उसे राम को ही देकर चले जाते हैं। राम उसे वरुण को दे देते हैं। **महा० आदि पर्व २२४।१-६** में अर्जुन के लिये अग्नि इस धनुष को वरुण से माँग लाते हैं। **महाप्रस्थान पर्व १।४१-४२** में अर्जुन इसे पुनः जल में (वरुण के पास) फेंक देते हैं।

वैदिक काल की भाँति वरुण अब नैतिक तथा धार्मिक अपराधों से रुष्ट नहीं होते। किन्तु जब कोई जल से संबन्धित अपराध करता है तो वरुण के अनुचर उसे पकड़ कर जल के अधिपति वरुण के पास ले जाते हैं। **भाग० १०।२८।२** में जब कृष्ण के धर्म-पिता **नन्द** अर्धरात्रि की आसुरी वेला में यमुना में स्नान करते हैं तो वरुण के अनुचर (जलजन्तु) उनको पकड़ कर ले जाते हैं (**तं गृहीत्वानयद् भृत्यो वरुणस्यासुरोऽन्तिकम्। अविज्ञायासुरीं वेलां प्रविष्टमुदकं निशि**)। इसी प्रकार **भाग० १०।२२।१९** में चीरहरण प्रसंग में कृष्ण गोपियों से कहते हैं कि जल में नग्न होकर स्नान करने से उन्होंने वरुण के विरुद्ध अपराध किया है—

यूयं विवस्त्रा यपदो धृतव्रता व्यगाहतैतत् तदु देवहेलनम्।

अश्वों से वरुण का जो विशेष संबन्ध वैदिक साहित्य में वर्णित किया गया है वह महाभारत एवं पुराणों में आकर सुन्दर रूप में पल्लवित हुआ है। **महा० वन० ११५।२७**, तथा **भागवत ६।१५।५-७** में वर्णित एक कथा में कहा गया है कि ऋचीक मुनि ने राजा गाधि की पुत्री सत्यवती को पत्नी रूप में प्राप्त करना चाहा। राजा ने टालने के लिये कहा कि यदि आप चन्द्रमा के समान धवल, श्वेतवर्ण के एक सहस्र अश्व स्त्री-शुल्क के रूप में दें जिनका एक कान काला हो, तो आपको कन्या मिल सकती है। ऋचीक मुनि वरुण के पास गये और सब स्थिति बता कर वैसे ही अश्व लाकर राजा को दे दिये और कन्या प्राप्त की—

तस्य सत्यवतीं कन्याम् ऋचीकोऽयाचत द्विजः ।
वरं विसदृशं मत्वा गाधिर्भार्गवमब्रवीत् ॥
एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
सहस्रं दीयतां शुल्कं कन्यायाः, कुशिका वयम् ॥
इत्युक्तस्तन्मतं ज्ञात्वा गतः स वरुणान्तिकम् ।
आनीय दत्त्वा तानश्वान् उपयेमे वराननाम् ॥ भाग० ९।१५।५-७

शु० यजु० २९।५९ में उल्लिखित **'वारुणः कृष्णः एकशितिपात् पेत्वः'** (दे० पीछे पृ० २६०) का यह सुन्दर विकास है।

वरुण के शरीरिक आकार-प्रकार तथा वेश-भूषा का केवल **मत्स्य पुराण** १७३।१२-१५ में उल्लेख मिलता है। तारकामय संग्राम के अवसर पर असुरों से युद्ध करते हुए वरुण का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि 'वे चारों समुद्रों से युक्त थे, उनका शरीर जलमय था। उनके अश्वों का रंग चन्द्रमा की किरणों के समान श्वेत था और वे वायु के समान वेग वाले तथा जलाकार थे'। 'वरुण का शरीर मरकत-मणि के समान श्याम था, वे स्वर्ण के आभूषण (हरि-भार) तथा पीताम्बर पहने हुए थे; उनके साथ अनेक भीषण सर्प भी थे। वे शंख तथा मोती आदि से युक्त बाजूबन्द धारण किये हुए थे एवं उद्वेलित और क्षुब्ध समुद्र के समान भीषण थे'—

चतुर्भिः सागरैर्युक्तो लेलिहानश्चपन्नगैः ।
शंखमुक्तांगदधरो बिभ्रत् तोयमयं वपुः ॥
कालपाशान् समाविध्यन् हयैः शशिकरोपमैः ।
वाय्वीरितैर्जलाकारैः कुर्वन् लीलाः सहस्रशः ॥

पाण्डुरोद्धूतवसनः प्रचलन् रुचिरांगदः ।
मणिश्यामोत्तमवपुः हरिभारार्पितो वरः ॥
वरुणः पाशधृङ् मध्ये देवानीकस्य तस्थिवान् ।
युद्धवेलामभिलषन् भिन्नवेल इवार्णवः ॥ मत्स्य० १७३।१२-१५

इस उद्धरण से वरुण का जल से संबन्ध बहुत स्पष्ट है। उनका शरीर ही जलमय है। मानवाकार चारों समुद्र उनके परिचर हैं। भुजाओं में वे शंख तथा मोती धारण किये हुए हैं। उनके अश्व भी जलाकार है। **'वाय्वीरितैर्जलाकारैः'** एक अन्य कल्पना को जन्म देता है। क्या समुद्र की विशाल ऊर्मियाँ ही तो वरुण के अश्वों के रूप में वर्णित नहीं है? वाय्वीरितैः के दो अर्थ हो सकते हैं—'वायु के समान वेग वाले' तथा 'वायु के द्वारा प्रेरित'। वायु के द्वारा प्रेरित जलाकार-अश्व वायु के द्वारा आन्दोलित समुद्र-वीचियों के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं? संभवतः इसीलिये वरुण का अश्वों से विशेष संबन्ध है।

अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि वैदिक काल में नैतिक नियमों के सर्वोत्कृष्ट परिपालक के रूप में प्रतिष्ठित एवं अनैतिक कर्म करने वाले व्यक्तियों को कड़ा दण्ड देने वाले वरुण के स्वरूप में ही पौराणिक काल में कुछ अनैतिक तत्त्व पाये जाते हैं। **महा० अनु० १५४** वें अध्याय में एक कथा आती है कि एक बार वरुण ने उतथ्य ऋषि की भार्या **भद्रा** पर आसक्त होकर उसका अपहरण कर लिया (श्लोक १२) और बार-बार कहने पर भी तभी लौटाया जब महर्षि ने क्रुद्ध होकर उनके निवास स्थान समुद्र का सारा जल पी डाला (१५४।१८)।

विष्णु एवं शिव आदि देवों के उत्कर्ष के कारण सर्वसामर्थ्यशाली वैदिक वरुण अब इतने शक्तिहीन तथा निस्तेजस्क हो गये हैं कि वे युद्ध में अर्जुन से भी नहीं जीत सकते (**महा०** आदि० २२६।३२-३७)। अब कृष्ण की इतनी अधिक महत्ता है कि वरुण जैसे शक्तिशाली दिक्पाल भी कृष्ण को अपने निवास स्थान पर पाकर धन्य हो उठते हैं और उनके चरण छूकर अपने को अत्यन्त सौभाग्यशाली समझते हैं (**भाग० १०।२८।४-७**)।

ऐ० ब्रा० में आई हुई हरिश्चन्द्र एवं शुनःशेप की कथा बहुत थोड़े से अन्तर के साथ **ब्रह्मपुराण** (अध्याय १०४) तथा **श्रीमद्भागवत** के नवम स्कन्ध के सप्तम अध्याय (श्लोक ७-२३) में प्राप्त होती है। किन्तु बाद के पुराणकारों को राजसूय-यज्ञ के कर्ता, पराक्रमी राजा, हरिश्चन्द्र की यह असत्यवादिता

अभीष्ट नहीं हुई। इसलिये उन्होंने इस कथा के उत्तरार्ध का निर्माण किया जिसमें हरिश्चन्द्र को अत्यन्त सत्यवादी, दानी तथा धर्म-पालक सिद्ध किया गया हैं। आज हरिश्चन्द्र नाम के साथ सत्य का जो अविच्छेद्य सम्बन्ध है वह इसी कथा के कारण है। **देवी भागवत** के सप्तम स्कन्ध के १४ से लेकर २७ तक पूरे १४ अध्यायों (७३५ श्लोकों) में यह कथा कही गई है। कथा का पूर्वार्ध वही है जो ऐतरेय ब्राह्मण में प्राप्त होता है। वरुण की प्रसन्नता से रोगमुक्त हो जाने पर राजा हरिश्चन्द्र **वसिष्ठ** को गुरु बना कर राजसूय करते हैं और उन्हें अतुल धन संपत्ति दक्षिणा के रूप में प्रदान करते हैं। वसिष्ठ विश्वामित्र से हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करते हुए कहते हैं :—

हरिश्चन्द्रसमो राजा न भूतो न भविष्यति ।
सत्यवादी तथा दाता शूरः परमधार्मिकः ॥ देवी भाग० ७।१७।५३

विश्वामित्र को विश्वास नहीं है कि वह राजा जिसने पुत्र स्नेह के कारण लगातार झूँठ बोल कर वरुण को इतने दिनों तक टाला, ऐसा हो सकता है। इसके अतिरिक्त वे हरिश्चन्द्र से अप्रसन्न भी हैं क्योंकि पुरुषमेध यज्ञ के अवसर पर उन्होंने हरिश्चन्द्र से शुनःशेप को छोड़ देने की प्रार्थना की थी (१६।३८-५५) पर हरिश्चन्द्र ने स्वार्थवश ऐसा नहीं किया (१६।५८)। अतः वे वसिष्ठ के कथन की परीक्षा के लिये हरिश्चन्द्र की परीक्षा लेना चाहते हैं। छल से वे हरिश्चन्द्र का सब राज्य ले लेते है। दान की पूरी दक्षिणा चुकाने के लिये हरिश्चन्द्र को अपनी पत्नी शैव्या, पुत्र रोहित तथा स्वयं अपने को बेच कर एक चाण्डाल की दासता करनी पड़ती है। सर्प के काट लेने से रोहित मर जाता हैं। शैव्या उसे जलाने श्मशान में लाती है, वहाँ लोग उसे राक्षसी समझ कर हरिश्चन्द्र को उसे मार डालने का आदेश देते हैं। पुत्र और पत्नी को पहचान कर हरिश्चन्द्र अत्यन्त दुःखित होते हैं और वे दोनों पुत्र की चिता में अपने को भी भस्म करने के लिये उद्यत होते हैं कि सहसा दृश्य परिवर्तित हो जाता है। हरिश्चन्द्र की सत्य-निष्ठा से प्रसन्न होकर इन्द्र आदि देवता प्रकट होते हैं। विश्वामित्र भी उनकी दृढ़ता से प्रभावित होते हैं और फिर हरिश्चन्द्र अयोध्या-वासियों के साथ स्वर्ग जाते हैं।

कथा का यह उत्तरार्ध अत्यन्त हृदयद्रावक तथा मर्मस्पर्शी है। ऐ० ब्रा० के हरिश्चन्द्र और पौराणिक हरिश्चन्द्र में आकाश-पाताल का अन्तर है। वरुण का सम्बन्ध इस कथा से पूर्णतः लुप्त हो गया है। जिस अज्ञात कवि मष्तिष्क ने

हरिश्चन्द्र की इस कथा को जन्म दिया उसकी प्रतिभा एवं उद्भावन-प्रवणता की जितनी प्रशंसा की जाय, वह कम है। पौराणिक साहित्य की यह अद्भुत कृति है। परवर्ती पुराणों में हरिश्चन्द्र से सम्बन्धित पहली कथा इस दूसरी कथा के आगे पूर्णतः विलुप्त हो गई है। **मार्कण्डेय पुराण** के अष्टम अध्याय के २७० श्लोकों में केवल इसी दूसरी कथा का मार्मिक वर्णन प्राप्त होता है[1]। हिन्दी में भी इस कथा के आधार पर अनेक नाटक लिखे गये हैं जिनका अभिनय कठोर-हृदयों को भी एक बार अश्रुप्लावित कर देता है।

मित्रावरुणौ

ऋग्वेद के देवों में वरुण जिस देवता से अत्यन्त घनिष्ठतया संबन्धित हैं वह है मित्र। महत्त्व की दृष्टि से ऋग्वेद का यह देवयुग्म ऋग्वेद में एक विशेष स्थान रखता है। २५ के लगभग सूक्त मित्रावरुणौ के लिये कहे गये हैं जब कि वरुण के लिये १२ और मित्र के लिये केवल एक। प्रतीत होता है कि मित्र और वरुण दोनों का प्राकृतिक उद्भव लगभग समान अथवा परस्पर अविभाज्य रूप से सम्बन्धित था। वरुण के साथ मिल जाने पर मित्र का अपना व्यक्तित्व पूर्णतः लुप्त हो गया है और 'मित्रावरुणौ' देवताओं में बिलकुल वे ही विशेषताएँ हैं जो अकेले वरुण में[2]।

ब्राह्मण ग्रन्थों में मित्र और वरुण के प्राकृतिक आधार पूर्णतः भुलाये जा चुके हैं। उनकी केवल युग्मत्व की भावना सुरक्षित रह गई है। इसलिये ब्राह्मणों में किन्हीं भी दो परस्पर सम्बन्धित वस्तुओं का मित्रावरुणौ से तादात्म्य कर दिया जाता है। यज्ञिय कृत्यों में विभिन्न स्थलों पर दी जाने वाली मैत्रावरुण हवि की व्याख्या में ब्राह्मणों ने सर्वत्र पूर्ण स्वेच्छाचारिता से काम लिया है। **श० ब्रा०** १।८।३।१२ तथा ५।५।१।१२ में कहा गया है कि निःश्वास (प्राण)

---

१. इस कथा की विस्तृत विवेचना के लिये देखिये, वासुदेवशरण अग्रवाल : **'मार्कण्डेय पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन'** पृ० ५५-८५।

२. देखिये, मैकडानल : **वै० मा०**, पृ० २७ तथा १२७। वैदिक युग्म देवताओं की विस्तृत समीक्षा के लिये **J. Gonda** का *The dual deities in the religion of Veda* (Amsterdam 1974) ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

तथा उच्छ्‌वास (उदान) ही क्रमशः मित्र और वरुण हैं (**प्राणोदानौ वै मित्रा-वरुणौ**)। **श० ब्रा०** ४।१।४।१ में मित्र और वरुण की सूक्ष्म भावात्मक व्याख्या भी की गई है। मित्र संकल्प (क्रतु) है और वरुण **क्रिया** (दक्ष)। जो मनुष्य मन में सोचता है वह मित्र का अंश है। वरुण की सहायता से वह उसे कार्य रूप में परिणत करता है। इस प्रकार मित्र **ब्रह्म** है और वरुण **क्षत्र**। एक विचारक है और दूसरा कर्ता—

क्रतूदक्षौ ह वा अस्य मित्रावरुणौ। एतत् नु अध्यात्मम्। स यदेव मनसा कामयते इदं मे स्यात् इदं कुर्वीय इति स एव क्रतुः। अथ यदस्मै तत् समृध्यते तत् दक्षः। मित्र एव क्रतुः वरुणो दक्षः। ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणः। अभिगन्ता एव मित्रः कर्ता क्षत्रियः।

श० ब्रा० ४।१।४।१

श० ब्रा० २।४।४।१८. १९ में वरुण को चन्द्रमा का तथा मित्र को सूर्य का रूप ध्वनित किया गया है। इस उद्धरण के अनुसार शुक्ल-पक्ष वरुण है और कृष्ण पक्ष मित्र। अमावास्या की रात्रि को वरुण (चन्द्रमा) तथा मित्र (सूर्य) मिल जाते हैं। तब मित्र वरुण में अपने तेज का निक्षेप करता है—

अर्थतावेवार्धमासौ मित्रावरुणौ। य एवापूर्यते स वरुणः। यः अपक्षीयते स मित्रः। तावेतां रात्रिं (अमावास्यां) **उभौ समागच्छतः। तद्वा एतां रात्रिं मित्रो वरुणे रेतः सिंचति।**

इस पर सायणाचार्य लिखते हैं :—

य एवार्धमासः समन्तात् वर्धमानया चन्द्रकलया पूर्णो भवति स अमृतरससंबन्धाद् **वरुणः**। स हि रसाभिमानी देवः। यः अर्धमासः क्षीयमाणचन्द्रकलायुक्तो भवति स अपरपक्षः मित्रः। तौ चन्द्रसूर्यात्मकौ मित्रावरुणौ उभौ एतां दर्शरात्रिं सह समाप्नुतः।

ऐ० ब्रा० ४।२।४ कहता है कि मित्र दिन है और वरुण रात्रि (**अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुणः उभे वा एषोऽहोरात्रे आरभते**)। इसी प्रकार **तै० सं०** २।१।७ में भी दिन को मित्र से तथा रात्रि को वरुण से संबन्धित किया गया है। (**मैत्रा-वरुणीं द्विरूपामालभेत प्रजाकामो मैत्रं वा अहर्वारुणी रात्रिः**)। मित्र मूलतः सूर्य का देवता था। अतः प्रकाश से उसका अन्त तक सम्बन्ध रहा है। बाद में मित्र और वरुण के पारस्परिक घनिष्ठ संबन्ध के कारण दिन से अविभाज्य

रूप से संबन्धित रात्रि का वरुण से संबन्ध हो गया। **यजु० २६।६** में आये एक मंत्र से भी मित्र का दिन से तथा वरुण का रात्रि से संबन्ध ध्वनित है। यहाँ उषा को मित्र और वरुण के बीच में विचरण करती हुई कहा गया है—

अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती मुखं यज्ञानामभि संविदाने।
उषासा····। वाज० सं० २६।६

संभवतः इसीलिये **तै० सं० २।१।६** में मित्र के लिये श्वेत तथा वरुण के लिये कपिला गौ के आलभन का विधान है।

तै० सं० २।१।६ में यह भी कहा गया है कि वरुण जल का अधिपति है और मित्र वृक्षों का। अतः मित्रावरुणौ को दी जाने वाली बलि इन दोनों के संगम पर होनी चाहिये। **श० ब्रा०** ५।३।२।६ में कहा गया है कि वरुण को मथ कर निकाले गये नवनीत की तथा मित्र को स्वयं निकले हुए मक्खन[1] की आहुति देनी चाहिये। जोती हुई भूमि में उत्पन्न अन्न का स्वामी वरुण है और स्वतः उत्पन्न अन्न, वन्य-धान्य, का मित्र (**श० ब्रा०** ५।३।३।८) आदि।

ब्राह्मणों के पश्चात् महाभारत में ही मित्रावरुण का उल्लेख मिलता है। वह भी केवल एक बार (**शल्य०** ५४।१४)। यहाँ मित्रावरुण से अगस्त्य एवं वसिष्ठ ऋषि की उत्पत्ति की कथा है जो **रामायण** उत्तर० ५६।१३-२४ तथा **मत्स्य०** ६१।२७-३१ में भी प्राप्त होती है। संक्षेप में यह इस प्रकार है कि एक बार वरुण ने संभोग के लिये उर्वशी को अपने पास बुलाया। उर्वशी ने कहा कि मित्र ने मुझे पहले ही वरण कर लिया है इसलिये मैं आपकी इच्छा पूर्ण न कर सकूंगी, पर हृदय से मैं आपकी हूँ। मित्र को जब यह पता चला तो उसने उर्वशी को पृथ्वी तल पर जाने और पुरूरवा की पत्नी बनने का शाप दिया[2]।

---

१. इस प्रकार के मक्खन को प्राप्त करने की प्रक्रिया के लिये देखिये, श० ब्रा० ५।३।२।६ पर सायण भाष्य और **आश्वलायन श्रौ० सू०** १८।११।३-६।

२. पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम की यह कथा वैदिक साहित्य में ऋग्वेद (१०।९५), तथा श० ब्रा० ११।५।१-१७ में उल्लिखित है। परवर्ती साहित्य में यह रामायण, मत्स्यपुराण, पद्मपुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण तथा भागवत आदि में प्राप्त होती है। इसी के आधार पर कालिदास ने अपने अमर नाटक 'विक्रमोर्वशीयम्' की रचना की है।

कामासक्त मित्र और वरुण ने एक जलकुम्भ में अपने तेज को निक्षिप्त किया जिससे बाद में अगस्त्य और मैत्रावरुणि-वसिष्ठ की उत्पत्ति हुई—

ततः कामयमानेन मित्रेणाहूय सोर्वशी ।
उक्ता मां रमयस्वेति बाढमित्यब्रवीच्च सा ।।
गच्छन्ती चाम्बरं तद्वत् स्तोकमिन्दीवरेक्षणा ।
वरुणेन धृता पश्चात् वरुणं नाभ्यनन्दत ।
मित्रेणाहं वृता पूर्वमथ भार्या न ते प्रभो ।।
उवाच वरुणश्चित्तं मयि संन्यस्य गम्यताम् ।
गतायां बाढमित्युक्त्वा मित्रः शापमदात् तदा ।।
तस्यै, मानुषलोके त्वं गच्छ सोमसुतात्मजम् ।
भजस्वेति यतो वेश्याधर्म एष त्वया कृतः ।।
जलकुम्भे ततो वीर्यं मित्रेण वरुणेन च ।
प्रक्षिप्तमथ संजातौ द्वावेव मुनिसत्तमौ ।

वरुण और मित्र के बीच में दोलायमान यह उर्वशी (तु० की०, अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती) रात्रि और दिन के बीच अवस्थित उषा के अतिरिक्त और क्या हो सकती है ?

प्रस्तुत कथा मित्र और वरुण के पूर्ण पार्थक्य की व्यंजना करती हुई भी दोनों के स्वरूपगत साम्य को सूचित करती है। अन्यत्र भी यही बात है। **रामा० उत्तर० ५६।१३** में कहा गया है कि एक बार मित्र वरुण की अनुपस्थिति में क्षीरसागर में रहते हुए वरुण का कार्य संभालते रहे—

तमेव कालं मित्रोऽपि वरुणत्वमकारयत् ।
क्षीरोदेन सहोपेतः पूज्यमानः सुरोत्तमैः ।

दो पृथक्-पृथक् देवताओं के रूप में अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी मित्र और वरुण के व्यक्तित्वों का इस प्रकार जुड़ कर एक हो जाना, परवर्ती हिन्दू देवशास्त्र में सुविख्यात उस प्रक्रिया की पूर्व-परिचिति है जिसके अनुसार स्वरूप की दृष्टि से साम्य रखने वाले देवता परस्पर जुड़ कर एक उच्चतर देवता की सृष्टि करते हैं।

अश्विनौ

पीडित व्यक्तियों की सहायता के हेतु सदा तत्पर रहने वाले, देवों के वैद्य, ये दो सुन्दर युवक ऋग्वेद के देवशास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

जितनी गाथाओं का उनसे संबन्ध है उतनी गाथाएं किसी भी देवता के विषय में प्राप्त नहीं होतीं। उनकी स्तुति में कही गई ऋचाओं की संख्या भी बहुत अधिक है। निघण्टु में उनकी गणना द्युस्थानीय देवताओं में की गई है और वस्तुतः ऋग्वेद में वे मुख्य रूप में प्रकाश से ही किसी न किसी रूप में संबन्धित देवता जान पड़ते हैं। ऋग्वेद में कुछ स्थानों पर उन्हें आकाश के पुत्र ('दिवो-नपाता') कहा गया है (१।१८२।६,१।१८४।१,१०।६१।४)। उनके आविर्भाव का समय प्रातःकाल ब्राह्म वेला है जब रात्रि अपनी बहन उषा से विदाई लेकर रक्तवर्ण के सूर्य के लिये स्थान बना कर जा रही होती है—

अप स्वसुरुषसो नग् जिहीते
रिणक्ति कृष्णीररुषाय पन्थाम्।
अश्वामघा गोमघा वां हुवेम.... ऋ० वे० ७।७१।१

वे उस समय पृथ्वी पर आते हैं जब नक्षत्र रूपी अरुणवर्णा गायों के बीच में रात्रि कुछ कुछ वर्तमान रहती है (कृष्णा यद् गोषु अरुणीषु सीदद् दिवो नपादश्विना हुवे वाम्, ऋ० वे० १०।६१।४)। ऋ० वे० ८।५१।२ में कहा गया है कि जब गुलाबी उषा दूर से पृथ्वी पर झाँकती है तो अश्विनौ अपने भ्राजमान रथ पर वैठ कर उसका अनुसरण करते हैं—

दूराद् इहेव यत् सती अरुणाप्सुः अशिश्वितत्...
नृवद् दस्रा मनोयुजा रथेन पृथुपाजसा। सचेथे अश्विनोषसम्॥

ऋ० वे० ८।६।१७ में उषा से अश्विनौ को जगाने की प्रार्थना की गई है (प्रबोधय उषो अश्विना)। ऋ० वे० ३।३६।३ में उन्हें अन्धकार का विनाश करने वाले (तमोहना) कहा गया है और ऋ० वे० ८।३५।१६ में अश्विनौ द्वारा जिन राक्षसों के वध का उल्लेख है (हतं रक्षांसि सेधतममीवाः) वे संभवतः अन्धकार के ही प्रतिनिधि हैं। ऐ० ब्रा० १।२।१५ में अश्विनौ को उषस् एवं अग्नि की भाँति प्रातःकाल का देवता कहा गया है (एत वाव देवाः प्रातर्यावाणो यदग्नि-रुषा अश्विनौ) और श० ब्रा० ५।५।४।१ में अश्विनौ को श्वेत तथा लोहित वर्ण का बताया गया है (श्येत आश्विनो भवति। श्येताविव ह्यश्विनौ। लोहित आश्विनो भवति....) इससे भी उनका प्रातःकालिक प्रकाश से सम्बन्ध सूचित होता है।

अश्विनौ के लिये तेज अथवा प्रकाश से सम्बन्धित अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। वे प्रकाशमान या शुभ्र हैं (७।६८।१)। तेज (शुभस्) के स्वामी होने के

कारण उन्हें **शुभस्पती** भी कहा गया है (८।२२।१८,१०।६३।६)। उनके शरीर की ज्योति सुनहली है अतः वे **हिरण्यपेशसा** (८।८।२) हैं। कुछ मन्त्रों में उन्हें रुद्रा या लोहित वर्ण के भी बताया गया है (५।७५।३)। वे सुनहले अथवा लाल मार्ग में गमन करते हैं (हिरण्यवर्तनी, ५।७५।३; रुद्रवर्तनी, य० वे० ३३।५८)। प्रातःकाल से घनिष्ठ संबन्ध के कारण ही संभवतः अश्विनौ को संहिताओं एवं ब्राह्मणों में सर्वत्र प्रातःकाल प्रस्फुटित होने वाले कमलपुष्पों की माला धारण करते हुए वर्णित किया गया है—

१. गर्भं ते अश्विनौ देवौ आधतां पुष्करस्रजौ। ऋ० वे० १०।१८४।२
२. तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजौ। अ० वे० ३।२२।४
३. ...कुमारं पुष्करस्रजम्। वाज० सं० २।३३
४. अश्विनाविमे हीदं सर्वमाश्नुवातां पुष्करस्रजाविति। श० ब्रा० ४।१।५।१६

अश्विनौ की यह विशेषता महाभारत एवं पुराणों तक भी पूर्णरूपेण सुरक्षित चली आई है। **श्रीमद्भागवत** ६।३।१५ में भी अश्विनौ को 'पद्मस्रजौ' कहा गया है।

उषःकाल की सुनहली किरणों से संबन्ध के कारण अश्विनौ के रथ को स्वर्णनिर्मित या हिरण्यय बताया गया है (हिरण्ययेन पुरुभू रथेन इमं यज्ञं नासत्या उपयातम्, ऋ० वे० ४।४४।४)। इस रथ के चक्र, उनकी नाभि, इसी प्रकार परिधि एवं रथ की रश्मियाँ भी सोने की बनी हुई है—

१. **उभा चक्रा हिरण्यया....हिरण्ययी वां रभिरीषा अक्षो हिरण्ययः।**
ऋ० वे० ८।५।२९।
२. **हिरण्यया वां पवयः प्रुषायन्।** ऋ० वे० १।८०।१।
३. **रथो यो वां त्रिबन्धुरो हिरण्याभीशुः अश्विना।** ऋ० वे० ८।२२।५।

उनके इस रथ को एक सहस्र किरणों से अलंकृत कहा गया है (ऋ० वे० ८।८।११)।

ऋग्वेद में अश्विनौ का **मधु** से संबन्ध भी उल्लेखनीय है। वे स्वयं मधु के समान वर्ण वाले हैं (मधुवर्ण, ८।२२।६)। उनका रथ भी मधुवर्ण है और उसमें सदा मधु वर्तमान रहता है (मधुवाहन)। वे मधु के अत्यन्त प्रेमी हैं, इसीलिये उनको **मधयु** तथा **माध्वी** कहा गया है। उनके पास मधु से पूर्ण एक दृति या चर्मपात्र है (दृतिं वहेथे मधुमन्तमश्विना, ४।४५।३)। ऋ० वे० १।११७।६ में कहा गया है कि उन्होंने एक बार मधु के १०० घड़े उड़ेले (शतं कुम्भाँ असि-

चतं मधूनाम्)। मधुमक्खियों को भी वे ही मधु प्रदान करते हैं (ऋ० वे० १०।४०।६), आदि। अश्विनौ के मधु से इस संबन्ध की व्याख्या करना कठिन है। पर हो सकता है प्रातःकाल के मादक दृश्य से संबन्ध के कारण, जब मद-माती शीतल वायु प्रवाहित होती रहती है और नवीन प्रस्फुटित मधु से पूर्ण सुगन्धित पुष्पों पर मधुमक्खियाँ मँडराती रहती हैं, अश्विनौ का मधु से यह सम्बन्ध हो गया हो। इस प्रसंग में अश्विनौ की **मधुमती कशा** (अंकुश या चाबुक) का भी उल्लेख हुआ है जो ओल्डेनबर्ग के अनुसार प्रातःकालीन ओस की बूँदों की परिचायक है[1]।

अश्विनौ के शारीरिक आकार-प्रकार के विषय में ऋग्वेद में कुछ संकेत प्राप्त होते है। उन्हें अनेक स्थानों पर युवक (युवानौ, ७।६७।१०) कहा गया है। वे अत्यन्त सुन्दर (वल्गू, ६।६२।५) हैं। उनका वर्ण मधु के समान है। वे तेजस्वी तथा हिरण्यवर्ण हैं। ७।६२।५ में उन्हें प्राचीन या 'प्रत्ना' भी कहा गया है जो वैदिक ऋषियों के मस्तिष्क में उनके अस्तित्व की प्राचीनता को सिद्ध करता है। उनकी यह प्राचीनता ग्रीक **दिउस्क्यूराई** आदि से तुलना करने से तो सिद्ध होती ही है[2] साथ ही वैदिक तथा पर-वैदिक ग्रन्थों में उनके स्वरूप के विषय में दी गई व्याख्याओं की अनेकरूपता भी इसकी पुष्टि करती हे। वे मन के समान शीघ्र गमन करने वाले (मनोजवसा, ८।२२।१६), शक्तिशाली (शक्र, १०।२४।४) तथा पौरुषयुक्त (पुरुशाकतमा, ६।६२।५) हैं। वे अत्यन्त बुद्धिमान तथा ज्ञानी (गम्भीरचेतसा ८।८।२) हैं और उन्हें अनेक प्रकार की माया आती है (मायिना, ७।६३।५)।

प्रातःकाल से घनिष्ठतया संबन्धित होने के कारण ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में सूर्या या उषा को अश्विनौ की पत्नी के रूप में चित्रित किया गया है। ऋ० वे० १।११६।५ में कहा गया है कि सूर्या ने स्वयं अश्विनौ को अपने पति के रूप में वरण किया—

---

१. देखिये मेक्डानल : **वै० मा० पृ० ४७ टिप्पणी ८ (पृष्ठ ५४ पर)। कशा शब्द वा० सं० ७।११** के निम्न मंत्र में भी आया है—**या वां कशा मधुमती अश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षितम्॥** यहाँ सायण के अनुसार कशा का अर्थ प्रकाशवती वाणी है। सूनृतावती आदि विशेषणों के कारण यह अर्थ यहाँ सर्वाधिक उपयुक्त भी है।

२. दे० प्रथम अध्याय (पृष्ठ ३४-३५)।

आ वां पतित्वं सख्याय जग्मुषी योषा अवृणीत जेन्या युवां पती ।

अश्विनौ सूर्या के दो पति हैं और वह सदा उनके रथ पर बैठती है (ऋ० वे० ४।४३।३)—

तद्‌ षु वाम् अजिरं चेति यानं येन पती भवथः सूर्यायाः ।

ऋग्वेद के अन्य कई मन्त्रों में भी सूर्य की युवती पुत्री सूर्या के अश्विनौ के रथ में बैठने का उल्लेख है—

१. **आ वां रथं युवतिस्तिष्ठदत्र जुष्ट्वी नरा दुहिता सूर्यस्य ।** १।११८।५
२. **युवो रथं दुहिता सूर्यस्य सह श्रिया नासत्या वृणीत ।** १।११७।१३

ऋग्वेद के १।११६।१७ मंत्र में अश्विनौ द्वारा जीती हुई सूर्या के उनके रथ पर चढ़ने का उल्लेख है। नासत्या अत्यन्त शोभा के साथ उसको ग्रहण करते हैं और सम्पूर्ण देवता उनके कार्य का अनुमोदन करते हैं—

आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य कार्ष्मेवातिष्ठद् अर्वता जयन्ती ।
विश्वेदेवा अन्वमन्यन्त हृद्‌भिः समु श्रिया नासत्या सचेथे ।।

सायण ने इस संबन्ध में एक अन्त:कथा का उल्लेख किया है। सूर्य अपनी पुत्री **सूर्या** को **सोम** को प्रदान करना चाहते थे। किन्तु सभी देवता उसे प्राप्त करना चाहते थे। उन्होंने निश्चय किया कि सूर्य को लक्ष्य बनाकर वे एक दौड़ लगाएँ और उसमें जीतने वाला सूर्या का पाणिग्रहण करे। अश्विनौ अपने अश्व (या गर्दभ, अर्वन्) पर दौड़े और सर्व प्रथम आये, अतः सूर्या उन्हीं के रथ पर चढ़ी—

सविता स्वदुहितरं सूर्याख्यां सोमाय राज्ञे प्रदातुमैच्छत् । तां सूर्यां सर्वे देवा वरयामासुः । ते अन्योन्यमूचुः । आदित्यमवधिं कृत्वा आजिं धावाम । यः अस्माकम् उज्जेष्यति तस्येयं भविष्यति इति । तत्र अश्विनौ उदजयताम् । सा च सूर्या जितवतः तयोः रथमारुरोह । अत्र प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् इति ब्राह्मणमनुसन्धेयम् ।

अन्त के वाक्य से स्पष्ट है कि सायण ने यह कथा **ऐतरेय ब्राह्मण** ४।२।१-३ के आधार पर दी है। **कौषीतकि ब्राह्मण** १८।१ में भी यह कथा सोमयाग के अवसर पर **'आश्विन-शास्त्र'** या अश्विनौ से संबन्धित एक सहस्र ऋचाओं के 'आश्विन' के नाम से अभिहित होने के कारण की व्याख्या करने के लिये वर्णित

की गई है। यहाँ यह स्मरणीय है कि इन दोनों ही ब्राह्मणों में अश्विनौ सूर्या को प्राप्त करने के लिये दौड़ नहीं लगाते। प्रजापति या सूर्य अन्य देवों के इच्छा करते हुए भी अपनी पुत्री सूर्या को सोम को ही देते हैं किन्तु जब ये बाद में 'वहतु'[1] के रूप में एक सहस्र (ऋचाएँ) देने (बाँटने) लगते हैं तो उनके लिये देवों में प्रतिस्पर्द्धा होती है। इसके लिये आजि या दौड़ होती है और काफी कर्मकाण्डीय जटिलताओं के पश्चात् अपने रासभ पर अश्विनौ दौड़ में जीतते हैं और ऋचाओं का नाम उनके ऊपर पड़ता है—

प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् सूर्यां सावित्रीम्।
तस्यै सर्वे देवा वरा आगच्छन्। तस्या एतत् सहस्रं वहतुमन्वाकरोत्
यदेतत् आश्विनम् इति आचक्षते.....तस्मिन् देवा न समजानत ममेदम्
अस्तु ममेदम् अस्तु इति। ते संजानाना अब्रुवन् आजिमस्यायामहै
स यो न उज्जेष्यति तस्येद भविष्यतीति.....। ऐ० ब्रा० ४।२।१।

नीतिमंजरीकार द्याद्विवेद ने भी सायण के भाष्य में दी गई उपर्युक्त कथा के आधार पर ४५ वें नीति श्लोक की रचना की है[2]।

ऋग्वेद के कुछ अन्य सूक्तों में भी सोम और सूर्या के विवाह का वर्णन प्राप्त होता है। दशम मण्डल का ८५ वां सूक्त इस संबन्ध में विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस सम्पूर्ण सूक्त को **सूर्यासूक्त** कहा जाता है। इसके नवम तथा चतुर्दश मन्त्रों में सोम को सूर्या का पति तथा अश्विनौ को 'वर के परिचर' कहा गया है। वे सोम की वरयात्रा में आते हैं—

सोमो वधूयुरभवत् अश्विनास्ताम् उभा वरा।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादददात्॥
यदश्विना पृच्छमानौ अयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
विश्वेदेवा अनु तद् वामजानन् पुत्रः पितरौ अवृणीत पूषा॥

---

१. यह शब्द इस प्रसंग में 'दहेज' का नहीं अपितु 'पुरस्कार' का वाची प्रतीत होता है। कन्या की बिदाई के समय पैसे लुटाने की प्रथा आज भी प्रचलित है।

२. **प्राप्नुयाद्विजयं सत्यात्तस्मात्सत्यं समाचरेत्।**
नासत्यावश्विनौ सूर्यां देवेभ्यो जिग्यतुः पुरा॥
द्रष्टव्य, सीताराम जयराम जोशी द्वारा संपादित **नीतिमञ्जरी** (बनारस, १९३३), पृ० ९७।

दशम मण्डल में संकलित होने के कारण ये मन्त्र पहले उद्‌धृत प्रथम मंडल के मंत्रों से निश्चित रूप से परवर्ती हैं। प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के प्रारंभिक काल में उषस् से घनिष्ठ संबन्ध के कारण अश्विनौ की उसके पति रूप में मान्यता थी किन्तु धीरे-धीरे सोम के चन्द्रमा के रूप में विकसित होने पर उषा का पतित्व सोम को स्थानान्तरित कर दिया गया। यहाँ यह स्मरणीय है कि दशम मंडल के इसी सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों में ही सोम का निश्चित रूप से चन्द्रमा से तादात्म्य किया गया है। ऋग्वेद से प्रारम्भिक मंत्रों में सोम केवल सोमलता का रस ही है। अश्विनौ जैसे देवों की अपेक्षा, जिनका प्राकृतिक आधार अत्यन्त अस्पष्ट या सूक्ष्म था, चन्द्रमा से सूर्य की पुत्री उषा का संबन्ध निश्चित रूप से अधिक उपयुक्त है। लगता है, उषा का अश्विनौ से सम्बन्ध केवल उनके प्रातःकाल से संबन्धित होने के ही कारण था, इसकी कोई गाथात्मक पृष्ठभूमि नहीं थी। अस्तु, **ऐ० ब्रा० और कौ० ब्रा०** में सूर्या और सोम के इसी विवाह का वर्णन किया गया है और सायण ने उसे यत्किंचित् परिवर्तित करके जिस मंत्र की व्याख्या में उसे उद्‌धृत किया है, उसका उससे कोई संबन्ध नहीं है।

अश्विनौ की मुख्यतः मानव मात्र के सहायक देवताओं के रूप में कल्पना की गई है। विशेषरूप से वे किसी शारीरिक व्याधि या रोग से ग्रस्त मनुष्य को स्वास्थ्य एवं नवजीवन प्रदान करते हुए वर्णित किये गये हैं। **ऋग्वेद ८।१८।८** में उन्हें देवों के वैद्य कहा गया है—

उतत्या दैव्या भिषजा शं नः करतो अश्विना।

अ० वे० ७।५३।१ में भी उन्हें देवों के वैद्य कहा गया है और उनसे मृत्यु को दूर रखने की प्रार्थना की गई है—

प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः।

अपनी ओषधियों द्वारा वे रोग-पीड़ितों की सहायता करते हैं। **ऋग्वेद** में उनकी दयालुता एवं पीड़ितों के प्रति सहानुभूति की अनेक कथाएँ उल्लिखित की गई हैं। इन कथाओं की संख्या ऋग्वेद में किसी भी देवता से सम्बन्धित कथाओं से अधिक है। यही कारण है कि **नीतिमंजरी** में अश्विनौ के सम्बन्ध में लगभग ३० कथाओं का वर्णन किया गया है। खेल नाम के राजा की **विश्पला** नामक स्त्री के चरण को शत्रुओं ने काट डाला था। उसके पुरोहित अगस्त्य ने अश्विनौ की स्तुति की और उन्होने रात्रि को आकर उसके लोहे की एक टाँग लगा

दी—(सद्यो जंघामायसीं विश्पलायै धनेहिते सर्त्तवे प्रत्यधत्तम्, ऋ० वे० १।११६।१५ तथा १।११२।१०, १।११७।११, १।११८।८ और १०।३९।८ [1] । वृषागिर् नामक राजा के **ऋज्राश्व** नामक एक पुत्र था। एक बार उसने अश्विनौ की वृकी के लिये प्रजा के १०१ मेष मार डाले। पिता ने जब उसे शाप से अन्धा कर दिया तो आश्विनौ ने उसे नेत्र दिये (शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पिता अन्धं चकार। तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन्, ऋ० वे० १।११६।१६ तथा १।११७।१७-१८)[2] । इसी प्रकार लँगड़े और अन्धे को भी उन्होंने चलने और देखने की शक्ति प्रदान की (याभिः शचीभिः वृषणा परावृजं प्रान्धं श्रोणं चक्षस एतवे कृथः, ऋ० वे० १।११२।८)। उन्होंने वृद्ध **च्यवन** ऋषि को फिर से यौवन प्रदान करके पत्नी का प्रिय बनाया (युवां च्यवानम् अश्विना जरन्तं पुनः युवान चक्रथुः शचीभिः, ऋ० वे० १।११७।१३ तथा १।११६।१०, १।११८।६, ५।७४।५, ७।६८।६, ७।७१।५, १०।३९।४)[3] । इसी प्रकार कलि राजा को भी उन्होंने पुनर्यौवन प्रदान किया (पुनः कलेरकृणुतं युवद् वयः, ऋ० वे० १०।३९।८) और उसे एक पत्नी प्रदान की (१।११२।१५) ।

इन भिषक्कर्मों के अतिरिक्त उन्होंने अनेक कष्ट-पीड़ित मानवों की भी सहायता की है। तुग्र के पुत्र भुज्यु को उन्होंने गहरे समुद्र से निकाला और उसे डूबने से बचाया (यदश्विना ऊहथुः भुज्यमस्तं शतारित्रां नाव्यमातस्थिवांसम्, ऋ० वे० १।११६।५ आदि)। मृत की भाँति एक गर्त में पड़े हुए **वन्दन** को भी उन्होंने संकट से उबारा (ऋ० वे० १।११६।६, १०।३९।८)। जाहुष नाम का राजा शत्रुओं से घिर गया था। रात्रि में उसे अपने रथ पर चढ़ा कर

---

१. **न सञ्चरणशीलः स्यान्निशि निःशंकमानसः।**
विश्पला छिन्नपादाऽऽसीत् खेलस्याजौ यतो निशि॥
—नीतिमञ्जरी, ४३

२. **यो हितोऽन्यः पिता ज्ञेयो ह्यहितोऽपि पिताऽपिता।**
ऋज्राश्वोऽन्धः कृतः पित्रा नासत्याभ्यां सुलोचनः॥
—नीतिमञ्जरी, ४४

३. **सर्वेषामेव जन्तूनां सर्वदुःखाधिका जरा।**
च्यवनोऽप्यश्विनौ स्तुत्वा तयार्त्तोऽभूत्पुनर्युवा॥
—नीतिमञ्जरी, ३८

अश्विनौ शत्रु-सेना के बाहर ले गये (ऋ० वे० १।११६।२० तथा ७।७१।५)। विमद को उन्होंने एक पत्नी प्रदान की (१०।६५।१२) और त्वग्रोग के कारण पिता के घर में ही बूढ़ी हो रही घोषा को उपयुक्त पति की प्राप्ति कराई (१।११७।७, १०।४०।५)। पेदु को उन्होंने एक सुन्दर अश्व प्रदान किया (१।११६।६) और शयु की जीर्ण धेनु में दुग्ध उत्पन्न किया (१।११६।२२) आदि आदि।

अश्विनौ से संबन्धित ये कथाएँ हमारे काम की नहीं हैं क्योंकि इनमें से, केवल च्यवन को यौवन प्रदान करने की कथा को छोड़ कर अन्य कोई कथा न, तो परवर्ती संहिताओं में ही प्राप्त होती है, न ब्राह्मणों में ही। इन कथाओं का केवल ऋग्वेद तक ही सीमित रहना कुछ आश्चर्यजनक है क्योंकि वैदिक देवो से संबन्धित अधिकांश कथाएँ किसी न किसी रूप में यदि ब्राह्मण ग्रंथों में नहीं, तो कम से कम पौराणिक साहित्य में तो अवश्य ही उल्लिखित की गई हैं। प्रतीत होता है कि इन कथाओं में अधिसंख्य का कोई न कोई ऐतिहासिक आधार अवश्य है। अश्विनौ का मनुष्यों के कल्याण एवं आरोग्य से विशेष सम्बन्ध होने के कारण कुछ असामान्य एवं चमत्कारी प्रतीत होने वाली घटनाएँ अश्विनौ से संबन्धित कर ली गई हैं। सत्य एवं ऐतिहासिक होने के कारण इनका प्राकृतिक दृश्यों या अन्य आधारों पर आश्रित काल्पनिक कथाओं की भाँति मनमाना विकास नहीं हो सका।

च्यवन की कथा श० ब्रा० ४।१।५।१-१५ में विस्तार से कही गई है और उसके पश्चात् वह और अधिक विस्तार से **महाभारत** में तथा अत्यन्त परिष्कृत एवं संक्षिप्त रूप में **श्रीमद्भागवत** में प्राप्त होती है। श० ब्रा० की कथा अपने मूल में कर्मकाण्डीय है। अश्विनौ को सोमयाग में भाग क्यों दिया जाता है, वह इसकी व्याख्या प्रस्तुत करती है। संक्षेप में वह इस प्रकार है :—

'जब **भार्गव** और **अंगिरस्** ऋषिगण स्वर्ग जाने लगे तो वे **च्यवन** को यहीं छोड़ गये। वे अत्यन्त कुरूप तथा प्रेतों के समान विकराल आकृति वाले थे। राजा **शर्याति** के शिविर के पास घूमते हुए उसके पुत्रों ने उन्हें देखा और लोष्ठों से मारा। च्यवन ने उन्हें उन्मत्त कर दिया। वे आपस में लड़ने लगे। तब शर्याति अपनी पुत्री **सुकन्या** को लेकर च्यवन के पास गये और उसे स्वीकार करके क्रोध शान्त करने की प्रार्थना की। ऐसा ही हुआ। एक दिन अश्विनौ ने सुकन्या को देखा और उसकी इच्छा की। उन्होंने उससे अपने बूढ़े और कुरूप पति को छोड़

देने के लिये कहा। जब सुकन्या ने च्यवन से यह बताया तो ऋषि ने कहा कि तुम अश्विनौ से कहना कि "तुम स्वयं असमृद्ध तथा असंपूर्ण हो, फिर भी मेरे पति की निन्दा करते हो"। यदि वे पूछें, कैसे ? तो उनसे कहना कि पहले मेरे पति को युवा बनादो, तब बताऊँगी। दुबारा जब अश्विनौ आये तो ऐसा ही हुआ। उन्होंने एक ह्रद में स्नान करवा कर च्यवन को युवा बना दिया। तब ऋषि ने उन्हें बताया कि कुरुक्षेत्र में देवता यज्ञ कर रहे हैं, किन्तु तुम्हें अयोग्य समझ कर यज्ञ-भाग नहीं दे रहे। यह सुनकर अश्विनौ वहाँ गये और देवों से इसका कारण पूछा। उन्होंने कहा कि तुम लोग चिकित्सा के प्रसंग में मनुष्यों के बीच बहुत अधिक रहते हो, अतः हम तुम्हें यज्ञ के अयोग्य समझते हैं। "लेकिन आप लोग भी तो शिरोविहीन यज्ञ कर रहे हैं", अश्विनौ ने कहा। देवों ने जब इसका कारण पूछा तो उन्होंने अपना यज्ञ-भाग निश्चित करवाकर और उसे प्राप्त करके यज्ञ का सिर जोड़ दिया'—

यत्र वै भृगवो वा अंगिरसो वा स्वर्गं लोकं समाश्नुवत तत् च्यवनो भार्गवः.....जीर्णिः कृत्यारूपो जहे। शर्यातो वा इद मानवो ग्रामेण चचार...तस्य कुमाराः क्रीडन्त इमं जीर्णि कृत्यारूपम् अनर्थ्यं मन्यमाना लोष्ठैः विपिपिषुः। स शार्यातिभ्यश्चुक्रोध। तेभ्यः असंज्ञां चकार। पितैव पुत्रेण युयुधे, भ्राता भ्रात्रा। शर्यातो ह वा ईक्षांचक्रे यत् 'किमकरम्, तस्मादिदमापदि' इति।.......स विदांचकार स वै च्यवन इति। स रथं युक्त्वा सुकन्यां शार्यातीम् उपाधाय प्रसिष्यन्द... 'ऋषे नमस्ते। यन्नावेदिषम् तेन अहिंसिषम्। इयं सुकन्या तया ते अपह्नुवे'।

......अश्विनौ ह वा इदं भिषज्यन्तौ चेरतुः। तौ सुकन्याम् उपेयतुः। तस्यां मिथुनमीषाते। तौ होचतुः 'सुकन्ये कमिमं जीर्णिं कृत्यारूपम् उपशेषे ? आवाम् अनुप्रेहि' इति। सा होवाच 'यस्मै मां पिता अदात् नैवाहं तं जीवन्तं हास्यामि' इति। तद् ह अयम् ऋषिः आजज्ञौ। स होवाच....सुकन्ये यदि त्वेतत् पुनर्ब्रुवतः सा त्वं ब्रूतात् 'न वै सुसर्वौ इव स्थ न सुसमृद्धौ इव। अथ मे पतिं निन्दथः'। तौ यदि त्वा ब्रुवतः 'केन आवाम् असर्वौ स्वः केन असमृद्धौ इति' ? सा त्वं ब्रूतात् 'पतिं मे पुनर्युवाणं कुरुतम् अथ वां वक्ष्यामीति'....।

तौ होचतुः एतं ह्रदमभ्यवहर। स येन वयसा कमिष्यते तेनो-देष्यतीति....तौ ह ऋषिरेव प्रत्युवाच—कुरुक्षेत्रे अमी देवा यज्ञं

तन्वते ते वां यज्ञादन्तर्यन्ति....तौ ह तत एव प्रेयतुः 'उप नौ ह्वयध्व-मिति'। नेह देवा ऊचुः 'न वाम् उपह्वयिष्यामहे। बहु मनुष्येषु संसृष्टमचारिष्टं भिषज्यन्तौ' इति।

तौ होचतुः 'विशीर्ष्णा वै यज्ञेन यजध्व' इति। 'कथं विशीर्ष्णेति ?' 'उप नौ ह्वयध्वम् अथ वो वक्ष्यावः' इति। ताभ्यामेतम् आश्विनं ग्रहमगृह्णन्। ...तौ एतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तम्॥

श० ब्रा० ४।१।५।१।१५

वस्तुतः इस कथा में अश्विनौ से संबन्धित दो कथाएं जुड़ी हुई हैं। कथा का पहला भाग वह है जिसमें अश्विनौ च्यवन को युवा बनाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अश्विनौ द्वारा च्यवन को युवा बनाने का कृत्य अन्य मानव-कल्याणकारी कृत्यों के साथ ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर वर्णित है। कथा के दूसरे भाग में अश्विनौ को शिरोविहीन यज्ञ को पूर्ण करते हुए या यज्ञ का सिर जोड़ते हुए वर्णित किया गया है। यह अंश पूर्णतः कर्मकाण्डीय है। विष्णु के प्रसंग में सोमयाग के प्रवर्ग्य नामक कृत्य का उल्लेख आया है। इस अत्यन्त रहस्यमय यज्ञिय-कृत्य को अपने निरतिशय महत्त्व के कारण 'यज्ञ का सिर' या मुख्य भाग कहा गया है[1]। जब तक देवता इस कृत्य को नहीं जानते थे तब तक वे मानो शिरोविहीन यज्ञ किया करते थे।

तेन अपशीर्ष्णा यज्ञेन देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः

(अपशीर्ष्णा अपगतशिरस्केन प्रवर्ग्यविरहितेन विभक्तेन यज्ञेन—सायण)

दध्यङ् (दधीचि) ऋषि इस प्रवर्ग्य या **मधु-विद्या** को जानते थे। अश्विनौ ने जब देखा कि दध्यङ् को यह विद्या जाती है कि यज्ञ का सिर किस प्रकार जोड़ा जाता है और कैसे उसे पूर्ण किया जाता है (यथा यथैतद् यज्ञस्य शिरः प्रतिधीयते। यथैष कृत्स्नो यज्ञो भवति, श० ब्रा० १४।१।१।१८), तो वे उसे जानने के लिये उनके पास पहुँचे। इन्द्र ने दध्यङ् को मना किया कि आप अश्विनौ को यह मधुविद्या या प्रवर्ग्य-रहस्य न बताएं नहीं तो मैं आपका सिर काट डालूंगा (श०ब्रा० १४।१।१।१९)। अश्विनौ को जब यह पता लगा तो उन्होंने दध्यङ् की अनुमति से एक अश्व का सिर लाकर उनके जोड़ दिया (१४।१।१।३३) और ऋषि से सारी प्रवर्ग्य विद्या प्राप्त कर ली। जब इन्द्र ने युद्ध होकर दध्यङ् का अश्व-शिर काट डाला तो अश्विनौ

---

१. देखिये, श० ब्रा० १४।१।१।१७।

ने दध्यङ् का पहले वाला मनुष्य-शिर लाकर जोड़ दिया (१४।१।१।२४, अथास्य इन्द्र शिरश्चिच्छेद। अथास्य स्वं शिर आहृत्य तद् ह अस्य प्रतिदधतुः)।

इस कथा के बीज ऋग्वेद में ही प्राप्त होते है। ऋ० वे० १।११७।२२, १।११६।१२, १०।४८।२ तथा सबसे अधिक स्पष्ट शब्दों में १।११६।१२ में इसका संकेत किया गया है—

दध्यङ् ह यन्मधु आथर्वणो वाम् अश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच।

श० ब्रा० के चतुर्दश काण्ड में आये बृहदारण्यक उप० २।५।१६,१७,१८ में भी दध्यङ् द्वारा अश्वशिर से अश्विनौ को प्रवर्ग्य की इस मधुविद्या के प्रदान करने का उल्लेख है—

इदं वै तन्मधु दध्यङ् अथर्वणो अश्विभ्यामुवाच तदेतद् ऋषिः
पश्यन्नवोचद् आथर्वणाय अश्विना दधीचे अश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्॥

यज्ञ की शिरोभूत इसी प्रवर्ग्य-विद्या के ज्ञाता होने के कारण ही अश्विनौ ने कुरुक्षेत्र में देवताओं से जाकर कहा था कि वे अपगतशिरस्क यज्ञ कर रहे है और अपना सोमभाग पाने पर उन्होंने देवों का यज्ञ की शिरोभूत इस विद्या का उपदेश देकर यज्ञ को सर्वांगसंपन्न बना दिया। च्यवन एवं दध्यङ् की इन दोनों कथाओं के तत्त्वों को मिलकर शतपथब्राह्मणकार ने ग्रह-याग में अश्विनौ के लिये दिये जाते वाले सोम-भाग की बड़ी सुन्दर कर्मकाण्डीय व्याख्या की है।

कथा का द्वितीय अंश **तै० सं०** ६।४।९, **मै० सं०** ४।६।१।२ तथा **कठ० सं०** २७।४।५ में भी प्राप्त होता है। इन स्थानों में च्यवन ऋषि का कोई उल्लेख नहीं है। अश्विनौ यज्ञ के कटे हुए सिर को जोड़ते हैं और बदले में देवता उन्हें बहिष्पवमान स्तोत्रों से पवित्र करके सोम का अधिकारी बना देते हैं। वैद्य होने के कारण इन्हें पहले 'अपूत' तथा 'अमेध्य' समझा जाता था—

यज्ञस्य शिरः अच्छिद्यत्। ते देवा अश्विनौ तब्रुवन् 'भिषजौ वै स्थः। इदं यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तम्' इति। तौ अब्रूताम् 'वरं वृणावहै। ग्रहा एव नौ अत्रापि गृह्यताम्' इति। ताभ्यामेतम् आश्विनम् अगृह्णन्। ततो वै तौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तम्.... तौ देवा अब्रुवन् 'अपूतौ वै इमौ मनुष्यचरौ भिषजौ' इति.... अपूतौ ह एष अमेध्यो यो भिषक्। तौ बहिष्पवमानेन पावयित्वा ताभ्यामेतमाश्विनमगृह्णन्।

तै० सं० ६।४।९।१

निश्चित रूप से कृष्ण-यजुर्वेद की संहिताओं में प्राप्त कथा का यही रूप सर्वाधिक प्राचीन है। सोम से बहिष्कृत अश्विनौ का प्रवर्ग्य-विद्या सीख कर यज्ञ को पूर्ण करना और परिणामस्वरूप यज्ञ का भागी बनना ही कथा का प्रमुख प्रतिपाद्य है। किन्तु श० ब्रा० में च्यवन की कथा इतनी चतुरतापूर्वक मुख्य कथा से संबन्धित कर दी गई है कि उसका पृथक्करण असंभव है। परवर्ती ग्रंथों में कथा का जो रूप है उसमें श० ब्रा० की ही कथा आधारभूत रही है।

महाभारत में कथा का मुख्य अथवा कर्मकाण्डीय दूसरा भाग लगभग विलुप्त हो गया है और इसने एक नया रूप धारण किया है। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि यज्ञ आदि की महत्त्वहीनता के कारण उस समय उसकी कोई आवश्यकता न थी। कथा कर्मकाण्ड के क्षेत्र को छोड़ कर स्वतंत्र आकार धारण करती है जिसमें तपस्या की शक्ति ही सर्वोपरि है।

महाभारत **वनपर्व** के दो अध्यायों (१२३ तथा १२४) में च्यवन ऋषि की यह कथा प्राप्त होती है। पयोष्णी नदी के तट पर महर्षि च्यवन दीर्घकाल तक तपस्या करते हैं जिससे उनके ऊपर मिट्टी तथा घास आदि जम जाती है। एक दिन शर्याति अपनी चार पत्नियों तथा पुत्री सुकन्या के साथ क्रीड़ा करता हुआ उधर आ निकलता है। सुकन्या सखियों के साथ खेलती हुई वल्मीक के पास पहुँचती है। वल्मीक के अन्दर से चमकती हुई दो आँखें दिखाई पड़ती है। कौतूहल वश सुकन्या उनमें कांटा चुभा देती है। च्यवन क्रुद्ध होकर राजा के सैनिकों का मल-मूत्र बन्द कर देते है। जब राजा को अपनी कन्या द्वारा च्यवन को कष्ट देने का वृत्तान्त पता चलता है तो वह सुकन्या के साथ क्षमा याचना करने पहुँचता है। च्यवन सुकन्या की माँग करते है। राजा उन्हें अपनी पुत्री प्रदान करता है। एक दिन अश्विनी कुमार सुकन्या को देखते हैं और और उससे अपने वृद्ध पति को छोड़ कर अपने में से किसी एक का वरण करने की सलाह देते है। सुकन्या इसे नहीं मानती। उसके पातिव्रत्य से प्रसन्न होकर अश्विनीकुमार उसके पति को युवक बना देने के लिये एक सरोवर में प्रविष्ट कराते हैं और स्वयं भी उसमें प्रविष्ट होते है। सरोवर से तीनों एक ही आकृति के सुन्दर युवकों के रूप में निकलते हैं पर सुकन्या अपने पति को पहचान जाती है।

अश्विनीकुमारों के इस उपकार से प्रसन्न होकर च्यवन उन्हें यज्ञ में सोमपान के अधिकारी बना देने का आश्वासन देते हैं। अपने श्वसुर शर्याति

से वे यज्ञ करवाते हैं[1] और उसमें अश्विनीकुमारों को देने के लिये सोम ग्रहण करते हैं। इन्द्र प्रकट होकर च्यवन को ऐसा करने के लिये मना करते हैं और च्यवन के न मानने पर वज्रप्रहार करने के लिये उद्यत होते हैं। च्यवन वज्रसहित उनकी भुजा को स्तम्भित कर देते हैं और इन्द्र के विनाश के लिये यज्ञकुण्ड से **मद** नामक दैत्य की सृष्टि करते हैं। इन्द्र घबरा कर अश्विनी-कुमारों को सोमपान का अधिकारी मान लेते है और च्यवन मद को स्त्री, द्यूत, स्वर्ण तथा सुरा में विभक्त कर देते है।

इस कथा में अश्विनीकुमारों की प्रवर्ग्य-विद्या आदि के ज्ञाता होने से सोमपान की योग्यता नहीं वर्णित की गई। यह च्यवन को किये गये उपकार का फल है। च्यवन इस कथा में अत्यन्त सक्रिय भाग लेते हैं जब कि श० ब्रा० में वे अश्विनौ को केवल एक सुझाव मात्र देकर विरत हो जाते हैं। अश्विनौ ने च्यवन के साथ जो उपकार किया उसका बदला च्यवन से ही दिलाकर महाभारत के लेखक ने कथा को अधिक औचित्यपूर्ण तथा सजीव बना दिया है। अब तप का प्रभाव इतना अधिक है कि इन्द्र जैसे देवता भी उससे घबराते हैं।

श्रीमद्भागवतकार ने २६ श्लोकों में (९।२।१-२६) इस कथा का वर्णन किया है। कथा की रूपरेखा पूर्णतः महाभारत के अनुसार है किन्तु उससे थोड़ी सी परिष्कृत है। एक बार अश्विनीकुमार च्यवन के आश्रम में आते हैं। ऋषि उनसे अपने को युवा बनाने की प्रार्थना करते हैं और बदले में सोमपान के अधिकारी बनाने का वचन देते हैं। अश्विनीकुमारों को यहाँ सुकन्या के इच्छुक नहीं प्रदर्शित किया गया। मद दानव का भी कोई उल्लेख नहीं है। जब राजा शर्याति अपने जामाता के आश्रम आता है और वृद्ध च्यवन को न देख कर सुकन्या के साथ एक युवक को देखता है तो उसकी जो प्रतिक्रिया होती है उसका भागवतकार ने इन शब्दों में वर्णन किया है—

राजा दुहितरं प्राह कृतपादाभिवन्दनाम्।
आशिषश्चाप्रयुञ्जानो नातिप्रीतिमना इव ॥

---

१. वाज० सं० ७।३५ में शर्याति का एक प्रसिद्ध सोमयज्ञकर्ता के रूप में उल्लेख हुआ है—**इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमं यथा शार्यातिः अपिबः सुतस्य।** तु० की० **जैमिनीय उपनिषद्** ब्राह्मण ४।७।१ तथा ८।३।५।

**चिकीर्षितं ते किमिदं, पतिस्त्वया प्रलम्भितो लोकनमस्कृतो मुनिः ।
यत् त्वं जराग्रस्तमसत्यसम्मतं विहाय जारं भजसेऽमुमध्वगम् ॥
कथं मतिस्तेऽवगतान्यथा सतां कुलप्रसूते कुलदूषणं त्विदम् ॥
विभर्षि जारं यदपत्रपा कुलं पितुश्च भर्तुश्च नयस्यधस्तमः ॥**

ब्राह्मणग्रन्थों तथा कृष्ण यजु० संहिताओं में अन्यत्र भी कुछ स्थानों पर अश्विनौ को मूलतः सोमपान का अनधिकारी बताया गया है; उदा० तै० सं० २।१।१० में कहा गया है कि जो ब्राह्मण तुच्छ होने पर भी सोमपान का अधिकारी बनना चाहता है उसे अश्विनौ की उपासना करनी चाहिये क्योंकि अश्विनौ भी पहले सोम के अधिकारी नहीं थे[1], बाद में हो गये —

आश्विनम् ...आलभेत यो दुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासेत् । अश्विनौ वै देवानामसोमपौ आस्ताम् । तौ पश्चात् सोमपीथं प्राप्नुताम्.... ।

किन्तु आश्चर्य की बात है कि वैदिक संहिताओं में ऐसा कोई संकेत नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि अश्विनौ मूलतः सोमयाग से बहिष्कृत थे। ऋ० वे० ३।५।७७,९ में उन्हें सोम के प्रेमी बताया गया है और ८।३५।१ में उषा तथा सूर्य के साथ सोमपान के लिये उनका आवाहन भी किया गया है। वाज० सं० में भी वाजपेय यज्ञ के अवसर पर इन्द्र तथा सरस्वती के साथ विशेष रूप से उन्हीं को सोमपान के लिये आमन्त्रित किया गया है[2] ।

अश्विनौ के भिषक्त्व तथा सोमपान से इस संबन्ध के अतिरिक्त उनके

---

१. आदरणीय गुरुवर प्रो० उलरिष् श्नाइडर का मत है कि अश्विनौ के मूलतः अपूज्य होने के पीछे अत्यन्त प्राचीन लोक-विश्वास की यह धारणा काम कर रही है कि यमल या जुड़वाँ संतानों में एक जारज होती है। वैदिक भारत में भी जुड़वाँ सन्तान होने पर उसके शुद्धीकरण हेतु एवं अनिष्ट निवारण के लिये किये जाने वाले कृत्यों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद का प्रसिद्ध यम-यमी सूक्त (१०/१०) ऐसे ही किसी धार्मिक कृत्य में प्रयुक्त किया जाता था (**इंडो-ईरानियन जर्नल**, भाग १०, १९६७, पृ० १३-३२)।

२. हिलेब्रांड्ट ने अवश्य अपने **वेदिशे मिथोलोगी** (प्रथम भाग, पृ० २४९) नामक ग्रन्थ में ऋग्वेद के कुछ उद्धरणों से यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अश्विनौ पहले सोमयाग से बहिष्कृत थे।

विषय में अन्य कोई महत्त्वपूर्ण उल्लेख ब्राह्मणों में प्राप्त नहीं होते। अथर्ववेद में भी अश्विनौ के संबन्ध में अधिकांशतः संक्षेप में उन्हीं विशेषताओं का उल्लेख हुआ है जो ऋग्वेद में पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ **अ० वे० ३।१६।१** में उनका प्रातःकाल आह्वान किया गया है। ७।३५।१ में उन्हें 'देवों के वैद्य' (देवानां भिषजा) बताया गया है। **अ० वे०** ५।२५।३ में कहा गया है कि वे कमल-पुष्पों की माला धारण करते है (पुष्करस्रजा)। ६।१।१६ में अश्विनौ से प्रार्थना की गई है कि तेजस्वी अश्विनौ स्तुतिकर्ता (की वाणी) को मधु से अभ्यक्त करें जिससे वह सभा में वर्चस्वती वाणी बोले—

अश्विना सारघेण मा मधुनाक्तं शुभस्पती।
यथा वर्चस्वती वाचम् आवदानि जनाँ अनु॥

"जिस प्रकार मधुमक्खियाँ छत्ते में मधु एकत्र करती हैं उसी प्रकार अश्विनौ मेरे अन्दर तेज (वर्चस्) धारण करें" (यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि। एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्, **अ० वे०** ६।१।१६)। अश्विनौ और मधु के संबन्ध में यह (६।१) सम्पूर्ण सूक्त महत्त्वपूर्ण है। **अ० वे०** २।३०।२ में कहा गया है कि अश्विनौ दो प्रेमियों को परस्पर मिलाते है (**अश्विना कामिना सं च वक्षथः**)। १४।१।३५ में विवाह के अवसर पर अश्विनौ से वधू को कांतिमती तथा वर्चस्वती बनाने की प्रार्थना की गई है और ५।२५।३ में कहा गया है कि वे ही स्त्रियों में गर्भ को उत्पन्न करते हैं (**गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा**)।

गृह्यसूत्रों में भी अश्विनौ के स्वरूप में प्राचीन वैदिक ग्रंथों की अपेक्षा कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं प्राप्त होता। उनको 'पुष्करस्रजौ' कहा गया है तथा उन्हें अत्यन्त बुद्धिमान् मान कर अपने अन्दर मेधा के संचार के लिये उनका आह्वान किया गया है (मेधां मे अश्विनावुभौ आधत्तां पुष्करस्रजौ, **पारस्कर गृ० सू०** १।३।१६)। यजुर्वेद में अश्विनौ के बाहुओं का बड़ा महत्त्व है जिनसे वे आर्तों की सहायता करते हैं। **गोभिल गृ०सू०** २।१०।२६ में (तथा अन्यत्र भी) उपनयन संस्कार के अवसर पर आचार्य शिष्य का हाथ **वाज० सं०** के इन्हीं शब्दों से साथ पकड़ते है—**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां ....गृह्णामि**। ऋग्वेद में अश्विनौ के एक श्रेष्ठ रथी माने जाने के कारण **हिरण्यकेशी गृ० सू०** १।४।२ में रथ पर चढ़ने से पूर्व अश्विनौ की स्तुति की जाती है और स्तुतिकर्ता उनसे रथ तथा रथी को सुरक्षित रखने की प्रार्थना करता है।

हिरण्यकेशी गृ० सू० १।७।२५ में विवाह के अवसर पर अश्विनौ से वधू के उरोजों को सुरक्षित रखने की प्रार्थना की गई है और गर्भाधान संस्कार के अवसर पर गर्भ स्थापित करने के लिये प्रायः सभी गृह्यसूत्रों में उनका आह्वान प्राप्त होता है।

अश्विनौ शब्द का मूल भाव क्या है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अश्वी का अर्थ है 'जिसके पास अश्व हों'। यास्क के पूर्वज और्णवाभ ने अश्विनौ की इसी प्रकार व्याख्या की है—**अश्वैरश्विनौ इत्यौर्णवाभः** (निरुक्त, १२।१)। किन्तु अश्विनौ के ऋग्वैदिक स्वरूप में अश्वों से ऐसा कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। उनके रथ के अश्वों का उल्लेख अवश्य हुआ है पर इसमें कोई विशेषता नहीं है क्योंकि ऋग्वेद में अनेक देवों के अश्वों का उल्लेख मिलता है। अश्व शब्द 'अश्-व्याप्तौ' धातु से बना है, अतः ब्राह्मण ग्रन्थों में (देखिये **बृ० उ०** १।१।२) में संसार को अपनी किरणों से व्याप्त कर लेने के कारण सूर्य को 'अश्व' कहा गया है। मैक्डानल का मत है कि अश्व शब्द सूर्य की किरणों का भी वाची है अतः **'अश्विन्'** शब्द इनके सूर्य या प्रकाश से सम्बन्ध का द्योतक है[1]।

अश्विनौ के लिये ऋग्वेद में **नासत्या** और **दस्रा** ये दो विशेषण बहुत अधिक प्रयुक्त हुए हैं। नासत्या का सम्भवतः अर्थ है 'जो असत्य न हों', सत्य-युक्त, सत्य संकल्प। किन्तु दस्र शब्द के 'नाशक' (गोल्डश्टुकर), 'विचित्र' या 'आश्चर्यजनक' (मैक्डानल) तथा 'दर्शनीय' (सायण) आदि कई अर्थ किये गये हैं। इनमें से 'नासत्या' शब्द अत्यधिक प्राचीन है और बोगाज़क्यूई के मृत्फलकों में ही (देखिये पीछे पृ० ३४) अश्विनौ के लिये प्रयुक्त पाया जाता है। आगे चल कर ये दो विशेषण दोनों अश्विनीकुमारों के पृथक्-पृथक् नाम (एक का नासत्य, दूसरे का दस्र) बन गये हैं। सर्वप्रथम सम्भवतः बृहद्देवता में इन शब्दों का अश्विनौ-युग्म में से एक-एक के नाम के रूप में उल्लेख हुआ है—

नासत्यश्चैव दस्रश्च यौ स्तुतावश्विनाविति । ७।६

महाभारत, आदि० ६६।३५ तथा **अनु०** १५०।१८ में भी अश्विनौ के इन्हीं दो नामों का उल्लेख हुआ है। किन्तु ऋग्वेद में दस्र एवं नासत्य शब्द अश्विनौ के **सम्मिलित रूप से** विशेषण हैं जैसा कि इन शब्दों के सदा द्विवचन में प्रयुक्त होने से प्रतीत होता है—

---

१. मैक्डानल, **वै० मा०**, पृ० ५३।

ता वल्गू दस्रा पुरुषाकतमा (ऋ० ६।६२।५)

अश्विनावेह गच्छतम् नासत्या मा विवेनतम् (ऋ० ५।७८।१)

बोग़ाज़क्यूई के मृत्फलक में भी नासत्या शब्द द्विवचन में ही प्रयुक्त हुआ है ।

अस्तु, अश्विनौ की उत्पत्ति के विषय में ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में एक महत्त्वपूर्ण मंत्र प्राप्त होता है । ऋग्वेद १०।१७।२ में कहा गया है कि 'देवताओं ने अमर....को मर्त्य मनुष्यों से छिपा लिया और उसी प्रकार की एक....को विवस्वान् को दे दिया । जब ऐसा हुआ तो सरण्यू ने अश्विनौ को जन्म दिया और दो मिथुनों या पुत्र-पुत्रियों को छोड़ दिया'—

अपागूहन् अमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णाम् अददुः विवस्वते ।
उत अश्विनौ अभरद् यत् तदासीत् अजहात् उ द्वा मिथुना सरण्यूः ॥

यह मन्त्र **अ० वे० १८।२।३३** में भी आया है । इसी भाव से सम्बन्धित **अथर्ववेद** में एक और मन्त्र प्राप्त होता है—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥ १८।१।५३

"त्वष्टा जो दहेज अपनी पुत्री को देता है उससे यह सारा संसार व्याप्त हो जाता है । विवाह होने के पश्चात् यम की माता और विवस्वान् की पत्नी खो गई (या चली गई)" ।

दोनों ही मन्त्र अत्यधिक अस्पष्ट हैं, किन्तु इनके आधार पर परवर्ती आचार्यों ने विवस्वान् की पत्नी सरण्यू, उसके पुत्र यम-यमी, सवर्णा तथा अश्विनौ की उत्पत्ति आदि संकेतों को लेकर एक अत्यन्त रोचक तथा सजीव कथा का संघटन किया है । अत्यन्त संक्षेप में सर्वप्रथम यास्क ने (निरुक्त १२।१० में) यह कथा दी है किन्तु यह कथा उनसे पूर्ववर्ती है जैसा कि उनके प्रथम वाक्य से ही स्पष्ट है—

तत्रेतिहासमाचक्षते । त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्यात् यमौ मिथुनौ जनयांचकार । सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधाय आश्व रूपं कृत्वा प्रदुद्राव । स विवस्वानादित्यः आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य संबभूव । ततः अश्विनौ जज्ञाते सवर्णायां मनुः ।

—निरुक्त १२।१०

"त्वष्टा की पुत्री सरण्यू के गर्भ से आदित्य या विवस्वान् के संयोग से यम और यमी उत्पन्न हुए। वह सवर्णा नाम की एक अन्य स्त्री को (विवस्वान् के पास रख कर) अश्व का रूप धारण करके चली गई। तब विवस्वान् ने भी उसके पास जाकर अश्व का रूप धारण करके उससे संगम किया और उससे दोनों अश्विनौ की उत्पत्ति हुई"।

इस कथा पर दृष्टि डालने से विदित होगा कि इस कथा का रचयिता उपर्युक्त वैदिक मन्त्रां के आधार पर अश्विनौ के अश्व से विशेष सम्बन्ध की व्याख्या करने की चेष्टा कर रहा है। उसके मत से अश्विनी या बडवा से उत्पन्न होने के कारण ही इन्हें अश्वी या अश्विनौ कहा जाता है। वैदिक मन्त्रों में सरण्यू एवं विवस्वान् के अश्वरूप धारण करने का कोई संकेत नहीं है किन्तु कथा को यह मोड़ कथाकार ने उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही दिया है। यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से 'अश्विन्' का तात्पर्य 'अश्व से उत्पन्न हुआ' नहीं है पर 'इतिहास' की दृष्टि से इस शब्द की यही सर्वाधिक सन्तोषजनक व्याख्या है। परवर्ती साहित्य में यह कथा अत्यधिक प्रसिद्ध हुई है और इसका पर्याप्त पल्लवन किया गया है। अश्वा-रूपधारिणी सरण्यू से उत्पन्न होने के कारण महाभारत एवं पुराणों में अश्विनौ के स्थान पर **अश्विनी-कुमार** नाम अधिक प्रचलित एवं सामान्यतया प्राप्य है। 'अश्विनौ' से 'अश्विनीकुमार' नाम का यह परिवर्तन साधारण नहीं है, सके पीछे एक छोटा सा इतिहास है।

अस्तु, यास्क के बाद बृहद्देवताकार ने कुछ विस्तार से इस कथा का वर्णन किया है (**बृ० दे०** ६।१६२-६३, ७।१-७)। अन्तिम श्लोक में बृहद्देवताकार ने लिखा है कि ऐसा इतिहास यास्क सरण्यू-देवी विषयक दो ऋचाओं (१०।१७०।१, २) में मानते हैं (**इतिहासमिमं यास्कः सरण्यूदेवते द्वच् चे.... मन्यते**)। इससे प्रतीत होता है कि बृहद्देवता के समय भी यह कथा प्राचीनतम रूप में निरुक्त में ही प्राप्य थी। बृहद्देवता की कथा इस प्रकार है—

> **अभवन् मिथुनं त्वष्टुः सरण्यूस्त्रिशिरा सह ।**
> **स वै सरण्यूं प्रायच्छत् स्वयमेव विवस्वते ॥ ६।१६२ ।**
> **ततः सरण्व्यां जज्ञाते यमयम्यौ विवस्वतः ॥१६३।**
> **सृष्ट्वा भर्तुः परोक्षं तु सरण्यूः सदृशों स्त्रियम् ।**
> **निक्षिप्य मिथुनं तस्याम् अश्वा भूत्वापचक्रमे ॥ ७।१ ।**
> **अविज्ञानाद् विवस्वांस्तु तस्यामजनयत् मनुम् ।२।**

स विज्ञाय त्वपक्रान्तां सरण्यूमश्वरूपिणीम् ।
त्वाष्ट्रीं प्रति जगामाशु वाजी भूत्वा सलक्षणः ॥३।
सरण्यूश्च विवस्वन्तं विदित्वा हयरूपिणम् ।
मैथुनायोपचक्राम तां च तत्रारुरोह सः ॥४।
ततस्तयोस्तु वेगेन शुक्रं तदपतद् भुवि ।
उपाजिघ्रच्च सा त्वश्वा तच्छुक्रं गर्भकाम्यया ॥५।
आघ्रातमात्राच्छुक्रात्तु कुमारौ संबभूवतुः ।
नासत्यश्चैव दस्रश्च यौ स्तुतावाश्वनाविति ॥६।

अन्तिम श्लोक में कहा गया है कि विवस्वान् के शुक्र को सूंघने से सरण्यू ने अश्विनौ को उत्पन्न किया । यह कल्पना संभवतः अश्विनौ के 'नासत्या' विशेषण से उत्पन्न हुई है । इस शब्द का 'नासा' से सम्बन्ध आभासित होता है । इसी आधार पर पुराणों में कहा गया है कि सरण्यू ने आदित्य के शुक्र को नासिका के छिद्रों से निकाल दिया । उससे अश्विनौ का जन्म हुआ जो नासा से उत्पन्न होने के कारण नासत्यौ कहे जाते हैं—

नासापुटाभ्यामुत्सृष्टं परोऽयमिति शकया ।
तद्वैसस्ततौ जातौ अश्विनाविति निश्चितम् ॥
........नासत्यौ नासिकाग्रतः ॥

मत्स्य पु० ११।३६-३७

महाभारत में दो स्थानों पर (आदि० ६६ तथा अनु० १५०), मत्स्य-पुराण के ११वें अध्याय में (श्लोक १-४१), वायु-पुराण के ८४वें अध्याय में, विष्णु-पुराण ३।२।२-७ में तथा ब्रह्म-पुराण के ८९ वें अध्याय में अश्विनौ के जन्म की यह कथा अत्यन्त विस्तार से वर्णित है । बृहद्देवता में सरण्यू के विवस्वान् के पास से चले जाने का कोई कारण नहीं बताया गया है किन्तु पुराणों में कहा गया है कि सरण्यू विवस्वान् के असह्य तेज को सहने में असमर्थ थी, इसलिये अपने समान एक सवर्णा अथवा छाया नाम की स्त्री को उत्पन्न करके और उसे अपने पुत्रों को मातृस्नेह से पालन करने का आदेश देकर वह तप करने वन में चली गई—

ततस्तेजोमयं रूपम् असहन्ती विवस्वतः ।
नारीमुत्पादयामास स्वशरीरादनिन्दिताम् ॥

छाये त्वं भज भर्तारमस्मदीयं वरानने ।
अपत्यानि मदीयानि मातृस्नेहेन पालय ॥
मत्स्य० ११।५,६

बाद में त्वष्टा विवस्वान् के तेज को कम करने के लिये उन्हें चक्रभ्रमि (शाण) पर चढ़ा कर और उसके तेजस्वी मंडल को इधर-उधर से काट-छाँट कर, गोल तथा छोटा कर देते हैं—

यन्त्रारूढं च मां कृत्वा छिन्धि तेजांस्यनेकशः । ब्रह्म० ८९।४१
अपनेष्यामि ते तेजो यन्त्रे कृत्वा दिवाकर ।
रूपं तव करिष्यामि लोकानन्दकरं प्रभो ॥ मत्स्य ११।२७-२८

विवस्वान् के प्रसंग में कहा जा चुका है कि सरण्यू उषा का ही देवी-रूप है। सायण ने सरण्यूः का अर्थ 'सरणशीला' किया है (ऋ० १०।१७।२)। उदीयमान सूर्य ही विवस्वान् है। उसकी पत्नी उषा या सरण्यू है। जब सूर्य का तेज प्रखर होता है तो सरणशीला-उषा की रक्तिमा भाग कर छिप जाती है। संसार को किरणों से व्याप्त करने (अशु-व्याप्तौ) के कारण सूर्य ही 'अश्व' है। कुछ समय पश्चात् पश्चिम में उषा और विवस्वान् का पुनः मिलन होता है और दोनों पूर्व में अपने घर लौटते हैं। ब्रह्मपुराण-कार को इस कथा का प्राकृतिक आधार पूर्णतः स्पष्ट था। उसने विवस्वान् की पत्नी का नाम उषा दिया है, सरण्यू नहीं—

तस्य पत्नी उषा ख्याता त्वाष्ट्री त्रैलोक्यसुन्दरी । ८९।३

ऋग्वेद में भी उषा एक सुन्दर युवती के रूप में उपस्थित होती है। पुराण-कार ने स्पष्ट कहा है कि विवस्वान् का अपनी पत्नी के पीछे दौड़ना, सूर्य का ही उषा के पीछे दौड़ने को सूचित करता है—

धावन्तीं तां प्रियामश्वाम् अश्वरूपधरः स्वयम् ।
पर्यधावद्, यतो याति उषा भानुस्ततस्ततः ॥ ब्रह्म पु० ८९।२८

रामायण तथा महाभारत आदि में अश्विनौ की कोई भी ऐसी नवीन विशेषता प्राप्त नहीं होती जिसे परवर्ती विकास कहा जाय। **रामायण बाल० १७।१४** में अश्विनौ को रूप-यौवन से सम्पन्न तथा अत्यन्त सुन्दर कहा गया है—

रूपयौवनसंपन्नौ अश्विनौ रूपसम्मतौ ।

महाभारत में च्यवन की कथा के अतिरिक्त दो अन्य स्थानों में अश्विनी-कुमारों को श्रेष्ठ वैद्यों के रूप में चित्रित किया गया है। आदि० ३।५५ में जब आयोद **धौम्य** का शिष्य **उपमन्यु** अर्क के पत्ते खा लेने से अन्धा होकर एक कूप में गिर जाता है तो उसके गुरु उसे अश्विनीकुमारों की स्तुति करने की सलाह देते हैं। वे उसे खाने के लिये एक अपूप देते हैं जिससे उसे पुनः नेत्र ज्योति मिल जाती है (आदि० ३।७३)। अश्विनीकुमार ही **मान्धाता** को अपने पिता युवनाश्व के उदर से बाहर निकालते हैं (द्रोण० ६२।४)। महाभारत के प्रमुख पात्र पंच-पाण्डवों में सबसे छोटे दो भाई **नकुल** और **सहदेव** अश्विनीकुमारों के ही अंश कहे गये हैं जिन्हें उन्होंने **माद्री** के गर्भ से उत्पन्न किया था (आदि० ९५।६३)।

वैदिक अश्विनौ का भौतिक आधार अत्यन्त अस्पष्ट है। उनका मूल स्वरूप यास्क के समय में ही एक समस्या बना हुआ था। अपने निरुक्त में उन्होंने अश्विनौ के आधिभौतिक स्वरूप की चार-पाँच प्रकार से व्याख्या की है—

अथातो द्युस्थाना देवताः। तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः। अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेन अन्यो ज्योतिषा अन्यः। अश्विभिर-श्विनौ इत्यौर्णवाभः।

तत् कौ अश्विनौ? द्यावापृथिव्यौ इत्येके अहोरात्रौ इत्येके। सूर्याचन्द्रमसौ इत्येके। राजानौ पुण्यकृतौ इति ऐतिहासिकाः। तयोः कालः ऊर्ध्वरात्रात् प्रकाशीभावस्य अनुविष्टम्भम् अनु। तयोर्मार्गो हि मध्यमो ज्योतिर्मार्गः आदित्यः।

यास्क ने यहाँ द्यावापृथिवी, सूर्य-चन्द्रमा तथा दिन और रात्रि को अश्विनौ के प्राकृतिक आधार के रूप में उपन्यस्त किया है। पहली व्याख्या का संकेत उन्हें संभवतः **श० ब्रा०** ४।१।५।१६ से प्राप्त हुआ है। यहाँ कहा गया है कि समस्त जगत् को व्याप्त कर लेने ('आश्नुवातां') के कारण पृथ्वी एवं आकाश ही अश्विनौ हैं—

इमे वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ। इमे हीदं सर्वमाश्नुवाताम् पुष्करस्रजौ इति। अग्निरेव अस्यै (पृथिव्याः) पुष्करम् आदित्यो अमुष्यै (दिवः)।

निस्सन्देह श० ब्रा० ने अश्विनौ के कमलों की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। 'अग्नि पृथ्वी का कमल है और सूर्य आकाश का। पृथ्वी और आकाश ही अश्विनौ हैं'। किन्तु अश्विनौ सदा साथ रहने वाले देवता हैं जब कि पृथ्वी तथा आकाश के विषय में ऐसा नहीं है। उनका सूर्य से विशेष सम्बन्ध है, वे उसके पुत्र हैं। उन्हें पृथ्वी और आकाश मान लेने पर इसकी समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती। अश्विनौ पुष्करधारी नहीं अपितु पुष्करस्रक्-धारी हैं। द्यावा-पृथ्वी के स्वतन्त्र एवं स्पष्ट देवता होने से अश्विनौ जैसे अस्पष्ट देवताओं का उनसे कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

पारस्परिक सतत पार्थक्य के कारण एवं चन्द्रमा का प्रातःकाल से कोई सम्बन्ध न होने के कारण सूर्य और चन्द्रमा की व्याख्या भी सन्तोषजनक नहीं है। गोल्डश्टुकर का मत है कि यास्क का अश्विनौ के स्वरूप के विषय में अपना विचार यह था कि ब्राह्मवेला के समय होने वाला झुटपुटा ही, जिसमें रात्रि (अन्धकार) एवं दिन (प्रकाश) दोनों का सम्मिश्रण होता है, अश्विनौ पद से वाच्य है। अश्विनौ में एक अन्धकार-मय है और दूसरा प्रकाश-मय। अन्त के दो वाक्यों की गोल्डश्टुकर ने इसी दृष्टि से व्याख्या की है[१]। अश्विनौ के आकाश एवं सूर्य के पुत्र होने की बात इसी से समझ में आ सकती है।

दुर्गाचार्य की वृत्ति के आधार पर रोठ का मत है कि यास्क अश्विनौ को इन्द्र तथा सूर्य समझते हैं। उनके शब्द "अश्विनौ में से एक रस (जल) से पृथ्वी को व्याप्त करता है और दूसरा प्रकाश से" इसी ओर संकेत करते हैं। अन्तिम वाक्य भी इसी का परिचायक है[२]। पर वास्तविकता यह है कि यास्क ने इस विषय में अपना कोई मत नहीं दिया है। आदित्य और इन्द्र जैसे अत्यन्त प्रसिद्ध, स्पष्ट एवं पूर्ण देवों का अश्विनौ जैसे युगल-देवों के रूप में संयोग होने का कोई कारण नहीं है और यह यास्क का मत कभी नहीं हो सकता।

ओल्डेनबर्ग का मत है कि भोर का तारा (प्रातःकाल उदित होने वाला शुक्र ग्रह) ही अश्विनौ का भौतिक रूप है। सन्ध्या तारे के साथ मिलाकर

---

१. म्यूर द्वारा **ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट्स**, भाग ५ पृ० २५५-५७ पर उल्लिखित। द्रष्टव्य, ग्रिसवोल्ड, **रिलीजन ऑफ द ऋग्वेद**, २५६ त. आगे।

२. रोठ द्वारा संपादित **निरुक्त**, पृ० १५६; म्यूर, **वही** पृ० २३५।

अश्विनौ की युग्म-रूप में कल्पना की गई है[१]। भोर का तारा प्रातः काल के आने का सूचक है और इस प्रकार वह नवजीवन का प्रतीक है। यद्यपि इस मत में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि भोर और संध्या के तारे कभी एक साथ नहीं रहते। यहाँ तक कि उनका उदय भी एक दिन नहीं होता किन्तु ग्रिसवोल्ड ने अनेक प्रमाण देकर इसी धारणा को मान्यता देने की चेष्टा की है[२]। उनका कथन है कि ऋ० ५।७३।४ तथा १।१८१।४ में अश्विनौ को पृथक्-पृथक् जन्म लेते हुए भी वर्णित किया है। जैसे १।१८८।६ में उषा एवं सन्ध्या को साथ द्योतित करने के लिये 'उषसा' अभिधान प्रयुक्त हुआ है उसी प्रकार संभवतः इन दोनों तारों का पृथक्-पृथक् होने पर भी साथ-साथ उल्लेख है। तथापि यह मानना पड़ेगा कि सांझ और भोर के तारे वाला यह मत अत्यन्त दूरारूढ़ और सत्य से दूर है[3]। और यही वेबर के मत के विषय में भी कहा जा सकता है जिसके अनुसार अश्विनौ मिथुनराशि के दो तारे हैं[४]।

अश्विनौ से संबन्धित कथाओं की ऐतिहासिकता की चर्चा उपर की जा चुकी है। यास्क ने लिखा है कि कुछ ऐतिहासिकों के मत से वे प्राचीनकाल के दयालु एवं पुण्यशाली राजा हैं (**राजानौ पुण्यकृतौ**)। गैल्डनर ने भी अश्विनौ को वैदिक-भारत के प्राचीन ऐतिहासिक सन्त माना है[५]। परन्तु वास्तविकता यह है कि अश्विनौ से सम्बन्धित गाथाओं का भले ही ऐतिहासिक आधार हो, अश्विनौ

---

१. **डी रिलीगियोन डेस वेद**, पृ० २१४।

२. ग्रिसवोल्ड, **रि० ऋ०**, पृ० २५८।

३. वस्तुत: जिन दो तारों को भोर तथा सांझ का तारा कहा जाता है वे एक ही हैं, दो नहीं। यह सूर्य की परिक्रमा करने वाला पृथ्वी का पड़ोसी ग्रह शुक्र है। जब वह सूर्य के आगे रहता है तो प्रातः काल सूर्योदय से पूर्व दिखाई पड़ता है। जब वह पृथ्वी तथा सूर्य के ठीक बीच में अथवा सूर्य के पृष्ठभाग में चला जाता है तो अस्त हो जाता है। सूर्य से पीछे रहने पर वह सूर्यास्त के पश्चात् पश्चिम में दृष्टि-गोचर होता है। इस प्रकार भोर और सांझ के तारे किसी भी दशा में एक ही दिन नहीं दिखाई पड़ सकते। उनके बीच प्रायः दो मास का अन्तर होता है।

४. वेबर: **इंदिशे श्टूडियन**, भाग ५ पृ० २३४।

५. पिशेल तथा गैल्डनर : **वेदिशे श्टूडियन**, भाग २ पृ० ३१

का बिल्कुल नहीं है। वे निश्चित रूप से प्रकाश से संबन्धित देवता जान पड़ते हैं। आर्य देशों के देवशास्त्रों में (दिओस्क्युराई आदि रूपों मे) उनकी प्राप्ति तथा बोग़ाजक्यूई के मृत्फलक पर उनका उल्लेख उन्हें प्राचीनतम आर्यदेवता ही सिद्ध करता है, ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं।

वस्तुतः अश्विनौ किसी ऐसे प्राकृतिक दृश्य से संबद्ध हैं जो प्रातःकाल के अतिरिक्त सायंकाल भी दिखाई पड़ता है। विवस्वान् और सरण्यू की कथा इस ओर स्पष्ट संकेत करती है और इस दृष्टि से गोल्डश्टुकर का ही मत अधिक सन्तोषजनक प्रतीत होता है जिसके अनुसार वे अन्धकार और प्रकाश के घुले-मिले रूप हैं। पर यह मत भी अश्विनौ के स्वरूप की पूरी व्याख्या नहीं कर सकता। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल के देवता होने के कारण स्वतः वैदिक ऋषियों को उनके उद्‌भव के विषय में स्पष्ट परिज्ञान नहीं था।

•

पंचम अध्याय

द्युस्थानीय देवता (२)

विष्णु, लक्ष्मी तथा गरुड

विष्णु शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियां, विष्णु के तीन पदक्रमों का स्वरूप और उनका वामन अवतार। वामनत्व का कारण। विष्णु का यज्ञ से तादात्म्य और दोनों की समान व्यापनशीलता। यज्ञ रूपी विष्णु से सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रंथों के आख्यान। पुराणों में विष्णु की यज्ञपुरुष के रूप में ख्याति। उनका यज्ञमय वराह अवतार। इस अवतार के ऋग्वेद में उल्लेख और मूलत: इसका प्रजापति से संबन्ध। साम्य का कारण, नारायण विशेषण। पुराणों में इस अवतार का वर्णन। श० ब्रा० में जलौघ की कथा का वर्णन और मत्स्य का उल्लेख। महाभारत में मत्स्य प्रजापति का रूप। परवर्ती पुराणों में उसका विष्णु से संबन्ध। कूर्म अवतार के बीज; श० ब्रा० में प्रजापति का कूर्म रूप। कूर्म के पृथ्वी का धारक होने का लोक विश्वास। बाद में कूर्म का विष्णु से संबन्ध। विष्णु के दस अवतार—नृसिंह अवतार का विशेष वर्णन। विष्णु का विराट् रूप। ब्राह्मणों में इन्द्र से उनकी विशेष मैत्री। पशुओं, विशेषत: गायों (गो) से उनका विशेष संबन्ध। विष्णु का परम पद। विष्णु के क्षीरसागर वासी होने का कारण। विष्णु का धन और ऐश्वर्य से संबन्ध—श्री या लक्ष्मी की धारणा। उनके वाहन गरुड का वैदिक स्वरूप। सुदर्शन चक्र। विष्णु की जगत् की सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में मान्यता।

विष्णु शब्द की निरुक्ति एवं उनका मूल स्वरूप

यास्क ने निरुक्त में (१२।१८) विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति **विश्** (प्रवेश करना) अथवा **वि+अश्** (व्याप्त करना) धातु से मानी है[1]। बृहद्देवताकार का मत है कि यह शब्द व्याप्ति अर्थवाली **विष्, विश्** अथवा **वेविष्** (विष्लृ) धातुओं

---

१. विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा।

से बना है। समस्त संसार को व्याप्त (आच्छादित) कर लेने तथा प्रत्येक वस्तु में व्याप्त (प्रविष्ट) रहने से सूर्य को ही विष्णु कहा जाता है[1]—

विष्णातेर्विशतेर्वा स्यात् वेवेष्टेर्व्याप्तिकर्मणः।
विष्णुर्निरुच्यते सूर्यः सर्वः सर्वान्तरश्च यः॥ २।६९

विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति का निरूपण करते हुए अनेक पुराणों में प्रायः विष्णु के इसी पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। उदाहरणार्थ—

१. (अ) **जगद्विष्टम्भनाच्चैव विष्णुरेवेति कीर्त्यसे।**
व्याप्तं त्वयैव विशता त्रैलोक्यं सचराचरम्॥ मत्स्य० २४८।४१

(आ) **प्रविश्यान्तर्महातेजाः स्वयमेवात्मसंभवः।**
प्रभावादपि तद्व्याप्त्या विष्णुत्वमगमत् पुनः॥ वही, २।३०

२. **विष्णुः सर्वप्रवेशनात्।** लिंग० ७०।९७, ब्रह्माण्ड० १।४।२५

३. **यस्माद् विष्टम् इदं सर्वं वामनेन महात्मना।**
तस्मात् स वै स्मृतो विष्णुः विशेर्धातोः प्रवेशनात्॥
विष्णु० ३।१।४६, कूर्म० ५१।३६

महाभारत (शान्ति० ३४१।४२) में स्वयं विष्णु के मुख से कहलाया गया है कि "मैंने पृथ्वी और अन्तरिक्ष को व्याप्त कर रखा है, जगत् का विक्रमण अर्थात् आच्छादन करने या नाप लेने से मेरी संज्ञा विष्णु है—(**व्याप्ता मे रोदसी··· क्रमणाच्चाप्यहं विष्णुः पार्थ इत्यभिसंज्ञितः**)"। महा० उद्योग० ७०।१३ का '**विष्ण विक्रमणात्**' वाक्यांश भी इस संबन्ध में महत्त्वपूर्ण है। विष्णु शब्द की व्याख्या करते हुए महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकंठ ने (शान्ति० ३४१।४२) में लिखा है—

विष्लृ व्याप्तौ, विश् प्रवेशने, ष्णु प्रस्रवणे एतेषामन्यतमस्य रूपं विष्णु इति अभिप्रेत्याह। विच्छन्ति गच्छन्ति लीयन्ते अस्मिन्।

---

१. द्रष्टव्य, पीछे पृ० २१८ पर उल्लिखित निम्न श्लोक—
भवद्भूतस्य भव्यस्य जंगमस्थावरस्य च।
अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः॥
असतश्च सतश्चैव योनिरेषा प्रजापतिः।
तथा पृ० २५३-५४।

विच्छन्ति अस्मात् लोकाः इति वा। वेवेष्टि व्याप्नोति इति वा। विच्छयति दीप्यते इति वा।

अपनी इस परिभाषा में नीलकण्ठ ने **विष्** (व्याप्त करना) तथा **विश्** (प्रविष्ट होना) इन दो धातुओं के अतिरिक्त **ष्णु** (प्रस्रवण करना) धातु से **वि** उपसर्ग पूर्वक 'विष्णु' शब्द की सिद्धि की जो चेष्टा की है वह समीचीन प्रतीत होती है। दीप्ति अर्थ में प्रयुक्त होने वाली चुरादिगणी **विच्छ्** धातु[1] भी विष्णु के जिस प्रकाशशील स्वरूप की ओर संकेत करती है वह महत्त्वपूर्ण है। बृहद्देवताकार के अनुसार सूर्य ही विष्णु है और प्रकाशपुंज का उद्गिरण करने वाले तेजस्वी सूर्य मण्डल से संबन्धित देवता के नाम में मूलतः इन भावों का होना स्वाभाविक ही है। तुदादिगण की एक अन्य गत्यर्थक विच्छ् धातु से विष्णु शब्द की निरुक्ति और उसका 'जिसमें अन्त में समस्त सृष्टि चली जाती है' (अर्थात् लीन हो जाती है) अथवा 'जिससे सब लोक निकलते हैं' आदि अर्थ विष्णु शब्द का निश्चित रूप से मूल भाव नहीं है और संभवतः उस समय विकसित हुआ है जब परवर्ती ब्राह्मणकाल में विष्णु अन्य वैदिक देवों को अपने बढ़ते हुए प्रभाव के कारण पृष्ठ-भूमि में छोड़कर परमेश्वर के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

ब्राह्मण ग्रंथों में विष्णु की एक अन्य प्राचीन निरुक्ति मिलती है : **अथ यद् विषितो भवति तद्विष्णुः**। यह शब्द 'षिञ्-बन्धने' धातु से बना है और इसका अर्थ है—विस्तृत, मुक्त, स्वतंत्र या खुला हुआ (तु० की०, 'स्यन्दतां कुल्याः विषिताः पुरस्तात्', ऋ० वे० ५।८३।८)। खोंडा का मत है कि यह शब्द विष्णु की प्राचीनतम विशेषताओं में से एक की ओर संकेत करता है। ऋग्वेद में कुछ स्थानों पर विष्णु को इन्द्र की वृत्रवध में सहायता करके जलों को पृथ्वी की ओर प्रवाहित करने में तथा बल के द्वारा बद्ध गायों को मुक्त करने में सहायता करते हुए वर्णित किया गया है[2]।

यह तो हुई भारतीय विद्वानों की दृष्टि। इसी संबन्ध में कुछ पाश्चात्य विद्वानों के मनोरंजक मतों का भी उल्लेख आवश्यक है। ब्लूमफील्ड का

---

१. **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** (८।२।३६) इत्यनेन छान्तस्य विच्छतेः षकारोऽन्तादेशः स्याद् झलि पदान्ते च, विच्छ् + औणादिक नु = विष्णुः।

२. जे० खोंडा; **आस्पेक्ट्स ऑफ् अर्ली विष्णुइज़्म** : पृ० ५५।

मत है कि विष्णु यौगिक शब्द है और 'वि+स्नु' से बना है। उसके अनुसार 'स्नु' शब्द का वही अर्थ है जो सानु का (अर्थात् शिखर या ऊपरी धरातल)। 'वि' उपसर्ग 'से होकर' (अंग्रेजी through) का भाव व्यक्त करता है। इस प्रकार इस शब्द का अर्थ है 'वह देवता जो पृथ्वी के पृष्ठ भाग (धरातल) से होकर जाता है'। ऋग्वेद में विष्णु की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यही है कि वे अपने तीन पद-क्रमों से समस्त संसार को व्याप्त कर लेते हैं। सामवेद का यह मंत्र स्पष्ट रूप से विष्णु की इस निरुक्ति का समर्थन करता है[1]—

इदं विष्णु वि चक्रमे पृथिव्या अधि सानवि। २।१०२४

ओल्डेनबर्ग ने भी इसी व्युत्पत्ति के अनुसार विष्णु का अर्थ 'विस्तृत क्षेत्रों का अधिपति। (Herr der weiten Fläachen)' अथवा 'भूमि के विस्तीर्ण क्षेत्र (स्नु) को पार करने वाला' माना है[2]। एक अन्य जर्मन विद्वान् ग्युन्टर्ट ने भी इस निरुक्ति का समर्थन किया है किन्तु उनके अनुसार विष्णु शब्द का भाव है—'ऐसा देवता जिसने भूमि के तल को चपटा करके प्रथित किया अथवा फैलाया है' (wer die Fläche auseinandergebreitet)[3]।

दो अन्य पाश्चात्य विद्वानों, थॉमस ब्लाख्[4] तथा जोहान्सन[5] ने विष्णु शब्द में 'जिष्णु' (विजयी) शब्द की भाँति 'स्नु' प्रत्य की उपस्थिति (तु० की०,

---

१. ब्लूमफील्ड, **दि रिलीजन आफ् दि वेद : पृ० १६८ तथा अमेरिकन जर्नल आफ् फ़िलालॉजी** : भाग २७ पृ० ४२८।
२. ओल्डेनबर्ग, **रिलीगियोन डेस वेद**, पृ० २३०।
३. **डेऽर आरिशे वेल्टक्योनिख् उन्द् हाइलण्ट** पृ० ३०६। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर विष्णु द्वारा 'बाधित' मानवता के लिये 'पृथ्वी को फैलाने' या नये आवास स्थान उत्पन्न करने का उल्लेख है (ऋ० ६।४६। १३, ७।१००।४)। पुराणों में भी पृथ्वी को विस्तृत (पृथुल) करने वाले और पर्वत तथा जंगल आदि साफ करके उसे मनुष्यों के लिये निवास योग्य बनाने वाले राजा पृथु को विष्णु का अवतार बताया गया है (भाग० ४।१५।६)। विष्णु के स्वरूप की इस विशेषता से उक्त व्युत्पत्ति की संगति लग जाती है।
४. **वेर्टर् उन्ट ज़ाखेन : पृ० ८०।**
५. **यूबर डी आल्ट-इन्दिशे गौटिन् 'धिषणा', पृ० ४८।**

पाणिनि ३।२।१३९) मानी है, और मूल 'वि'। किन्तु कठिनता यह है कि जि की भाँति वि कोई धातु नहीं है, दूसरी बात यह कि 'ग्लाजिस्थश्चग्स्नुः' यह पाणिनि का सूत्र 'जि' धातु से ही 'स्नु' प्रत्यय करता है 'वि' से नहीं। पर इन विद्वानों ने वि शब्द के पक्षी अर्थ के अनुसार यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि 'विष्णु' शब्द मूलतः 'श्रेष्ठ पक्षी' का अर्थ रखता है और इस रूप में सूर्य को द्योतित करता रहा होगा। ऋग्वेद में प्रायः सूर्य को **सुपर्ण** या **गरुत्मत्** कहा गया है। जोहान्सन ने विष्णु शब्द की ग्रीक 'औइस्नॅस' से (oisnos) तुलना की है जिसका अर्थ 'बड़ा पक्षी' होता है।

हापकिन्स ने गति या चंक्रमण से विष्णु का विशेष संबन्ध ध्यान में रखते हुए गत्यर्थक **वि** अथवा **वी** धातु (वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु, धातुपाठ १०४८) से इसकी व्युत्पत्ति मानने का प्रस्ताव रखा है[1]। मैक्डानल का भी विचार है कि ऋग्वेद में विष्णु के गमन करने या 'त्रेधा विचक्रमण' का ही विशेष महत्त्व है अतः विष्णु शब्द अवश्य ही किसी गत्यथक धातु से सम्बद्ध होगा। इस संबन्ध में उसने क्र्यादिगण की 'विष्' (=विप्रयोगे, धातुपाठ, १५२७) धातु का सुझाव दिया है। ऋग्वेद में यह धातु पर्याप्त स्थानों पर प्रयुक्त हुई है और पीटर्सबुर्ग कोश के अनुसार इसका मूल अर्थ क्रियाशील या गतिमान् होना है[2]।

सस्कृत शब्द-संपदा द्वारा 'विष्णु' शब्द की सर्वमान्य व्याख्या न हो पाने के कारण J. Przylusky आदि कुछ भाषावैज्ञानिकों का यह भी मत है कि यह शब्द मूलतः आर्यभाषाओं का है ही नहीं; यह किसी द्रविड़ भाषा का शब्द है जो बाद में कुछ ध्वनि-परिवर्तनों के साथ संस्कृत माषा में अपना लिया गया। **विश्ट्, विट्ठ्** या **विठ्** जंसी कोई धातु इस शब्द के मूल में हो सकती है। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध विष्णु-देवता का नाम **विठोबा या बिट्ठल** है जो ऐसी ही किसी धातु से बना है। एफ० डब्ल्यू थॉमस का मत है कि जिस प्रकार कृष्ण शब्द का तमिल रूप आज क्रुश्ट्ना (क्रिश्ट्ना) है उसी प्रकार

---

१. **जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरिएन्टल सोसाइटी**, भाग० ६ पृ० २६४।

२. इन दोनों मतों के लिये देखिये **आक्त द्यु कॉंग्रे ऐंतरनासियोनाल् देज् ओरियन्तलिस्त** (अष्टादश अधिवेशन, १९३१), पृ० १५४ तथा **आर्खीव ओरियन्टालनी**, भाग ४ (१९३२), पृ० २६१।

विष्णु का 'मूल रूप' **विश्ट्नु** (विस्ट्नु) रहा होगा जिसका संस्कृतीकरण 'विष्णु' के रूप में कर लिया गया। इन पंक्तियों के लेखक की दृष्टि से द्रविड भाषाओं के आधुनिक उच्चारण (ण = ट्न, टँ) से वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति से संबन्धी कोई भी निष्कर्ष निकालना कठिन है। यदि आज द्रविड संस्कृत के 'ण' का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते और उसे 'ट्न' या 'टँ' बोलते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि किसी प्राचीन द्रविड़ ध्वनि 'ट्न' से संस्कृत 'ण' की उत्पत्ति हुई है।

वस्तुत: विष्णु के प्रारम्भिक तथा मूल स्वरूप की जितनी सुन्दर व्याख्या भारतीय परम्परा प्रस्तुत करती है उतनी किसी भी विदेशी विद्वान की नहीं[1]। बृहद्देवता तथा निरुक्त के उल्लेख से और विष्णु की आदित्य-गण में गणना किये जाने से स्पष्ट है कि कि विष्णु का मूल रूप सूर्य से किसी न किसी प्रकार से अवश्य संबद्ध था। सूर्य के उदय के पश्चात् जहाँ तक भी मनुष्य की दृष्टि जाती है वहाँ तक उसे प्रकृति की प्रत्येक वस्तु प्रकाश से आवृत दिखाई पड़ती है। सूक्ष्म विवरों में भी सूर्य की सर्वत्र-गामिनी किरणें प्रविष्ट रहती हैं; वह महतो-महीयान् ही नहीं अणोरणीयान् भी है। अतः सूर्य के इस व्यापक रूप की ओर, प्रकृति के प्रत्येक स्पन्दन में किसी अव्यक्त चेतना के दर्शन करने वाले, वैदिक-महर्षियों की दृष्टि जानी स्वाभाविक ही थी।

विष्णु का सूर्य से संबन्ध अनेक वैदिक तथा परवैदिक उद्धरणों से प्रकट होता है। जिस प्रकार सूर्य-देव सविता के लिये कहा गया है कि अपनी महिमा से उन्होंने पार्थिक लोक को नाप डाला (यः पार्थिवानि विममे स एतशो

---

१. विष्णु की समस्त प्रारंभिक विशेषताओं का सम्यक् पर्यालोचन करने के पश्चात् ख़ोंडा ने इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—'विष्णु के स्वरूप के विषय में भारत में चिरकाल से सम्मानित उस व्युत्पत्ति में बहुत सत्य है जो विष्णु को **व्याप्ति** से सम्बन्धित करती है। जो लाग प्रत्येक पारम्परिक व्याख्या से संबन्धित मत को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं उन्हें मैं विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि जब मैंने अपना अनुसंधान प्रारंभ किया तब मुझे यह तथ्य बिलकुल स्पष्ट नहीं था।' (ख़ोंडा, **आस्पेक्ट्स०** पृ० १७२, पाद-टिप्पणी १)। इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण (दिल्ली १९६९) की भूमिकात्मक टिप्पणी में ख़ोंडा ने निर्भ्रान्त शब्दों में पुनः व्यापन-शीलता एवं विभुत्व को विष्णु के स्वरूप का मूल आधार माना है।

रजांसि देवः सविता महित्वना, ऋ० वे० ५।८१।३) उसी प्रकार विष्णु को भी अनेक स्थानों पर पृथ्वीमण्डल को नापते हुए वर्णित किया गया है, उदा०—

विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि । १।१५४।१
यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद् विष्णुर्मनवे बाधिताय । ६।४६।१३

विष्णु की यह विशेषता निश्चित रूप से सूर्य के पृथ्वीमण्डल के चारों ओर परिभ्रमण को संकेतित करती है। अ० वे० ५।२६।७ में विष्णु का ताप से विशेष संबन्ध बताया गया है—**विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांसि** । वर्ष, मास और ऋतुओं का नियामक सूर्य ही है, इसी तथ्य को ध्यान में रखकर ऋ० वे० १।१५५।६ में कहा गया है कि विष्णु अपने ६० अश्वों को जिनके ४ नाम हैं एक चक्र की भाँति घुमाते हैं—

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिः चक्रं न वृत्तं व्यतींरवीविपत् ।
बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवाकुमारः प्रत्येत्याहवम् ॥

प्राचीन वैदिक साहित्य में प्रायः ४ ऋतुओं का उल्लेख है[1] और ६० अश्व प्रत्येक ऋतु के तीन मासों के दिनों को सूचित करते हैं। वर्ष का कालचक्र के रूप में पुराणों में मनोरम वर्णन प्राप्त होता है[2] । **शतपथ ब्राह्मण १४।१।१, तैत्तिरीय आरण्यक ५।१।१** तथा **पंचविंश ब्राह्मण ७।५।६-१६** में एक विचित्र कथा आती है। इसके अनुसार एक बार विष्णु अपने धनुष को सिर के नीचे रखकर सो रहे थे। दीमकों (वम्री) ने जाकर धनुष की प्रत्यंचा काट दी जिससे धनुष बड़े वेग से उछला, उससे विष्णु का सिर कटकर ऊपर की ओर चला गया और आकाश में जाकर सूर्य बन गया[3] । परवर्ती साहित्य में विष्णु का वाहन गरुड़ है। उसे **गरुत्मत्** तथा **सुपर्ण** कहा गया है। ये दोनों ही विशेषण सूर्य के लिये ऋग्वेद में प्रयुक्त किये गये हैं और उसे एक शीघ्रगामी पक्षी के रूप में चित्रित किया गया है[4] । कून आदि कुछ विद्वानों ने विष्णु के तेजस्वी चक्र तथा कौस्तुभ मणि के

---

१. देखिये मैक्डानल तथा कीथ, वैदिक इन्डैक्स : प्रथम भाग, पृ० ११०, 'ऋतु' ।

२. **श्रीमद्भागवत, ५।२१।१३ ।**

३. इस प्रतीकात्मक कथा पर आगे विचार किया गया है ।

४. **उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश ।**
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ । ११४७।३

मूल रूप को भी सूर्यमण्डल से संबन्धित करने की चेष्टा की है पर यह वहुत दूर की कल्पना की प्रतीत होती है और इसकी सिद्धि में प्रमाणों का अभाव है[1]।

परवर्ती धार्मिक ग्रंथों में भी विष्णु के इस रूप की स्मृति पूर्णतः भुलाई नहीं गई है। **महाभारत** के अनुशासन पर्व के १४९वें अध्याय में विष्णु के जिन सहस्रनामों का वर्णन है उनमें **सहस्रांशु** (६४) **गभस्तिनेमि** (६५) **विहायसगति** (१०७) **रवि, विरोचन, सूर्य, सविता** आदि विशेषण निश्चित रूप से विष्णु का सूर्य से संबन्ध सूचित करते हैं। **मत्स्य-पुराण** (अ० ८।४) में कहा गया है कि विष्णु ज्योतिष्पिण्डों के अधिपति हैं। विष्णु-पुराण स्पष्ट शब्दों में घोषित करता है—

मैत्रेय केशवः सूर्यः तत्प्रभा कमलालया ॥ २।८।२३

सूर्य ही विष्णु हैं और उनकी प्रभा लक्ष्मी है। **ब्रह्मपुराण** और भी सशक्त शब्दों में कहता है—

यश्च सूर्यः स वै विष्णुः यश्च विष्णुः स भास्करः । १५८।२४

एक ही तत्त्व आधिभौतिक दृष्टि से सूर्य और आधिदैविक दृष्टि से विष्णु है[2]।

विष्णु का प्रसिद्ध विशेषण **नारायण** संस्कृतवाङ्मय में सूर्य के साथ भी प्रयुक्त होता है। **मत्स्य पुराण** का कथन है कि भगवान् नारायण ही सत्त्वगुण से सूर्य का रूप धारण करके अपनी किरणों से जल का शोषण किया करते हैं—

भूत्वा नारायणो योगी सत्त्वमूर्तिर्विभावसुः ।
गभस्तिभिः प्रदीप्ताभिः संशोषयति सागरान् ॥ १६५।१

इसी प्रकार **श्रीमद्‌भागवत** के निम्न मंत्र में सूर्य को विष्णु का (प्रत्यक्ष) रूप कहा गया है—

---

१. **हेरब्कुम्फ्ट डेस फॉयर्स उन्ट डेऽर ग्योटर-ट्रांक्स**; पृ० २२२। **वै० मा०**, ३९।

२. **पद्म पुराण** (सृष्टि खंड २०।१७३) में सूर्य के लिये पद्‌मनाभ विशेषण का प्रयोग हुआ है। नाभि से कमल के उद्‌भव की परिकल्पना पुराणों में विष्णु के लिये ही की गई हैं। क्या यह विशेषण सूर्य और विष्णु के तादात्म्य का द्योतक है ?
महाभारत तथा **रामायण** में विष्णु के सूर्य-रूप के लिये देखिये—हॉपकिन्सः **एपिक माइथॉलजी**, पृ० २०३।

प्रत्नस्य विष्णोः रूपं च सत्यस्य ऋतस्य ब्रह्मणो अमृतस्य च मृत्योश्च सूर्यमात्मानम् ईमहि ॥ भाग० ५।२०।५

आदित्यों के प्रसंग में **भाग० ५।२२।३** का जो वाक्य उद्धृत किया गया है उसमें भी ऋतुओं का विभाजन करने वाले सूर्य को, लोककल्याण के लिये धारण किया हुआ आदि-पुरुष नारायण का साक्षात् स्वरूप बताया गया है—

स एष भगवानादिपुरुष एव साक्षात् नारायणो लोकानां स्वस्तये आत्मानं द्वादशधा विभज्य ऋतुगणान् विदधाति ।

भाग० १२।११।४५ में भी भगवान् विष्णु को आदित्य की संज्ञा दी गई है—

एता भगवतो विष्णोरादित्यस्य विभूतयः ।

इस प्रसंग में एक श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण है जिसमें कहा गया है कि वेदोक्त यज्ञ-यागादि क्रियाओं के आधार सूर्य और विष्णु में कोई अन्तर नहीं है । पर ऋषियों ने वैदिक क्रियाओं की भिन्नता के अनुसार सूर्य का वर्णन विभिन्न रूपों में किया है—

एक एव हि लोकानां सूर्य आत्मादिकृद् हरिः ।
सर्ववेदक्रियामूलम् ऋषिभिर्बहुधोदितः ॥ भाग० १२।११।३०

ऋग्वेद में विष्णु सूर्य के सामान्य प्रकाशशील स्वरूप के देवीकरण नहीं हैं । मैक्डानल का मत है कि विष्णु की कल्पना आकाश में तीव्रगति से विचरण करते हुए सूर्य-बिम्ब से उद्भूत हुई है[1] । आकाश में पूर्व से पश्चिम की ओर तेजी से जाते हुए सूर्य के ज्योतिष्पिण्ड को ध्यान में रखकर ही विष्णु के लिये **उरुगाय**, तथा **उरुक्रम** (दूर तक जाने वाले) आदि विशेषणों का प्रयोग मिलता है । 'वि' पूर्वक 'क्रम्' धातु का प्रयोग ऋग्वेद में केवल एक और देवता के लिये एक बार हुआ है और वह है सूर्य[2] । विष्णु को प्रायः तीव्रगामी कहा गया है और 'इ' (- जाना) से बने एष, **एवया** तथा **एवयावान्** आदि विशेषण उनके लिये अनेक स्थानों पर प्रस्तुत किये गये हैं[3] ।

---

१. वै० मा०, पृ० ३६ ।

२. **मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ,** ५।४७।३ ।

३. वै० मा०, पृ० ३८ ।

विष्णु का विक्रमण एवं वामन अवतार

तथापि निःसंदिग्ध रूप से ऋग्वेद में विष्णु की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता उनके द्वारा तीन पदक्रमों का रखा जाना है। 'तीन प्रकार से विचक्रमण करते हुए उन्होंने सारे जगत् को व्याप्त कर लिया'। विष्णु के इस कार्य का चारों वैदिक संहिताओं में स्थान-स्थान पर उल्लेख है—

१—इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूल्हमस्य पांसुरे।

ऋ० वे० १।२२।१७, वाज० सं० ५।१५ तथा
३४।४३, सा० वे० २।१०२०, अ० वे० ७।२६।५।

२—यः पार्थिवानि विममे रजांसि.... विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः।

ऋ० वे० १।१५४।३

३—य इमं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित् पदेभिः।

ऋ० १।१५४।३

४—यः पार्थिवानि त्रिभिरद् विगामभिः उरुक्रमिष्टोरुगायाय जीवसे॥

ऋ० १।१५५।४

ऋ० वे० १।१५४।२ में कहा गया है कि विष्णु के इन्हीं विस्तृत चरणन्यासों के अन्दर सम्पूर्ण लोक विश्राम करते हैं—

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।

सम्पूर्ण विश्व विष्णु के इन्हीं तीन चरणों के अन्दर समाया हुआ है—

येषु विष्णुस्त्रिषु पदेषु इष्टः तेषु विश्वं भुवनमाविवेश।

—वाज० सं० २३।४९

वैसे तो ये तीनों ही पदक्रम मधु से पूर्ण हैं (**यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि,** १।१५४।४) किन्तु इनमें से जो तीसरा, सबसे ऊपर, है उसमें तो मधु का एक अनन्त स्रोत ही है—

विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः। ऋ० वे० १।१५४ ५

विष्णु का यह परमपद मानवी दृष्टि तथा पक्षियों की उड़ान से बाहर है—

तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः।

ऋ० वे० १।१५५।५

विष्णु का तीन स्थानों में निवास है इसलिये उनको **त्रिषधस्थ** कहा गया है। (१।१५६।५)। **महाभारत** (विष्णुसहस्रनाम) में भी विष्णु का एक विशेषण **त्रिधामा** या तीन धामों में निवास करने वाला है। वे **त्रिधातु** (१।१५४।४) अर्थात् तीन प्रकार के हैं।

ऊपर के सभी उद्धरणों में एक ही मुख्य बात प्रतीत होती है। विष्णु ने अपने मधुमय तीन पदों से समस्त जगत् को व्याप्त कर रखा है और सम्पूर्ण जगत् उन्हीं के भीतर निवास करता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि विष्णु के इन पदों का क्या तात्पर्य है? बहुत पहले ही भारतीय विद्वानों की दृष्टि इस ओर गई थी। **ऋ० वे० १।२२।१७** की व्याख्या करते हुए आचार्य यास्क ने इस सम्बन्ध में अपने पूर्व के दो वैदिक विद्वानों शाकपूणि तथा औणवाभ के मत का उल्लेख किया है—

यदिदं किंच तद् विक्रमते विष्णुः। त्रेधा निधत्ते पदम्। त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि इति शाकपूणिः। समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसि इति और्णवाभः। समूढमस्य पांसुरे। प्यायने अन्तरिक्षे पदं न दृश्यते। अपि वा उपमार्थे स्यात्। समूढमस्य पांसुले इव पदं न दृश्यते, इत्यादि।

—**निरुक्त १२।१९**

अपनी निरुक्त वृत्ति में **दुर्गाचार्य** ने शाकपूणि तथा और्णवाभ के मत की व्याख्या इस प्रकार की है—

विष्णुरादित्यः। कथमित्याह। त्रेधा निदधे पदम्। निधत्ते पदम्। निधानं पदैः। क्व तत्तावत्। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। पार्थिवोऽग्निः भूत्वा पृथिव्यां यत्किञ्चिदस्ति तद् विक्रमते तदधितिष्ठति। अन्तरिक्षे वैद्युतात्मना दिवि सूर्यात्मना। यदुक्तम्—तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्। (ऋ० वे० १०।८८।१)। समारोहणे उदयगिरौ उद्यन् पदमेकं निधत्ते। विष्णुपदे मध्यन्दिने अन्तरिक्षे। गयशिरसि अस्तंगिरौ इत्यौर्णवाभाचार्यो मन्यते।

स्पष्ट है कि यास्क तथा उसके पूर्वजों (तथा दुर्गाचार्य) के अनुसार विष्णु भौतिक-सूर्य का ही आधिदैविक रूप है। और्णवाभ का मत था कि प्रातः, मध्याह्न तथा सन्ध्या में सूर्य की क्रमशः उदयाचल, मध्याकाश तथा अस्ताचल

पर स्थिति ही विष्णु के तीन पद हैं। एक पद उसका पूर्व दिशा में पड़ता है, दूसरा सर्वोच्च आकाश में और तीसरा पश्चिम के क्षितिज पर। माक्सम्युलर[1] तथा म्यूर[2] को एवं कतिपय अन्य यूरोपीय विद्वानों (हावर, केगी, ह्विटने, तथा डायसन) को भी विष्णु के पदक्रमों की यही व्याख्या स्वीकार्य है।

किन्तु इस मत के विरुद्ध दो प्रबल आपत्तियाँ हैं। पहली तो यह कि उदय, मध्य तथा अस्त के तीन बिन्दुओं को लेने पर केवल दो ही पदक्रम बन पाते हैं। क्रमण (चलना) शब्द से ही स्पष्ट है कि एक बिन्दु एक पदक्रम को नहीं व्यक्त कर सकता ; दो बिन्दु मिलाकर ही एक पग माना जा सकता है। ऐसी दशा में पश्चिम से पूर्व तक सूर्य का रात्रि-गमन ही तीसरा पद माना जा सकता है[3]। किन्तु इस अन्धकारमय पदक्रम का सूर्यदेव विष्णु से कहीं भी सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। दूसरी बात यह है कि वेदों में विष्णु के तीसरे पद को अत्यन्त ऊँचा स्थान माना गया है। वह परम पद है और वहाँ तक पक्षियों की भी गति नहीं है। किन्तु और्णवाभ के मत से विष्णु का तीसरा पद पश्चिमी क्षितिज का वह बिन्दु है जहाँ सूर्य अस्त होता है[4]।

---

१. माक्सम्युलर : **ऋग्वेद का अनुवाद** (से० बु० ई०), प्रथम भाग, पृ० ११७।

२. जे० म्यूर : **ओरिजनल संस्कृत टैक्सट्स**, पंचम भाग, पृ० ६६, ६७ तथा भूमिका, ७।

३. देखिये म्यूर, **वही** पृ० ४४०। **रामा०** किष्किन्धा० ४०।५८, ५९ के आधार पर लेखक का विचार है कि वाल्मीकि को सूर्य की रात्रि में उत्तर दिशा की ओर यात्रा को ही विष्णु का तीसरा पद मानना अभीष्ट था। पर सम्भवतः ५८वें श्लोक में वर्णित विष्णु के दो पदों और ५९वें में उल्लिखित सूर्य की उत्तर यात्रा में कथा की दृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है।

४. वैसे वाल्मीकि विष्णु के तीसरे पद को नहीं, अपितु दूसरे पद को ही सर्वाधिक उच्च बिन्दु मानने के पक्ष में हैं—उनके अनुसार विष्णु ने प्रथम पग उदयगिरि पर रखा और दूसरा सुमेरु पर्वत पर, जो संसार का सर्वोच्च पर्वत है और सूर्य जिसकी परिक्रमा करते हैं—

ततः परं हेममयः श्रीमानुदयपर्वतः।
शृंगं सौमनसं नाम जातरूपमयं ध्रुवम्।

अतः बैर्गेन्ये तथा मैक्डॉनल आदि विद्वान् शाकपूणि के ही मत के अनुयायी हैं। किन्तु यास्क द्वारा उल्लिखित शाकपूणि का मत थोड़ा अस्पष्ट है। सम्भवतः शाकपूणि का अभिप्राय यह है कि देदीप्यमान सूर्य की किरणें भूमण्डल, वायु तथा आकाश तीनों स्थानों में समान रूप से व्याप्त रहती है। पूर्व से पश्चिम तक पृथ्वी पर विष्णु का एक पदक्रम है। पूर्व से पश्चिम तक अन्तरिक्ष में दूसरा और पूर्व से पश्चिम तक आकाश में तीसरा। पक्षियों की गति केवल वायु-मण्डल या अन्तरिक्ष तक है, आगे नहीं। सम्पूर्ण दृश्य-जगत् को इस प्रकार तीन फलकों में विभाजित कर देने की धारणा वैदिक साहित्य में प्राचीनतम काल से प्राप्त होती है और ऋ० वे० १।१३९।११ आदि में देवताओं के इन तीन लोकों के अनुसार किये गये विभाजन में प्रतिबिम्बित है।

शाकपूणि के ही मत को स्वीकार करते हुए ब्लूमफील्ड[1] का विचार है कि विष्णु के पदक्रम सूर्य की प्रातः काल से मध्याह्न तक की गति को व्यक्त करते हैं। प्रातःकाल सूर्य की क्षितिज पर स्थिति विष्णु का पृथ्वी पर प्रथम पदक्रम है। धीरे-धीरे सूर्य ऊपर उठता है और अन्तरिक्ष में होता हुआ (द्वितीय पदक्रम)

तत्र पूर्वं पदं कृत्वा पुरा विष्णुस्त्रिविक्रमे।
द्वितीयं शिखरे मेरोश्चकार पुरुषोत्तमः॥

—किष्किन्धा० ५४।५७।५८

इसी प्रकार युद्ध-काण्ड में वे कहते हैं कि लका धवल उच्च प्रासादों से इस प्रकार युक्त थी, जैसे विष्णु का मध्यम पद मेघों से आच्छन्न रहता है—**"घनैरिवातपापाये मध्यमं वैष्णवं पदम्"** (३९।२२)। यहाँ 'मध्यम पद' निश्चित रूप से मध्य-आकाश का सूचित करता है। कालिदास ने भी आकाश अथवा अन्तरिक्ष का विष्णु के द्वितीय पद के रूप में उल्लेख किया है—

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्
पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।

—विक्रमोर्वशीयम्, १।२०

तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्क
वायोरिदं परिवहस्य वदन्ति मार्गम्।

—शाकुन्तलम्, ७।६

१. ब्लूमफील्ड : **रिलीजन ऑफ दि वेद, पृ० १६६।**

सर्वोच्च आकाश में पहुँच जाता है। यही विष्णु का परम पद है जो चक्षु के समान आकाश में स्थित दिखाई देता है (**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः, दिवीव चक्षुराततम्।** ऋ० १।२२।२०)। स्पष्ट है कि शाकपूणि के शब्दों की यह व्याख्या उतनी संतोषजनक नहीं है क्योंकि इससे सूर्य की केवल आधी गति ही पदक्रमों से व्याप्त हो पाती है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में विष्णु के दो-दो पदक्रमों का कहीं भी उल्लेख नहीं है। साथ ही इससे विष्णु के तीन पदक्रमों में सम्पूर्ण विश्व के समा जाने के तथ्य की भी समुचित व्याख्या नहीं होती।

दुर्गाचार्य की व्याख्या तो और भी असन्तोषजनक है। उसके अनुसार विष्णु, सूर्य (अथवा सामान्य तेज या प्रकाश-पुंज) है। अग्नि, विद्युत् तथा सूर्य ही विष्णु के तीन रूप हैं। अग्नि सम्पूर्ण पृथ्वी को व्याप्त करता है, विद्युत् अन्तरिक्ष को तथा सूर्य आकाश को। इस मत के अनुसार अग्नि, सूर्य तथा विष्णु में परस्पर तनिक भी भेद नहीं रह जाता। यह ठीक है कि सूर्य तथा अग्नि दोनों के ही ऋग्वेद में इसी प्रकार तीन रूप वर्णित किये गये हैं किन्तु विष्णु का विशेष सम्बन्ध गति से है, किसी स्थिर वस्तु से नही। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विष्णु सूर्य के गतिशील रूप का परिचायक है। विष्णु और सूर्य की धारणा में पूर्णतः तादात्म्य मान लेने पर ऋग्वेद में दोनों के स्वतन्त्र वर्णन की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? अग्नि, विद्युत् आदि को विष्णु के दो पदक्रम किसी भी दशा में नहीं माना जा सकता क्योंकि विष्णु के चंक्रमण में जो गत्यात्मकता है उसकी ऐसी दशा में व्याख्या नहीं की जा सकती है; फिर विष्णु के **उरुक्रम, उरुगाय तथा एवयावान्** आदि विशेषण व्यर्थ हो जाते है।

वस्तुतः विष्णु के इन तीन पदक्रमों के संबंध में हमें स्वतः ऋग्वेद से परवर्ती वैदिक साहित्य में ऐसे उद्धरण मिलने लगते हैं जिनमें **शाकपूणि** के मत के अनुरूप विष्णु के पदक्रमों का पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। यजुर्वेद में विष्णु के इन चरणन्यासों को आकाश, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी से सम्बन्धित बताया गया है—

१—दिवि विष्णुर्व्यक्रंस्त ̇̇ जागतेनच्छन्दसा, अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त ̇̇̇̇ त्रैष्टुभेनच्छन्दसा, पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त.... गायत्रेणच्छन्दसा ̇̇̇̇। वाज० स० २।२५

२—दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या महो वा विष्ण उरु अन्तरिक्षात्। वाज० सं० ५।१४

तै० सं० २।४।१२ में कहा गया है कि विष्णु ने अपना तृतीयांश पृथ्वी में स्थापित किया, तृतीयांश अन्तरिक्ष में और इतना ही आकाश में—

स विष्णुस्त्रेधा आत्मानं विन्यधत्त पृथिव्यां तृतीयमन्तरिक्षे तृतीयं दिवि तृतीयम् ।

श० ब्रा० १।१।२।१३ (तथा १।६।३।६, ३।६।३।३ आदि) में और भी स्पष्ट शब्दों में देवों के कार्य के लिये विष्णु के द्वारा पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को एक-एक पदक्रम से व्याप्त कर लेने का उल्लेख है—

यज्ञो वै विष्णुः । स देवेभ्य इमां विक्रान्ति विचक्रमे । यैषामियं विक्रान्तिः । इदमेव प्रथमेन पदेन पस्पार । अथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन । दिवमुत्तमेन । एतासु एवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्ति क्रमते ।

लगता है, ब्राह्मणकाल में विष्णु की यह विशेषता काफी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी क्योंकि लगभग सभी प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथों में विष्णु के इन तीन पगों का अनेक यज्ञिय कृत्यों से सम्बन्ध है। कुछ विशेष यज्ञों में विष्णु से संबंधित कृत्यों के समय पूर्व की ओर तीन पग चलने का विधान किया गया है। ऐसा करने से यजमान आंशिक रूप से विष्णु से अपना साम्य स्थापित करता है। **तै० सं०** का कथन है कि ऐसा करने से, जिस प्रकार विष्णु ने इन सम्पूर्ण लोकों को जीत लिया था उसी प्रकार यजमान भी तेजस्वी होकर इन लोकों को जीत लेता है—

यद्विष्णुक्रमान् क्रमते विष्णुरेव भूत्वा यजमानः'''इमाँल्लोकान् अनपजय्यम् अभिजयति ।
तै० सं० ५.२.१

विष्णुक्रमान् क्रमते विष्णुर्भूत्वा इमाँल्लोकानभिजयति ।
तै० ब्रा० १।७।४।४

राजसूय यज्ञ के अवसर पर शार्दूल चर्म के ऊपर राजा के लिए तीन पग चलने का विधान है। **श० ब्रा०** का कथन है कि इन विष्णु-क्रमों को करने से वह इन सब लोकों के ऊपर हो जाता है, पहले वह इनके भीतर ही था—

अथेनमन्तरेव शार्दूलचर्मणि विष्णुक्रमान् क्रमयति''' इमे वै लोका विष्णोर्विक्रमणम् । विष्णोः विक्रान्तम् विष्णोः क्रान्तम् ।

तदिमानेव लोकान्[१] समारुह्य । सर्वमेवेदमुपर्युपरि भवति । अर्वागेवास्माद् इदं सर्वं भवति । **श० ब्रा० ५।४।२।६**

ब्राह्मण ग्रन्थों के इन्हीं उल्लेखों में उस सुन्दर तथा रम्य कथा के बीज वर्तमान हैं जो बाद में भगवान् विष्णु के वामन-अवतार के लंबे आख्यान के रूप में विकसित हुई[२]। इसी ब्राह्मण में एक अन्य स्थान पर (१।२।५।१-७) विष्णु की तीन पदक्रमों से समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप्त करने की यह विशेषता एक छोटी सी यज्ञ सम्बन्धी कथा का आधार है—

देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । ततो देवा अनुव्यमिवासुः । अथ ह असुरा मेनिरे अस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति । तां होचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै । तां विभज्योपजीवामेति । तामौक्ष्णैश्चर्मभिः पश्चात् प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः । तद्वै देवा शुश्रुवुः, विभजन्ते ह वा इमामसुराः मेदिनीम् । प्रेत, तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते । के ततः स्याम यदस्यै न भजेमहीति । ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः । ते होचुः अनु नो अस्यां पृथिव्यामाभजत । अस्त्येव नो अप्यस्यां भाग इति । ते हासुरा असूयन्त इवोचुः । यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वो दद्मः इति । वामनो ह विष्णुरास । तद्वै देवा जिहीडिरे । महद्वै नो अदुः ये नो यज्ञसम्मितमदुरिति । ते प्राञ्चं विष्णुंनिपाद्य छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन् । तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः । तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त । **श० ब्रा० १।२।५।१-७**

---

१. प्रतीत होता है कि यहाँ पर लोक शब्द अपने दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । इस शब्द का अर्थ 'भुवन' के साथ-साथ 'लोग या 'सामान्यजन' भी होता है । विष्णु अपने पदक्रमों से संपूर्ण लोकों से ऊपर हो गये तो राजा इन पदक्रमों से सब लोगों (प्रजा) से ऊँचा हो जाता है ।

२. इन पंक्तियों के लेखक ने वामन अवतार की कथा के उद्भव और क्रमिक विकास पर १९६३-६६ में एक शोध प्रबन्ध लिखा था जिस पर उसे फाईबुर्ग वि० वि० (प० जर्मनी) से डॉ० फिल्० की उपाधि प्राप्त हुई है । द्रष्टव्य—*Der Ursprung und die Entwicklung der Vāmana - Legende in der indischen Literatur*, Otto Harrassowitz, Wiesbaden 1968.

प्रजापति की सन्तान, देवों और असुरों में सदा प्रतिस्पर्धा बनी रहती थी। एक बार देवता कुछ निर्बल पड़ गये। असुरों ने सोचा, अब तो यह पृथ्वी हमारी ही है। वे उसे वृषभचर्म से निर्मित प्रमाण-सूत्र के द्वारा नाप-नाप कर आपस में विभाजित करने लगे। देवों ने जब यह सुना तो उन्होंने सोचा कि यदि हमें भूमि न मिली, तो हम क्या करेंगे? अतः उन्होंने विष्णु को आगे किया और जाकर अपना भाग माँगा। ईर्ष्यालु असुरों ने उन्हें उतना ही भाग देना स्वीकार किया जितना विष्णु लेटकर अपने शरीर से आच्छादित कर सकते थे। विष्णु बौने थे। देवों ने सोचा कि विष्णु तो साक्षात् यज्ञ हैं। और यदि विष्णु (यज्ञ) के बराबर इन्होंने भूमि दे दी, तो सब कुछ दे दिया। उन्होंने छन्दों से विष्णु को घेर दिया और अग्नि को पूर्व में स्थापित करके विष्णु रूप यज्ञ की परिश्रमपूर्वक अर्चना करनी प्रारम्भ की जिससे उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी प्राप्त कर ली[1]।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि **श० ब्रा०** में विष्णु के वामन तथा त्रिविक्रम रूप का पृथक्-पृथक् स्वतंत्र उल्लेख है। दोनो को एक ही कथा का अंग नहीं बनाया गया। त्रिविक्रमत्व की धारणा ऋग्वैदिक है और वामनत्व की ब्राह्मणकालीन; किसी भी प्राचीन ब्राह्मण में दोनों का मिश्रण नहीं है। **तै० सं० २।१।३** में भी **श० ब्रा०** की भाँति विष्णु ने वामन-रूप धारण करके समस्त लोकों को जीत लिया—

देवासुरा एषु लोकेषु अस्पर्धन्त। स एतं विष्णुर्वामनमपश्यत्।
तं स्वायै देवतायै आलभत। स इमान् लोकान् अभ्यजयत्।

ऐ० ब्रा० में भी विष्णु के द्वारा अपने तीन विक्रमणों से क्रमशः, **त्रिलोकी, वेद** तथा **वाक्** को आच्छादित करने का वर्णन किया गया है; पर यहां उनके वामन रूप का कोई उल्लेख नहीं है। इन्द्र बँटवारे के समय असुरों को विष्णु के तीन पदक्रमों से अवशिष्ट स्थान देने की प्रतिज्ञा करते हैं, पर शेष कुछ बचता ही नहीं—

इन्द्रश्च ह वै विष्णुश्च असुरैः युयुधाते। तान् ह स्म जित्वा ऊचतुः कल्पामहै इति। ते ह तथेत्यसुराः ऊचुः। सो अब्रवीद् इन्द्रो

---

१. ठीक इसी प्रकार **तैत्तिरीय ब्राह्मण** ३।२।६।७ में भी कहा गया है कि मंत्रों द्वारा अर्चित होने पर विष्णु अत्यधिक बढ़ गये और तब देवों ने सारी भूमि प्राप्त कर ली।

यावदेवायं विष्णुः त्रिः विक्रमते तावद् अस्माकम्, अथ युष्माकम् इतरत् इति। स इमाँल्लोकान् विचक्रमे अथो वेदान् अथो वाचम्।

ऐ० ब्रा० ६।३।७

महाकाव्यों तथा पुराणों में आकर देवों की पराजय, विष्णु का वामनरूप तथा तीन पदक्रमों से लोकाच्छादन आदि तत्त्वों के योग से एक सुन्दर कथा की संरचना की गई है। परवर्ती विकास का प्रारंभिक रूप **महाभारत** में मिलता है जहाँ यह कथा दो स्थानों पर (वन-पर्व तथा शान्ति-पर्व में) उल्लिखित है। शान्ति-पर्व में विष्णु नारद से अपनी भावी **वामन अवतार** का वर्णन करते हुए कहते हैं—

विरोचनस्य बलवान् बलिः पुत्रो महासुरः।
अवध्यः सर्वलोकानां सदेवासुररक्षसाम्॥
भविष्यति स शक्रं च स्वराज्याद् च्यावयिष्यति।
त्रैलोक्येऽपहृते तेन विमुखे च शतक्रतौ॥
अदित्यां द्वादशादित्यः संभविष्यामि कश्यपात्[1]।
ततो राज्यं प्रदास्यामि शक्रायामिततेजसे॥
देवताः स्थापयिष्यामि स्वेषु स्थानेषु नारद।
बलिं चैव करिष्यामि पातालतलवासिनम्॥ आदि

शान्ति० ३३९।७९-८३

यहाँ पराक्रमी असुरराज बलि के द्वारा इन्द्र से त्रैलोक्य का राज्य छीने जाने तथा विष्णु द्वारा उसे पुनः प्राप्त करके इन्द्र को सौंपने और बलि को पाताल भेजने का उल्लेख है। तीन चरणन्यासों का नहीं। पर महाभारत के

---

१. महाभारत के दाक्षिणात्य पाठ में इसके पश्चात् कथा को बढ़ाने के लिए तीन श्लोक और दिये हुए हैं—

जटी गत्वां यज्ञसदः स्तूयमानो द्विजोत्तम।
यज्ञस्तवं करिष्यामि श्रुत्वा प्रीतो भवेद् बलिः॥
किमिच्छसि वटो ब्रूहीत्युक्तो याचे महद् वरम्।
दीयतां त्रिपदीमात्रमिति याचे महासुरम्॥
स दद्यान् मयि संप्रोक्तः प्रतिषिद्धश्च मन्त्रिभिः।
यावज्जलं हस्तगतं त्रिभिर्विक्रमणैर्वृतम्॥

समय में विष्णु के द्वारा अपने तीन पदन्यासों से त्रिलोकी का अतिक्रमण एक सामान्य तथ्य बन चुका था जो **त्रयो लोकास्त्वया क्रान्तास्त्रिभिर्विक्रमणैःपुरा** (उद्योग० १०।६) तथा **धर्मेण व्यजयल्लोकान् त्रीन् विष्णुरिव विक्रमैः** (सभा० १२६।३५) आदि में तो उल्लिखित है ही, साथ ही वन-पर्व में आने वाली वामनावतार की कथा में भी इसका स्पष्ट उल्लेख है—

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दन।
त्वं विष्णुरिति विख्यातः इन्द्रादवरजो विभुः॥
शिशुर्भूत्वा दिवं खं च पृथिवीं च परन्तप।
त्रिभिर्विक्रमणैः कृष्ण क्रान्तवानसि तेजसा॥
संप्राप्य दिवमाकाशमादित्यसदने स्थितः।
अत्यारोहच्च भूतानां भास्करं स्वेन तेजसा॥
वन० २७२।७१-७३

रामायण (बालकाण्ड, २९ वां अध्याय) में महर्षि वाल्मीकि ने लगभग १८ श्लोकों में वामन के द्वारा बलि से पृथ्वी के छीने जाने की कथा का वर्णन किया है। इन्द्र एवं मरुद्गणों के सहित एक बार सब देवों को जीतकर राजा बलि ने यज्ञ किया—

एतस्मिन्नेव काले तु राजा वैरोचनिर्बलिः।
निर्जित्य दैवतगणान् सेन्द्रांश्च समरुद्गणान्॥
कारयामास तद्राज्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
यज्ञं चकार सुमहानसुरेन्द्रो महाबलः॥ २९।४,५॥

देवता विष्णु के पास पहुँचे और उनसे कहा कि बलि एक महान् यज्ञ कर रहा है। उसके पूर्ण होने पर उसकी शक्ति बहुत बढ़ जायेगी। वह कभी अपने याचकों को लौटाता नहीं है अतः आप अपनी माया से एक वामन-रूप धारण करके हमारा कल्याण कीजिये—

स त्वं सुरहितार्थाय मायायोगमुपागतः।
वामनत्वं गतो विष्णो कुरु कल्याणमुत्तमम्॥९॥

इसी समय महर्षि कश्यप ने एक सहस्र वर्षों में पूर्ण होने वाला एक व्रत किया था। वर के रूप में उन्होंने विष्णु से याचना की **'भ्राता भव यवीयांस्त्वं शक्रस्यासुरसूदन'** (१७)। भगवान् ने अदिति के गर्भ से जन्म लिया और बलि से

तीन पग भूमि माँग कर उनसे तीनों लोकों को आक्रान्त करके इन्द्र को पुनः उसका राज्य दिलवा दिया—

अथ विष्णुर्महातेजा अदित्यां समजायत ।
वामनं रूपमास्थाय वैरोचनिमुपागतः ॥
त्रीन् क्रमानथ भिक्षित्वा प्रतिगृह्य च मेदिनीम् ।
आक्रम्य लोकाँल्लोकात्मा सर्वलोकहिते रतः ॥
महेन्द्राय पुनः प्रादात् नियम्य बलिमोजसा । २९।१९-२१

बालकाण्ड के जिस अंश में यह कथा आती है वह संभवतः रामायण का प्रक्षिप्त अंश है। पर वाल्मीकि को यह कथा अच्छी प्रकार ज्ञात थी क्योंकि अन्य कई स्थानों पर भी उन्होंने इसका उल्लेख किया है (उदा०, **अरण्य०** ६१। २४, यथा विष्णुर्महाबाहुर्बलिं बद्ध्वा महीमिमाम्, तथा **युद्ध०** ५९।:८)। कथा की प्रकृति से लगता है कि इस अंश के लेखक के सामने वामनावतार की कोई बड़ी कथा थी जिसे उसने संक्षिप्त करके यहाँ प्रस्तुत किया है।

यह कुछ आश्चर्य की बात है कि वैष्णवचरित के आधार-स्तंभ **विष्णु पुराण** में विष्णु के सर्वप्रसिद्ध वामन अवतार का केवल डेढ़ श्लोकों में उल्लेख भर है (देखिए, ३।१।४२, ४३)। **हरिवंश, मत्स्य, विष्णु-धर्मोत्तर, ब्रह्म, पद्म, वामन, स्कन्द** तथा **भागवत** पुराणों में यह कथा अत्यधिक विस्तार से प्राप्त होती है। **श्रीमद्भागवत** के अष्टम स्कन्ध में तो १९ से लेकर २३ वें अध्याय तक पूरे २९७ श्लोकों में विष्णु के इस अवतार की कथा कही गई है। संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में आये हुए कतिपय छुटपुट उल्लेखों के आधार पर इतने विशाल आख्यान का भवन खड़ा कर देना पुराणकारों के पल्लवन-कौशल का अद्वितीय निदर्शन है। भागवतकार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने प्राचीन ग्रंथों में आए हुए एतत्कथाविषयक किसी भी उल्लेख को छोड़ा नहीं है। सबको, यहाँ तक कि परस्पर विरोधी संदर्भों को भी, लेकर उसने एकरूपात्मक और एक-रसात्मक कथा की सृष्टि की है[1]। कथा इतनी रोचक, मार्मिक, सजीव तथा भक्ति-भाव से आप्लावित है कि इसे प्राचीन भारतीय कथा साहित्य का एक रत्न माना जाना चाहिये। विष्णु को समस्त संसार में व्याप्त, आदिपुरुष, परमेश्वर के रूप में चित्रित किया गया है और उनके विराट् रूप का वर्णन है।

---

१. गया चरण त्रिपाठी : **डेऽर उअरश्प्रुंग् उण्ट् डी एन्ट्विक्लुंग् डेऽर वामन-लेगैण्डे**, पृ० १४९ तथा आगे।

एक पद में वे पृथ्वी को नाप लेते हैं, आकाश उनके शरीर से घिर जाता है और दिशाएं भुजाओं से। दूसरे चरण से स्वर्, महः, जनः तथा सत्य-लोक को नाप लेने के पश्चात् तीसरे चरण के लिए ब्रह्माण्ड में स्थान ही नहीं बचता, अतः दान की प्रतिज्ञा पूरी न कर पाने के कारण बलि को वरुण-पाशों से बँधना पड़ता है। बलि का चरित अत्यधिक उत्कृष्ट, महनीय तथा श्लाघ्य है। अपने गुरु शुक्राचार्य द्वारा वामन को भूमि देने के लिए मना करने एवं बार-बार चेतावनी देने तथा अन्त में बात न मानने पर शाप दे देने पर भी बलि अपने वचन से नहीं डिगता। शुक्राचार्य उसे बहुत समझाते हैं कि ऐसा दान प्रशंसनीय नहीं है जिससे अपनी जीविका ही चली जाए (**न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते**, ८।१९।४३), किन्तु दृढ़ निश्चयी बलि पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता। शुक्राचार्य की भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य होती है। संपूर्ण लोकों को जीत कर सिहासन पर आसीन वामन तथा उनके पार्षदों पर आक्रमण करते हुए राक्षसों को वह नम्रता पूर्वक रोकता है (८।२१।१०-२०) और वामन द्वारा भर्त्सना किये जाने पर भी क्रुद्ध नहीं होता। अन्त में विष्णु उसे पाताल लोक का अखण्ड राज्य प्रदान करते है। वहाँ वे उसे स्वर्ग से भी अधिक ऐश्वर्य तथा सुख के साधन प्रदान करने का आश्वासन देते हैं; जीवन भर उसके प्रासाद के बाहर वामन आकार में द्वारपाल के रूप में उसकी रक्षा करने की प्रतिज्ञा करते हैं और अगले सावर्णि मन्वन्तर में इन्द्र पद प्राप्त करने का वर प्रदान करते हैं।

मत्स्य पुराण (२४५वां अध्याय) में विष्णु के विराट् रूप में आदित्य, रुद्र, मरुद्गण, अश्विनौ तथा प्रजापति आदि देवों की स्थिति बताई गई है[1]। **ब्रह्म पुराण** (७३ वां अध्याय) में भी भगवान् दो ही पदों से समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर लेते हैं और जब तीसरे पद के लिए बलि से पूछते हैं—

तृतीयस्य पदस्यात्र स्थानं नास्त्यसुरेश्वर।
क्व क्रमिष्ये भुवं देहि बलि तं हरिरब्रवीत् ॥४९॥

---

१. पाणौ तु पतिते तोये वामनोऽभूदवामनः।
सर्वदेवमयं रूपं, दर्शयामास तत्क्षणात्।
चन्द्रसूर्यौ च नयने, द्यौर्मूर्धा चरणौ क्षितिः।
विश्वेदेवा च जानुस्था जंघ साध्याः सुरोत्तमाः।
मत्स्य पु० २४५।५२,५३

तो बलि हँसकर एक बहुत सुन्दर उत्तर देता है—"अब आपके तीसरे पद के लिए मैं स्थान कहाँ से लाऊँ ? यह जगत् आपका ही बनाया हुआ है, मेरा नहीं। अतः यदि आपकी ही गलती से इसमें कमी पड़ गई तो मैं क्या करूँ ?"

विहस्य बलिरप्याह सभार्यः सकृतांजलिः ।
त्वया सृष्टं जगत्सर्वं न स्रष्टाहं सुरेश्वर ।
त्वद्दोषादल्पमभवत् किं करोमि जगन्मय ॥५०॥

इस पर विष्णु प्रसन्न होकर उसे वर प्रदान करते हैं।

ऐसा लगता है कि बलि के वरुण-पाशों से बन्धन की धारणा बहुत प्राचीन है क्योंकि **महाभारत** (शान्ति॰२२७।१८) में इसका उल्लेख है—

बद्धश्च वारुणैः पाशैः वज्रेण च समाहतः ।

पद्म पुराण के सृष्टिखंड के २५ वें अध्याय में वामनावतार की यह कथा थोड़े से अन्तर से प्राप्त होती है। सबसे बड़ा अन्तर यही है कि यहाँ बलि के स्थान पर **वाष्कलि** दैत्य का नाम प्राप्त होता है। ब्रह्मा के वर से वह अत्यधिक सामर्थ्यशाली हो जाता है। बलि की भाँति उसे भी सद्गुणी तथा अतिथि-सत्कारक चित्रित किया गया है। जिस प्रकार **ऐतरेय ब्राह्मण** में (६।३।७) इन्द्र असुरों से विष्णु के लिये भूमि माँगते हैं उसी प्रकार यहाँ भी वे वामन को अपने साथ लेकर वाष्कलि के प्रासाद में जाते हैं और कहते हैं, 'ये ब्राह्मण देवता कश्यप के कुल में उत्पन्न हुए हैं। इन्होंने मुझसे तीन पग भूमि की याचना की थी। किन्तु मेरे पास तो अब कुछ है नहीं, अतः तुम्हीं इनकी इच्छा पूर्ण कर दो।' शुक्राचार्य यहाँ भी मना करते हैं पर वाष्कलि बलि की ही भांति कहता है—

शत्रावपि गृहायाते नास्त्यदेयं तु किंचन ।

होता वही है। विष्णु यज्ञ-पर्वत पर पहुँच कर एक पग सूर्य लोक में रखते हैं और दूसरा ध्रुव लोक में। तीसरे से वे ब्रह्माण्ड के आवरण पर आघात करते हैं जिससे उसमें छेद हो जाता है और उसके द्वारा बहुत सा जल अन्दर आ जाता है। यह जल गंगा का रूप धारण कर लेता है[1] जो जगत् में 'विष्णुपदी'

---

१. वैदिक परिकल्पना के अनुसार पहले सर्वत्र जल था। उसमें प्रजापति ने एक हिरणमय अण्ड उत्पन्न किया जिसके फूटने पर ऊपरी भाग आकाश और निचला भाग पृथ्वी बन गया। इस प्रकार यह

नाम से प्रसिद्ध होती है। और जब विष्णु वाष्कलि से वर माँगने को कहते हैं तो वह केवल उनकी भक्ति तथा अन्तकाल में उनके हाथों अपनी मृत्यु माँगता है। भगवान् अगले कल्प में वराह रूप धारण करके पृथ्वी का उद्धार करते समय उसका भी 'उद्धार' करने का वचन देते हैं।

श्रीमद्भागवत में विष्णु का बलि के द्वारपाल बनने का जो उल्लेख है उसका संकेत **ऐतरेय ब्राह्मण** में ही प्राप्त हो जाता है। ऋग्वेद के **व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते** (१।१५६।४, अपने सखा के साथ विष्णु गायों के बाड़े को खोलते हैं) पर टिप्पणी करते हुए **ऐ० ब्रा०** (१।५।४) कहता है कि विष्णु देवों के द्वारपाल हैं—

विष्णुर्वै देवानां द्वारपः। स एवास्मै एतद् द्वारं विवृणोति ।।

इस वाक्य का ठीक तात्पर्य ज्ञात नहीं। पर **गौ** शब्द किरणों का भी वाची है। विष्णु (सूर्य) के उदित होते ही आकाश रूपी गोष्ठ का द्वार खुल जाता है और गायें (किरणें) बाहर निकल पड़ती हैं। 'देवों के द्वारपाल' का 'बलि का द्वारपाल' बन जाना कठिन नहीं।

एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि विष्णु को तीन पदन्यासों के समय वामन रूप में क्यों चित्रित किया गया है। मैक्डानल का मत है कि असुरों का सन्देह मिटाने के लिये और उनसे विष्णु के बराबर भूमि देना सरलता से स्वीकार कराने के लिये देवों की एक चाल के रूप में इसे कथा में जोड़ा गया है[1]। किन्तु कीथ तथा ओटो श्रादर[2] का विचार है कि विष्णु का वामनत्व आकस्मिक

'ब्रह्माण्ड' एक विराट् वारिधि में तैर रहा है जिसके नियामक वरुण हैं। ब्रह्माण्ड में छिद्र होने पर बाह्य समुद्र का यही जल आकाश मे प्रविष्ट होकर आकाश-गंगा का रूप धारण कर लेता है जो भगीरथ (एवं उसके पूर्वजों) के प्रयास से शिव के मस्तक पर गिर कर पृथ्वी पर पहुँचती है।

१. मैक्डानल, **वै० मा०** पृ० ४१।

२. कीथ, **रिलीजन एण्ड फिलासफी०**, भाग १ पृ० १११।
ओ० श्रादर, **रेयाललेक्सिकोन डेऽर इन्डोगेर्मानिशेन आल्टरठूम्सकुन्डे** (Reallexkon der indogermanischen Altertumskunde), भाग २, पृ० ७०७।

नहीं है, इसके पीछे लोक विश्वास की दृढ़ पृष्ठभूमि है। आर्यजातियों में ह्रस्वाकार प्राणियों को असामान्य शक्ति का स्वामी माना जाता था। प्राचीन जर्मनी में यह एक सामान्य विश्वास था कि जोतने-बोने तथा फसल काटने के कामों में कुछ खर्वाकार मानव (Zwerge) किसानों की सहायता करते हैं। प्राचीन भारतीय विश्वास के अनुसार, अलौकिक शक्तियों से युक्त यक्ष-गण भी वामन ही कल्पित किये जाते थे। सर्वशक्तिशाली विष्णु का वामनरूप इसी लोक-विश्वास की प्रवृत्तियों का सर्वाधिक प्रसिद्ध भारतीय उदाहरण है।

पर विष्णु के वामनरूप के लिये इतनी दूर जाने की आवश्यकता नहीं। प्रारम्भ में वामन तथा बाद में बृहच्छरीर विष्णु (**बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिः, ऋ० वे०** १।१५५।६) संभवतः उदीयमान, रक्ताभ सूर्यमण्डल के किरणों से रहित रूप को सूचित करते हैं। पूर्व-क्षितिज में सूर्य के दर्शन के कुछ क्षणों पश्चात् तक भी पृथ्वी मण्डल पर उसका कोई प्रभाव प्रतीत नहीं होता[1]। किन्तु थोड़ी देर में ही उसका प्रकाश-पुंज बढ़ कर आकाश एवं पृथ्वी को व्याप्त कर लेता है[2]।

विष्णु के इस वामन रूप के महत्त्व के कारण ही **तैत्तिरीय** (१।८।८, तथा

---

१. भौतिकी के प्रारंभिक सिद्धान्तों से परिचित छात्र जानते हैं कि प्रकाश की किरणें जब सघन से विरल अथवा विरल से सघन माध्यम में प्रविष्ट होती है तब वे एक विशेष कोण पर मुड़ जाती हैं। भूमि के वायु-मण्डल में भी पृथ्वीतल पर सघन वायु रहती है और ऊपर उठने पर विरल होती जाती है अतः वायु के सघन एवं विरल कई माध्यम बन जाते हैं। जब सूर्य की किरणें क्षितिज से थोड़ी सी नीचे रहती हैं तब प्रकाश के वर्ण-चक्र की अन्तिम लाल रंग की किरण मुड़कर दर्शक की आँखों तक पहुँच जाती है और उससे क्षितिज के ऊपर एक झूठा लाल रंग का सूर्य-विम्ब दिखाई देने लगता है। यह स्थिति कुछ ही क्षण रहती है। इसके पश्चात् सूर्य-मण्डल का वास्तविक उदय होता है।

इस विवरण का उद्देश्य वैदिक-कथा में भौतिकी के तत्त्व ढूँढ़ना नहीं अपितु केवल यह स्पष्ट करना है कि सूर्य के दर्शन के कुछ क्षण उपरान्त तक भी उसमें प्रकाश का समावेश नहीं होता।

२. तुलना कीजिये, जे० ख़ोन्डा, **आस्पेक्ट्स०**, पृ० १४६।

पूर्वोल्लिखित २।१।३) तथा **मैत्रायणी-संहिताओं** में विष्णु के निमित्त ह्रस्व पशु के आलभन का अथवा दक्षिणास्वरूप एक खर्वाकृति वृषभ प्रदान करने का विधान है। **मै० सं०** २।५।३ में कहा गया हैं कि एक बार देवों और असुरों में स्पर्धा हुई। जो जो देवता करते थे वही-वही असुर भी। देवता परेशान हो गये। तब उन्होंने एक वामन-पशु देखा और उसे विष्णु को प्रदान किया, जिससे विष्णु ने देवों के लिये ये सब लोक जीत लिये—

> **देवाश्च वा असुराश्चास्पर्धन्त। ते वै समावदेव यज्ञे कुर्वाणा आसन्। यदेव देवा अकुर्वत तदसुरा अकुर्वत। ते न व्यावृतमगच्छंस्ते देवा एतं वामनपशुम् अपश्यन् तं वैष्णवमालभन्त, ततो वै विष्णुरिमाँ-ल्लोकानुदजयत्। ततो देवा असुरान् एभ्यो लोकेभ्यः प्राणुदन्त।**
>
> मैत्रा० सं० २।५।३

श० ब्रा० ५।२।५।४ यज्ञ में विष्णु सम्बन्धी कृत्य के लिये ऋत्विक् को एक वामन-पशु दक्षिणा के रूप में देने का विधान करता है क्योंकि 'जो भी वस्तुएँ वामन हैं वे विष्णु से सम्बन्धित हैं' (**तस्य वामनो गौर्दक्षिणा। स हि वैष्णवो यद्वामनः**)। '**तद् हि पशुष वैष्णवं रूपं यद् वामनस्य गोः**' वाक्य भी इस ब्राह्मण में प्रायः आया है।

विष्णु और यज्ञ

वामनावतार सम्बन्धी **श० ब्रा०** का जो अंश ऊपर उद्धृत किया गया है (१।२।५।१-७) उसमें विष्णु को यज्ञ कहा गया है (**ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्य ईयुः**)। जब असुर वामन-विष्णु के शरीर के बराबर भूमि देने के लिये सहमत हो जाते हैं तो देवता बहुत प्रसन्न होते हैं। "इन्होंने तो हमें यज्ञ के बराबर भूमि दे डाली (**महद्व नो अदुः यद् यज्ञसम्मितमदुरिति**) और यज्ञ है अनन्त, अतः ये सारे लोक हमारे ही हो गये।" और तब वे पूर्व में अग्न्याधान करके विष्णु-रूपी यज्ञ को विविध छन्दों से बढ़ाने लगते हैं[1]। गायत्री, त्रिष्टुभ् तथा जगती से क्रमशः दक्षिण-पश्चिम और उत्तर से वे उसे परिगृहीत करते हैं और यज्ञ-विष्णु समस्त लोकों को आक्रान्त कर लेता है।

---

१. प्रमुख वैदिक छन्द सात हैं और इनसे 'फैलाए जाने' या वितत होने के कारण यज्ञ को वितान के अतिरिक्त सप्त-होता भी कहते हैं—
'येन यज्ञस्तायते सप्तहोता' (वा० स० ३४।४)

ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ और विष्णु का तादात्म्य अत्यन्त सामान्य बात है। यज्ञ और विष्णु के पारस्परिक ऐकात्म्य को द्योतित करने वाला 'यज्ञो वै विष्णुः' वाक्य श० ब्रा० में ही स्थान-स्थान पर कम से कम ५० बार आया है (उदा० १।१।२।१३, ५।२।३।६, ५।४।५।१ आदि)। एक स्थान पर कहा गया है—**स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः** (१४।१।१।६)। **कौषीतकि ब्राह्मण** (४।२, १।८, १८।१४) तथा **ऐतरेय ब्राह्मण** (१।३।४) आदि में भी यज्ञ और विष्णु का तादूप्य वर्णित है। कीथ ने ऋग्वेद में अपेक्षाकृत गौण स्थान के भागी होते हुए भी विष्णु के ब्राह्मण ग्रंथों एवं परवर्ती साहित्य में उत्कृष्ट स्थान प्राप्त करने का मुख्य कारण यज्ञ से उनका तादात्म्य बताया है। पर प्रश्न यह है कि संसार को नियन्त्रित करने वाला सर्वोच्च-तत्त्व यज्ञ ब्राह्मण-ग्रंथों में विष्णु से किस प्रकार संबन्धित हो गया जब कि ऋक् या यजुर्वेद में इस धारणा की क्षीण रूपरेखा भी प्राप्त नहीं होती। कीथ ने इस विषय में अपनी अज्ञानता स्वीकार की है, "जिस विचारश्रृंखला से यह तादात्म्य उत्पन्न हुआ उसे अब ठीक से नहीं जाना जा सकता"[1]। त्रिवेणी प्रसाद सिंह का विचार है कि विष्णु सूर्य के दैवीकरण हैं; सूर्य और अग्नि का वेदों में ऐकात्म्य है अतः विष्णु का यज्ञ की अग्नि से तादात्म्य हुआ और फिर स्वतः यज्ञ से। वे लिखते हैं, "वेद तथा पुराणों में संभवतः विष्णु नाम से सूर्य की ही पूजा हुई परन्तु ब्राह्मणों में विष्णु यज्ञ के अथवा यज्ञाग्नि के देवता माने गये। सूर्य भी अग्नि का ही वैश्वानर रूप है अतः इन दोनों विचारों में वास्तविक भेद नहीं है।"

इस मत में विसंगति यह है कि विष्णु का कहीं भी पार्थिव अग्नि से न तो तादात्म्य किया गया है और न ही हो सकता है। विष्णु सूर्य-मण्डल की दाहकता अथवा आग्नेय शक्ति के नहीं अपितु व्यापनशील प्रकाशकत्व के द्योतक हैं अतः वे सदा दिव्य हैं। यहाँ विस्तृत विवेचन के लिये अवसर नहीं है, किन्तु सामान्य अग्नि से यज्ञिय-अग्नि और यज्ञ की अग्नि से परमसामर्थ्यशाली यज्ञ से तादात्म्य की प्रक्रिया इतनी स्वाभाविक नहीं है जितनी उक्त विद्वान् समझते हैं। विष्णु तथा यज्ञ के तादात्म्य की इससे अधिक स्वाभाविक तथा स्पष्ट व्याख्या सम्भव है।

---

१. कीथ : **रिलीजन एण्ड फिलासफी०**, प्रथम भाग, पृ० १११।

२. त्रिवेणी प्रसाद सिंह : **हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अथ,** पृ० ६६।

ख़ोन्डा का विचार है कि यज्ञ की सामर्थ्यशालिता तथा संसार की प्रत्येक वस्तु (फल) को उत्पन्न कर सकने की क्षमता ने प्रजापति और यज्ञ का तादात्म्य बहुत पहले ही कर दिया था क्योंकि प्रजापति भी संसार की प्रत्येक वस्तु के उत्पादक हैं (**प्रजननं प्रजापतिः**, श० ब्रा० ५।१।३।६; **प्रजापतिना प्रजनयित्रैताः प्राजनयत्**, वही ८।४।३।२०) । इसी को दृष्टि में रखकर श० ब्रा० ११।१।८।३ में कहा गया है कि यज्ञ को प्रजापति ने अपनी ही प्रतिमा के रूप में उत्पन्न किया है—**अथैतमात्मनः प्रतिमामसृजत यद्यज्ञम् । तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञ इति** । किन्तु साथ ही प्रजापति की कुछ ऐसी विशेषताएं भी ब्राह्मणों में प्राप्त होती है जो मुख्यतः विष्णु से सम्बन्धित हैं । उदा० श० ब्रा० १२।३।५।१ में प्रजापति को सूर्य (सविता) बताया गया है—

यो ह्येष सविता स प्रजापतिरिति ।

और ११।४।३।१ में प्रजापति से श्री का जन्म उल्लिखित है—

तस्माच्छ्रान्तात् तेपानात् श्रीः उदक्रामत् सा दीप्यमाना भ्राजमाना लेलायन्ती अतिष्ठत् ।

दोनों देवों के ऐसे साम्य के कारण प्रजापति की बहुत सी विशेषतायें विष्णु में सन्निविष्ट हो गईं; इनमें यज्ञ से तादात्म्य भी एक थी[1] ।

विष्णु और यज्ञ के तादात्म्य की व्याख्या करने के लिए इस द्रविड़-प्राणायाम की भी आवश्यकता नहीं है । वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ संसार की आत्मा है (**सर्वेषामेष भूतानामात्मा यद् यज्ञः**, श० ब्रा० १४।३।२।१) वह जगत् की सर्वोच्च शक्ति है । मनुष्यों के ही नहीं देवों तक के अस्तित्व का वह आधार है : ससार की कोई भी वस्तु उसकी सहायता से प्राप्त की जा सकती है । प्रत्येक वस्तु उसके भीतर है, उसमें व्याप्त है । वह सबका आच्छादक अथवा व्यापक है । ठीक इसी प्रकार परवर्ती-संहिता काल में विष्णु को एक ऐसा सर्व-सामर्थ्यशाली देवता माना जाने लगा था जो जड़ और चेतन, स्थावर तथा जंगम संपूर्ण वस्तुओं को अपने अन्दर व्याप्त कर लेते हैं और सर्वत्र विद्यमान हैं । सम्पूर्ण त्रिलोकी को उन्होंने अपने पदक्रमों से आवृत कर रखा है । जगत् के व्यापन अथवा आच्छादन की इस प्रमुख सामान्य विशेषता ने ही दोनों के तादात्म्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योग दिया । प्रख्यात वैदिक व्याख्याता सायण

---

१. ख़ोन्डा, आस्पेक्ट्स०, नवम खंड पृ० ७७-८० ।

को भी यह तथ्य अस्पष्ट नहीं था क्योंकि श० ब्रा० १।१।२।१३ में आये 'यज्ञो वै विष्णुः' वाक्य की वाक्य की व्याख्या में उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

'विष्णोर्यज्ञस्य च व्यापनसामान्यात् तादात्म्यव्यपदेशः'

लगता है विष्णु के यज्ञ से इस तादात्म्य का प्रारम्भ यजुर्वेद में ही हो चुका था क्योंकि यहाँ विष्णु से हव्य की (१।४) तथा स्वतः यज्ञ की रक्षा (७।२०) करने की प्रार्थना की गई है और विष्णु तथा यजमान की एकरूपता प्रतिपादित की गयी है।

अस्तु, विष्णु और यज्ञ के इस साम्य के कारण ब्राह्मण-ग्रन्थों में विष्णु से सम्बन्धित एक मनोरंजक कथा प्राप्त होती है जो संक्षेप में इस प्रकार है—एक बार कुरुक्षेत्र में कुछ देवों ने एक यज्ञ-सत्र प्रारम्भ किया। आपस में इन्होंने निश्चय किया कि जो यज्ञ के रहस्य को जान लेगा वह हम लोगों में सर्वश्रेष्ठ हो जायेगा। विष्णु ने उसे सर्वप्रथम प्राप्त किया जिससे उन्हें देवों में श्रैष्ठ्य प्राप्त हुआ। गर्व के कारण वे तीन बाण और एक धनुष लेकर वहाँ से चल दिये और एक स्थान में धनुष को सिर के नीचे रखकर लेट गये। उन्हें जीत न सकने के कारण देवों ने दीमकों से सहायता करने के लिये कहा और उन्हें अन्न तथा मरुस्थल में भी जल प्राप्त करने का वरदान दिया। तब दीमकों ने विष्णु के धनुष की प्रत्यञ्चा काट दी जिससे धनुर्दण्ड उछला और विष्णु का सिर कट कर आकाश में चला गया जहाँ वह सूर्य बन गया। तब इन्द्र विष्णु के उस रुण्ड के पास पहुँचे और उसे अपने अंग-प्रत्यंगों से संयुक्त कर लिया जिससे विष्णु का तत्त्व इन्द्र में आ गया। विष्णु मख (यज्ञ) हैं। इन्द्र मखवत् हो गए। इसी मखवत् को देवों की परोक्ष भाषा में मघवत् (मघवा = इन्द्र) कहते हैं....

> देवा ह वै सत्रं निषेदुः। अग्निरिन्द्रः सोमो मखो विष्णुर्विश्वे-देवाः अन्यत्रैव अश्विभ्याम्। तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास ... ते होचुः यो नः श्रमेण तपसा श्रद्धया यज्ञेनाहुतिभिः यज्ञस्योदृचं पूर्वोऽवगच्छात् स नः श्रेष्ठो असत् ..... तद्विष्णुः प्रथमं प्राप। स देवानां श्रेष्ठो अभवत। स यः स विष्णुः यज्ञः सः, स यः स यज्ञः असौ स आदित्य। तद्धेदं यशो विष्णुर्न शशाक संयन्तुम् ...। स तिसृधन्वमादायापचक्राम। स धनुरार्त्न्या शिर उपस्तभ्य तस्थौ। तं देवा अनभिधृष्णवन्तः समन्तं परिण्यविशन्त। ता ह वम्र्यः ऊचुः ... यो अस्य ज्यामप्यद्यात् ... अन्नाद्य-मस्मै प्रयच्छेम। अपि धन्वन्नपो अधिगच्छेत् ... तस्योपपरासृत्य ज्या-

मपिजक्षुः । तस्यां छिन्नायां धनुः आर्त्न्यौ विष्फुरन्त्यौ विष्णोः शिरः प्रचिच्छिदतुः.....तं देवा अभ्यसृज्यन्त.....एवं तमिन्द्रः प्रथमं प्राप । तमन्वंगमनु न्यपद्यत् । तं पर्यगृह्णात् ।.....स उ एव मखः । स विष्णुः । तत इन्द्रो मखवानभवत् । मखवान् ह वै तं मघवानित्याचक्षते.....।

श० ब्रा० १४।१।१-१३

बिलकुल यही कथा **मैत्रायणी संहिता, पंचविंश ब्राह्मण** तथा **तैत्तिरीय आरण्यक** में भी थोड़े से अन्तर के साथ प्राप्त होती है । श० ब्रा० की कथा सबसे अधिक अर्वाचीन है ओर इसमें कई नये तत्त्व जोड़कर मूल से पर्याप्त अन्तर कर दिया गया है। मै० सं० (४।५।९) का विवरण निश्चित रूप से सर्वाधिक प्राचीन है। यहाँ विष्णु का उल्लेख तक नहीं किया गया, न ही इन्द्र की कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका है । विष्णु के स्थान पर यहाँ **मख** या **यज्ञ** है । वह स्वतः एक देवता है । सब मिलकर यज्ञ करते हैं और आपस में निश्चय करते हैं कि जो भी समृद्धि किसी एक को प्राप्त होगी वह समान रूप से सबको होगी । मख को वह मिल जाती है। लेकिन वह उसे किसी को भी देने की इच्छा नहीं करता और जब देखता है कि देवता उससे अपने भाग बलात् लेने को तैयार हैं तो वह तीन बाण और धनुष लेकर चला जाता है। देवों के कहने पर दीमकें अपना काम करती हैं और मख का सिर कटकर **सम्राज्** (प्रवर्ग्य)[1] बन जाता है। अग्नि इन्द्र और वायु उसके क्रमशः पूर्व, मध्य और अन्त के भागों को ग्रहण कर लेते हैं....

देवा ह वै सत्त्रमासत कुरुक्षेत्रे । अग्निर्मखो वायुरिन्द्रः । ते अब्रुवन् । यतमो नः प्रथम ऋध्नवत् तं नः सहेति । तेषां वै मख

१. सोम-याग में उपसद् के पूर्व किया जाने वाला एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कृत्य । सर्वश्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण होने के कारण इसे 'सम्राज्' कहा जाता है। इस कृत्य की मुख्य क्रिया तीन मिट्टी के सकोरों (महावीर) में दूध एवं घी के मिश्रण को उबालना एवं इन्द्र, वायु, सवितृ तथा अश्विन् आदि को उसके भाग प्रदान करना है। अवशिष्ट यज्ञांश को पुरोहित सूंघते हैं और यजमान उसका पान कर जाता है । यह कृत्य पत्नी-शाला में बैठी महिलाओं को नहीं दिखाया जाता । विशेष विवरण **श्रौतकोश** (पूना १९७०), डा० सूर्यकान्त कृत **वैदिक कोश** एवं चित्रभानु सेन कृत **डिक्शनरी ऑफ् वैदिक रिट्अल्स** (दिल्ली १९७८) में द्रष्टव्य है ।

आर्ध्नोत् । तं न्यकामयत । तं न समसृजत । तदस्य प्रासहादित्सन्त । स इत एव तिस्रो अजनयत स प्रतिधायापक्रामत् । तं नाभ्यधृष्णुवत् । तं धन्वार्ति प्रतिष्कभ्यातिष्ठत् । स इन्द्रो वम्रीरब्रवीत् । एतां ज्यामप्य-त्येति''''ता वै ज्यामप्यादन् । तस्य धन्वार्तिरुदय्य शिरोऽछिनत् । स सत्राडभवत् । अथेतरं त्रेधा व्यगृह्णत । अग्निः पूर्वार्धम् इन्द्रो मध्यं वायुर्जघनार्धम् । तस्मादाग्नेयं प्रथमं सवनम्, ऐन्द्रं माध्यन्दिनं सवनं, वैश्वदेवं तृतीयसवनं, वायुर्हि विश्वेदेवाः । मै० सं० ४।५।६

मै० सं० की यह कथा विशुद्ध यज्ञिय उद्भावना है । यज्ञ को यहाँ चेतन प्राणी के रूप में चित्रित किया गया है । यज्ञ परमसामर्थ्यशाली है । अग्नि, इन्द्र और वायु या विश्वेदेव यज्ञ के प्रमुख देवता हैं । सोम-यज्ञ में मुख्य भाग पाने के कारण इनको यज्ञ की ऋद्धि को आत्मसात् करते हुये वर्णित किया गया है । किन्तु यज्ञ का मुख्य भाग (सिर) तो है प्रवर्ग्य । इन देवों के लिये सवन करने पर भी यज्ञ पूर्ण नहीं होता है क्योंकि ये यज्ञ के सिर को आत्मसात् नहीं कर सके । अतः जब यजमान प्रवर्ग्य कृत्य करता है तो मानों वह यज्ञ के सिर को उससे जोड़ देता है और यज्ञ पूर्ण हो जाता है । मै० सं० में इस तत्त्व को स्पष्ट नहीं किया गया है । पर **पञ्चविंश ब्राह्मण** (७।५।६) इसका संकेत करता है । इस ब्राह्मण की कथा अत्यन्त संक्षिप्त तथा स्पष्ट है इसलिये इसे प्रायः परवर्ती श्रौत-सूत्रों की व्याख्याओं एवं पद्धतियों में उद्धृत किया गया है—

देवाः वै यशस्कामाः सत्रमास्त । अग्निरिन्द्रोवायुर्मखः । ते अब्रुवन् यन्नो यशः ऋच्छात् तन्नः सह आसद् इति । तेषां मखं यशः आच्र्छत् तदादाय अपाक्रामत् । तदस्य प्र सह आदित्सन्त तं पर्ययतन्त । स धनुः प्रतिष्टभ्य अतिष्ठत् तस्य धनुरार्त्नीः ऊर्ध्वा पतित्वा शिरो-ऽच्छिनत् स प्रवर्गोऽभवत् । यज्ञो वै मखः । यत् प्रवर्ग्यं प्रवृञ्जन्ति तत् यज्ञस्येव तच्छिरः प्रतिदधाति । पंचविंश ब्रा० ७।५।६

यहाँ अनावश्यक जानकर दीमकों का उल्लेख नहीं किया गया । तैत्तिरीय आरण्यक (५।१।१-७) की कथा पञ्चविंश तथा शतपथ-ब्राह्मण के बीच की कड़ी है । मैत्रायणी-सहिता तथा पञ्चविंश में विष्णु का कोई उल्लेख नहीं है । पर तैत्तिरीय-आरण्यक में इस मख को सामानाधिकरण्य से 'वैष्णव' (अर्थात् विष्णु से संबन्धित) कहा गया है । आगे चलकर शतपथ-ब्राह्मण यज्ञ और विष्णु का पूर्ण तादात्म्य करते हुए कथा के नायक के स्थान पर पूर्णतः विष्णु को

प्रतिष्ठापित कर देता है। धनुष और बाण यहाँ मख की हथेलियाँ से उत्पन्न होते हैं। मुस्कराने से उसका तेज मुख से निकल कर श्यामाक (साँवा) बन जाता है जिसे हवन करके देवता यज्ञ के तेज को पुनः प्रतिष्ठापित करते हैं—

देवा वै सत्रमासत ऋद्धिपरिमितं यशस्कामाः। ते अब्रुवन् 'यन्नः प्रथमं यशः ऋच्छात् सर्वेषां नः तत् आसत्' इति।....तेषां मखं वैष्णवं यशः आर्च्छत्।...तेन अपाक्रामत्। तं देवाः अन्वायन् यशः अवरुरुत्स्यमानाः।....तस्य सव्याद् धनुरजायत दक्षिणादिषवः। सोऽस्मयत 'एकं मा सन्तं बहवो न अभ्यधर्षिषुः' इति। तस्य सिष्मीयमानस्य तेजोऽपक्रामत्। ते श्यामाका अभवन्। स्मयका वै नाम एते। स धनुः प्रतिष्कभ्य अतिष्ठत्। याः उपदीकाः ....तस्य ज्याम् अप्यादन्। तस्य धनुः विप्रवमाणम् शिरः उदवर्तयत्। तद् द्यावापृथिवी अनुप्रावर्तत....यत् प्रावर्तत् तत् प्रवर्ग्यस्य प्रवर्ग्यत्वम्। तं स्तृतं देवता त्रेधा व्यगृह्णन्त। अग्निः प्रातःसवनमिन्द्रो माध्यन्दिनं सवनं विश्वेदेवाः तृतीयं सवनम। तै० ब्रा० ५।१।१-६

इस आरण्यक में आगे एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य ध्यान देने योग्य है। पूर्ववर्ती ब्राह्मणों में इस सम्बन्ध में अश्विनौ का उल्लेख नहीं है किन्तु यहाँ मख के सिर के नष्ट हो जाने पर देवता देव-वैद्य अश्विनौ से उस सिर को पुनः जोड़ने की प्रार्थना करते हैं। अश्विनौ प्रवर्ग्य में एक ग्रह (मिट्टी का कुल्हड़, जिसमें देवों को भाग दिया जाता है) प्राप्त करके मख का सिर धड़ से संयुक्त कर देते हैं। इस सिर को जोड़ने की प्रक्रिया का वर्णन **तैत्तिरीय ब्राह्मण** भी लगभग पञ्चविंश ब्राह्मण की तरह करता है—

ते देवा अश्विनौ अब्रुवन् भिषजौ वै स्थः। इदं यज्ञस्य शिरः प्रतिधत्तम् इति। तौ अब्रूताम् वरं वृणीमहि, ग्रहः एव नौ अत्रापि गृह्यताम्....तौ एतद् यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम् यत् प्रवर्ग्यः। तेन सशीर्ष्णा यज्ञेन यजमानाः अव आशिषोऽरुन्धत। अभि सुवर्गं लोकम् अजयन्। यत् प्रवर्ग्यं प्रविनक्ति यज्ञस्यैव तच्छिरः प्रतिदधाति। तेन अशीर्ष्णा यज्ञेन यजमानः अव आशिषो रुन्धेऽभि सुवर्गं लोकं जयति। तस्माद् एष आश्विनप्रवयाः इव यत् प्रवर्ग्यः।

तै० ब्रा० ५।१।७

ऋक् तथा यजुर्वेद में अश्विनौ के देव-वैद्य होने के कई उल्लेख हैं (उदा० **देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाश्विना**, वाज सं० १६।१२)। साथ ही उनके द्वारा च्यवन को वृद्धावस्था से मुक्त कराने तथा विश्पला की टाँग ठीक करने आदि की कई कथाएँ हैं (ऋ० वे० १।११८।६ तथा १।११२।१० आदि)। तै० आ० में अश्विनौ के इसी स्वरूप को ध्यान में रखते हुए कथा में उनका सन्निवेश कर दिया गया है। श० ब्रा० प्रवर्ग्य से अश्विनौ के इस सम्बन्ध की जो मनोरंजक आख्यायिका प्रस्तुत करता है (देखिये, श० ब्रा० १४।१।१।१८-२५) उसका उल्लेख अश्विनौ के प्रसंग में (पृ० २८६-८७) किया गया है। "महर्षि दध्यञ्च् (प्रवर्ग्य की) इस 'मधु-विद्या' को जानते थे। वे जानते थे कि यज्ञ का सिर कैसे जोड़ा जा सकता है और उसे किस प्रकार पूर्ण किया जा सकता है। पर इन्द्र ने उनसे कहा कि यदि तुम यह विद्या किसी को बताओगे तो मैं तुम्हारा सिर काट लूँगा। अश्विनों के मन में इसे सीखने की बड़ी इच्छा हुई। वे दध्यञ्च् के पास पहुँचे। उन्होंने इन्द्र की चेतावनी उनसे बताई। अश्विनौ ने कहा कि हम अभी ही तुम्हारा सिर काटकर एक अश्व का सिर तुम्हारे धड़ से जोड़ देते हैं। तुम उससे ही उपदेश दो। जब इन्द्र उसे काट डालेगा तो हम तुम्हारा वास्तविक सिर लाकर जोड़ देंगे। ऐसा ही हुआ और अश्विनौ उस मधुविद्या (प्रवर्ग्य-क्रिया) के अधिकारी ज्ञाता हो गये[1]। उन्होंने देवों के अध्वर्यु बनकर[2] यज्ञ करते हुये यज्ञ का कटा सिर उसी में जोड़ दिया।" इस मधु विद्या के दार्शनिक तत्त्वों का वर्णन श० ब्रा० में आगे (अर्थात् **बृहदारण्यक** उप० २।५६ में) अत्यन्त विस्तार से प्राप्त होता है।

प्रस्तुत कथा के कर्मकाण्डीय महत्त्व को न समझते हुए कीथ ने लिखा है कि यह कथा बड़ी विचित्र तथा असंगत है और इसका कोई भी प्रतीकात्मक अर्थ

---

१. अश्विनौ के मधु से घनिष्ठ संबन्ध के लिये पीछे अश्विनौ का विवरण देखिये (पृ० २७८-७६)। प्रवर्ग्य की मधु-विद्या से उनका सम्बन्ध स्वाभाविक है। *ऋग्वेद १।११६।१२ में ही अश्विनौ को इस मधु-विद्या का अधिकारी बताया गया है जिसे उन्होंने दध्यञ्च् से अश्व-*शिर के माध्यम से प्राप्त की—**दध्यङ् ह वा यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच।**

२. अश्विनौ के आध्वर्यव के लिये देखिये **श० ब्रा०** ४।१।५।१५ तथा ८।२।१।३।

लेना भूल होगी[1]। पर श० ब्रा० की परवर्ती कण्डिकाएँ ही इस रहस्यात्मक कथा की सुस्पष्ट व्याख्या करती हैं। अपने अद्वितीय महत्त्व के कारण प्रवर्ग्य ही यज्ञ का शीर्ष है। यज्ञ और विष्णु के पूर्ण तादात्म्य के कारण श० ब्रा० विष्णु को कथा के मुख्य पात्र के रूप में चित्रित करता है। प्रवर्ग्य की क्रिया में जब मिट्टी के सकोरे में दूध गरम किया जाता है तो वह प्रतप्त होकर आकाश में चमकने वाले आदित्य से उपमेय हो जाता है। अतः प्रवर्ग्य ही सूर्य है (**य एष तपति, एष उ प्रवर्ग्यः, १४।१।१।२८**)। जो यज्ञ की शेष क्रियाओं को जानता हुआ भी इसे (प्रवर्ग्य को) नहीं जानता वह मानों यज्ञ-रूप विष्णु का सिर खण्डित करता है—ऐसा सिर जो ब्राह्मण ग्रंथों की रहस्यमय यज्ञिय शैली में सूर्य है। अश्विनौ ने जाकर दध्यञ्च् से यह विद्या पढ़ी और तब वे यज्ञ के सिर को जोड़कर पूर्ण बनाने में सफल हुये।

ब्राह्मण ग्रंथों में सम्पन्न विष्णु और यज्ञ का यह तादात्म्य परवर्ती साहित्य में भी भुलाया नहीं गया है। महाभारत के **विष्णु-सहस्रनाम** में विष्णु ऐसे कई नाम प्राप्त होते हैं जिसमें उनको 'यज्ञ' कहा गया है—

यज्ञ इज्यो महेज्यश्च क्रतुः सत्रं महामखः। अनु० १४६।४८

इसी प्रकार पुराणों में भी भगवान् विष्णु को स्थान-स्थान पर 'यज्ञ का स्वामी' 'यज्ञ का अधिष्ठाता' तथा यज्ञ का फल-प्रदाता' कहा गया है। **मत्स्य पुराण** (२४५।१०) में जब शुक्राचार्य बलि से बताते हैं कि विष्णु वामन-रूप में तुम्हारे इस यज्ञ में आ रहे हैं तो वह अत्यन्त प्रसन्न होकर कहता है—

धन्योऽहं कृतपुण्यश्च यन्मे यज्ञपतिः स्वयम्।
यज्ञमभ्यागतो ब्रह्मन् मत्तः कोऽन्योऽधिकः पुमान्॥
मत्स्य० २४५।१०

ब्रह्म पुराण (७३ वां अध्याय) में इस प्रसंग में विष्णु के लिये 'यज्ञेश' 'यज्ञवाहन' तथा 'यज्ञपुरुष' विशेषण प्रयुक्त हुए हैं—

क. **नासौ विप्रो, बले सत्यं यज्ञेशो यज्ञवाहनः।** ७३।३२

ख. **यज्ञेशो यज्ञपुरुषश्चन्द्रादित्यौ स्तनान्तरे।** ७३।४२

---

1. The myth is an odd and curious one and to ascribe to it any symbolic sense, would doubtless be a mistake.
कीथ, **रिलीजन एण्ड फिलॉसफी०**, प्रथम भाग, ११२।

विष्णु पुराण भारतभूमि की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि इस देश में विविध यज्ञों से यज्ञपुरुष, यज्ञमय, भगवान्-विष्णु की उपासना की जाती है—

> **पुरुषैर्यज्ञपुरुषो जम्बूद्वीपे सदेज्यते ।**
> **यज्ञैर्यज्ञमयो विष्णुः, अन्यद्वीपेषु चान्यथा ।।** विष्णु० २।३।२१

श्रीमद्भागवत में तो शायद ऐसे उल्लेखों की गणना ही नहीं जा सकती जिनमें विष्णु को यज्ञ से घनिष्ठतया संबन्धित बताया गया है। उदा० ३।१३ में उनके लिये 'यज्ञलिंग (यज्ञ से ज्ञात होने वाले, श्लोक १३) 'यज्ञ' (२२) 'यज्ञ-पुरुष' (२३) 'यज्ञेश्वर' (२९) तथा ३।१४ में 'यज्ञमूर्ति (२) 'यजुषां पति' (८) आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।

श्रीमद्भागवत, चतुर्थ स्कन्ध, के दूसरे अध्याय में दक्ष प्रजापति और उनके जामाता भगवान् शिव के पारस्परिक विरोध भाव के जन्म का चित्रण है। शिव के द्वारा आदर न पाकर दक्ष उन्हें खूब खरी-खोटी सुनाता है और इधर शिव के गण दक्ष और उनके अनुयायियों को यज्ञ के कर्मकाण्ड में लिप्त रह कर सदा ऐहिक सुखों की कामना करते रहने के लिए फटकारते हैं। वैदिक कर्मकाण्ड की निन्दा सुन कर महर्षि भृगु निवृत्तिमार्गी शिवगणों को शाप देते हुए कहते हैं कि 'तुम लोग उस वैदिक मार्ग की निन्दा करते हो जिसके संस्थापक साक्षात् विष्णु हैं और जिस पर बड़े-बड़े ऋषि मुनि चलते आये हैं, अतः पाषण्डी हो जाओ'—

> **ब्रह्म च ब्राह्मणांश्चैव यद्यूयं परिनिन्दथ ।**
> **सेतुं विधारणं पुंसामतः पाषण्डमाश्रिताः ।।**
> **एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः ।**
> **यं पूर्वे चानुसंतस्थुः यत्प्रमाणं जनार्दनः ।।**
> **तद् ब्रह्म परमं शुद्धं सतां वर्त्म सनातनम् ।**
>
> भागवत ४।२।३०-३२

आगे (द्वितीय भाग में) शिव के प्रसंग में बताया जायेगा कि प्राचीनकाल में शिव और विष्णु दो विभिन्न प्रकार के धार्मिक वर्गों से सम्बन्धित थे। शिव उन निवृत्तिमार्गी परिव्राजकों के आराध्य थे जो सांसारिक भोगों पर दृष्टि रखने वाले कर्मकाण्ड का बहिष्कार करके आत्म-तत्त्व की खोज में संलग्न रहता था और विष्णु वैदिक कर्मकाण्ड अथवा यज्ञ-यागादिकों से सम्बन्धित थे। दक्ष

प्रजापति है। प्रजापति का ही ब्राह्मणों में नाम **दक्ष** है (तै० सं० २।३।५, श० ब्रा० २।४।४।२) और प्रजापति यज्ञ के जनक, अधिष्ठाता तथा स्वत: यज्ञ-स्वरूप हैं। अतः दक्ष और शिव का विरोध स्वाभाविक ही है।

विष्णु के यज्ञमयत्व की सबसे सुन्दर परवर्ती व्याख्या **श्रीमद्भागवत** प्रस्तुत करता है। यहाँ यज्ञ को विष्णु का एक अवतार मान कर उसे मानवी रूप दे दिया गया है, प्रजापति **रुचि** की पत्नी **आकूति** के गर्भ से विष्णु **'सु-यज्ञ'** नाम से जन्म लेते हैं। उनकी पत्नी का नाम **'दक्षिणा'** है। दोनों के संयोग से **सु-यम** नामक देव गणों की उत्पत्ति होती है—

जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञः।
आकूतिसूनुरमनामथ दक्षिणायाम्॥

भागवत० २।७।२

इसी महापुराण के चतुर्थ स्कन्ध में यज्ञ और दक्षिणा के संयोग की कथा कुछ विस्तार से दी गई है। स्वायंभुव मनु ने अपनी पुत्री **आकूति** का विवाह **रुचि** प्रजापति के साथ इस शर्त पर कर दिया कि वे उसकी प्रथम सन्तान को अपने दत्तक पुत्र के रूप में ग्रहण करेंगे। पुत्र साक्षात् विष्णु का अवतार था। उसका नाम **यज्ञ** था। पुत्री का नाम **दक्षिणा** था। वह लक्ष्मी का अंश थी। पुत्र का पालन स्वायंभुव मनु ने किया और पुत्री का प्रजापति रुचि ने। युवक होने पर यजुष् (= यज्ञ) मन्त्रों के अधिपति ने अपने ऊपर आसक्त दक्षिणा का पाणिग्रहण किया। इस विवाह से दोनों को तोष हुआ और उनके संयोग से **तुषित** नामक द्वादश देवता उत्पन्न हुए।

इन तुषित देवों का उल्लेख ऊपर (पृ० २१३ पर) आ चुका है। ये ही वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर में द्वादश आदित्य हैं। यज्ञ और दक्षिणा के घनिष्ठ सम्बन्ध पर आधारित इस कथा में प्रतीकात्मकता ही सर्वोपरि है। इसीलिए दोनों के मिलन में भ्राता और भगिनी के सम्बन्ध को भी उपेक्षित कर दिया गया है। सुसम्पन्न यज्ञ और उदार दक्षिणा से यजमान को जो तोष प्राप्त होता है उसकी झाँकी इन बारह पुत्रों के नामों में है—

प्रजापतिः स भगवान् रुचिस्तस्यामजीजनत्।
मिथुनं ब्रह्मवर्चस्वी परमेण समाधिना॥
यस्तयोः पुरुषः साक्षाद् विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक्।
या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूतानपायिनी॥

तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पतिः ।
तुष्टायां तोषमापन्नोऽजनयद् द्वादशात्मजान् ॥
तोषः प्रतोषः संतोषो भद्रः शान्तिरिडस्पतिः ।
इध्मः कविर्विभुः स्वह्नः सुदेवो रोचनो द्विषट् ॥
तुषिता नाम ते देवाः... ... ॥

भाग० ४।१।३-५

यज्ञ और दक्षिणा का परस्पर ऐसा सम्बन्ध तै० सं० (६।१।३) में भी वर्णित किया गया है पर यहाँ दक्षिणा के गर्भ से इन्द्र का जन्म होता है। श० ब्रा० ३।२।१।२७ में दक्षिणा का स्थान वाक् ने ले लिया है।

विष्णु का यज्ञ-वराह रूप

विष्णु का यज्ञ से यह संबन्ध इतना अधिक व्यापक है कि विष्णु के अन्य स्वरूपों के पूर्व भी यज्ञ शब्द प्रायः विशेषण रूप में प्राप्त होता है—"पृथ्वी की रक्षा के लिये विष्णु ने 'यज्ञ-वराह' का रूप धारण किया। श्रीमद्भागवत ३।१३ में भगवान् के इस यज्ञमय वराह-शरीर की एक अत्यन्त उत्कृष्ट स्तुति प्राप्त होती है जिसमें यज्ञ के विभिन्न अंग तथा कर्मकाण्ड के उपकरण भगवान् के विभिन्न अंग-उपागों के रूप में वर्णित किये गये हैं। तीनों वेद ही उनके शरीर हैं। उनके रोम-छिद्रों में सम्पूर्ण यज्ञ समाये हुए हैं। उनकी त्वचा छन्द है। रोम कुश हैं। नेत्र घृत हैं। चारों चरण चातुर्होत्र हैं। मुख स्रुक् है। दोनों नासापुट स्रुवा हैं। उदर इडा (यज्ञिय भक्षण-पात्र) है। दोनों कान चमस और ग्रह हैं। मुख प्राशित्र है। भोजन अग्निहोत्र है....आदि आदि। विष्णु के यज्ञमयत्व के सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण स्तुति शब्दशः उद्धरणीय है—

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन त्रयीं तनुं त्वां परिधुन्वते नमः।
यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरध्वरास्तस्मै नमः कारणसूकराय ते ॥ ३४ ॥
रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां दुर्दर्शनं देव यदध्वरात्मकम् ।
छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोमस्वाज्यं दृशि त्वंघ्रिषु चातुर्होत्रम् ॥३५॥
स्रुक् तुण्ड आसीत् स्रुव ईश नासयोरिडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे ।
प्राशित्रमास्ये ग्रसने ग्रहास्तु ते यच्चर्वणं भगवन्नग्निहोत्रम् ॥३६॥
दीक्षानुजन्मोपसदः शिरोधरं त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः ।
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव शीर्षकं क्रतोः सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवो ते ॥३ ॥

सोमस्तु रेतः सवनान्यवस्थितिः संस्थाविभेदास्तव देव धातवः ।
सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धिस्त्वं सर्वयज्ञक्रतुरिष्टिबन्धनः ॥३८॥
नमो नमस्तेऽखिलमंत्रदेवताद्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने ॥३९॥

लगभग इसी शैली में विष्णु के यज्ञ-वराहरूप का वर्णन **मत्स्य पुराण** (२४७। ६२-७९) तथा **वायु पुराण** (६।१५-२७) में भी गया है ।

विष्णु के वराह अवतार की इस कथा के अत्यन्त सूक्ष्म अंकुर ऋग्वेद में ही प्राप्त होने लगते हैं किन्तु पुराणों का यह रूप उस मूल से बहुत अधिक परिवर्तित है। ऋ० १।६१।७ में कथा का प्राचीनतम, किन्तु साथ ही अत्यन्त अस्पष्ट, उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें कहा गया है कि "बलवान् धनुर्धारी विष्णु ने पर्वत को विदीर्ण करते हुए [उसके पीछे रहने वाले] वराह को वेध डाला और पका हुआ अन्न चुरा लाए"—

मुषायद् विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता ॥

ऋग्वेद में केवल एक और स्थान पर इस देवकथा का लगभग इन्ही शब्दों में उल्लेख किया गया है। कवि इन्द्र से कहता है कि "हे इन्द्र, तुम्हारे द्वारा प्रेरित त्रिविक्रम-विष्णु एक सौ महिष, दूध में पके चावल (पायस या खीर) तथा एक भयंकर शूकर (एमुष) को उठा ले गये"—

विश्वा इत् ता विष्णुराभरत् उरुक्रमस्त्वेषितः ।
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं[1] वराहमिन्द्र एमुषम् ॥ ८।७७।१०

यह तो लगभग असंदिग्ध है कि प्रथम मंत्र में उल्लिखित वराहवध इन्द्र द्वारा वृत्र-वध के आलंकारिक वर्णन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वराह वृत्र का ही प्रतीकात्मक नाम है[2]। त्रित आप्त्य को, जो ऋग्वेद में इन्द्र के मुख्य

---

१. जे० कॉइपर, (एन आस्ट्रो-एशियाटिक मिथ इन ऋग्वेद, पृ० १२) का विचार है कि 'ओदन' यज्ञ की दृष्टि से किसी महत्त्वपूर्ण तत्त्व को द्योतित करता है, संभवतः अग्नि या सोम को। फॉन श्र्योदर ने इसे सूर्य का वाची माना है। ख़ोन्डा, आस्पेक्ट्स पृ० १३६ टिप्पणी ४१।

२. देखिये, लुई रेनू, वृत्र ए वृथ्रग्न, पेरिस १९३४, पृ० १६३।
मैक्डानल, वै० मा० पृ० ४१ तथा १५१।
खोन्डा, आस्पेक्ट्स० पृ० १३७।
कीथ, रिलीजन एण्ड फिलासफी० पृ० १११।

सहायक के रूप में वृत्र-वध के लिये प्रख्यात है, ऋ० १०।९९।६ में 'वराह' का वध करते हुए वर्णित किया गया है—

अस्य त्रितो न्वोजसा वृधानो विपा वराहमयो अग्रया हन् ।

वार् अथवा **वर्** शब्द जल का वाची है। स्वादिगणी अह् धातु का अर्थ व्याप्त करना है[1] । जल को अच्छादित कर लेने और उसे प्रवाहित न होने देने से वृत्र की ही संज्ञा वाराह या वराह है (अह् + घञ्)। यह सुविदित है कि पर्वत-वाची सभी शब्द ऋग्वेद में मेघों के भी वाची हैं। अतः मेघों या अन्तरिक्ष में विद्यमान वृत्र का हनन तथा उसकी सम्पति (जल) का आहरण ही इन श्लोकों का वर्ण्य जान पड़ता है।

ऋग्वेद के इन अस्पष्ट संकेतों की व्याख्या करते हुए सायण ने ऋ० वे० ८।७७।११ के भाष्य में कृष्ण-यजुर्वेदीय **चरक-ब्राह्मण** से एक उद्धरण दिया है जो अब अप्राप्य है। द्याद्विवेद ने अपनी **नीतिमंजरी** में भी इसे **'हते वराहे शक्रेण विष्णुर्जग्राह पायसम्'** (श्लोक १२९) के भाष्य में उद्धृत किया है—

> **विष्णुर्यज्ञः । स देवेभ्य आत्मानमन्तरधात् । तमन्यदेवता नाविन्दन् इन्द्रस्त्ववेत् । स इन्द्रमब्रवीत् को भवानिति । तमिन्द्रः प्रत्यब्रवीत् अहं दुर्गाणामसुराणां च हन्ता । भवाँस्तु कः ? इति । सः अब्रवीत् अहं दुर्गादाहर्ता, त्वं तु यदि दुर्गाणामसुराणां हन्ता ततः अयं वराहो वाममुषः एकविंशत्याः पुरामश्मयीनां पारे वसति तस्मिन्नसुराणां वसु वाममस्ति। तमिम जहीति तस्येन्द्रस्ताः पुरो भित्वा हृदयमविध्यत् । अधि तत्र यदासीत् तद् विष्णुराहरद् इति ।**

'यज्ञरूपी विष्णु देवों से छिप गये। इन्द्र को यह पता था। जब इन्द्र विष्णु के पास गये तो विष्णु ने पूछा कि तुम कौन हो ? इन्द्र ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं दुर्गों को नष्ट करने वाला तथा असुरों का वध करने वाला वीर हूँ, लेकिन तुम कौन हो ? विष्णु ने कहा, मैं दूरस्थ दुर्ग से भी प्रत्येक वस्तु को यहाँ ला सकता हूँ। यदि तुम असुर-हन्ता हो तो इक्कीस पहाड़ियों के पीछे रहने वाले उस असुर को मार डालो जो देवों का धन चुरा ले गया है। इन्द्र ने उसे मार डाला और तब विष्णु उसके द्वारा संचित धन को देवों के लिये ले आये।'

---

१. देखिये, पा० धातु पाठ, १२७३, अह व्याप्तौ (अह्नोति)।

आगे सायणाचार्य लिखते हैं कि प्रथम मंत्र (१।६१।७) के चतुर्थ पाद 'विध्यद् वराहं तिरो आद्रिमस्ता' में विष्णु का वराहवध के लिये इन्द्र के प्रति कथन है और तृतीय पाद में इन्द्र विष्णु से उस धन को लाने के लिए कहते हैं : 'मुषायद् विष्णुः पचतं सहीयान्'। विष्णु वहाँ से क्या क्या लाये, यह अगले (८।७७।१०) मन्त्र में बताया गया है[1]।

उपर उल्लिखित चरक ब्राह्मण का यह विवरण प्राचीनतर तैत्तिरीय संहिता की एक कंडिका (६।२।४।२) का थोड़ा सा संक्षिप्त रूप है। तै० सं० में (क) यज्ञ विष्णु रूप धारण करके पृथ्वी में घुस जाता है[2], (ख) सब देवता मिलकर उसे ढूंढते हैं, (ग) इन्द्र उसके ऊपर से होकर जाता है (और उपर्युक्त वार्तालाप होता है), (घ) असुर सात पर्वतों के पीछे रहता है, इक्कीस के नहीं, (ङ) इन्द्र दर्भ घास का एक गुच्छा उठाकर उससे पर्वतों को भेद कर असुर को मार डालता है और और तब (च) विष्णु-रूपी यज्ञ उस (वराह) को एक यज्ञ के रूप में लाकर देवों को भेंट करता है।

यज्ञो देवेभ्यो निलायत विष्णूरूपं कृत्वा स पृथिवीं प्राविशत् तं देवा हस्तान्त्संरभ्यैच्छन् तमिन्द्र उपर्युपर्यत्यक्रामत् सः अब्रवीत् को मा अयम् उपर्युपरि अत्यक्रमीत् इति अहं दुर्गे हन्तेत्यथ कस्त्वमित्यहं दुर्गादाहर्तेति सः अब्रवीत् दुर्गे वै हन्ता अवोचथा वराहः अयं वाममोषः सप्तानां गिरीणां परस्ताद्वित्तं वेद्यम् असुराणां बिभर्ति तं जहि यदि दुर्गे हन्ता असि इति स दर्भपुञ्जीलम् उद्वृह्य सप्तगिरीन् भित्त्वा

---

१. तयोर्मध्ये 'अस्येदुमातुः' इत्यत्र विष्णुना 'हे इन्द्र त्वं दुर्गाणां हन्ता' इत्यात्मानं कथयसि तर्हि वराहम् असुरं जहि इत्युक्तार्थो 'विध्यद् वराहम्' इति पदेन प्रतिपादितः। इन्द्रेण च विष्णो त्वं 'दुर्गादाहर्ता' इति ब्रूषे मया पुराणि जितान्यसुरश्च घातितस्तस्य वामं वसु आनय इत्युक्तो विष्णुमूर्तिः तस्य वराहासुरस्य धन मुमोष। स अर्थो 'मुषायद् विष्णुः पचतम्' इति पदेन सूचितः। स किं पुनः मूषितवान् इति तदत्र उच्यते 'विश्वा इत् ता' इति।

(ऋग्वेद ८।७७।१० पर सायण-भाष्य)

२. इस भाव की विष्णु शब्द के वाच्यार्थ प्रवेश करने वाला' (विश् प्रवेशने) से तुलना कीजिये।

तमहनत् सः अब्रहीत् दुर्गाद् वा आहर्ता अवोचथा एतमाहरेति तमेभ्यो यज्ञ एव यज्ञमाहरद्यत् तद्वित्तं वेद्यमसुराणाम् अविन्दन्त ।

तै० सं० ६।३।४।२,३

कृष्णयजुर्वेद की **मैत्रायणी संहिता** में (३।८।१) भी यह उद्धरण बहुत कुछ इन्हीं शब्दों में प्राप्त होता है[1]। किन्तु यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रारंभ में विष्णु का उल्लेख नहीं किया गया । यज्ञ ही देवों से छिप जाता है । पक्षी तक उसके ऊपर से नहीं जा सकते । पर इन्द्र उसके ऊपर से निकलता है । तभी वार्तालाप होता है और असुर के मरने पर विष्णु उसकी संपत्ति को देवों के पास ले आते हैं । यहाँ पर आकर विष्णु तथा यज्ञ का तादात्म्य कर दिया जाता है । मै० सं० इस सम्बन्ध में ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा (८।९६।२)[2] भी उद्धृत करती है जिसकी ओर प्रायः विद्वानों का ध्यान नहीं गया ।

काठक संहिता (२५।२) में वर्णित यह कथा लगभग मैत्रायणी संहिता के ही समान है ।

मानना होगा कि यह कथा है बहुत ही अस्पष्ट । इतना ही स्पष्ट हो पाता है कि कथा ब्राह्मणिक कर्मकाण्ड से किसी न किसी रूप में संबद्ध है, पर इसका वास्तविक तात्पर्य जानना कठिन है । असुरों का घातक इन्द्र देवों के शत्रु वराह (वृत्र) को मार डालता है और इस विघ्न के नष्ट हो जाने पर मनुष्यों तथा देवों को हर प्रकार की ऐहिक एवं पारलौकिक संपत्ति प्रदान करने वाली यज्ञ नामक दिव्यशक्ति (अथवा विष्णु) असुरों के उस कोष को प्राप्त करने में समर्थ होती है । पर इस कोष को (दूसरा) यज्ञ क्यों कहा गया है यह स्पष्ट नहीं है ।

---

१. **अभ्यर्धो वै देवेभ्यो यज्ञ आसीत् तेनाविदुरिह वा स इह वेत्यस्ति यज्ञ इति त्वविदुः । तेन वै संसृष्टिमैछन् तं प्रैषमैछन् तम् न अविन्दन् । तं वयांसि उपर्युपरि नात्ययतन् । तमिन्द्रः उपर्युपरि अत्यक्रामत् ˙˙˙अय वराह आमुख एकविंशत्याः पुरां पारे अश्ममयीनां तस्मिन् असुराणां वसु वाममन्तः तं जहीति तं वै विष्णुराहरद् । यज्ञो वं विष्णुः यज्ञो वं तद्यज्ञम् असुरेभ्यः अध्याहरद् यज्ञेन वै तद्यज्ञं देवा असुराणामविन्दन्त˙˙˙˙।** मै० स० ३।८।३

२. **अतिविद्धा विथुरेणा चिदस्त्रा त्रिः सप्त सानु संहिता गिरीणाम् । न तद्देवो न मर्त्यस्तुतुर्याद्यानि प्रवृद्धो वृषभश्चकार ॥**

एक उल्लेखनीय बात और है। ऋग्वेद में (८।७७।१०) 'एमुष' शब्द वराह (वृत्र) का विशेषण मात्र है और 'भयंकरत्व' का भाव सूचित करता है। ब्राह्मणों में इसे वराह का व्यक्तिवाचक अभिधान समझ लिया गया है। चरक-ब्राह्मण में यह शब्द 'वाममुष:' तथा तै० सं० में 'वाममोष:' के रूप में प्राप्त होता है। दोनों का अर्थ 'धन (वाम) चुराने वाला' है। ऋग्वेद के एमुषः शब्द के अनुरूप नीतिमञ्जरी में उल्लिखित चरक-ब्राह्मण के उद्धरण में 'वराह एवमुष:' पाठान्तर भी प्राप्त होता है[1] और मै० सं० इस वराह का नाम 'आमुख'[2] बताती हैं।

शतपथ ब्राह्मण में आकर यह कथा एक नया मोड़ लेती है। पिछली सभी कथाओं में वराह असुरत्व का प्रतिनिधि है किन्तु यहाँ वह लोक-कल्याण में रत एक परम सामर्थ्यशालिनी शक्ति है। उसका तादात्म्य प्रजापति से किया गया है और उसे पृथ्वी का पति बताया गया है। श० ब्रा० १४।१।२।११ में प्रवर्ग्य के लिये घर्मपात्र बनाते समय वन्य-वराह द्वारा उत्खात मृत्तिका ग्रहण करने का भी विधान है। इस अवसर पर कहा गया है कि पहले पृथ्वी का परिमाण प्रादेश-मात्र था[3]। इसे **एमूष** नामक वराह ने उठाया (उत्+हन्)। वराह प्रजापति का रूप था और प्रजापति पृथ्वी के पति हैं और साथ ही यज्ञ के अधिष्ठाता भी। अत: ऐसी मिट्टी प्रवर्ग्य पात्र के सर्वथा उपयुक्त है—

इयती वा इयमग्रे पृथिवी आस प्रादेशमात्री। ताम् एमूष[4]

---

१ **नीतिमंजरी**, पृ० २७७।

२. कीथ ने अपने तै० सं० के अनुवाद (हा० ओ० सी०, १९) में पृ० ५०५ की तीसरी पाद टिप्पणी में लिखा है कि **एमुषम्** के स्थान पर **मै० सं०** ३।८।३ में 'एमुख' पाठ प्राप्त होता है, जो अशुद्ध है। किन्तु सातवलेकर संपादित **मै० सं०** के औंध संस्करण में यह शब्द एमुख भी नहीं 'आमुख' है।

३. अंगुष्ठ से तर्जनी तक की पूरी लम्बाई। लगभग १० अंगुल।

४. यह एमूष शब्द वराह का वही ऋग्वैदिक विशेषण है, पर सायण ने इसे ए-मूषः इस प्रकार द्विशब्दात्मक माना है। उनकी मनोरंजक व्याख्या देखिये—**'ए' अरे पृथिवी। 'मूष:' अमुष्याः स्तेयकादिवत् त्वम् अदृश्या भवसि इति वदन्** ...।

इति वराह उज्जघान । सः अस्याः पतिः प्रजापतिः । तेन एव एनम् एतत् मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समर्द्धयति ।

तैत्तिरीय संहिता ७।१।५।१ में भी वराह रूपी प्रजापति के द्वारा पृथ्वी के उद्धार की यह कथा बहुत थोड़े से अन्तर के साथ उल्लिखित है । सृष्टि के पूर्व सब कुछ जल से आच्छन्न था । उस जल पर प्रजापति वायु का रूप धारण करके विचरण कर रहे थे । उन्होंने (जल में डूबी) पृथ्वी को देखा और वराह का रूप धारण करके निकाला । फिर विश्वकर्मा होकर उन्होंने उसका (जल) पोंछा और उसे चपटी बनाया । चपटी किये जाने (या फैलायी जाने) के कारण इसे 'पृथ्वी' कहते हैं—

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् । तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वा अचरत् । स इमामपश्यत् । तां वराहो भूत्वा अहरत् । तां विश्व-कर्मा भूत्वा व्यमार्ट् । सा अप्रथत । सा पृथिव्यभवत् । तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम् । तै० सं० ७।१।५।१

इसी संहिता के ब्राह्मण में (तै० ब्रा० १।१।३।५ तथा आगे) प्रजापति के द्वारा पृथ्वी के उद्धरण की यह कथा और भी अधिक विस्तार के साथ दी हुई है । तै० आ० (१।१०।८) में कहा गया है कि पृथ्वी का उद्धार करने वाले इस काले वराह के एक सहस्र हाथ थे—

उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना[1] ।

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि इन्द्र के द्वारा वराह का वध करने तथा विष्णु के द्वारा उसके धन को ले जाने की कथा का वराह रूपधारी प्रजापति द्वारा पृथ्वी के उद्धार की कथा से कोई सम्बन्ध है या नहीं । लगभग सभी पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि द्वितीय कथा प्रथम कथा का ही स्वाभाविक विकास है । कथा के दोनों भाग एक ही कथा के दो रूप हैं । पहले में वराह देवों का शत्रु है किन्तु दूसरे में उसे सृष्टि-उत्पत्ति से सम्बन्धित कर दिया गया है

१. यह श्लोक **महानारायणी उपनिषद्** (४।५) तथा **पद्म पुराण** (सृष्टि खंड, २०।१५६) में भी प्राप्त होता है । पद्म पुराण में वैष्णवों द्वारा स्नानानन्तर मृत्तिका धारण करते हुए इसका पाठ करने का विधान है । श्लोक का उत्तरार्ध इस प्रकार है—

नमस्ते सर्वलोकानां प्रभवारणि सुव्रते ।

और प्रजापति से तादात्म्य करके उसको अत्यन्त उत्कृष्ट स्थिति का भागी बना दिया गया है[1]। दोनों वराहों की एकता का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि दोनों 'एमुष' या 'एमूष' बताया गया है। ऋग्वेद में प्राप्त होने वाले इस विशेषण की शतपथ ब्राह्मण में पुनरावृत्ति, कथा की अविच्छिन्न परम्परा की द्योतक है। खोन्डा का विचार है कि दोनों ही कथाओं में वराह का मूल स्वरूप एक ही है। यह वराह जीवन के सारतत्त्व को ग्रहण करके उसकी रक्षा करने वाला शक्तिशाली जीव है। पृथ्वी से अन्न को उत्पन्न करने में भी उसका हाथ है और इस प्रकार उर्वरा-शक्ति से उसका सम्बन्ध है लेकिन साथ ही वह सरलता से अपनी निधि किसी को नहीं देता[2]।

पर वराह सम्बन्धी इन दोनों कथाओं का उद्गम परस्पर असंबद्ध रूप से मानना ही अधिक उचित है। प्रथम कथा में वराह एक असुर है और देवों का विरोधी होने तथा उनका धन हड़प ले जाने के कारण इन्द्र को उसे मारना पड़ता है। दूसरी कथा में ऐसी कोई बात नहीं है। पृथ्वी जल में डूबी हुई है अतः एक शक्तिशाली शूकर उसको जल से निकाल कर ऊपर स्थापित करता है। यह शूकर भी सामान्य वराह नहीं अपितु प्रजापति का ही रूप है। दोनों कथाओं में वराह की धारणा परस्पर विभिन्न है। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि **तैत्तिरीय संहिता** में दोनों कथाए स्वतन्त्र रूप से साथ-साथ आई हैं (देखिये ६।२।४।२ तथा ७।१।५।१)। दोनों की स्थिति में इतना कम अन्तर है कि दूसरी कथा को पहली का परवर्ती-विकास किसी भी दशा में नहीं माना जा सकता और न ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि तै० सं० के विभिन्न काण्डों में रचनाकाल की दृष्टि से लम्बा व्यवधान है। वस्तुतः दूसरी कथा के बीज अथर्ववेद में (१२। १।४८) ही प्राप्त हो जाते हैं जहाँ पृथ्वी और वराह का स्पष्ट संबन्ध वर्णित है—

वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय।

---

१. देखिये, मैक्डानल, वैं० मा०, पृ० ४१।
   ख़ोन्डा, आस्पेक्ट्स०, पृ० १३६।
   कीथ, रिलीजन एण्ड फिलॉसफी०, पृ० १११।
   इंडियन माइथॉलजी, पृ० ११२।

२. वही, पृष्ठ १३६।

पाश्चात्य विद्वानों में संभवतः कॉइपर[1] ही ऐसे हैं जिन्होंने सृष्टि रचना से सम्बन्धित, प्रजापति के रूप, इस महावराह का प्राचीन वराह कथा से सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया और कम से कम वर्तमान समय तक प्राप्त प्रमाणों के आधार पर तो दोनों कथाओं में सम्बन्ध की कोई कड़ी दिखाई नहीं पड़ती।

ध्यातव्य है कि वराह का यह रूप प्रजापति का है विष्णु का नहीं। रामायण तथा प्राचीन पुराणों में भी वराह अवतार का प्रजापति या ब्रह्म से ही सम्बन्ध है। सृष्टि रचना के निमित्त विचार करते हुये प्रजापति पृथ्वी को प्रलय-कालीन जल में मग्न देखकर एक-दंष्ट्रा वाले महावराह का रूप धारण करके जल के अन्दर से उठाकर लाते हैं और जल के ऊपर स्थापित कर देते हैं। **रामायण** के अयोध्या काण्ड में स्पष्ट शब्दों में ब्रह्मा द्वारा पृथ्वी के उद्धार का कथन है—

> **सर्वं सलिलमेवासीत् पृथिवी सलिलनिर्मिता।**
> **ततः समभवद् ब्रह्मा स्वयंभूः दैवतैः सह॥**
> **स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुन्धराम्।**
> **असृजच्च जगत्सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः॥** अयोध्या० ११०।३

ऊपर तै० सं० का जो उद्धरण दिया गया है (७।१।५।१) उसमें कहा गया है कि जल से आप्लावित पृथ्वी के ऊपर प्रजापति वायु का रूप धारण करके विचरण कर रहे थे। **वायु पुराण**, जो निश्चित रूप से सर्वाधिक प्राचीन पुराणों में से एक है[2], कथा में इस ब्राह्मण-कालीन कल्पना का उल्लेख करता है (६।१-१४)। 'प्रलयकालीन जल से सम्पूर्ण पृथ्वी आप्लावित हो गई। उस समय सहस्रों सिर, सहस्रों नेत्र, सहस्रों हाथ और पैर वाले, आदि पुरुष, स्वयंभू, **नारायण** जल में सोये हुए थे। जल (नार) में सोने के कारण ही उन्हें नारायण कहा

---

१. जे० कॉइपर (J. Kuiper) **एन आस्ट्रो-एशियन मिथ इन दि ऋग्वेद,** अम्सटर्डम १९५०, पृ० १८।

२. इस पुराण में वर्णित कथाओं का प्राचीन स्वरूप, साम्प्रदायिकता का अभाव तथा महाकवि बाण द्वारा हर्ष-चरित (७वीं शती) में इसकी कथा सुने जाने का उल्लेख आदि कुछ तथ्य इस धारणा की पुष्टि करते हैं। किर्फेल (W. Kirfel) भी अपने **पुराणपञ्च-लक्षणम्** नामक जर्मन ग्रंथ में विविध पुराणों के पाठों की तुलनात्मक समीक्षा करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

जाता है। कालरात्रि के अन्त में सृष्टि के लिये उन्होंने ब्रह्मा का रूप धारण किया और वायु के समान लघु-काय होकर खद्योत की भाँति उस अन्धकार में इधर-उधर विचरण करने लगे। पृथ्वी को जल में निमग्न देखकर उन्होंने जल क्रीड़ा के उपयुक्त वराह का रूप धारण किया। उनका शरीर दस योजन लंबा और सौ योजन ऊँचा था। रंग नीले मेघ के समान और घर्घर ध्वनि मेघ-गर्जन के समान थी। महापर्वत के समान विशालकाय तथा श्वेत, तीक्ष्ण और कठोर दाँतों वाले उस वराह की आँखें विद्युत् और अग्नि के समान चमकीली थीं। उस अमित तेजस्वी रूप को धारण करके वे पृथ्वी का उद्धार करने के लिये रसातल में घुस गये—

> तदा स भगवान् ब्रह्मा सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥
> सहस्रशीर्षा पुरुषो रुक्मवर्णो ह्यतीन्द्रियः।
> ब्रह्मा नारायणाख्यः स सुष्वाप सलिले तदा ॥
> सत्त्वोद्रेकात्प्रबुद्धस्तु शून्यं लोकमुदीक्ष्य सः।
> आपो नारा वै तनव इत्यपां नाम शुश्रुम।
> अप्सु शेते च यत्तस्मात्तेन नारायणः स्मृतः॥
> ब्रह्मा तु सलिले तस्मिन् विज्ञायान्तर्गतां महीम्।
> अनुमानादसंमूढो भूमेरुद्धरणं प्रति ॥
> सलिलेनाप्लुतां भूमिं दृष्ट्वा स तु समन्ततः।
> किंनु रूपमहं कृत्वा उद्धरेयमिमां महीम्।
> जलक्रीडासु रुचिरं वाराहं रूपमस्मरत्।
> दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमुच्छ्रितम् ॥
> नीलमेघप्रतीकाशं मेघस्तनितनिस्वनम् ।
> विद्युदग्निप्रकाशाक्षमादित्यसमतेजसम् ॥
> रूपमास्थाय विपुलं वाराहममितं हरिः।
> पृथिव्युद्धरणार्थाय प्रविवेश रसातलम् ॥ वायु-पु० ६।१-१५

नारायण

यहाँ प्रजापति ब्रह्मा ही सृष्टि-रचना के निमित्त जल में डूबी हुई पृथ्वी का स्वतः महावराह रूप धारण करके उद्धार करते हैं; किन्तु उनको परमपुरुष नारायण का रूप बताया गया है। ये नारायण निश्चित रूप से विष्णु नहीं हैं। श० ब्रा० १२।३।४।१ (तथा १३।६।१।१, १३।६।२।१२) में एक 'पुरुष-नारायण' का उल्लेख है (पुरुषं ह नारायणं प्रजापतिरुवाच यजस्व यजस्वेति)। इस पुरुष को

इसी ब्राह्मण में (३।१।१।८) प्रजापति का विशेषण बताया गया है[1] —**सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत भूयान्स्याम् प्रजायेयेति।** प्राचीन वैदिक कल्पना के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में सर्वत्र जल ही जल था (देखिये, ऋग्वेद १०।१२९।३ **तम आसीत् तमसा गूल्हमग्रे अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्**)। जल के अन्दर सृष्टि का रचयिता एवं नियामक परम-पुरुष विद्यमान था (ऋग्वेद १।९०।२, **पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्**)। कालान्तर में जल में एक हिरण्मय-अण्ड उत्पन्न हुआ और उससे हिरण्यगर्भ प्रजापति का जन्म हुआ (ऋ० १०।१२१।१, **हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्**)। जल में निवास करने के कारण प्रजापति का ही प्राचीन विशेषण नारायण था। **मनुस्मृति** (१।९, १०) नारायण तथा ब्रह्मा का तादात्म्य करती है।

> **तदण्डमभवद् हैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।**
> **तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥**
> **आपो नार इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।**
> **ताः यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥**

और ठीक इसी प्रकार **विष्णु पुराण** (१।४।१) भी—

> **ब्रह्मा नारायणाख्योऽसौ कल्पादौ भगवान् यथा।**

किन्तु **श० ब्रा०** से स्पष्ट है कि प्रजापति का यह विशेषण प्राचीन काल में ही एक पृथक् देवता के रूप में विकसित होने लगा था। तथापि तब तक इसकी अवधारणा इतनी स्पष्ट नहीं हुई थी कि यह एक स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण देवता बन जाता। अतः बहुत दिनों तक सृष्टि के आदि-कारण के रूप में प्रजापति से सम्बन्धित एक अस्पष्ट एवं व्यक्तित्वहीन देवता के रूप में मान्य होने पर भी बाद में विष्णु का उत्कर्ष होने पर तथा सृष्टि के मूल-कर्ता के रूप में उनको स्वीकार कर लिये जाने पर, यह विशेषण पूर्णतः विष्णु से जुड़ गया[2]। वायु पुराण में उल्लिखित नारायण, प्रजापति से ही सम्बन्धित हैं, विष्णु से नहीं।

---

१. कात्यायन की सर्वानुक्रमणी ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त १०।९० के ऋषि का नाम 'नारायण' बताती है। **का० श्रौ० सू०** २४।३।३६ में भी नारायण शब्द पुरुष के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

२. नारायण शब्द के प्रयोग तथा इस शब्द से वाच्य दैवी शक्ति की धारणा के लिये देखिये **ए० रि० ई०**, भाग ९, पृ० १८४-८५ पर

लिङ्ग पुराण अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में 'नारायण' को प्रलय-जल में शयन करने के कारण स्वयंभू-ब्रह्मा का विशेषण बताता है और उन्हीं के द्वारा वराह रूप से पृथ्वी के उद्धृत किये जाने का वर्णन करता है। उसने इस रूप का विष्णु के साथ कोई संबन्ध स्वीकार नहीं किया—

> **रात्रौ चैकार्णवे ब्रह्मा नष्टे स्थावरजंगमे ।**
> **सुप्वापाम्भसि यस्तस्मान्नारायण इति स्मृतः ॥**
> **शर्वर्यन्ते प्रबुद्धो वै दृष्ट्वा शून्यं चराचरम् ।**
> **स्रष्टुं तदा मतिं चक्रे ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ॥**
> **उदकैराप्लुतां क्ष्मां तां समादाय सनातनः ।**
> **पूर्ववत्स्थापयामास वाराहं रूपमाश्रितः ॥**
>
> लिंग-पु०, १।४।५९-६१

पद्म पुराण (सृष्टि खंड, अध्याय ३) में भी मूलतः ब्रह्मा को ही वराह रूप धारण करते हुए बताया गया है। किन्तु लगता है तब तक इस कथा की प्रवृत्ति कुछ-कुछ विष्णु की ओर होने लगी थी। पद्म पुराण का विवरण ब्राह्मणों और परवर्ती पुराणों के बीच का है। यहाँ कहा गया है कि 'महारात्रि से सोकर उठने पर सत्त्वगुण के उद्रेक से युक्त (सत्त्वगुण से योग विष्णु की विशेषता है, ब्रह्मा रजोगुणमय हैं) ब्रह्मा ने सम्पूर्ण लोकों को शून्य और पृथ्वी को एकार्णव में डूबी देखकर कुछ देर विचार किया और फिर वे यज्ञमय वराह का रूप धारण करके जल में प्रविष्ट हुए'। बाद के श्लोकों में मुख्यतः विष्णु के लिए प्रयुक्त 'भगवान्' विशेषण का इस यज्ञ-वराह के लिये प्रयोग हुआ है। ब्रह्मा या विष्णु संज्ञा से इस 'भगवान्' को स्पष्ट नहीं किया गया।

ऊपर **विष्णु पुराण** (१।४।१) से उद्धृत श्लोक में नारायण शब्द को ब्रह्मा की ही संज्ञा बताया गया है। इसी (चौथे) अध्याय के अगले श्लोकों में नारायण-ब्रह्मा ही वराह रूप धारण करके पृथ्वी को उठाते हैं—

जे० एन० फ़र्क़ुहर का **'नारायण'** लेख। लेखक ने इस शब्द को नर (पुरुष) शब्द से (अपत्यार्थक फक् प्रत्यय द्वारा) निष्पन्न माना है और ऋग्वैदिक 'पुरुष' का समानार्थक कल्पित किया है। उनकी दृष्टि में जल से सम्बन्धित अर्थ पूर्णतः काल्पनिक है। किंतु उन्होंने इसके वास्तविक अर्थ तथा प्रयोग के विषय में अपना अज्ञान स्पष्टतः स्वीकार किया है (पृ० १८४ ब)।

ब्रह्मा नारायणाख्योऽसौ कल्पादौ भगवान् यथा ।
ससर्ज सर्वभूतानि तदाचक्ष्व महामुने ॥१॥
प्रजाः ससर्ज भगवान् ब्रह्मा नारायणात्मकः ।
प्रजापतिपतिर्देवो यथा तन्मे निशामय ॥२॥
अतीतकल्पावसाने निशासुप्तोत्थितः प्रभुः ।
सत्त्वोद्रिक्तस्तथा ब्रह्मा शून्यं लोकमवैक्षत ॥३॥
नारायणः परोऽचिन्त्यः परेषामपि स प्रभुः ।
ब्रह्मस्वरूपी भगवाननादिः सर्वसंभवः ॥४॥
तोयान्तःस्थां महीं ज्ञात्वा जगत्येकार्णवीकृते ।
अनुमानात्तदुद्धारं कर्तुकामः प्रजापतिः ॥७॥
अकरोत् स्वतनूमन्यां कल्पादिषु यथा पुरा ।
मत्स्यकूर्मादिकां तद्वद् वाराहं वपुरास्थितः ॥८॥
स्थितः स्थिरात्मा सर्वात्मा परमात्मा प्रजापतिः ॥९॥
प्रविवेश तदा तोयमात्माधारो धराधरः ॥१०॥

श्लोकों पर एक सामान्य दृष्टि डालने से ही ज्ञात होगा कि विष्णुपुराणकार ने अत्यन्त चतुरता से ब्रह्मा से सम्बन्धित यह कथा विष्णु की ओर मोड़ दी है। प्रारम्भ के श्लोकों में तो नारायण को जगत् का स्रष्टा, प्रजापति तथा ब्रह्मा कहा गया है। किन्तु क्रमशः इन्हें (पर) ब्रह्म-स्वरूप, सत्त्वोद्रिक्त, स्थिरात्मा, परमात्मा आदि विष्णु के विशेषण प्रदान कर दिये गये हैं और कहा गया है कि मत्स्य और कूर्म अवतारों की भाँति यह अवतार भी उन्हीं परमात्मा (विष्णु) का ही था[1]। आगे १२ से ४४ श्लोकों तक पृथ्वी तथा सनकादि योगियों द्वारा इस महावराह की विष्णु रूप में स्तुति निबद्ध है और ५।२६।२३ में पृथ्वी कृष्ण से कहती है कि आपने ही वराह रूप धारण करके मेरा उद्धार किया था—**यदाहमुद्धृता नाथ त्वया सूकरमूर्तिना।**

महाभारत में वराह अवतार का पाँच स्थानों पर उल्लेख है। तीन स्थानों पर (सभापर्व अ० ३८, वनपर्व १४३।४५-४७ तथा शान्तिपर्व अ० ३३९) इसे 'नारायण' का अवतार कहा गया है और दो स्थानों पर (वन० २७२।५१-५५

---

१. लगभग इन्हीं भावों से युक्त श्लोक **ब्रह्माण्ड पुराण** १।५।१-१३ में भी प्राप्त होते हैं। पर वे विष्णुपुराण की ही छाया मात्र हैं। यहाँ भी वराह अवतार का नारायण-ब्रह्मा से सम्बन्ध बताया गया है।

तथा शान्ति० २०९।१६-३०) विष्णु का। पर महाभारत में नारायण के स्वरूप पर दृष्टि निक्षिप्त करने से पता चलता है कि यहाँ पर नारायण शब्द का पूर्णतः विष्णु से ताद्रूप्य है; प्रजापति या ब्रह्मा से इस विशेषण का उपर्युक्त उद्धरणों में कोई सम्बन्ध नहीं।

परवर्ती प्रक्षेप-बाहुल्य के कारण महाभारत एक ही कथा के कई मनोरंजक रूप उपस्थित करती है। वनपर्व में इस अवतार की भूमिका में कहा गया है कि एक बार पापियों के भार से पृथ्वी रसातल में सौ योजन नीचे धँस गई। उसने जाकर विष्णु से अपनी रक्षा की प्रार्थना की—

अतिभाराद् वसुमती योजनानां शतं गता।
नारायण वरं देवं प्रपन्ना शरणं गता॥

महा० वन० १४३।३९-४०

विष्णु ने अत्यन्त विशालकाय, भयावह तथा एक सींग वाले महावराह का रूप धारण किया और पृथ्वी को उसी सींग पर रखकर (दाँतों पर नहीं) ऊपर लाये—

स तां विसर्जयित्वा तु पृथिवीं शैलकुण्डलाम्।
ततो वराहः संवृत्तः एकशृंगो महाद्युतिः॥
रक्ताभ्यां नयनाभ्यां तु भयमुत्पादयन्न् इव।
धूमं च ज्वलयन् लक्ष्म्या तत्र देशे व्यवर्धत॥
स गृहीत्वा वसुमतीं शृंगेणैकेन भास्वता।
योजनानां शतं वीर समुद्धरति योऽक्षरः॥

महा० वन०, १४३।४५-४७

इसके विपरीत शान्ति पर्व (२०९।१६-३०) में विष्णु के वराह-अवतार का एक विचित्र और भारतीय साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ कारण दिया हुआ है। इसके अनुसार एक बार रसातलवासी नरकासुर और उसके दानव-अनुयायी अत्यधिक प्रबल तथा आततायी हो उठे। देवों और ब्रह्माजी के कथन पर विष्णु ने एक वराह का रूप धारण किया और शीघ्रता से जाकर उन सबको अपने खुरों से कुचल डाला। वन पर्व, १४३वें अध्याय, में भी विष्णु इन्द्र की सहायता के लिये नरकासुर का वध करते हैं; किन्तु पुराणों में यह कार्य कृष्ण से सम्बन्धित है।

मत्स्य पुराण के २४६वें तथा २४७वें अध्यायों में भगवान् विष्णु के इस अवतार का विस्तार से वर्णन है। सृष्टि रचना के समय पर्वतों के भार तथा विष्णु के तेज को धारण करने में असमर्थ होकर कीचड़ में फँसी दुर्बल गौ की भाँति नीचे धँसती हुई पृथ्वी को उसकी प्रार्थना पर विष्णु पर्वत के समान विशालकाय, कृष्ण-वर्ण, वराह का रूप धारण करके अपनी दाढ़ों पर रखकर ले आते हैं। पृथ्वी विष्णु की स्तुति करती हुई उनके **गोविन्द** नाम की व्याख्या करती हुई कहती है कि प्रत्येक युग में इसी प्रकार प्रनष्ट गो (पृथ्वी) का विन्दन (प्राप्ति) करने से आपका नाम गोविन्द है—

युगे युगे प्रनष्टां गां विष्णो विन्दसि तत्त्वतः ।
गोविन्देति ततो नाम्ना प्रोच्यसे ऋषिभिस्तथा ॥ २४७।४३

श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के १३वें अध्याय में सृष्टि-रचना के समय जल में डूबी पृथ्वी को देखकर उदास बैठे हुए ब्रह्मा जी की नासिका के छिद्र से अंगुष्ठ-पर्व के बराबर एक छोटा सा वराह-शिशु निकल पड़ता है। पल भर में ही वह पर्वत के समान बढ़ जाता है। ब्रह्मा जी तथा ऋषिगण वराहरूपधारी यज्ञ-पुरुष भगवान् विष्णु की स्तुति करते हैं। श्रीमद्भागवत संपूर्ण पुराण-साहित्य में अपने काव्यात्मक वर्णनों के कारण अद्वितीय स्थान रखता है। वराह के शारीरिक रूप का कितना सुन्दर चित्रण है—

उत्क्षिप्तबालः खचरः कठोरः सटा विधुन्वन् खररोमशत्वक् ।
खुराहताभ्रः सितदंष्ट्र ईक्षा ज्योतिर्बभासे भगवान् महीध्रः । ३।१३,२७

जब वज्र के समान अंग वाले वराह भगवान् पृथ्वी के उद्धार के लिये गम्भीरगर्जन के साथ समुद्र में कूद पड़े तो उसकी कुक्षि विदीर्ण हो गई और उसमें जो उत्ताल तरंगे उठने लगीं वे ऐसी जान पड़ीं मानों समुद्र व्याकुल होकर अपने हाथ ऊपर उठाकर भगवान् से प्रार्थना कर रहा हो कि मेरी रक्षा करो—

स वज्रकूटांगनिपातवेगविशीर्णकुक्षिः स्तनयन्नुदन्वान् ।
उत्सृष्टदीर्घोर्मिभुजैरिवार्तश्चुक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति ॥ ३।१३।२

श्रीमद्भागवत इस कथा में एक और महत्त्वपूर्ण योग करता है और वह है **हिरण्याक्ष दैत्य** का। यह दैत्य हिरण्यकशिपु का भाई था और दिग्विजय के लिये घूमते हुए इसने रसातल में जाकर पृथ्वी को लेकर आते हुए

भगवान् विष्णु को युद्ध के लिये ललकारा था। इसका जब विष्णु ने वध किया तो उसके रक्त से लिप्त उनके मुख तथा गण्डस्थल की शोभा ऐसी हुई मानों 'किसी हाथी की सूँड़ तथा दाँत गेरू की धरती खोदने से लाल हो गये हों' (३२वां श्लोक)। इसी स्कन्ध के १८वें अध्याय में हिरण्याक्ष और वराह रूपी विष्णु का युद्ध विस्तार से वर्णित है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि हिरण्याक्ष दैत्य का महाभारत में उल्लेख नहीं है[1]। पर उसके खिलभाग **हरिवंश पु०** में इसका नाम आता है। हिरण्यकशिपु के द्वितीय भाई के रूप में इसकी धारणा तब विकसित हुई जब विष्णु-पार्षद **जय** और **विजय** को पृथ्वी पर दैत्यों के रूप में जन्म लेने का शाप मिला।

यह तो हुई वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार की कथा की परम्परा। किन्तु कहीं-कहीं विष्णु के इस शूकर रूप के कुछ विचित्र से कारण भी मिलते हैं। ऊपर महाभारत में एक स्थल पर पातालवासी दैत्यों के विनाश के लिये विष्णु के द्वारा धृत वराह रूप का उल्लेख किया जा चुका है। **ब्रह्म पुराण** (७९।७-२०) के अनुसार एक बार सिन्धुसेन नामक राक्षस 'यज्ञ को लेकर रसातल में घुस गया। यज्ञ के न होने से देवादि प्राणी क्षीण होने लगे। उन्होंने जाकर विष्णु से प्रार्थना की और विष्णु ने वराह रूप से रसातल में जाकर और दैत्य को मार कर देवों का संकट दूर किया और उनको यज्ञ पुनः प्रदान किया'[2]।

---

१. तु० की० हॉपकिन्स, **एपिक माइथॉलजी, पृ० ४८**।

२. पुरा देवान् पराभूय यज्ञमादाय राक्षसः।
रसातलमनुप्राप्तः सिन्धुसेन इति श्रुतः।
यज्ञे तलमनुप्राप्ते निर्यज्ञा ह्यभवन् मही।
नायं लोकोऽस्ति न परो यज्ञे नष्ट इतीश्वराः।
विष्णुं पुराणपुरुषं गत्वा तस्मै न्यवेदयन्।
ततः प्रोवाच भगवान् वाराहं वपुरास्थितः।
आनयिष्ये मखं पुण्यं हत्वा राक्षसपुंगवान्।
स वराहवपुः श्रीमान् रसातलनिवासिनः।
राक्षसान् दानवान् हत्वा मुखे धृत्वा महाध्वरम्।
....निश्चक्राम रसातलात्॥

ब्रह्म० पु० ७९।७,८,११,१२,१४,१६।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि प्रजापति के इस अवतार का विष्णु के प्रति स्थानान्तरण बहुत कुछ दोनों के सामान्य विशेषण **नारायण** पर आधारित है। ब्राह्मणों तथा पुराणों में यह शब्द प्रजापति या ब्रह्मा का ही विशेषण है और जल में डूबी पृथ्वी की चिन्ता जल में रहने वाले 'नारायण' के अतिरिक्त और कौन कर सकता है ? पर नारायण शब्द जिस परम-पुरुष को सूचित करता था उसकी धारणा परवर्ती युग में विष्णु के अधिक समीप थी, क्योंकि इस समय तक ब्रह्मा एक महत्त्वहीन सामान्य से देवता बनकर रह गये थे। अतः नारायण विशेषण के उचित अधिकारी विष्णु हुए और तब वराह अवतार की कथा अन्तिम और निश्चित रूप से विष्णु से सम्बन्धित हो गई। मानव कल्याण के लिये विष्णु द्वारा विभिन्न अवतारों को धारण करने की कल्पना ने इसमें और सहायता की।

मत्स्य पुराण महाप्रलय के उपरान्त सृष्टि का वर्णन करता हुआ कहता है कि प्रारंभ में सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार था। सब कुछ जैसे सोया हुआ सा था। कहीं भी किसी वस्तु का कोई पता नहीं था। उस अन्धकार में पिछले पुण्यकर्मों के प्रभाव से सत्त्वगुण के उद्रेक से स्वयंभू 'नारायण' उत्पन्न हुए जो इन्द्रियों से परे अव्यक्त-रूप हैं। उनकी उत्पत्ति से सारा अंधकार छँट गया। उन्होंने सृष्टि की इच्छा से सर्वप्रथम जल का निर्माण किया और फिर उसमें बीज निक्षिप्त किया। वह बीज एक हिरण्मय अण्ड के रूप में परिणत हो गया। तब स्वयंभू (आत्मसंभव) भगवान् उसमें प्रविष्ट हो गये और उसमें प्रविष्ट या व्याप्त होने के कारण उनका नाम 'विष्णु' हो गया—

> महाप्रलयकालान्त एतदासीत्तमोमयम् ।
> प्रसुप्तमिव चातर्क्यमप्रज्ञातमलक्षणम् ॥
> अविज्ञेयमविज्ञातं जगत् स्थास्नु चरिष्णु च ।
> ततः स्वयंभूरव्यक्तः प्रभवः पुण्यकर्मणाम् ॥
> व्यञ्जयन्नखिलं ह्येतत् प्रादुरासीत् तमोनुदः ।
> नारायण इति ख्यातः स एकः स्वयमुद्‌बभौ ॥
> यः शरीरादभिध्याय सिसृक्षुर्विविधं जगत् ।
> अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
> तदेवाण्डं समभवद् हेमरूपमयं महत् ।
> प्रविश्यान्तर्महातेजाः स्वयमेवात्मसंभवः ।
> प्रभावादपि तद्‌व्याप्त्या विष्णुत्वमगमत् पुनः ॥ मत्स्य पु० २।२५-३०

स्पष्ट है कि यहाँ पर नारायण शब्द सृष्टि के आदि में स्वतः उत्पन्न होने वाले ('स्वयंभू' = ब्रह्मा का विशेषण) एवं जगत् के मूल-कारण परमपुरुष का वाची है। किन्तु साथ ही साथ इसका विष्णु से भी तादात्म्य कर दिया गया है—"नारायण हिरण्याण्ड में प्रविष्ट हो गये, उस अण्ड से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ; अतः सर्वत्र प्रविष्ट होने के कारण उन परम पुरुष नारायण को ही विष्णु कहते हैं।"

गुप्तकाल के आस-पास नारायण विष्णु के विशेषण के रूप में उस परम तत्त्व का वाची बन चुका था जो वेदान्त की परिभाषा में लीला से अपनी मायोपाधि द्वारा जगत्कारण ईश्वर का रूप धारण करता है। निर्गुण परब्रह्म का यह सत्त्व-सम्पन्न सगुण या ईश्वर-रूप है जो सृष्टि का उत्पादक है। शंकराचार्य ने अपने शारीरक भाष्य में नारायण शब्द का प्रयोग परमेश्वर को द्योतित करने के लिये ही किया है। और लगभग ८वीं शताब्दी में निर्मित **त्रिपाद्विभूतिमहानारायणउपनिषद्** में नारायण को सृष्टि का आदि-कारण, सत्त्व-संपन्न तथा आनन्द-युक्त परमेश्वर बताया गया है—

> **तत्र तत्त्वतो गुणातीतशुद्धसत्त्वमयो लीलागृहीतनिरतिशयानन्दलक्षणो मायोपाधिको नारायण आसीत्। स एव नित्यपरिपूर्णः पादविभूतिवैकुण्ठनारायणः। स चानन्तकोटिब्रह्माण्डानाम् उदयस्थितिलयाद्यखिलकार्यकारणवान् परमकारणभूतो महामायातीतः तुरीयः सर्वकारणमूलं विराट्-स्वरूपो भवति।**
>
> त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्, २ अ०

खोन्डा का मत है कि वन्य-शूकर द्वारा अपने तुण्डाग्र से भूमि की मिट्टी खोदे जाने के सामान्य दृश्य ने हल से क्षेत्र-कर्षण की क्रिया से साम्य के कारण वराह का पृथ्वी की उर्वराशक्ति से संबन्ध प्राचीन समय में ही जोड़ दिया था[1]। पृथ्वी की उर्वरा शक्ति कभी-कभी पूर्णतया मानवीय रूप भी धारण कर लेती है। श० ब्रा० में वराह रूपधारी प्रजापति को पृथ्वी का पति कहा गया है। शास्त्रों

१. ख़ोन्डा : **आस्पेक्ट्स०**, पृ० १३२ तथा आगे। इस प्रसंग में अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन आर्य एवं अनार्य जातियों में शूकर के स्थान की तुलना करके इस लेखक ने बहुत सी सर्वथा काल्पनिक, असंगत तथा अमान्य कल्पनाओं का जाल भी बुना है।

में प्रातः शय्या त्याग करते समय जिस श्लोक का पाठ करने का विधान है, उसमें पृथ्वी को 'विष्णु-पत्नी' कहा गया है—**समुद्रमेखले देवि पर्वतस्तनमण्डले, विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं, पादस्पर्शं क्षमस्व मे।** **श्रीमद्भागवत** में जब वराह रूपी भगवान् पृथ्वी को ऊपर लाकर रखते हैं तो देवगण उनकी स्तुति करते हैं—

संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां लोकाय पत्नीमसि मातरं पिता। ३।१३।४२

"यह जगत् की माता पृथ्वी आपकी पत्नी है और आप संसार के पिता हैं"। **श्रीमद्भागवत** (१०।५९) तथा **विष्णु-पुराण** (५।२९) में कृष्ण के द्वारा पृथ्वी के पुत्र, प्राग्ज्योतिषपुर (आसाम) के अधिपति **नरकासुर** के वध का तथा उसके द्वारा बन्दी बनाई १६,००० कन्यायों की मुक्ति का वृत्तान्त वर्णित है। **विष्णु पु०** में नरकासुर के वध के उपरान्त पृथ्वी आकर कृष्ण की स्तुति करती है और उनको यह रहस्य बताती है कि नरक उनका ही पुत्र था और जब विष्णु वराह रूप मे उसे ऊपर लाये थे तब वह उनके संयोग से उत्पन्न हुआ था—

यदाहमुद्धृता नाथ, त्वया सूकरमूर्तिना।
त्वत्स्पर्शसंभवः पुत्रस्तदायं मय्यजायत॥
सोऽयं त्वयैव दत्तो मे त्वयैव विनिपातितः। विष्णु० ५।२९।२३,२४

महाभारत के उत्तरभारतीय संस्करण में इसका उल्लेख नहीं है; किन्तु दाक्षिणात्य पाठ **नरक-'भौम'** को विष्णु का पुत्र बताता है। अन्य प्राचीन पुराणों में नरक के विष्णु का पुत्र होने का कोई उल्लेख नहीं है। पर एक अपेक्षाकृत अर्वाचीन कृति **कालिकापुराण** (३०वाँ अध्याय) इस परंपरा का कुछ विस्तार से उल्लेख करती है। इसके अनुसार अपनी भुजाओं में मानवरूपिणी पृथ्वी को ऊपर लाते हुये विष्णु के संयोग से नरक की उत्पत्ति हुई थी और यह उस स्थान पर उत्पन्न हुआ था जहाँ पर भूमिसुता **सीता** जनक को प्राप्त हुई थीं। जावा तथा मलय द्वीपों में नरकासुर की यह कथा बहुत प्रचलित है और इनके साहित्य में नरकासुर के विष्णु-पुत्रत्व को स्पष्ट स्वीकार किया गया है[1]। इस प्रसंग में एक यह भी रोचक तथ्य उल्लेखनीय है कि प्राग्ज्योतिषपुर (वर्तमान गौहाटी) के पास पूर्वमध्ययुग में **भौमिक** नामक एक क्षत्रिय जनजाति का उल्लेख प्राप्त होता है जो बाद में विचरण करती हुई उड़ीसा तक पहुँचती है और आज **भुइयाँ** नाम से जानी जाती है। भुइयाँ भूमि को अपनी माता मानते हैं।

---

१. देखिये, ख़ोन्डा : आस्पेक्ट्स०, पृ० १४३।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् योहान्-याकोब मायर के अनुसार[१] नरकासुर गन्दगी, कूड़ा-करकट तथा गोबर आदि का प्रतिनिधि है जो पृथ्वी से उत्पन्न होता है। शूकर आदि प्राणियों का इनसे घनिष्ठ संबन्ध स्पष्ट है ही। भारतीय परंपरा के अनुसार दीपावली के एक दिन पहले नरक-चतुर्दशी को इसका वध हुआ था। इस दिन सभी हिन्दू अपने घरों से कूड़ा-करकट बाहर निकालकर तथा उन्हें लीप-पोत कर स्वच्छ करते हैं।

मत्स्य पुराण में विष्णु के वराह स्वरूप की मूर्ति बनाने के लिये जो स्पष्ट निर्देश दिये गये हैं उनसे गुप्त-युग में महावराह के भौतिक रूप की अवधारणा का परिचय मिलता है। महावराह के एक हाथ में पद्म तथा दूसरे में गदा होनी चाहिये। उनके दांतों के अग्रभाग अत्यन्त तीक्ष्ण हों। घोण (थूथन) नुकीला हो। एक तन्वंगी, भयभीत, स्त्री के रूप में अपनीं बाँई कोहनी से पृथ्वी उनके दाँतों से लटकी हो। पृथ्वी के हाथ में कमल हो। उसका मुख विस्मय से उत्फुल्ल हो तथा दाहिना हाथ कमर पर हो, आदि—

> **महावराहं वक्ष्यामि पद्महस्तं गदाधरम्।**
> **तीक्ष्णदंष्ट्राग्रघोणास्यं मेदिनीवामकूर्परम् ॥**
> **दंष्ट्राग्रेणोद्धृतां दान्तां धरणीमुत्पलान्विताम्।**
> **विस्मयोत्फुल्लवदनामुपरिष्ठां प्रकल्पयेत् ॥**
> **दक्षिण कटिसंस्थं तु करं तस्याः प्रकल्पयेत्।**
> **कूर्मोपरि तथा पादमेकं नागेन्द्रमूर्धनि।**
> **संस्तूयमान लोकेशैः समन्तात् परिकल्पयेत् ॥**
>
> मत्स्य पु० २५९।२८-३१

एरण (म० प्र०), देवगढ़ (झांसी) तथा उदयगिरि (विदिशा) की गुफाओं में गुप्त-काल की ऐसी अनेक सुन्दर मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं जो उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार ही निर्मित हैं। महान् तथा विशालकाय भारी भरकम वराह की दंष्ट्रा में लटकी पृथ्वी की पतली सी नारीमूर्ति सर्वशक्तिमान् एवं अनन्त-शक्तिशाली परमात्मा की तुलना में भूमंडल की तुच्छता को अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त करती है।

---

१. **ट्रिलोगी आल्टइंडिशर मैष्टे उन्ट फैस्टे डेऽर वैगेटात्सिओन** (Trilogie altindischer Maechte und Feste der Vegetation) : भाग ३, पृ० ३१२।

विष्णु का मत्स्य अवतार

वराह की भाँति विष्णु के मत्स्य एवं कूर्म संज्ञक दो अन्य अवतार और हैं जो प्राचीन साहित्य में प्रजापति से सम्बन्धित थे किन्तु बाद में सर्वव्यापनशील विष्णु ने उन्हें आत्मसात् कर लिया। मत्स्य का संबन्ध एक प्राचीन जलप्लावन की कथा से है जो भारतीय ही नहीं, लगभग सभी प्राचीन आर्य तथा सेमेटिक देशों के साहित्य (उदा० बाइबिल) में प्राप्त होती है। संभवतः यही एक ऐसी कथा है जो आर्य तथा सेमेटिक दोनों देशों की कथा परंपराओं में समान है। प्रतीत होता है कि सहस्रों वर्ष पूर्व किसी विस्मृत प्रागैतिहासिक काल में कुछ भौगोलिक कारणों से अथवा भूमंडल की हलचल के कारण किसी स्थान पर बहुत बड़े परिमाण में एक भयानक बाढ़ आयी थी जिसने सभ्यता के तत्कालीन केन्द्रों में से अधिकांश को नष्ट कर दिया था। संभवत: इसी की स्मृति इस प्रलय-कथा में सुरक्षित रह गई है। कुछ विद्वान् इस कथा का सेमेटिक उद्गम मानने के पक्ष में हैं[1]; उनका कहना है कि आर्यों ने इस कथा को बाद में आर्येतर जातियों से ग्रहण किया। किन्तु डा० सूर्यकान्त ने इस धारणा का सशक्त शब्दों में खंडन किया है[2]। उनके अनुसार बैबीलोनिया तथा इज्राइल में मिलने वाले विवरण भारतीय साहित्य में प्राप्य प्राचीनतम विवरण (श० ब्रा० १।८।१।१-१९) से परवर्ती हैं और दोनों देशों की कथाओं की विभिन्न प्रकृति यह सिद्ध करती है कि दोनों स्वतंत्र रूप से अपने-अपने देश की तत्कालीन भौगोलिक स्थिति तथा परंपराओं के आधार पर विकसित हुई हैं।

अस्तु, **शतपथ ब्राह्मण** में मत्स्य (अवतार) की कथा इस प्रकार है—एक दिन विवस्वान् के पुत्र मनु के पास उनके भृत्य आचमन करने के लिये जल लाये। जब मनु ने आचमन के लिये अंजलि में जल लिया तो एक छोटी सी मछली[3]

---

१. मैक्डानल : **हिस्टरी आफ् संस्कृत लिटरेचर** (पुनर्मुद्रण दिल्ली १९६१), पृ० २१८; विन्टरनित्स : **हिस्टरी आफ् इंडियन लिटरेचर**, प्रथम भाग (कलकत्ता १९२७), पृ० २१०। विस्तार के लिये देखिये—ए० रि० ई०, भाग ४, पृ० ५४५-५७ (Deluge नामक लेख), तथा आर्० अन्द्रे : **डी फ्लूटजागेन**, ब्राउनश्वाइग् (ब्रुन्सविग्) १८९१।

२. **फ्लड लीजेन्ड इन् संस्कृत लिटरेचर**, जालन्धर १९५०, भूमिका भाग।

३. 'मत्स्यः'। मूल में यह सर्वत्र पुंल्लिग है, पर हिन्दी के अनुरोध से यहाँ स्त्रीलिंग में दिया गया है।

उनके हाथ में आ गई। उसने कहा 'मेरा पोषण करो, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी'। 'कैसे मेरी रक्षा करोगी ?' मनु ने कहा। मछली बोली, 'थोड़े ही दिनों में एक भयङ्कर बाढ़ सारी प्रजा को नष्ट कर देगी, उससे मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी'। मनु ने उससे पूछा, 'तुम्हारी रक्षा कैसे हो सकती है ?' उसने कहा, 'जब तक हम छोटे रहते हैं तब तक हमारे अनेक विनाशक होते हैं। बड़ी मछली ही छोटी मछली को खा जाती है। अभी मुझे घड़े में रख दो, जब उससे बढ़ जाऊँ तो एक गड्ढा खोदकर उसमें रख देना और उसके बाद समुद्र में। तब मेरा कोई विनाश नहीं कर सकेगा'। मनु ने ऐसा ही किया और समुद्र में डाली जाने पर वह मछली मनु को बाढ़ आने का समय बताकर तथा उनको उस दिन एक नाव लेकर तैयार रहने का आदेश देकर जल में विलीन हो गई। बाढ़ आने पर मनु नाव में चढ़ गये। वह मछली एक सींग वाले विशालकाय मत्स्य के रूप में प्रकट हुई। मनु ने नाव की रस्सी को उसके सींग से बाँध दी। नाव लेकर वह उत्तर पर्वत (हिमालय ?) की ओर गई। वहाँ मनु को नाव एक वृक्ष से बाँधने का आदेश दिया और कहा कि जल के उतरने पर नीचे आ जाना। बाढ़ ने सम्पूर्ण प्रजा को नष्ट कर दिया, केवल मनु बच रहे।

अब कथा का याज्ञिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भाग प्रारम्भ होता है। जल घटने पर मनु नीचे आये और घृत, दधि तथा छेने आदि से उन्होंने जल में ही हवन किया। एक वर्ष बाद जल से **इडा** नामक एक कन्या उत्पन्न हुई। उसने मनु से कहा, 'तुम मुझसे यज्ञ करो; इससे तुम्हें धन, पशु तथा अन्य अभीष्ट वस्तुएँ प्राप्त होंगी'। मनु ने ऐसा ही किया और उसके द्वारा यह सारी प्रजा उत्पन्न की। अगली कंडिका में पशुओं को इडा बताया गया है।

मनवे ह वै प्रातः अवनेग्यम् उदकम् आजह्रुः।.....तस्यावनेनि-जानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे। स हास्मै वाचमुवाद 'बिभृहि मा, पारयिष्यामि त्वा' इति। 'कस्मान्मा पारयिष्यसि' ? इति। औघः इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा, ततस्त्वा पारयितास्मि' इति। 'कथं ते भृति' रिति। स होवाच '.....यावद् वै क्षुल्लका भवामः, बह्वी वै नः तावत् नाष्ट्रा भवति। उत मत्स्य एव मत्स्यं गिलति। कुम्भ्यां माग्रे बिभरासि। स यदा तामतिवर्द्धै, अथ कर्षूं खात्वा तस्यां मा बिभरासि। स यदा तामतिवर्द्धै अथ मा समुद्रमभ्यवहरासि तर्हि वा अतिनाष्ट्रो भवितास्मि'। शश्वद् ह झष आस। स हि ज्येष्ठं वर्धते। 'अथ इतिथीं समां तदौघ आगन्ता, तन्मा नावम् उपकल्प्य उपासासै। स औघ उत्थिते नावम्

आपद्यासं । ततस्त्वा पारयितास्मि' । तमेवं भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार । स यतिथीं तत्समां परिदिदेश ततिथीं समां नावम् उपकल्प्य उपासांचक्रे । स औघ उत्थिते नावमापेदे । तं स मत्स्य उपन्यापुप्लुवे । तस्य शृंगे नावः पाशं प्रतिमुमोच । तेनैतमुत्तरं गिरिम् अतिदुद्राव । स होवाच 'अपीपरं वै त्वा, वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व । तं तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्छैत्सीत् । यावद् यावद् उदकं समवायात तावत् तावद् अन्ववसर्पासि' इति ।"''औघो ह ताः सर्वाः प्रजाः निरुवाह । अथेह मनुरेवैकः परिशिशिषे' । श० ब्रा० १।८।१।१-६

कथा का यही अंश सबसे प्राचीन तथा मुख्य है । यज्ञ से संबन्धित अंश तो पिछली कथा के परिवेश में यज्ञिय उपकरण इडा की पारिभाषिक व्याख्या है । मूल कथा में किसी भी देवता-विशेष की कोई भूमिका नहीं है । श० ब्रा० के इस आख्यान को कविवर प्रसाद ने अपने अद्वितीय महाकाव्य 'कामायनी' द्वारा अमर कर दिया है ।

श० ब्रा० के बाद यह कथा **महाभारत** (वन पर्व, अध्याय १८७) में ही प्राप्त होती है । यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि यह मत्स्य **प्रजापति** या ब्रह्मा का रूप था । ठीक भी है, प्रलयकालीन जल से मानव जाति के आदि पूर्वज मनु की रक्षा करके सृष्टि के अंकुरों को सुरक्षित रखने का प्रयास प्रजापति के अतिरिक्त और कौन कर सकता है ? और जलप्लावन का पूर्वज्ञान, अतुलित विस्तार से विवर्द्धन तथा समुद्र में नौवहन आदि अतिमानुषिक कार्य भी ब्राह्मणकालीन सर्वोच्च दैवी शक्ति प्रजापति के द्वारा ही संभव है ।

चीरिणी नदी के तट पर स्नान करते हुए **स्वायंभुव** (वैवस्वत नहीं) मनु के हाथों में एक छोटी सी मछली आ जाती है और दीनता पूर्वक मनु से अपनी रक्षा करने की प्रार्थना करती है—

भगवन् क्षुद्रमत्स्योऽस्मि बलवद्भ्यो भयं मम ।
मत्स्येभ्यो हि ततो मां त्वं त्रातुमर्हसि सुव्रत ॥ वन पर्व १८७।७

मनु उसे कमण्डलु में रख लेते हैं । किन्तु वह इतनी तेजी से बढ़ती है कि क्रमशः घट, तालाब तथा नदी भी उसके लिये छोटे पड़ जाते हैं । अन्त में मनु उसे समुद्र में डलवा देते हैं और तब—

यदा समुद्रे प्रक्षिप्तः स मत्स्यो मनुना तदा ।
तत एनमिदं वाक्यं स्मयमान इवाब्रीत् ॥२६॥
भगवन् हि कृता रक्षा त्वया सर्वा विशेषतः ।
प्राप्तकालं तु यत्कार्यं तत् त्वया श्रूयतां मम ॥२७॥
अचिराद् भगवन् भौममिदं स्थावरजंगमम् ।
सर्बमेव महाभाग प्रलयं वै गमिष्यति ॥२८॥
त्रसानां स्थावराणां च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ।
तस्य सर्वस्य सम्प्राप्तः कालः परमदारुणः ॥३०॥

यह सूचना देने के पश्चात् वह मनु से एक दृढ़ नाव बनवाने के लिये कहती है और प्रलय का समय बताकर मनु को आदेश देती है कि उस दिन सम्पूर्ण ओषधियों एवं अन्नों के बीजों को लेकर सप्तर्षियों के साथ नाव में बैठ जाना। मैं एक-सींग-वाले महामत्स्य के रूप में आऊंगी और तुम्हें सुरक्षित स्थान पर ले जाऊँगी—

नौश्च कारयितव्या ते दृढा युक्तवटारका ।
तत्र सप्तर्षिभिः सार्द्धम् आरुहेया महामुने ।
आगमिष्याम्यहं शृंगी विज्ञेयस्तेन तापस ॥ ३०,३१ ॥

ऐसा ही होता है। उस दिन सागर अपनी मर्यादा भंग करके पृथ्वी-मंडल को डुबा देता है। मनु की नाव प्रलय-जल में तैरती है। मनु मत्स्य का स्मरण करते हैं। वह आता है। नाव की रस्सी उसके सींग से बाँध दी जाती है। मत्स्य उसे हिमालय तक ले जाता है और एक पर्वत शिखर पर रस्सी बाँधने का आदेश देता है—

ततो हिमवतः शृंगं मत्परं भरतर्षभ ।
तत्राकर्षत् ततो नावं स मत्स्यः कुरुनन्दन ॥ ४८॥
अथाब्रवीत् तदा मत्स्यस्तान् ऋषीन् प्रहसन् शनैः ।
अस्मिन् हिमवतः शृंगे नावं बध्नीत मा चिरम् ॥ ४९ ॥

इसके पश्चात् मत्स्य अपना परिचय देता है। 'मैं ब्रह्मा नामक प्रजापति हूँ। मुझसे श्रेष्ठ और कोई नहीं है। मत्स्य रूप में मैंने मनु तथा आप लोगों (सप्तर्षिगण) की रक्षा की है क्योंकि मनु ही (इस प्रलय के उपरान्त) सृष्टि की रचना करेंगे। तपस्या के बल से मनु की प्रतिभा अत्यन्त विकसित हो जाएगी और प्रजा की सृष्टि करते समय इनकी बुद्धि सदा जागरूक रहेगी'—

अहं प्रजापतिर्ब्रह्मा मत्परं नाधिगम्यते ।
मत्स्यरूपेण यूयं च मयास्मान्मोचिता भयात् ॥५२॥
मनुना च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः ।
स्रष्टव्या सर्वलोकाश्च यच्चेङ्ग यच्च नेङ्गति ॥५३॥
तपसा चापि तीव्रेण प्रतिभास्य भविष्यति ।
मत्प्रसादात् प्रजासर्गे न च मोहं गमिष्यति ॥५४॥

स्पष्ट है कि कथा में विष्णु का कोई स्थान नहीं है। कथा अपने में पूर्ण तथा क्रमबद्ध है। प्रजापति-मनु की रक्षा के लिये ब्रह्मा जी ही यह सब यत्न करते हैं। किन्तु ब्रह्मा जी के साथ अवतार-वाद के सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध नहीं था। यह विशेषता प्रधानतया विष्णु की ही थी। इसके अतिरिक्त पौराणिक युग में प्राणियों की रक्षा का दायित्व मुख्य रूप से विष्णु का समझा जाता था। अतः विष्णु के उत्कर्ष के साथ-साथ इस कथा का झुकाव विष्णु की ओर होता गया।

मत्स्य-पुराण में यह कथा सम्पूर्ण पुराण की आधार-भूमि है। मत्स्यरूप-धारी-भगवान् मनु को प्रलय-काल में जिस पुराण का उपदेश देते हैं वही 'मत्स्य पुराण' नाम से प्रसिद्ध है। इस पुराण में मत्स्य रूप विष्णु का ही है, ब्रह्मा का नहीं। कई श्लोकों में इसके स्पष्ट संकेत मिलते हैं—

१. ज्ञातस्त्वं मत्स्यरूपेण मां खेदयसि केशव ।
   हृषीकेश जगन्नाथ जगद्धाम नमोऽस्तु ते ॥ १।२८
२ एवमुक्तो मनुस्तेन पप्रच्छ मधुसूदनम् । १।१
३. काले यथोक्ते संजाते वासुदेवमुखोद्गते ।
   शृंगी प्रादुर्बभूवाथ मत्स्यरूपी जनार्दनः ।। २।१७
४. तदेवैकार्णवे तस्मिन् मनुः पप्रच्छ केशवम् । २।२१
५. कस्माच्च भगवान् विष्णुर्मत्स्यरूपत्वमाश्रितः । १।८, आदि ।

किन्तु कथा का ब्रह्मा जी से संबन्ध पूरी तरह भुलाया नहीं गया है। कथा के प्रारम्भ में मनु तपस्या करके ब्रह्मा जी को तुष्ट करते हैं और उनसे वर माँगते हैं कि मैं प्रलयकाल में संसार की रक्षा कर सकूँ—

वरं वृणीष्व प्रोवाच प्रीतः स कमलासनः ।
एवमुक्तोऽब्रवीद्राजा प्रणम्य स पितामहम् ।

भूतग्रामस्य सर्वस्य स्थावरस्य चरस्य च।
भवेयं रक्षणायालं प्रलये समुपस्थिते ॥ १।१४, १६

ब्रह्मा जी उन्हें यह वर प्रदान करते हैं और उधर विष्णु उनकी कार्य सिद्धि के लिये मत्स्य रूप में आ पहुँचते हैं।

भागवतकार ने कथा को और अधिक क्रमबद्ध करने के लिये उससे ब्रह्मा का नाम बिल्कुल हटा दिया है। कथा का प्रारम्भ भागवत के मुख्य श्रोता राजा परीक्षित् के प्रश्न से होता है कि भगवान् विष्णु ने मत्स्य जैसे तुच्छ एवं विगर्हित प्राणी का रूप क्यों धारण किया[1] ? शुकदेवजी उत्तर देते हैं कि गो, ब्राह्मण, देवता, वेद तथा सज्जनों की रक्षा के लिये भगवान् को ऐसा करना पड़ता है (तु० की०, गीता ४।७, ८)—

गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः।
रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्ते धर्मस्यार्थं तथैव हि ॥ ८।२४।५

पर यहाँ उनके अवतार का एक विशेष तथा महत्त्वपूर्ण कारण और है। सृष्टि-रचना के उपरान्त थककर सोते हुए ब्रह्मा जी के मुख से निकले हुये चारों वेदों को **हयग्रीव** नामक दैत्य चुराकर पाताल ले गया था। उनको पुनः प्राप्त करने के लिये भगवान् विष्णु ने जल में विचरण के उपयुक्त मत्स्य रूप धारण किया—

कालेनागतनिद्रस्य धातुः शिशयिषोर्बली।
मुखतो निःसृतान् वेदान् हयग्रीवोऽन्तिकेऽहरत् ॥
ज्ञात्वा तद् दानवेन्द्रस्य हयग्रीवस्य चेष्टितम्।
दधार शफरीरूपं भगवान् हरिरीश्वरः ॥ ८।२४।८, ९

भागवत की कथा का मुख्य पात्र विष्णु-परायण तपस्वी द्रविडेश्वर **सत्यव्रत** है जो वर्तमान मन्वन्तर में विवस्वान् का श्राद्धदेव संज्ञक पुत्र है। मत्स्यरूपधारी विष्णु कृतमाला नदी में तर्पण करते हुये राजर्षि सत्यव्रत के पास पहुंचते हैं।

---

१. भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि हरेरद्भुतकर्मणः।
अवतारकथामाद्यां मायामत्स्यविडम्बनम् ॥
यदर्थमदधात् रूपं मात्स्यं लोकजुगुप्सितम्।
तमःप्रकृति दुर्मर्षं कर्मग्रस्त इवेश्वरः ॥
श्रीमद्भागवत ८।२४।१,२

कथा उसी प्रकार चलती है। पर एकशृंगधारी सुवर्ण-वर्ण का वह मत्स्य सत्यव्रत को हिमालय पर्वत पर नहीं ले जाता। जब तक प्रलयकालीन जल रहता है तब तक मत्स्यरूपी भगवान् नौका को लिये हुये समुद्र में घूमते रहते हैं और सत्यव्रत को मत्स्यपुराण तथा आत्मतत्त्व का उपदेश देते हैं। प्रलय के उपरान्त जब ब्रह्मा जी जागते हैं तो मत्स्य-विष्णु हयग्रीव को मारकर वेदों को वापिस लाकर ब्रह्मा को सौप देते हैं—

> **अतीतप्रलयापाय उत्थिताय स वेधसे।**
> **हत्वासुरं हयग्रीवं वेदान् प्रत्याहरद्धरिः ॥ ८।२४।५७**

इस अध्याय की समाप्ति के साथ अष्टम स्कंध भी समाप्त हो जाता है और अन्तिम श्लोक में कवि एक बार फिर भगवान् विष्णु के मत्स्य अवतार का प्रमुख कारण हयग्रीव राक्षस को मारकर वेदों का उद्धार करना बताता है—

> **प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः**
> **श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा ।**
> **दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानां**
> **तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि ॥**

महाभारत में प्रजापति के मत्स्य रूप का कारण केवल मनु की रक्षा है किन्तु भागवतकार ने संभवतः अखिल सृष्टि के नियामक विष्णु का इतनी सी बात के लिये अवतार लेना इष्ट नहीं समझा। अतः उसने वेदों के उद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य भी इस अवतार के साथ जोड़ दिया है। यहाँ स्मरणीय है कि वेदों के हरण की कथा महाभारत में भी प्राप्त होती है, किन्तु काफी परिवर्तित रूप में। यहाँ मधु और कैटभ नामक दैत्य वेदों का अपहरण करके पाताल में ले जाते हैं और स्वतः विष्णु अश्व के शिर से युक्त एक मानव-रूप धारण करते हैं जो विष्णु के '**हयग्रीव**' अवतार नाम से महाभारत में प्रसिद्ध है (देखिये शान्ति पर्व, ३४७।१-७१)। ब्राह्मण ग्रंथों की कर्मकाण्ड सम्बन्धी विचिकित्साओं में अश्व या अर्वन् का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अश् धातु का अर्थ है 'व्याप्त करना'। सबको व्याप्त कर लेने के कारण प्रजापति ही अश्व है। उषा उसका सिर है, सूर्य नेत्र तथा वायु प्राण; आदि (श० ब्रा० १०।६।४।१)। बृहदारण्यक उप० के प्रथम दो ब्राह्मणों में 'अश्व' नामधारी इस प्रजापति का सुन्दर यज्ञीय विवरण प्राप्त होता है। अश्विनौ के प्रसंग में दध्यञ्च् आथर्वण द्वारा अश्व के सिर से अश्विनौ को मधुविद्या प्रदान करने का उल्लेख आ चुका (पृ० २८६) है। स्पष्ट है कि

यज्ञ में विशेष महत्त्व के कारण अश्व शब्द एक विशेष प्रकार से वैदिक कर्म-काण्ड तथा वेदों से संबन्धित था। अतः वेदों के उद्धार के लिये विष्णु का हयग्रीव रूप से अवतार लेना उचित ही था। इसीलिये विष्णु का यह हयग्रीयत्व वेदों के उद्धार से ही संबन्धित है, मधु-कैटभ के वध से नहीं। पाताल में पहुँचकर हय-ग्रीव विष्णु मधुर स्वर से सामवेद का गायन करने लगते हैं। मधु-कैटभ वेदों को एक ओर फेंककर उनके पास आते हैं। इतने में विष्णु वेदों को लेकर अन्तर्हित हो जाते हैं। मधु-कैटभ जब उन्हें ढूंढ़ते हुये ऊपर पहुँचते हैं तो वे अपने दूसरे रूप से उनका वध करते हैं। मधु-कैटभ की यह कथा **मार्कण्डेय पुराण** के देवी-माहात्म्य (दुर्गा-सप्तशती) तथा **देवी भागवत** (स्कन्ध १, अध्याय ६-९) में सुन्दर ढंग से विकसित हुई है। पर मधु-कैटभ को यहाँ वेदों का अपहर्ता नहीं कहा गया। कारण स्पष्ट है। भागवतकार ने विष्णु के इस अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध अवतार को स्वीकार नहीं किया और न उसे अश्व-सिर वाले विष्णु की कल्पना ही मनःपूत हुई अतः उसने 'हयग्रीव' को एक दैत्य बना दिया जो ब्रह्मा के चतुर्मुख से निकले चारों वेदों को हड़प ले जाता है और जिसको मारने के लिये भगवान् विष्णु मत्स्य रूप धारण करते हैं। यद्यपि मत्स्य रूप में भगवान् के राक्षस से लड़ने की कल्पना अधिक उपयुक्त नहीं है किन्तु महाभारत की अपेक्षा यहाँ विष्णु का उद्देश्य अवश्य अधिक महत्त्वपूर्ण है।

उपर्युक्त किसी भी कथा में जल प्रलय के किसी कारण का उल्लेख नहीं है। उसे कालाधीन तथा स्वाभाविक समझा गया है। किन्तु **कालिका-पुराण** के ३४वें अध्याय में इसका एक मनोरंजक कारण दिया हुआ है। महर्षि कपिल राजा वैवस्वत मनु से अपने लिये किसी ऐसे स्थान को प्रदान करने की याचना करते हैं जहाँ बैठकर वे शान्तिपूर्वक तपस्या कर सकें और मानव-कल्याण के लिये ज्ञान की ज्योति जला सकें। मनु कहते हैं कि लोक-कल्याण के लिये प्रयत्न करने वाला व्यक्ति उपयुक्त-स्थान आदि छोटी-मोटी वस्तुओं के लिये चिन्तित नहीं होता। बड़े-बड़े ज्ञानी महर्षि संसार में हुए हैं, उन्होंने कभी किसी के पास जाकर स्थान प्रदान करने की प्रार्थना नहीं की। अतः जहाँ आपकी इच्छा हो वहाँ जाकर तप कीजिये। इस तिरस्कार से क्रुद्ध होकर कपिल मुनि मनु को शाप देते हैं कि तुम त्रिलोकी का राज्य पाने के कारण दर्प से उन्मत्त हो। अतः कुछ ही दिनों के अन्दर तुम्हारा यह चराचर जगत् विनष्ट हो जायेगा। तब मनु विष्णु को तुष्ट करके उनसे जगत् के रक्षण की प्रार्थना करते हैं। विष्णु प्रत्येक

प्राणी के एक-एक युग्म तथा वनस्पतियों के बीजों की प्रलय काल में रक्षा करते हैं, जो उनके कर्तव्य (जगत्पालन) के सर्वथा अनुरूप है।

द्वितीय अध्याय में (पृ० ११८-१९) कहा जा चुका है कि अवेस्ता में जलौघ की कथा विवस्वान् (वीवङ्ह्वन्त) के प्रथम पुत्र यम (यिम) से सम्बन्धित है। जलप्लावन के अवसर पर यिम सभी प्राणियों का एक-एक युग्म और सम्पूर्ण वनस्पतियों का एक-एक बीज लेकर अपने 'वर' या बाड़े में शरण लेते हैं।

कूर्म अवतार

अब हम विष्णु के एक अन्य जीव-अवतार कूर्म पर आते हैं। परवर्ती पुराणों में कहा गया है कि अमृत मंथन के समय मन्थन दण्ड के रूप में प्रयुक्त किये जाते हुये मन्दराचल के समुद्रतल में धँसने पर भगवान् विष्णु ने कूर्म का रूप धारण किया और नीचे स्थित हो मन्दर को सँभाला। उस विचित्र मन्थान के स्थिर होने पर देवों ने शेषनाग को रज्जु बनाकर क्षीरसागर को मथा और अपने अभीष्ट की प्राप्ति की।

संसार की सर्वोच्च शक्ति के कूर्म रूप का अत्यन्त प्रारम्भिक उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में ही प्राप्त होता है। यह उद्धरण इस प्रकार है—

> स यत् कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजाः असृजत।
> यदसृजत अकरोत् तत्, यदकरोत् तस्मात् कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मः।
> तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति। श० ब्रा० ७।५।१।५

"यह जो कछुआ होता है, इसी का रूप धारण करके प्रजापति ने सृष्टि रची थी। 'रची थी' को ही कहते हैं 'की थी'। क्योंकि इस रूप से उन्होंने सृष्टि 'की थी' इसीलिये इस रूप को कहते हैं 'कूर्म' (कृ=करना+औणादिक मनिन्)। कूर्म का ही दूसरा नाम है 'कश्यप'। इसी से कहा जाता है कि सम्पूर्ण प्रजा कश्यप की सन्तान है[1]।"

---

१. पुराणों में सम्पूर्ण प्रजा को महर्षि कश्यप की संतान बताया गया है। उनके १३ पत्नियाँ हैं जो दक्ष प्रजापति की पुत्रियाँ हैं। प्रत्येक पत्नी से विभिन्न प्रकार के प्राणियों की उत्पत्ति होती है—दिति से दैत्य उत्पन्न होते हैं और अदिति से देवता ('आदित्य'), विनता से पक्षी उत्पन्न होते हैं तो कद्रू से सरीसृप। लौकिक संस्कृत में बाद में कूर्म के

सृष्टि के आदि में सर्वत्र जल की स्थिति होने के कारण प्रजापति को जल में सुखपूर्वक विचरण करने योग्य कोई ऐसा ही रूप धारण करना उचित भी था। और कूर्म सामान्य जल-चर नहीं है। ब्राह्मणों के कर्मकाण्डीय दर्शन में यह बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। श० ब्रा० ७।५।१।१ तथा ६।१।१।१२ में कहा गया है कि कूर्म इन सब पृथ्वी आदि लोकों का रस है। वह उनसे तब निकला था जब वे जल में डूबे हुये थे। और जिस प्रकार रस में उस वस्तु का संपूर्ण सार रहता है उसी प्रकार कूर्म भी तीनों लोकों की आत्मा है—

> **रसो वै कूर्मः। यो वै स एषां लोकानाम् अप्सु प्रविद्धानां पराङ् रसः अत्यक्षरत् स एष कूर्मः। यावान् वै रसः तावानात्मा। स एष इम एव लोकाः।** ७।५।१।१
>
> **सोऽकामयत आभ्यः अद्भ्यः अधि इमां प्रजनयेयम् इति। तां संक्लिश्य अप्सु प्राविध्यत्। तस्यै य पराङ् रसः अत्यक्षरत्। स कूर्मः अभवत्॥** ६।१।१।१२

इस त्रिलोकी की आत्मा कूर्म के त्रिलोकमयत्व का एक अन्य रोचक कारण और भी है। कूर्म का शरीर एक कड़े खोल से आवृत रहता है। खोल का ऊपरी कपाल आकाश को सूचित करता है क्योंकि वह आकाश की भांति दोनों सिरों से नीचे मुड़ा रहता है, और नीचे का पृथ्वी को क्योंकि वह समतल रहता है। जिस प्रकार द्यावा-पृथ्वी के भीतर ही सारे लोक हैं उसी प्रकार कछुए का शरीर भी इन कपालों के भीतर अवस्थित है अतः वह त्रिलोकी का प्रतिनिधि है—

> **तस्य यदधरं कपालम्। अयं स लोकः। तत्प्रतिष्ठितमिव भवति। प्रतिष्ठित इव ह्ययं लोकः। अथ यदुत्तरम्, सा द्यौः। तद् व्यवगृहीतान्तमिव भवति। व्यवगृहीतान्तेव हि द्यौः। अथ यदन्तरा, तदन्तरिक्षम् स एष इम एव लोकाः।** श० ब्रा० ७।५।१।२

ब्राह्मणों तथा आरण्यकों की सृष्टि संबन्धी दार्शनिक विचिकित्साओं में कूर्म का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था यह **तैत्तिरीय आरण्यक** के निम्न उद्धरण से और स्पष्ट हो जायगा। यहाँ **प्रजापति** और सृष्टि के आदि कारण **कूर्म** का एक

लिये **कश्यप** का विकसित रूप **कच्छप** प्रयुक्त होता है, कश्यप शब्द ऋषिवाची ही है।

छोटा सा संवाद है। सृष्टि के लिये घोर तपस्या करने के उपरान्त प्रजापति के शरीर का रस निकलकर जल में प्रविष्ट होकर एक कूर्म का रूप धारण कर लेता है। प्रजापति उससे कहते हैं कि तुम मेरी त्वचा और मांस से उत्पन्न हुए हो। कूर्म इसका प्रतिवाद करता है और कहता है कि मैं तुमसे भी पहले था (पूर्वम् आसम्)। इसी से उसे पुरुष कहते हैं। कूर्म वही आदि-पुरुष है जिसे 'सहस्र-शीर्षा' 'सहस्राक्ष' तथा 'सहस्रपात्' कहा गया है। प्रजापति उसकी महत्ता स्वीकार करते हुए उससे सृष्टि रचना के लिये कहते हैं और तब कूर्म सृष्टि करता है।

यो रसः सः अपाम् इति। अन्तरतः कूर्मभूतं सर्पन्तं तमब्रवीत्। मम वै त्वङ्मांसासमभूत् नेत्यब्रवीत्। पूर्वमेवाहम् इह आसम् इति। तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्। सहस्रशीर्षा पुरुषः। सहस्राक्षः सहस्रपात्। भूत्वोदतिष्ठत्। तमब्रवीत्। त्वं वै पूर्वं समभूः त्वमिदं पूर्वं कुरुष्व इति।
तैत्तिरीय आरण्यक १।२३।३,४

यहाँ यदि प्रजापति को यज्ञ और याज्ञिक क्रियाओं का प्रतिनिधि माना जाय तो उनके शरीर के सारभूत तत्त्व कूर्म को जगत् का आदि-कर्ता, परम-पुरुष-मानना उचित ही है जिसकी प्राचीन संज्ञा नारायण थी। स्पष्ट है कि यहाँ पर कूर्म ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त (१०।९०) में उल्लिखित जगत् के आदि-कारण **पुरुष** का वाची है। सायणाचार्य भी इस वाक्य की व्याख्या में लिखते हैं—

'अहं तु सर्वगतनित्यचैतन्यस्वरूपत्वात् पूर्वमेवेहास्मिन् स्थाने स्थितोऽस्मि।'

पहले स्थित रहने के कारण (यत् पूर्वमासम् इत्याह तस्मात् पुरुषः, सा०) पुरुष को पुरुष कहा जाता है। यदि इस काल्पनिक व्युत्पत्ति की उपेक्षा भी कर दी जाय तो भी **कूर्म** और **पुरुष** का तादात्म्य इस प्रसंग में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। संभवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुये **श० ब्रा०** ७।५।१।७ में कूर्म को प्राण या जीवों की चेतना-शक्ति कहा गया है—

प्राणो वै कूर्मः। प्राणो हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति।

वैदिक ग्रंथों की सृष्ट्युत्पत्ति सम्बन्धी परिकल्पनाओं में कूर्म के इन महत्त्वपूर्ण उल्लेखों (विशेषतः **श० ब्रा०** ७।५।१।५) को मैकडानल[1] तथा कीथ[2] ने

---

१. मैकडानल : **जर्नल ऑफ् रॉयल एशियाटिक सोसाइटी**, भाग २७ (सन् १८९७), पृ० १६६-६८।

२. कीथ : **रिलिजन एण्ड फिलासफी०** भाग १, पृ० ११२।

विष्णु के कूर्म अवतार की पृष्ठभूमि माना है। वस्तुतः कूर्म का 'त्रिलोकी' एवं 'पुरुष' से तादात्म्य अवश्य विष्णु से कुछ सम्बन्ध जोड़ता हैं। बहुत प्रारम्भिक काल में ही विष्णु का इस जगत् के त्रेधा विभाजन, या त्रिलोक से घनिष्ठ संबन्ध हो गया था और जब कूर्म के खोल की ऊपर नीचे की परत और उसका शरीर मिलाकर त्रिलोकी से तादात्म्य किया गया (श० ब्रा० ७।५।१।२) तो विष्णु से भी परोक्ष रूप से कुछ न कुछ सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही था। कूर्म का सृष्टि के आदितत्त्व पुरुष से तादात्म्य, जिसके लिये वैदिक युग में ही नारायण विशेषण का प्रयोग होने लगा था, संभवतः उसके और विष्णु के तादात्म्य की दिशा में दूसरा चरण था।

पर महाभारत तथा प्राचीन पुराणों में अमृतमंथन के समय कूर्म का जा स्वरूप प्राप्त होता है वह इन वैदिक धारणाओं से सम्बन्ध की अविच्छिन्न परम्परा को सूचित नही करता। अमृत-मन्थन के समय उपस्थित होने वाला कूर्म सृष्टि-रचना से या सृष्टि की नियामक-शक्ति से किसी भी प्रकार संबन्धित नहीं है। अनन्त आकाश में हमारी यह पृथ्वी विना किसी दृश्यमान आधार के कैसे स्थित है, यह प्राचीन मानव के सम्मुख एक प्रमुख प्रश्न था। सामान्य लोक-विश्वास के अनुसार इसकी व्याख्या कई प्रकार से की गई थी जिनमें से कुछ अभी तक भारतीय अल्प-शिक्षित समाज में प्राप्त होती हैं। एक मत यह था कि पृथ्वी को एक गौ अपने एक सींग पर लिये खड़ी है; जब वह थक जाने के कारण उसे दूसरे सींग पर लेती है तो भूकम्प आ जाता है। दूसरी कल्पना के अनुसार पृथ्वी-मण्डल को एक हाथी साधे हुए है। तीसरी धारणा एक विशालकाय सर्प की थी जो अपने अनेक (प्रायः एक सहस्र) फणों के ऊपर पृथ्वी को धारण किये हुए है। इस नाग की कल्पना अनन्त-शेषनाग के रूप में विकसित होकर और भागवत धर्म के प्रमुख उपास्य तत्त्व [चतुर्व्यूहों में से एक] **संकर्षण** से जुड़कर[1] बहुत कुछ दार्शनिक आधार पा गई हैं। चौथी धारणा थी एक कूर्म की जो अपनी कठोर पीठ पर पृथ्वी का भार साधे हुए है[2]। कूर्म के खोल की ऊपर की कठोर पपड़ी को इस कार्य के लिये उपयुक्त समझा जाना स्वाभाविक है। **मत्स्य पुराण** (२४६।७५) में कहा गया है कि जब वराह भगवान् ने पृथ्वी

---

१. देखिये, **श्रीमद्भागवत** ५।२५ (विशेषतः १, ८, १२, १३)।

२. **अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटम्**
कूर्मो बिभर्ति धरणीं खलु पृष्ठभागे। आदि (सुभाषित)।

को उठाया तो अपना एक पैर पृथ्वी को धारण करने वाले कूर्म की पीठ पर रखा और ऊपर निकल आये—

कूर्मपृष्ठे पदं न्यस्य निश्चक्राम रसातलात् ।

वराह अवतार की प्रतिमा बनाने के लिये मत्स्य पुराण में जो निर्देश दिये गये हैं उनमें भी कहा गया है कि वराह भगवान् का एक पैर कूर्म पर तथा दूसरा हाथी के मस्तक पर दिखाना चाहिये—

कूर्मोपरि तथा पादमेकं नागेन्द्रमूर्धनि ।
संस्तूयमानो लोकेशैः समन्तात् परिकल्पयेत् ॥

मत्स्य २५९।३०

इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि वैदिक युग के लोक-विश्वास में भी पृथ्वी को कूर्मपृष्ठ पर अवस्थित माना जाता था । श्रौत-यागों के लिये वेदी निर्माण की प्रक्रिया का विवरण देते समय **शतपथ ब्राह्मण** (७।५।१।१) वेदी की नींव में सबसे नीचे एक कूर्म (या उसकी खोल ?) रखने का विधान करता है जिससे वेदी सुप्रतिष्ठित रहे ।

मार्कण्डेय पुराण के ५८वें अध्याय में भुवन-विन्यास का वर्णन करते हुए पृथ्वी का आधार एक कच्छप को बताया गया है जो इसे अपनी पीठ पर धारण करके स्थिर रखता है। कछुए द्वारा पृथ्वी को साधने की कल्पना भारतीय ही नहीं, जापान, चीन और यहाँ तक कि अमेरिका की रेड-इंडियन जन-जातियों के लोक विश्वास में भी प्राप्त होती है। चीन के प्राचीन (ताओ) धर्म की कल्पना के अनुसार पुण्यात्माओं के रहने के लिये ईश्वर ने पहले सर्वसुखसम्पन्न पाँच द्वीप बनाये थे किन्तु वे ज्वार-भाटे के साथ हिलते रहते थे अतः उसने प्रत्येक को स्थिर करने के लिये तीन-तीन कछुओं को नियुक्त किया[1] । अमेरिका की अल्मोन्किन नामक जन जाति के धार्मिक विश्वासों में कूर्म की पृथ्वी के धारक के रूप में अवधारणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है; बल्कि कहीं कहीं तो पृथ्वी को कूर्म का पृष्ठभाग ही बताया गया है[2] ।

१. देखिये डॉनेल्ड ए० मैकेन्जी (संपा०) **मिथ्स आफ चाइना एण्ड जापान**, पृ० १११-११२, १४०, २८० ।

२. डब्ल्यू श्मिट् : **डेऽर उअरश्प्रुंग् डेऽर गॉटेसइडे** (Der Ursprung der Gottesidee), भाग २, म्युंस्टर १९२९, पृ० ४४५ ।

महाभारत में अमृत-मंथन के अवसर पर (आदि०, १८वाँ अध्याय) जब मन्दराचल समुद्र में धँसने लगता है तो देव और असुर पृथ्वी को धारण करने वाले इसी कूर्म को बुलाकर उससे पर्वत को धारण करने के लिये कहते हैं—

ऊचुश्च कूर्मराजानमकूपारे[1] सुरासुराः ।
अधिष्ठानं गिरेरस्य भवान् भवितुमर्हति ॥११॥
कूर्मेण तू तथेत्युक्त्वा पृष्ठमस्य समर्पितम् ।
तं शैलं तस्य पृष्ठस्थं वज्रेणेन्द्रो न्यपीडयत् ॥१२॥

महा०, आदि० १८।११,१२

स्पष्ट है कि महाभारत में अमृत-मंथन के अवसर पर मन्दर धारण करने वाला कूर्म, विष्णु का अवतार नहीं अपितु प्राचीन लोक-विश्वास का पृथ्वी को धारण करने वाला कूर्म ही है। ठीक इसी प्रकार **मत्स्य पुराण** के १४८वें अध्याय में मन्दराचल के मन्थन-दण्ड बनने के लिये सहमत होने पर उसको धारण करने तथा वेष्टन बनने के लिये क्रमशः कूर्म तथा शेषनाग नीचे से समुद्र तल पर आते हैं—

कल्प्यतां नेत्रकार्ये यः शक्तः स्याद् वेष्टने मम ।
ततस्तु निर्गतौ देवौ कूर्मशेषौ महाबलौ ॥ २४८।२६

और कूर्म अपनी सामर्थ्य का वर्णन करता हुआ कहता है कि जब मुझे संपूर्ण पृथ्वी-तल को धारण करने में श्रम नहीं होता तब इस छोटी सी गोली (घुटिका, गुटिका) से क्या होगा—

त्रैलोक्यधारणेनापि न ग्लानिर्मम जायते ।
किमु मन्दरकात् क्षुद्रात् घुटिकासंनिभादिह ॥ २४८।२८

और यह कहकर कूर्म मन्दर के नीचे स्थिर हो जाता है, **कूर्मश्चाधः स्थितः तदा** (श्लोक ३७)।

---

१. यह शब्द महाभारत में **जैमिनीय ब्राह्मण** से आया प्रतीत होता है जहाँ यह कश्यप (कूर्म) का विशेषण है (अकूपारो वै कश्यपः कलिभिः सह समुद्रम् अभ्यवैषत्....३।२७३)। म० भा० में यह संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है और संभवतः अधस्तल या पृथ्वी से नीचे के स्थान का वाची है।

इस प्रकार मत्स्य पुराण में भी यह कूर्म विष्णु का अवतार नहीं है। किन्तु पृथ्वी को धारण करने के असामान्य कार्य को करने वाला सामान्य कच्छप तो हो नहीं सकता अतः मत्स्यपुराणकार का कथन है कि कूर्म तथा शेषनाग विष्णु के तेज के चतुर्थांश से युक्त हैं और उन्हीं की शक्ति से वे पृथ्वी को धारण करते हैं—

विष्णोर्भागौ चतुर्थांशाद् धरण्या धारणे स्थितौ। २४८।२७

और यहीं पर कूर्म को विष्णु का अवतार माने जाने के बीज मिलने लगते हैं जो वैष्णव पुराणों में जाकर पल्लवित एवं पुष्पित होते हैं। वस्तुतः पृथ्वी को साधने और स्थिर करने का यह कार्य विष्णु की प्रकृति तथा अवतारों के मूल कारण से घनिष्ठतया सम्बन्धित भी है[1]। यहाँ स्मरणीय है कि **मत्स्य पुराण** विष्णु के केवल 'सात अवतारों' का (संभवतः मत्स्य, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम तथा कृष्ण) उल्लेख एवं वर्णन करता है, शेष का नहीं। दैत्यों से युद्ध करते हुए विष्णु दैत्य-गुरु महर्षि भृगु की पत्नी (तथा शुक्राचार्य की माता) **देवी** का चक्र से शिरश्छेदन कर देते हैं जिससे क्रुद्ध होकर ऋषि विष्णु को पृथ्वीतल पर **सात बार** अवतार लेने का शाप देते हैं—

यस्मात्ते जानतो धर्मम् अवध्या स्त्रीः निषूदिता।
तस्मात्त्वं सप्तकृत्वेह मानुषेषूपपत्स्यसि ॥ ४७।१०३

यद्यपि **महाभारत**, शान्ति-पर्व (३३९वाँ अ०), के दाक्षिणात्य पाठ में कूर्म को विष्णु का अवतार स्वीकार किया गया है और विष्णु नारद से अपने अवतारों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

द्वितीयं कूर्मरूपं मे हेमकूटनिभं सुत।
मन्दरं धारयिष्यामि अमृतार्थे द्विजोत्तम ॥

किन्तु यह अंश मूल भारत में बहुत बाद में किया गया प्रक्षेप प्रतीप होता है। कारण यह है कि एक तो महाभारत के उत्तरभारतीय संस्करण में, ७६वें तथा ७७वें श्लोकों के बीच में प्राप्त होने वाले, इन चार श्लोकों का कोई चिह्न नहीं है ; दूसरी बात यह है कि दाक्षिणात्य पाठ के इन चार श्लोकों को निकाल देने पर पूर्व-अपर श्लोक में उचित सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

---

१. देखिये, खोन्डा : आस्पेक्ट्स० १८, पृ० १२७।

७६वें श्लोक में विष्णु कहते हैं कि मैं जगत् का निर्माता हूँ और पृथ्वी को वराह रूप में जन-कल्याण के लिये ऊपर लाता हूँ—

नष्टे पुनर्बलात् काल आगमयत्यमितद्युतिः ।
तथा बलादहं पृथिवीं सर्वभूतहिताय वै ॥

दाक्षिणात्य पाठ को हटा देने पर निम्नलिखित श्लोक (७७वाँ) आता है—

सत्त्वैराक्रान्तसर्वाङ्गां नष्टां सागरमेखलाम् ।
आनयिष्यामि स्वस्थानं वाराहं रूपमाश्रितः ॥

स्पष्ट है कि ७६वें श्लोक में वाक्य पूर्ण नहीं हुआ है; उसकी क्रिया चार श्लोकों के बाद ७७वें श्लोक में है। विष्णु अवतारों की संख्या दस निश्चित हो जाने के बाद किसी को भगवान के मत्स्य और कूर्म अवतार की कमी यहाँ खटकी और नारद से प्रश्न करवाया—

नारदस्त्वथ पप्रच्छ भगवन्तं जनार्दनम् ।
केषु केषु च भावेषु त्वं द्रष्टव्यो महाप्रभो ॥

इस पर विष्णु ने उत्तर दिया है—

श्रृणु नारद तत्त्वेन प्रादुर्भावान् महामुने ।
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्कीति ते दश ॥

इसके पश्चात् वे अपने मत्स्य अवतार का वर्णन करते हैं, जिसे पूर्वोद्धृत (वनपर्व १८७।५२-५४) श्लोकों में स्पष्ट शब्दों में प्रजापति का अवतार कहा गया है, और तब कूर्म का। अतः प्रतीत होता है कि महा० आदि पर्व में मन्दराचल को स्थिर करने वाले कूर्म को जो मूलतः पृथ्वी का धारण करनेवाला कूर्म बताया गया है, वही परम्परा प्राचीन है और महाभारत-काल में वही मान्य थी। बाद में वैष्णव-पुराणों के प्रभाव से महाभारत के दाक्षिणात्य संस्करण में कूर्म (और मत्स्य) को विष्णु का अवतार घोषित करने वाले (चार) श्लोक प्रक्षिप्त कर दिये गये।

रामायण में बालकाण्ड के ३२वें से लेकर ६५वें सर्ग तक का अंश परवर्ती एवं प्रक्षिप्त माना जाता है। तो भी गोरीसियो द्वारा संपादित रामायण के उत्तरभारतीय संस्करण के ४६वें अध्याय में अमृत-मंथन के अवसर

पर उपस्थित होने वाले कूर्म का विष्णु से तादात्म्य नहीं किया गया[1]। पर दाक्षिणात्य संस्करण में देवता तथा गन्धर्व मन्दर के पाताल में धँस जाने पर विष्णु से उसे उठाने की प्रार्थना करते हैं और विष्णु एक कछुए का रूप धारण करके देवों की इच्छा पूर्ण करके उनका कार्य सिद्ध करते हैं—

ततो देवासुरा सर्वे ममन्थू रघुनन्दन।
प्रविवेशाथ पाताल मन्थानः पर्वतोत्तमः॥
ततो देवाः सगन्धर्वास्तुष्टुवुमधुसूदनम्।
त्वं गतिः सर्वभूतानां विशेषेण दिवौकसाम्॥
पालयास्मान् महाबाहो गिरिमुद्धर्तुमर्हसि।
इति श्रुत्वा हृषीकेषः कामठं रूपमास्थितः।
पर्वतं पृष्ठतः कृत्वा शिश्ये तत्रोदधौ हरिः॥

रामा० बाल० ४५।२७-३०

रामायण के इस अंश को वैष्णव-पुराणों का समकालीन होना चाहिये। **विष्णु पुराण** स्पष्ट शब्दों में विष्णु के इस कूर्म-रूप का वर्णन करता है—

क्षीरोदमध्ये भगवान् कूर्मरूपी स्वयं हरिः।
मन्थानाद्रेरधिष्ठानं भ्रमतोऽभून्महामुने॥ विष्णु १।६।८८

और **श्रीमद्भागवतकार** अपनी पल्लवनशील काव्यात्मक शैली में इस घटना का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जब देवों और असुरों ने अत्यन्त उत्साह के साथ समुद्र को मथना प्रारम्भ किया तो निराधार मन्दराचल जल में घुस गया। बलवान् दैव के द्वारा अपने पुरुषार्थ को इस प्रकार व्यर्थ जाते देखकर वे अत्यन्त खिन्न हो गये। तब विघ्नेश्वर (गणेश) के इस विधान को देखकर अत्यन्त पराक्रमी तथा अमोघसंकल्पशाली विष्णु ने एक अद्भुत कच्छप का रूप धारण किया और जल के अन्दर प्रविष्ट होकर पर्वत को रोका। उस समय उनकी पीठ लाखों योजन विस्तृत थी और वे समुद्र के बीच स्थित एक विशाल द्वीप के समान लग रहे थे। यद्यपि विशाल एवं भारी मन्दराचल भयंकर वेग से उनकी पीठ पर घुमाया जा रहा था पर उन्हें ऐसा लग रहा था मानों कोई उनकी पीठ खुजला रहा हो—

---

१. देखिये—ख़ोन्डा : आस्पेक्ट्स०, खंड १८, पृ० १२७।

विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो, दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः ।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत् प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार ॥
तमुत्थितं वीक्ष्य कुलाचलं पुनः समुत्थिता निर्मथितुं सुरासुराः ।
दधार पृष्ठेन सलक्षयोजनप्रस्तारिणा द्वीप इवापरो महान् ॥
सुरासुरेन्द्रं र्भुजवीर्यवेपितं परिभ्रमन्तं गिरिमंगपृष्ठतः ।
बिभ्रत् तदावर्तनमादिच्छपो मेनेऽङ्गकण्डूयनमप्रमेयः ॥
भागवत ८।७।८,९,१०

बाद में विष्णु के कूर्मावतार की यह धारणा इतनी प्रबल हुई कि मुख्यतः ब्रह्मा जी का गुणगान करने वाले **पद्म पुराण** (सृष्टिखंड, ५वाँ अध्याय) जैसे ग्रंथों ने भी इसे स्वीकार किया और कूर्म-पुराण के वक्ता कूर्म-रूपी जनार्दन विविध विद्याओं के अधिष्ठाता माने गये ।

नृसिंह अवतार

विष्णु के प्राचीन (जीव) अवतारों में नृसिंह रूप ऐसा है जिसके संकेत अथवा बीज प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में प्राप्त नहीं होते । सबसे पहले **तैत्तिरीय आरण्यक** में नृसिंह (नारसिंह) के विषय में एक गायत्री प्राप्त होती है—

वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि ।
तन्नो नारसिंहः प्रचोदयात् ॥ तै० आ० १०।१।७

यद्यपि यह स्वराङ्कित है, किन्तु इसकी प्राचीनता में कुछ संदेह है[1] । कारण यह है कि एक तो तै० आ० का **नारायणोपनिषद्** संज्ञक दशम-प्रपाठक ही सायणाचार्य आदि द्वारा 'खिल भाग माना गया है (**यथा बृहदारण्यके सप्तमाष्टमाध्यायौ खिलकाण्डत्वेन आचार्यैरुदाहृतौ तथेयं नारायणीयाख्या याज्ञिक्युपनिषद् अपि खिलकाण्डरूपा तल्लक्षणोपेतत्वात्**—प्रपाठक का उपोद्घात) । दूसरे इस प्रपाठक (नारायणोपनिषद्) के परस्पर किंचिद् भिन्न दो संस्करण प्राप्त होते हैं और सायणाचार्य ने जिस संस्करण पर भाष्य लिखा है उसमें इस गायत्री का उल्लेख नहीं है ।

---

१. कीथ ने इस आरण्यक के लिये तीसरी शती ई० पू० का समय निश्चित किया है । देखिये उनकी **इंडियन माइथॉलजी** (माइथॉलजी ऑफ ऑल रेसेज, ६) पृ० ८० ।

विष्णु के इस अवतार के उद्गम का पता नहीं चलता। प्राचीन मिस्र की धार्मिक परम्परा में अर्ध-नारी एवं अर्ध-सिंह का रूप धारण करने वाली स्फ़िंक्स नामक देवमूर्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मिस्र और भारत के अति प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्धों को देखते हुए उधर से आने वाले प्रभावों की संभवतः इस प्रसंग में उपेक्षा नहीं की जा सकती। हॉपकिन्स का मत है कि प्रारम्भ में नृसिंह शब्द विष्णु की श्रेष्ठता घोषित करने वाला एक विशेषण मात्र था। इसका अर्थ है 'सिंह के समान (पराक्रमी) पुरुष' (या पुरुषों में सिंह के समान)। विष्णु के लिये **पुरुषोत्तम** या परमपुरुष आदि शब्द प्राय: प्रयुक्त हुए हैं। महाभारत में एक स्थान पर यह (नृसिंह) शब्द श्रेष्ठ पुरुषों को द्योतित करने के लिये प्रयुक्त हुआ है—

> **सुरर्षभा ब्राह्मणसत्तमाश्च,**
> **तथा नृपाद्या नरदेवमुख्या:।**
> **इष्ट्वा महार्हैः क्रतुभिः नृसिंहाः**
> **संत्यज्य देहान् सुगतिं प्रपन्नाः॥** महा० शल्य० ५३।२३

कालान्तर में इस समस्त-विशेषण के श्रेष्ठतासूचक द्वितीय पद को पशुवाची मानकर विष्णु के इस अवतार की कल्पना की गई[1]। कीथ ने भी परोक्षतया हॉपकिन्स के मत का समर्थन किया है[2]।

किन्तु केवल इस एक विशेषण के प्रह्लाद-चरित, नृसिंह-अवतार तथा हिरण्यकशिपु-वध आदि की घटनाओं से युक्त, वैविध्यपूर्ण आख्यान को जन्म देने की बात समझ में नहीं आती। नृसिंह या पुरुषसिंह शब्द का कोई विशेष संबन्ध केवल विष्णु से कभी नहीं रहा। प्राय: प्रत्येक पराक्रमी व्यक्ति के लिये 'पुरुष-सिंह', 'नरशार्दूल' आदि विशेषण महाकाव्यों में प्रयुक्त होते रहे हैं। नृसिंह की भांति 'पुरुषर्षभ' या 'पुरुषपुंगव' आदि विशेषण भी विष्णु (तथा अन्य देवों या वीरों) के लिये उतनी ही स्वच्छंदता पूर्वक प्रयुक्त हुए हैं किन्तु विष्णु का वृषभ से कभी कोई संबन्ध नहीं हुआ ! अतः नृसिंह अवतार की यह व्याख्या सन्तोष-जनक नहीं है।

वस्तुतः नृसिंह की कल्पना रामायण तया महाभारत आदि से बहुत पहले

---

१. हापकिन्स **एपिक माइथॉलजी**, पृ० २११।
२. कीथ, **इंडियन माइथॉलजी**, पृ० ८१।

की है। तै० आ० की गायत्री अपेक्षाकृत अर्वाचीन होने पर भी रामायण और महाभारत से प्राचीन है। नृसिंह से संबन्धित **नृसिंहपूर्वतापनीय** तथा **नृसिंह-उत्तरतापनीय** उपनिषद् विषय तथा वाक्यसंरचना आदि की दृष्टि से परवर्ती वैदिक उपनिषदों से थोड़े ही बाद के प्रतीत होते हैं। इन उपनिषदों में प्राचीन दार्शनिक विचार धारा के गूढ़ एवं रहस्यमय तत्त्व प्राप्त होते हैं[1]। नृसिंह को जगत् का आदिकारण एवं परमतत्त्व मानकर उपासना की गई है। पर उल्लेख-नीय है कि न तो कहीं हिरण्यकशिपु का उल्लेख है और न कहीं नृसिंह के आधे-मानव और आधे-सिंह रूप का। नृसिंह आदि शब्द यहाँ गूढ़ आध्यात्मिक भावों के प्रतिनिधि हैं।

पुराणों (विशेषत: श्रीमद्भागवत ७।२-१० तथा हरिवंश ३।४३ वाँ अध्याय) में नृसिंह अवतार का मुख्य उद्देश्य पापी दैत्य हिरण्यकशिपु का वध करना बताया गया है। वराह भगवान् द्वारा अपने बड़े भाई हिरण्याक्ष के मारे जाने पर वह विष्णु से द्वेष करने लगा था। तपस्या द्वारा ब्रह्माजी को तुष्ट करके उसने यह वर प्राप्त किया था कि उसे देवयोनि, मनुष्ययोनि अथवा पशुयोनि में उत्पन्न कोई भी प्राणी न मार सके। अपने विष्णु-भक्त पुत्र प्रह्लाद को वह भीषण यातनाएँ देता था और सदा उसकी हत्या के उपाय सोचा करता था। सर्वत्र अपनी सत्ता सिद्ध करने के लिये विष्णु एक स्तंभ से अर्ध-मानव तथा अर्ध-सिंह रूप में उत्पन्न हुए और अपने नखों से हिरण्यकशिपु को चीर डाला।

किन्तु **महाभारत** में न तो प्रह्लाद का उल्लेख है और न विष्णु के स्तम्भ से प्रकट होने का। वनपर्व के २७२वें अध्याय में यह कथा सर्वाधिक विस्तार से दी गई है परन्तु इससे केवल इतना ही पता चलता है कि एक बार विष्णु ने एक विचित्र रूप धारण किया जो आधा मानव का था और आधा सिंह का।

---

१. **संस्तम्य सिंहं स्वसुतान् गुणर्धान् संयोज्य शृंगैः ऋषभस्य हत्वा।**
वश्यां स्फुरन्तीमसतीं निपीड्य संभक्ष्य सिंहेन स एष वीरः॥
शृंगप्रोतान् पदा स्पृष्ट्वा हत्वा तामप्रसस्त्वम्।
नत्वा च बहुधा दृष्ट्वा नृसिंहः स्वयमुद्बभौ॥

नृसिंहोत्तरतापनीय, चतुर्थ खण्ड

इन श्लोकों की लंबी दार्शनिक व्याख्या यहाँ असंभव है। इसके लिये देखिये—**कल्याण, उपनिषदंक** (वर्ष २३, अंक १), पृ० ५६१-६२।

फिर वे हिरण्यकशिपु की सभा में गये। हिरण्यकशिपु ने जब ऐसे विचित्र प्राणी को आते देखा तो (आशङ्का तथा भय के कारण) शूल उठाकर उनकी ओर झपटा। तब बलवान् नरसिंह ने अपने तीक्ष्ण नखों से उसे चीर डाला—

पुनरेव महाबाहुरपूर्वां तनुमाश्रितः ।
नरस्य कृत्वार्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं प्रभुः ।।
दैत्येन्द्रस्य सभां गत्वा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ।
दैत्यानामादिपुरुषः सुरारिर्दितिनन्दनः ।।
दृष्ट्वा चापूर्वपुरुषं क्रोधात् संरक्तलोचनः ।
शूलोद्यतकरः स्रग्वी (v. l. धन्वी) हिरण्यकशिपुस्तदा ।
मेघस्तनितनिर्घोषो नीलाभ्रचयसंनिभः ।
देवारिर्दितिजो वीरो नृसिंहं समुपाद्रवत् ।।
समुपेत्य ततस्तीक्ष्णैः मृगेन्द्रेण बलीयसा ।
नारसिंहेन वपुषा दारितः करजैः भृशम् ।।

महा० वन० २७२।५६-६०

शान्तिपर्व में कहा गया है कि हिरण्यकशिपु यज्ञों का विनाशक था इसलिये विष्णु को देवों की रक्षा के लिये उसे मारना पड़ा—

नारसिंहं वपुः कृत्वा हिरण्यकशिपुं पुनः ।
सुरकार्ये हनिष्यामि यज्ञघ्नं दितिनन्दनम् ।। शान्ति ३३९।७८

द्रोणपर्व में क्रुद्ध नरसिंह के गर्जन का उल्लेख है—

संक्रुद्धमिव नर्दन्तं हिरण्यकशिपुर्हरिम् । द्रोण० १९७।२३

यद्यपि एक दो अन्य स्थानों में भी नृसिंह रूप का उल्लेख है (उदा०, वन० १४६।५३ तथा द्रोण० १९१।३६) किन्तु वे उपमानार्थक हैं और उनसे कथा सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण बात पता नहीं चलती। मत्स्य पुराण में (१६०-१६२ अध्याय), महाभारत में प्राप्य इस उपाख्यान को तीन बड़े-बड़े अध्यायों (२३१ श्लोकों) में पल्लवित किया गया है। कृतयुग में दैत्यों का आदि-पुरुष हिरण्यकशिपु घोर तप करता है और जब ब्रह्मा जी तुष्ट होकर उसे दर्शन देते हैं तो वह यह वर माँगता है—

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः ।
न मानुषाः पिशाचा वा हन्युर्माम् देवसत्तम ।।

ऋषयो वा न मां शापैः शपेयुः प्रपितामह ।
यदि मे भगवान् प्रीतो वर एष वृतो मया ॥
न चास्त्रेण न शस्त्रेण गिरिणा पादपेन च ।
न शुष्केण न चार्द्रेण न दिवा न निशाऽथवा ॥

मत्स्य० १६०।११-१३

वरदान से दर्पित होकर वह सम्पूर्ण प्रजा को कष्ट देना प्रारम्भ करता है। देवता रक्षा के लिये विष्णु के पास पहुँचते हैं। विष्णु उन्हें आश्वासन देते हैं और नृसिंह-वपु धारण करके हिरण्यकशिपु के पास जाते हैं। हिरण्यकशिपु का पुत्र जान जाता है कि इस वेष में भगवान् विष्णु ही उपस्थित हुए हैं। वह अपने पिता को चेतावनी देता है। हिरण्यकशिपु अपने सेवकों तथा सैनिकों को नृसिंह को पकड़कर मार डालने का आदेश देता है। तब एक भयङ्कर संग्राम छिड़ जाता है जिसका वर्णन ११८ श्लोकों में किया गया है। अन्त में नृसिंह भगवान् अपने सहायक ओंकार[1] की सहायता से उसे मार डालते हैं।

वैष्णव पुराणों में इस कथा की एक पृथक् परम्परा के दर्शन होते हैं। महाभारत तथा मत्स्य पुराण के इस आख्यान में हिरण्यकशिपु के प्रसिद्ध विष्णु-भक्त पुत्र प्रह्लाद की कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं है[2]। मत्स्य पु० में वह केवल अपने पिता से नृसिंह के वास्तविक स्वरूप को बता देता है। किन्तु विष्णु तथा

---

१. ओंकार और नृसिंह का यह सम्बन्ध ध्यान देने योग्य है। नृसिंहतापनीय उपनिषदों में वैदिक प्रणव या ओंकार (जिसे ऋषभ कहा गया है) नृसिंह (परमात्मा) से सम्बन्धित दार्शनिक विचारों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अहिर्बुध्न्य संहिता आदि पाञ्चरात्र ग्रन्थों में नृसिंह का तादात्म्य सुदर्शन चक्र से किया गया है। काञ्चीपुरम् में वरदराज मन्दिर के परिसर में अवस्थित एक देवालय की उपास्य प्रतिमा एक ओर से सुदर्शन चक्र तथा दूसरी ओर से नृसिंह को प्रदर्शित करती है।

२. मार्कण्डेय पुराण ४।५५ में भी प्रह्लाद का उल्लेख नहीं है। यहाँ मत्स्य पुराण की भांति नृसिंह हिरण्यकशिपु के साथ-साथ विप्रचित्ति आदि दानवों का भी वध करते हैं—

कृत्वा नृसिंहरूपं च हिरण्यकशिपुर्हतः ।
विप्रचित्तिमुखाश्चान्ये दानवा विनिपातिताः ॥

भागवतपुराणों में प्रह्लाद के चरित का अत्यन्त विस्तार से वर्णन है। विष्णु-पुराण प्रह्लाद की उत्कट भक्ति-भावना और अनन्य विष्णु-परायणता का सुन्दर चित्रण करता है। विष्णु-द्रोही हिरण्यकशिपु के बार-बार प्रह्लाद के विनाश का यत्न करने पर भी विष्णु अपने भक्त की सर्वतोभावेन रक्षा करते हैं। पर विष्णुपुराण-कार को विष्णु भक्त प्रह्लाद के पिता का विष्णु द्वारा वध अभीष्ट नहीं है।

प्रह्लाद की निरतिशय विष्णुभक्ति से क्रुद्ध हिरण्यकशिपु अपने पुत्र को समुद्र में डुबाकर ऊपर से भारी पर्वत-शिलाओं से दबवा देता है—

ततो दैत्या दानवाश्च पर्वतैस्तं महोदधौ।
आक्रम्य चयनं चक्रुर्योजनानि सहस्रशः॥ १।१९।६२

शिलोच्चय के नीचे दबा हुआ प्रह्लाद विष्णु की जगत् के परम तत्त्व के रूप में मार्मिक स्तुति करता है (१।१९।६४-८६)। विष्णु प्रह्लाद के हृदय में प्रकट होते हैं और उसे दो वर प्रदान करते हैं। प्रथम से वह विष्णु चरणों में सदा स्थिर रहने वाली अदम्य निष्ठा माँगता है और दूसरे से अपने पिता की, विष्णु-विरोध तथा उसे दिये गये विविध कष्टों से लगे पापों से मुक्ति—

मयि द्वेषानुबन्धोऽभूत् संस्तुतावुद्यते तव।
मत्पितुस्तत्कृतं पापं देव तस्य प्रणश्यतु॥
शस्त्राणि पातितान्यंगे क्षिप्तो यच्चाग्निसंहतौ।
दंशितश्चोरगैर्दत्तं यद्विषं मम भोजने॥
अन्यानि चाप्यसाधूनि यानि पित्रा कृतानि मे।
त्वयि भक्तिमतो द्वेषादघं तत्संभवं च यत्।
त्वत्प्रसादात्प्रभो सद्यस्तेन मुच्येत मे पिता। १।२०।२१-२४

विष्णु उसकी इन इच्छाओं को पूर्ण करके तथा अन्त में निर्वाण-प्राप्ति का वरदान देकर अन्तर्हित हो जाते हैं। कथा का सुखमय अन्त होता है। जब प्रह्लाद घर जाकर अपने पिता की वन्दना करता है तो वही हिरण्यकशिपु उसका आलिंगन करके मस्तक सूँघता है और आँखों में आँसू भरकर कहता है—'कितनी प्रसन्नता की बात है, बेटा, कि तुम अभी जीवित हो'। वह अपने किये पर पछताता है और प्रह्लाद से अतिशय प्रेम करने लगता है—

स चापि पुनरागम्य ववन्दे चरणौ पितुः।
तं पिता मूर्ध्न्युपाघ्राय परिष्वज्य च पीडितम्॥

जीवसीत्याह वत्सेति बाष्पार्द्रनयनो द्विज ॥
प्रीतिमांश्चाभवत् तस्मिन्ननुतापी महासुरः।
गुरुपित्रोश्चकारैवं शुश्रूषां सोऽपि धर्मवित् ॥ १।२०।२९-३१

स्पष्ट है कि विष्णुपुराणकार के अनुसार कथा का अन्त यहीं हो जाता है। विष्णु की कृपा से सब ओर सौमनस्य की स्थापना हो जाती हैं और दोनों का ही जीवन सुखमय हो जाता है। पाठक का कौतूहल और जिज्ञासा यहीं समाप्त हो जाती हैं। किन्तु इस क्रमबद्ध आख्यान में भी सबसे अन्त में एक श्लोक प्राप्त होता है, जो रेशमी वस्त्र में लगे सूती कपड़े के पैबन्द की तरह स्पष्टतः पृथक् प्रतीत हो रहा है—

पितर्युपरतिं नीते नरसिंहस्वरूपिणा।
विष्णुना सोऽपि दैत्यानां मैत्रेयाभूत् पतिस्ततः ॥ १।२०।३२

हिरण्यकशिपु के हृदय-परिवर्तन के पश्चात् नरसिंह-विष्णु द्वारा उसके वध का कोई कारण या औचित्य नहीं है। अतः प्रतीत होता है कि विष्णु पुराण इस सम्बन्ध में एक पृथक् परम्परा का वर्णन करता है जिसमें विष्णु की महत्ता एवं उनकी भक्ति के प्रभाव का कीर्तन ही प्रधान है और नरसिंह का कोई स्थान नहीं। महाभारत आदि में प्राप्त प्राचीन परम्परा के आग्रह पर किसी ने यह श्लोक बाद में प्रक्षिप्त कर दिया है। एक तर्क यह भी हो सकता है कि विष्णु-पुराणकार ने एक लम्बी कथा का पूर्वार्द्ध मात्र वर्णित किया है। इस घटना के बाद में हिरण्यकशिपु के पुनः अत्याचारी हो जाने पर नृसिंह को एक युद्ध में जो उस दैत्य का वध्र करना पड़ा वह महाभारत आदि ने उल्लिखित कथा का उत्तरार्ध इस (अन्तिम) श्लोक से ध्वनित किया गया है। किन्तु स्पष्ट है कि पहली संभावना सत्य के अधिक समीप है। एक बार विष्णु की कृपा को प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति दुबारा उनका शत्रु कैसे बन सकता है? अस्तु।

भागवतकार ने इस कथा का इतना सुन्दर, संश्लिष्ट तथा क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत किया है कि वह अनन्त काल तक विष्णु भक्तों की अमूल्य संपत्ति बनी रहेगी। सप्तम स्कन्ध के प्रथम दस अध्यायों में कथा का विस्तार से वर्णन है, पर उपर्युल्लिखित कोई भी शंका भागवत की कथा में उत्पन्न नहीं होती। प्रह्लाद को सताने तथा अन्त में उसे मारने के लिये खड्ग लेकर उसकी ओर दौड़ते हुए हिरण्यकशिपु को प्रत्येक स्थान में अपनी सत्ता का प्रमाण देने के लिये विष्णु एक स्तम्भ से प्रकट होकर उसका वध करते हैं। विष्णु-विरोधी हिरण्यकशिपु

का पुत्र विष्णुभक्त कैसे होता है, इसका भी समाधान भागवतकार ने यह कहकर दिया है कि हिरण्यकशिपु जब एक बार तपस्या करने के लिये मन्दराचल पर जाता है तो इन्द्र उसकी गर्भवती पत्नी कयाधु का इसलिये हरण कर ले जाता है कि जन्म होने पर उसके पुत्र को मार सके। किन्तु नारद उसे छुड़ाते हैं और अपने आश्रम में रखकर भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य का उपदेश देते हैं। इसी के संस्कार गर्भस्थ बालक प्रह्लाद पर भी पड़ते हैं—

ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादाद् उभयमीश्वरः ।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम् ॥
तत् तु कालस्य दीर्घत्वात् स्त्रीत्वात् मातुस्तिरोदधे ।
ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात् स्मृतिः ॥
भागवत ७।७।१५,१६

बड़े भाई (हिरण्याक्ष) का वध कर देने के कारण विष्णु का घोर शत्रु हिरण्यकशिपु यह नहीं सह सकता। उसके कई बार चेतावनी देने पर भी जब प्रह्लाद विष्णु-भक्ति नहीं छोड़ता तो वह हर प्रकार से उसके विनाश का प्रयत्न करता है—

नदन्तो भैरवान् नादांश्छिन्धि भिन्धीति वादिनः ।
आसीन चाहनञ्छूलैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु ॥
दिग्गजैर्दन्दशूकैश्च अभिचारावपातनैः ।
मायाभिः संनिरोधैश्च गरदानैरभोजनैः ॥
हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि ।
न शशाक यदा हन्तुम्'''' ॥ भागवत ७।५।४०,४३,४४

और उनमें असफल होकर स्वयं उसका वध करने के लिये उद्यत होता है। 'मुझको छोड़ कर संसार का स्वामी और कौन है? यदि वह सर्वत्र है तो इस खम्भे में क्यों नहीं दिखाई पड़ता? ठहर जा, मैं अभी तेरा सिर धड़ से अलग किये देता हूँ। तू जिसकी शरण लेता है वह विष्णु आज आकर तेरी रक्षा करे'[1]। इसके आगे का विवरण भागवतकार के ही शब्दों में देखिये—

---

१. यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः ।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तंभे न दृश्यते ?
सोऽहं विकत्थमानस्य शिरः कायाद् हरामि ते ।
गोपायस्व हरिस्त्वाद्य यस्ते शरणमीप्सितम् । ७।८।१३,१४

एवं दुरुक्तैर्मुहुरर्दयन् रुषा सुतं महाभागवतं महासुरः ।
खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात् स्तम्भं तताडातिबलं स्वमुष्टिना ॥
तदैव तस्मिन् निनदोऽतिभीषणो बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत् ।
यं वै स्वधिष्ण्योपगतं त्वजादयः श्रुत्वा स्वधामाप्ययभंग मेनिरे ॥
सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः ।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तंभे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥
७।८।१५,१६,१८

इसके आगे के सुन्दर श्लोकों (७।८।१९-३९) में नृसिंह के भयानक रूप का ओजस्वी चित्रण तथा उनके द्वारा हिरण्यकशिपु का वध वर्णित किया गया है।

हॉपकिन्स का मत है कि हिरण्यकशिपु शैव धर्म का प्रतीक है और उसका विष्णु से द्वेष, शैव और वैष्णव धर्म के प्राचीन झगड़े का परिचायक है[1]। किन्तु यह बात समीचीन नहीं प्रतीत होती। ज्यों-ज्यों हम भारत के धार्मिक इतिहास में पीछे बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों साम्प्रदायिकता की मात्रा कम होती चली जाती है। महाभारत, जिसमें यह कथा सर्वप्रथम उल्लिखित है, ऐसी भावना से सर्वथा मुक्त है। शिव और विष्णु के ऐकात्म्य को द्योतित करने वाले महाभारत में कम से कम दो सौ उद्धरण हैं। निम्न श्लोकों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है जिनमें कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

नारायणात्मको ज्ञेयः पाण्डवेय युगे युगे।
तस्मिन् हि पूज्यमाने हि देवदेवे महेश्वरे।
संपूजितो भवेत् पार्थ देवो नारायणः प्रभुः ॥
यस्तं वेत्ति स मां वेत्ति योऽनु तं स हि मामनु ॥
रुद्रो नारायणश्चैव सत्यमेकं द्विधा कृतम्। आदि
शान्ति० ३४१।२२,२६,२७।

शैवों और वैष्णवों का द्वेष मध्य-युग की वस्तु है, जब कि दक्षिण में शिव और विष्णु के उपासकों के वर्ग साम्प्रदायिकता से अन्धे होकर परस्पर झगड़ने लगे थे। हिरण्यकशिपु तपस्या से ब्रह्मा को तुष्ट करता है। शिव पूरी कथा में कहीं नहीं आते और भागवत में उन्हें दैत्य के वध के उपरान्त अन्य देवों के साथ नृसिंह की स्तुति करते हुए चित्रित किया गया है। (७।८।४१)।

---

१. एपिक माइथॉलजी, पृ० २११।

प्रह्लाद के विषय में त्रिवेणीप्रसाद सिंह ने एक नितान्त दूरारूढ़ कल्पना की है। उनके अनुसार 'हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद कदाचित् ईरान के पुण्यात्मा शासक 'परधात' अथवा 'पेशदात' थे' जो भारतीय देवशास्त्र में आ गये[1]। परधात ईरान के एक काल्पनिक प्रागैतिहासिक राजा 'हओश्यंग' का विशेषण मात्र है जिसका अर्थ होता है 'अच्छे नगरों का राजा'[2]। परधात का अर्थ है 'प्रथम स्मृतिकार' या कानून बनाने वाला। इस राजा को अवेस्ता में ईरानी राष्ट्र का प्रथम निर्माता बताया गया है तथा ऐसा समझा जाता रहा है कि उसी ने सर्वप्रथम मानवों को अग्नि एवं धातुओं के के प्रयोग से परिचित कराया[3]। पता नहीं प्रह्लाद और परधात में थोड़े से ध्वनि-साम्य के अतिरिक्त उक्त लेखक को और कौन से उभयनिष्ठ तत्त्व मिले जिससे उन्होंने दोनों का यह तादात्म्य स्थापित किया। हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद के शुद्ध भारतीय-कथानक[4] के रहस्य की विस्तृत व्याख्या के लिये यहाँ स्थान नहीं है पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह कथा पूर्णतः प्रतीकात्मक है और हिरण्य की शय्या (कशिपु) रूपी सांसारिक माया को त्यागकर ज्ञानमय परमात्मा (देखिये, विष्णु पु० १।२०।२, शुद्धेऽन्तःकरणे विष्णुः तस्थौ ज्ञानमयोऽच्युतः) की खोज में भटकती हुई नित्य-आनन्द-स्वरूप (प्रह्लाद) आत्मा के प्रयत्नों को ध्वनित करती है। अन्त में ज्ञान से माया का नाश होता है।

विष्णु की अन्य विभूतियाँ एवं उनका विराट्-रूप

महाभारत के समय में ही विष्णु के दस प्रमुख अवतारों की मान्यता प्रतिष्ठित हो चुकी थी। शान्ति पर्व (३३वाँ अध्याय) के दाक्षिणात्य पाठ में (७६ तथा ७७वें श्लोकों के बीच में) विष्णु के इन अवतारों की इस प्रकार परिगणना है—

---

१. **हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ**, पृ० ७७।

२. कारनाय : **ईरानियन् माइथॉलजी**, पृ० २९९ तथा। जुश्ती : **ईरानिशस् नामेनबुख**, पृ० १२६।

३. कारनॉय, **वही**, पृ० २९९ तथा आगे।

४. प्रह्लाद के चरित का विस्तृत विश्लेषण पाउल हाकर कृत—**प्रह्लाद : वेर्डन उन्ट् वान्ड्लुङ् आइनर् इडियाल्गेश्टाल्ट्** (Prahlāda : Werden und Wandlung einer Ideal-Gestalt), भाग १, २, (वीसबाडेन १९६०, नामक जर्मन ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्कीति ते दश ॥

श्लोक के पूर्वार्द्ध में उल्लिखित पाँच अवतारों के बीज किसी न किसी रूप में वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं। कल्कि या कल्की कलियुग के अन्त में धर्म की रक्षा के लिए होने वाला अवतार है। शेष चार महत्त्वपूर्ण, वीर, ऐतिहासिक-व्यक्तियों के नाम हैं जो कालान्तर में अपने महत्त्व तथा अतिमानवीय पराक्रमों के कारण विष्णु के अवतारों में परिगणित कर लिये गये। स्मरणीय है कि रामायण के प्राचीनतम मौलिक भाग में राम को विष्णु का अवतार नहीं अपितु एक पराक्रमी महापुरुष मात्र माना गया है[1]। यही बात महाभारत में कृष्ण के विषय में भी है। बल्कि महाभारत के कृष्ण का चरित तो और भी यथार्थ तथा मानवीय है।

विष्णु-पुराण तृतीय राम (कृष्ण के बड़े भाई बलराम) के स्थान पर गौतम बुद्ध का उल्लेख ('रामो रामश्च बुद्धश्च') करता है और भागवत तो नारद, कपिल, सनत्कुमार, दत्तात्रेय, पृथु, व्यास आदि सभी को विष्णु का अवतार स्वीकार करता है। उसके अनुसार विष्णु के अवतार दो प्रकार के हैं : पूर्णावतार तथा अंशावतार। पूर्णावतार तो मत्स्य, कूर्म आदि (दस मुख्य अवतार) हैं और अंशावतार नारद आदि। 'जिस प्रकार अथाह सरोवर से सहस्रों छोटी छोटी नालियाँ निकलती हैं उसी प्रकार सत्त्वमूर्ति भगवान् विष्णु से भी असंख्य अवतार प्रकट होते हैं—

ऋषयो मुनयो (v. l. मनवो) देवा मनुपुत्रा महौजसः ।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ॥
अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः[2] ॥ १।३।२६,२७

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखिये, म्यूर : ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट्स्, भाग ४, पृ० १५६-५८।
२. तु० की० विष्णु पु० १।८।३४
किं चाति बहुनोक्तेन संक्षेपेणेदमुच्यते ।
देव तिर्यङ्मनुष्यादौ पुन्नाम्ना भगवान् हरिः ॥
तथा ३।१।४६

गीता में भगवान् ने अर्जुन से अपनी अनेक विभूतियों का उल्लेख किया है और कहा है कि वे वस्तुतः अनन्त और असंख्येय हैं, '**नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे**' (१०।१९)। बाद में वे कहते हैं कि जो भी कुछ संसार में ऐश्वर्य, कान्ति तथा शक्ति से युक्त दिखाई देता है वह सब मेरे ही अंश से उत्पन्न है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत् तदेवागच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ १०।४१

मत्स्य पुराण भी इसी प्रकार नारायण की अनन्त मूर्तियों का उल्लेख करता है—

अव्यक्तो व्यक्तलिंगस्थो स एष भगवान् प्रभुः ।
नारायणो ह्यनन्तात्मा प्रभवोऽव्यय एव च ॥ (१७१।३)

और सम्पूर्ण देवताओं को विष्णु के ही विभिन्न अंश घोषित करता है (१७१।४-६)।

विष्णु-पुराण इतने से सन्तुष्ट नहीं होता, वह कहता है कि जो कुछ भी संसार में दिखाई या सुनाई पड़ता है उसके अन्दर और बाहर सब ओर नारायण ही व्याप्त हैं—

यच्च किंचिद् जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥

इसमें सन्देह नहीं कि सम्पूर्ण संसार के व्यापक तत्त्व के रूप में विष्णु की प्रतिष्ठा का निर्माण करने में उनके नाम की व्युत्पत्ति का बहुत बड़ा हाथ है[1], पर विष्णु की विविधरूपों को धारण करने की क्षमता का उल्लेख ऋग्वेद में भी है जिससे प्रतीत होता है कि विष्णु की बहुरूपता की कल्पना अत्यन्त प्राचीन है। एक कवि विष्णु से कहता है कि तुम अपना यह (दूसरा) रूप हमसे मत छिपाओ क्योंकि तुमने सग्राम में एक अन्य रूप धारण किया था—

मा वर्पो अस्मद् अप गूह एतद् यदन्यरूपः समिथे बभूव ॥

ऋ० ७।१००।६

---

१. **यस्माद् विष्टमिदं विश्वं तस्य शक्त्या महात्मनः ।**
तस्मात् स प्रोच्यते विष्णुः विशेर्धातोः प्रवेशनात् ॥

विष्णु पु० ३.२।४५

विष्णु की इस विविधरूपता तथा संसार की प्रत्येक वस्तु को व्यापन करने की क्षमता ने आगे चलकर उनके 'विश्वरूपत्व' की कल्पना को जन्म दिया। विष्णु पुराण का कथन है कि जो भी कुछ संसार में उत्पन्न होता है और होगा वह सब विष्णु का ही अंश है—

यत्किञ्चित् सृज्यते येन सत्त्वजातेन वै द्विज।
तस्य सृज्यस्य सम्भूतौ तत्सर्वं वै हरेस्तनुः॥
अतीता वर्तमानाश्च ये भविष्यन्ति चापरे।
ते सर्वे सर्वभूतस्य विष्णोरंशसमुद्भवाः॥ १।२२।३८,२०

जगत् की प्रत्येक वस्तु को विष्णु का ही अंश माने जाने के कारण विष्णु की एक विराट् रूप में कल्पना की गई है। सम्पूर्ण जगत् को प्रतीकात्मक रूप से पुरुषाकार माना गया और इस पुरुष को विराट्-पुरुष विष्णु बताया गया है। महाभारत में ही विष्णु के ऐसे विराट् रूप का पाँच स्थानों पर वर्णन है। वन पर्व (अ० १८९) में मार्कण्डेय ऋषि शिशु-रूप में वट-पर सोते हुए विष्णु के उदर में जाकर सम्पूर्ण विश्व के दर्शन करते हैं। बाद में विष्णु ऋषि से कहते हैं कि 'अग्नि मेरा मुख है, पृथ्वी चरण हैं चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, द्युलोक मस्तक है, आकाश और दिशाएँ श्रोत्र हैं' आदि। उद्योग पर्व (अ० १३१) में दुर्योधन द्वारा अपने को बन्दी बना लेने का उद्योग करते हुए देख कर कृष्ण उसे अपना सर्वदेवमय रूप दिखाते हैं। इसी प्रकार अपने भक्त नारद और उत्तंक पर कृपा करने के लिये भी (क्रमशः शान्ति० ३३९ तथा आश्व ५५) में वे अपना विश्व-रूप दिखाते हैं। पर संभवतः गीता के ११वें अध्याय (भीष्मपर्व, ३५वाँ अध्याय) में कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिखाया गया विश्वरूप चित्रात्मक वर्णन की दृष्टि से अद्वितीय है। जगत् की सम्पूर्ण वस्तुओं को अर्जुन उन आश्चर्यमय, अनन्त तथा विश्वतोमुख कृष्ण के विश्वरूप में देखता है—

सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्....
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ ११।११,१३

उनके इस रूप को अनेकवक्त्रनयनं' या 'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं कहा गया है। ऋग्वेद के पुरुष को भी 'सहस्रशीर्षा' 'सहस्राक्ष' तथा 'सहस्रपात्' कहा गया है (१०।९०।१) और इस पुरुष तथा परवर्ती विष्णु की धारणा नारायण शब्द की शृंखला द्वारा जुड़ी हुई है।

श्रीमद्‌भागवत् में विष्णु के इस विराट् रूप का स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है। जगत् के दृश्यमान, अदृश्यमान, स्थूल, सूक्ष्म रूप तथा दैवी शक्तियाँ सब उसी विराट् पुरुष के अंग प्रत्यंग हैं। द्वितीय स्कंध के प्रथम अध्याय में भगवान् के विश्वरूप का अपेक्षाकृत संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट और सारगर्भित वर्णन मिलता है—

> पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णि प्रपदे रसालम्।
> महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जंघे॥
> इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः।
> नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः॥
> छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि।
> हासो जनोन्मादकरी च माया दुरन्तसर्गो यदपांगमोक्षः॥
> व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो धर्मः स्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठः
> कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसंघाः॥ आदि
> २।१।२६,२९,३१,३२

विष्णु एवं इन्द्र का सम्बन्ध

विष्णु की एक उल्लेखनीय वैदिक विशेषता इन्द्र के साथ उनका सम्बन्ध है। ये दोनों देवता ऋग्वेद में परस्पर घनिष्ठतया सम्बद्ध हैं। कई मंत्रों में दोनों की साथ-साथ स्तुति की गई है। **'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः'** आदि कुछ वाक्यांश इन्द्र तथा विष्णु दोनों के लिये प्रयुक्त हुए हैं (इन्द्र १०।१८०।२, विष्णु १।१५४।२); **'उरुक्रमिष्ट जीवसे'** भी दोनों के लिये आया है (ऋ० १।१५५।४ तथा ८।६३।९)। ऋ० ६।६९।५ में दोनों देवों को 'मनुष्यों के जीवन के हेतु स्थान बनाने के लिये' अन्तरिक्ष एवं लोकों को विस्तृत करते हुए वर्णित किया गया है। इसी सूक्त की प्रथम, तृतीय तथा षष्ठ ऋचा में धन के लिये दोनों की साथ-साथ स्तुति की गई है।

ऋग्वेद में विष्णु, इन्द्र के प्रमुख सहायक के रूप में (विशेषतः वृत्रवध में) हमारे सामने आते हैं। वे इन्द्र के समीचीन तथा सदा साथ रहने वाले मित्र हैं, **'इन्द्रस्य युज्यः सखा'** (१।२२।१९)। यद्यपि निर्विवाद रूप से ऋग्वैदिक इन्द्र विष्णु की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हैं तो भी कहीं कहीं तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि इन्द्र की विजय का प्रमुख श्रेय विष्णु को ही है। उदाहरणार्थ ऋ० ८।१२।२७ में विष्णु का अपने ओज से तीन बार पदक्रम करने का उल्लेख

है और ८।१००।१२ में इन्द्र विष्णु के पास जाकर अपने पदक्रमों का विस्तार करने के लिये कहते हैं जिससे दोनों मिलकर वृत्र का विनाश कर सकें और आकाशीय नदियाँ अवरोधमुक्त हो जायें—

सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व द्यौर्देहि लोकं वज्राय विष्कभे ।
हनाव वृत्रं रिणचाव सिन्धून् इन्द्रस्य यन्तु प्रसवे विसृष्टाः ॥

इसी प्रकार ऋ० ४।१८।११ में वृत्रवध के लिये उद्यत इन्द्र विष्णु से यही प्रार्थना करता है—

अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन् सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व ।

दोनों ऋचाओं में आया हुआ 'सखे' संबोधन ध्यान देने योग्य है। **बृहद्देवता** इस संबन्ध में एक छोटे से आख्यान का उल्लेख करता है—

त्रीन् लोकान् अभिवृत्यैतान् वृत्रस्तस्थौ स्वया त्विषा ।
नाशकद् हन्तुमिन्द्रोऽपि विष्णुमभ्येत्य सोऽब्रवीत् ।
वृत्रं हनिष्ये तिष्ठस्व विक्रमस्य ममान्तिकम् ।
उद्यतस्य तु वज्रस्य द्यौर्ददातु ममान्तरम् ।
तथेति विष्णुस्तच्चक्रे.... ॥

बृहद्देवता । ६।१२१,२२,२३ ।

नीतिमंजरीकार ने इस कथा से यह 'नीति' ग्रहण की है (श्लो॰ १३४)—

महद्भिः यन्महत्कर्म कार्यं नैव स्वतंत्रतः ।
ययाचे बलिनं विष्णुं वृत्रं हन्तुं हि वृत्रहा ॥

तै॰ सं॰ २।४।१२।३ तथा ६।५।१।४ में वृत्र के सम्बन्ध में कहा गया है जब उसने तीनों लोकों को आवृत कर लिया तो इन्द्र और त्वष्टा दोनों उससे घबरा गये। तब इन्द्र ने विष्णु से सहायता के लिये कहा। विष्णु ने उसकी वृद्धि को रोकने के लिये अपने तृतीयांश को क्रमशः पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में स्थापित किया (त्रेधा आत्मानं विन्यधत्त) और विष्णु की सहायता पाकर (अनु-स्थित) उसने वज्र से वृत्र को मार डाला—

....स विष्वङ् अवर्धत । स इमान् लोकान् अवृणोत्
यदवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् । तस्मादिन्द्रोऽबिभेदपि त्वष्टा ।

....र्तार्हि विष्णुरन्या देवता आसीत् । सः अब्रवीद् विष्णवेहीदमा हरिष्यावो येनायमिदम् । स विष्णुस्त्रेधा आत्मनं विन्यधत्त....तेन इन्द्रो वज्रमुदयच्छद् विष्णवनुस्थितः । तै० सं० २।४।१२।३

श ब्रा० ५।५।५।२, पंचविंश ब्रा० २०।१५।६ तथा ऐतेरेय (३।५।६) और जैमिनीय ब्राह्मणों में भी विष्णु को असुरों के वध में सहायक बताया गया है। 'विष्णु की शक्ति से इन्द्र ने कई पराक्रम के कार्य किये' (**विष्णोः स्थाम्ना इत् इन्द्रो वीर्य मकृणोत्**, काठक सं० १।१२; तु० की०—तै० सं० १।१।१३, श० ब्रा० १।४।५।३ आदि) ।

इन्हीं वैदिक संकेतों के आधार पर महाभारत, वन० १०१।६, में कहा गया है कि वृत्र वध के लिये इन्द्र ने विष्णु की स्तुति की और तब विष्णु ने उनको (अपने) तेज तथा बल से युक्त किया। इस ग्रंथ में ऐसे अनेक स्थल हैं (उदा० आदि० ६५।१,८४।६, भीष्म० ५०।४२, ५९।८०, द्रोण० ५२।३४, ८१।२५ तथा शान्ति० ६४।१३) जहाँ विष्णु को इन्द्र की सहायता करते हुए या युद्ध में उनके साथ लड़ते हुए चित्रित किया गया है। इन्द्र के अवतार अर्जुन और विष्णु के अवतार कृष्ण का सौहार्द तथा घनिष्ठ मैत्री प्रसिद्ध ही है। वन० १४२।२२ में नरकासुर से त्रस्त और भयभीत इन्द्र विष्णु की स्तुति करते हैं और विष्णु संसार के कल्याण के लिये नरक का वध करते है। स्पष्ट है कि इस युग में आकर इन्द्र की अपेक्षा विष्णु का महत्त्व कहीं अधिक बढ़ गया है। अब वे इन्द्र के साधारण सखा नहीं है अपितु एक ऐसे सर्वशक्तिशाली परमेश्वर हैं जिनकी कृपा की अपेक्षा इन्द्र आदि सभी देवों को होती है।

महाभारत, उद्योग० १०।१२ में कहा गया है कि वृत्रवध के लिये विष्णु स्वतः इन्द्र के वज्र में प्रविष्ट हुए। शान्ति० ३४२।४१ में भी दधीचि की अस्थियों से निर्मित और विष्णु से प्रविष्ट वज्र द्वारा इन्द्र त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मारते हैं—

...तान्यस्थीनि धाता संगृह्य वज्रमकरोत् तेन वज्रेण अभेद्येन अप्रधृष्येण...विष्णुप्रविष्टेन इन्द्रो विश्वरूपं जघान... ।

इसका मूल संभवतः ऐ० ब्रा० १।४।८ में है जिसमें कहा गया है कि देवों ने असुरों के विनाश के लिये उपसद रूपी जो बाण बनाया उसकी नोक (अनीक) अग्नि थी, फाल (शल्य) सोम था और छड़ (तेजन) विष्णु—

इषुं वा एतां देवाः समस्कुर्वत यदुपसदस्तस्या अग्निरनीकमासीत् सोमः शल्यो विष्णुस्तेजनम् ।

श० ब्रा० (३।४।४।१४) कहता है कि अग्नि, सोम तथा विष्णु को संतुष्ट करके मनुष्य एक शत्रुघाती वज्र का निर्माण करता है। विष्णु ऐसे वज्र के 'कुल्मल' (कुल्मलं तत्पुच्छभागः, सायण) हैं। **महाभारत (द्रोण २०२।७७)** तथा **मत्स्य पु०** (१३३।४१) में भी त्रिपुरदाह के अवसर पर विष्णु शिव के बाण बनते हैं (तेजसः समवायोऽथ चेषोस्तेजो रथांगधृक्)। **शांखायन श्रौ० सू०** ६।१।३।५ तथा **आश्वलायन गृह्य-सूत्र** १।२४।८ में विष्णु के भौतिक प्रतीक सूर्य को विभिन्न प्रकार की विद्युतों (वज्र) में सर्वोत्कृष्ट कहा गया है और इन्द्र तो 'स्तनयित्नु' है ही (**स्तनयित्नुरेवेन्द्रः, श० ब्रा०** ११।६।३।६)।

पुराणों तथा महाकाव्यों में इन्द्र पर जब भी कोई विपत्ति पड़ती है तो वे विष्णु के पास दौड़ते हैं। बलि के द्वारा उसका राज्य छीन लिये जाने पर वे अदिति के गर्भ से उसके छोटे भाई (उपेन्द्र)[1] के रूप में जन्म लेकर संकट दूर करते हैं। **मत्स्य पुराण** (४८वाँ अध्याय, ६७-१०१) में वे इन्द्र की रक्षा के लिये भृगु पत्नी का सिर तक काट डालते हैं और ऋषि का शाप ग्रहण करते हैं (देखिये, **रामायण उत्तर०** ५१।१२-१६)। अमृत मंथन के उपरान्त होने वाले देवासुर संग्राम में भी वे इन्द्र पक्ष की सहायता करते हैं (**श्रीमद्भागवत**, स्कन्ध ८, अ० १०)। यहाँ विष्णु का देवाधिदेव या परब्रह्म के रूप में नहीं अपितु इन्द्र के सहायक एक शक्तिशाली देवता के रूप में चित्रण किया गया है।

लगता है इन्द्र की कुछ प्राचीन वैदिक विशेषताएँ भी विष्णु ने आत्मसात् कर ली हैं। उदाहरणार्थ **ऋ०** १०।६७।६ तथा अन्य कई स्थानों में इन्द्र को वल दैत्य द्वारा एक गुफा में अवरुद्ध गायों को मुक्त करते हुए वर्णित किया गया है। **तै० सं०** २।१।५।१ में भी इन्द्र वल के विल (गुफा) को खोलकर सहस्रों पशुओं को बाहर निकालते हैं (**इन्द्रो वलस्य विलमपौर्णोत् स य उत्तमः पशुरासीत् तं पृष्ठं प्रति संगृह्य उदक्खिदत् तं सहस्रं पशवोऽनूदायन्**)। **पञ्चविंश ब्राह्मण**

---

१. इन्द्र के साथ रहने और उसके सहायक होने (उप + इन्द्र) के कारण 'उपेन्द्र' शब्द विष्णु का सामान्य विशेषण है किन्तु भागवत २।४।३० में यह एक स्वतन्त्र देवता के रूप में वैकारिक अहंकार से उत्पन्न दस सात्त्विक देवताओं में परिगणित है।

(१९।७) में कहा गया है कि वल की गुफा एक विशाल प्रस्तर-शिला से ढकी हुई थी। ठीक इसी प्रकार **श्रीमद्भागवत** (१०।३७।२५-३४) में भी मय दानव का पुत्र **व्योमासुर** वन में खेलते हुए गोप-बालकों को चुपके से ले भागता है और जाकर गुफा में छिपाकर शिला से उसका मुँह ढक देता है। बाद में कृष्ण उसका वध करके गोपों का उद्धार करते हैं[1]।

मत्स्य पुराण (१६६।५२) में विष्णु मार्कण्डेय से कहते हैं कि मैं ही इन्द्र-पद पर प्रतिष्ठित शक्र हूँ, **अहमिन्द्रपदे शक्रः**। **बृहद्देवता** का कथन है कि सूर्य अपनी रश्मियों से जल को अन्तरिक्ष में ले जाकर बरसा देता है इसलिये उसी की संज्ञा इन्द्र है—

रसान् रश्मिभिरादाय वायुनायं गतः सह।
वर्षत्येव च यल्लोके तेनेन्द्र इति स स्मृतः॥

पुराणादिकों में विष्णु मुख्य रूप से जगत् के रक्षक तथा पालक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश ब्रह्मा और शिव से सम्बन्धित हैं। विष्णु के इस पालकरूप के बीज ऋग्वेद में ही प्राप्य हैं जहाँ कहा गया है कि विष्णु ने विपत्ति में पड़े व्यक्तियों के कल्याण के लिये विक्रमण किया—

यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद् विष्णुर्मनवे बाधिताय।
तस्य ते शर्मन् उपदद्यमाने राया मदेम तन्वा३ तना च॥
ऋ० वे० ६।४९।१३

वैदिक युग में प्रजापति या ब्रह्मा जैसे किसी देवता की उपस्थिति न रहने के कारण उस समय विष्णु का प्रजा की सृष्टि में भी कुछ अधिकार रहा प्रतीत होता है। ७।३६।९ में उनसे गर्भस्थ बालक की रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। सूक्त १०।१८४ की प्रथम ऋचा को **सर्वानुक्रमणी** में **गर्भार्थाशीः** कहा गया है। इसमें विष्णु से गर्भ धारण में सहायक होने की प्रार्थना की गई है। यह मंत्र अथर्व० ५।२५।५ में भी आया है और बृ० उ० ६।४।२१, **मानव गृ० सू०** २।१८।२, **कौषीतकि श्रौ० सू०** ३।५।५ तथा **आश्वलायन गृ० सू०**

---

१. विष्णु द्वारा इन्द्र की विशेषताओं को आत्मसात् करने के विषय में विस्तार के लिये देखिये—वी० वी० दीक्षित : **रिलेशन आफ एपिक्स् विद् ब्राह्मण-लिटरेचर**, (ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना)।

१।१४।३ में इस ऋचा को वन्ध्या स्त्री के लिये पुत्र-प्राप्ति में विनियुक्त किया गया है।

विष्णु एवं पशु

प्राचीन भारतीय जीवन में ग्राम्य पशु किसी भी मनुष्य की संपत्ति के महत्त्वपूर्ण अंग थे। अतः पशुओं का विष्णु से सम्बन्ध बहुत स्वाभाविक है। अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में ही इसके संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद में **'शिपिविष्ट'** विष्णु का एक सामान्य विशेषण है (देखिये ७।१००।५)। **तै० सं०** २।५।५।२ में कहा है कि 'शिपि' पशुओं को कहते हैं। यज्ञ पशुओं में 'विष्ट' (पर आधारित) है अतः वह शिपिविष्ट है, और विष्णु ही यज्ञ है। **पंचविंश ब्रा०** का कथन है—**एषा वै प्रजापतेः पशुष्ठा तनूः यच्छिपिविष्टः** (१८।६।२६)। **मैत्रायणी सं०** १।११।९ तथा **काठक सं०** १४।१० में भी शिपिविष्ट की ऐसी व्याख्याएँ दी हुई हैं। **तै० ब्रा०** २०।३।२ में कहा गया है कि एक बार पशु मनुष्यों के पास से चले गये। इन्द्र, अग्नि, प्रजापति और विश्वेदेवाः उनको लाने में असमर्थ रहे। किन्तु विष्णु ने एक विशेष यज्ञिय कृत्य से उन्हें प्राप्त किया। **गोविन्द** (गाः विन्दति) शब्द विष्णु के लिये **बौधायन ध० सू०** २।९।१० में आया है; बाद में यह कृष्ण का एक महत्त्वपूर्ण विशेषण बन गया। महाभारत के **विष्णुसहस्रनाम** (अनु०, १४९) में विष्णु के 'गोहित' 'गोपति' तथा 'गोविदां पति' आदि विशेषण प्राप्त होते हैं।

गायों के साथ विष्णु के इस विशिष्ट संबन्ध की व्याख्या एक अन्य प्रकार से भी सन्तोषजनक रूप से की जा सकती है। **गो** शब्द किरणों का भी वाची है और नैघण्टुक में यह किरणों के पर्यायवाची शब्दों में परिगणित हुआ है। गमनशील अथवा सर्वत्र प्रसरणशील होने के कारण किरणें **गौः** हैं। सूर्य के आधिदैविक रूप विष्णु उनके (किरणों के) स्वामी होने के कारण 'गोपति' हैं। **ऋ० वे०** १।१५४।६ में विष्णु के लोक में ऐसी 'तेज़ चलने वाली' तथा 'भूरिशृंगा' गायों का स्पष्ट उल्लेख है (**ता वां वास्तूनि उश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः**) जिनसे संभवतः कवि का तात्पर्य किरणों से ही है[1]। किन्तु बाद में चलकर ये चलकर ये बीज विष्णु के 'गोलोक' की कल्पना के रूप

---

१. रोठ के अनुसार ये गायें तारे हैं और मैक्डॉनल ने इन्हें छोटे-छोटे मेघखंडों का वाची माना है, वै० मा०, पृ० ३८।

में विकसित हुए हैं जिसका वर्णन **गोपापूर्वतापनीयोपनिषद्** १।१०-१२ में इस प्रकार किया गया है—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ।।
गोपगोपीगवातीतं सुरद्रुमतलाश्रितम् ।
कालिन्दीजलकल्लोलसंगिमारुतसेवितम् ।। आदि

विष्णु की आकृति एवं वेशभूषा

ऋग्वेद में विष्णु की शारीरिक विशेषताओं का उल्लेख नगण्य है। उन्हें केवल 'युवा-कुमार' कहा गया है। मानवीकरण के अत्यधिक अपूर्ण होने के कारण उनकी आकृति के विषय में कोई निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती। किन्तु महाकाव्यों तथा पुराणों में विष्णु के एक-एक अंग का ऐसा सुन्दर तथा सूक्ष्म चित्रण किया गया है कि उनकी मनोहर मूर्ति एवं मोहक छवि स्थायी रूप से हृत्पटल पर अंकित हो जाती है। ऐसे युग में जिसमें विष्णु के विग्रह की अर्चना एवं उनके सूक्ष्म ध्यान से संवलित मानसी-पूजा आदि धार्मिक कृत्य अधिकाधिक लोकप्रिय होते जा रहे थे, यह अत्यन्त आवश्यक भी था। **श्रीमद्भागवत** में विष्णु के स्वरूप के कई मनोरम वर्णन प्राप्त होते हैं। उनका शरीर मरकत-मणि के समान श्याम-वर्ण और कोमल हैं। चार भुजाएँ हैं जिनमें वे क्रमशः शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये रहते हैं। उनका परिधान पीत-वर्ण का कौशेय वस्त्र है। घुँघराले बाल हैं जो स्वर्ण किरीट से ढके रहते हैं। गले में वे वनमाला धारण किये रहते हैं और शरीर में विविध रत्न तथा आभूषण। वक्षःस्थल में वे कौतुभ मणि धारण करते हैं और वहाँ लक्ष्मी का स्थायी निवास है। उनका मुख अत्यन्त सुन्दर, सौम्य तथा प्रसन्न रहता है। वे शेषनाग के ऊपर लेटे रहते हैं और उनकी पत्नी लक्ष्मी उनके चरण दबाया करती हैं, आदि—

मृणालगौरायतशेषभोगपर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम् ।
फणातपत्रायुतमूर्धरत्नद्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये ।।
प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः संध्याभ्रनीवेरुरुरुक्ममूर्ध्नः ।
रत्नोदधारौषधिसौमनस्य वनस्रजो वेणुभुजांघ्रिपांघ्रेः ।।
विचित्रदिव्याभरणांशुकानां कृतश्रियापाश्रितवेषदेहम् ।
मुखेन लोलार्तिहरस्मितेन परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेन ।

शोणायितेनाधरबिम्बभासा प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्र्वा ॥
कदम्बकिंजल्कपिशंगभासा स्वलंकृतं मेखलया नितम्बे ।
हारेण चानन्तधनेन वत्स श्रीवत्सवक्षःस्थलवल्लभेन ॥

भाग० ३।८।२३।२५,२७,२८

भागवत ३।१५।३९-४१ तथा अन्य स्थानों पर भी ऐसे सुन्दर एवं काव्यात्मक वर्णन प्राप्त होते हैं। मत्स्य० १७१।२०-२४ में वर्णित विष्णु के रूप में उनके नीलवर्ण के शरीर, पीताम्बर, स्वर्णभूषण, किरीट, आयुध तथा तेज का विशेष रूप से वर्णन किया गया है—

वपुः स्वं दर्शयामास दिव्यं कृष्णवपुर्हरिः ....
बलाहकाञ्जननिभं बलाहकतनूरुहम् ॥
तेजसा वपुषा चैव कृष्णं कृष्णमिवाचलम् ॥
दीप्तपीताम्बरधरं तप्तकाञ्चनभूषणम् ।
धूमान्धकारवपुषं युगान्ताग्निमिवोत्थितम् ॥
चतुर्द्विगुणपीनांसकिरीटच्छन्नमूर्धजम् ।
बभौ चामीकरप्रख्यैरायुधैरुपशोभितम् ॥
चन्द्रार्ककिरणोद्योतं गिरिकूटमिवोच्छ्रितम् ।
नन्दकानन्दितकरं शराशीविषधारिणम् ।

मत्स्य० १७१।२०-२४

विष्णु का परमपद

ऋग्वेद में विष्णु के 'परमपद' या सर्वोच्च निवास-स्थान का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। यह परम-पद आकाश में चक्षु की भाँति स्थित है और केवल ज्ञानी व्यक्ति ही इसे देख सकते हैं—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ऋ० वे० १।२२।२०

वहाँ पर देवता तथा देवों में श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति प्रसन्नता-पूर्वक विचरण करते हैं—

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।

ऋ० वे० १।१५४।५

विष्णु का यह स्थान नीचे से अत्यन्त भासमान दिखाई देता है और यहाँ पर बड़े-बड़े सींगों वाली गायें (किरणें) विचरण करती रहती हैं—

यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः....परमं पदमवभाति भूरि। १।१५४।६

उनके इस स्थान में अमृत का निवास है और विष्णु इसकी रक्षा किया करते हैं—

विष्णुर्गोपा परमं पाति पाथः प्रिया धामान्यमृता दधानः ॥ ३।५५।१०

विष्णु का यह धाम अग्नि के तृतीय स्थान (आकाश) में है। अग्नि का तीसरा रूप सूर्य है और उसका स्थान है आकाश, अतः विष्णु का उससे सम्बन्ध स्वाभाविक ही है। ऋ० १०।१।३ में कहा गया है कि 'गोपा' (ग्वाले, रक्षक) विष्णु इसकी रक्षा करते हैं—

विष्णुरित्था परममस्य विद्वान् जातो बृहन्नभि पाति तृतीयम्।

विष्णु के इस परम पद अथवा तृतीय पद (चरण) का वैदिक ऋषियों की दृष्टि में जो भी तात्पर्य रहा हो, पुराणकारों ने इसे ध्रुवलोक माना है। **वायु पुराण** (५०।२२२-२३) में कहा गया है कि सप्तर्षिमण्डल के ऊपर ध्रुवलोक तथा विष्णु-पद है, वहाँ जाने पर कोई चिन्ता नहीं सताती। एक ही स्थान पर स्थिर रहने के कारण और परमपुण्यशाली सप्तर्षिमण्डल द्वारा परिक्रमा किये जाने के कारण इस स्थान (ध्रुवमण्डल) का प्राचीन विद्वानों की दृष्टि में विशेष महत्त्व था। ध्रुव का अर्थ है स्थिर और इस तारे के स्थिर रहने के कारण ही यह नाम पड़ा है। किन्तु भागवत में इस नाम के एक तेजस्वी भगवद्भक्त बालक के निवास स्थान के कारण इसे ऐसा बताया गया है। तपस्या द्वारा विष्णु का साक्षात्कार कर लेने पर ध्रुव को विष्णु के पार्षद इसी विष्णु-पद में ले जाते हैं। ज्योतिश्चक्र (सप्तर्षिमण्डल) इस पद के चारों ओर उसी प्रकार घूमता है जैसे खूँटे में बँधे बैल उसके चारों ओर—

गंभीरवेगोऽनिमिषं ज्योतिषां चक्रमाहितम्।
यस्मिन् भ्रमति कौरव्य मेढ्यामिव गवां गणः ॥ ४।१२।३९

भाग० ५।२२।१७ में कहा गया है कि उत्तर दिशा में सप्त ऋषि प्राणिमात्र की हित कामना करते हुए विष्णु के परमपद की प्रदक्षिणा करते हैं, **'उत्तरस्माद्....ऋषय...लोकानां शमनुभावयतो भगवतो विष्णोर्यत्परमं पदं प्रदक्षिण प्रक्रमन्ति।'**

विष्णु के पार्षद इस लोक का वर्णन इन शब्दों में करते हैं—

सुदुर्जयं विष्णुपदं जितं त्वया यत्सूरयोऽप्राप्य विचक्षते परम् ।
आतिष्ठ तच्चन्द्रदिवाकरादयो ग्रहर्क्षतारा परियन्ति दक्षिणम् ॥
यन्नाव्रजन् जन्तुषु येऽननुग्रहा व्रजन्ति भद्राणि चरन्ति येऽनिशम् ॥
अनास्थितं ते पितृभिरन्यैरप्यङ्ग कर्हिचित् ।
आतिष्ठ जगतां वन्द्यं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

भाग० ४।१२।२५,३६,२६

केवल शान्त, समदर्शी, शुद्ध, प्राणियों पर दया करने वाले तथा विष्णु के प्रिय ही यहाँ स्थान पाते हैं—

शान्ताः समदृशाः शुद्धाः सर्वभूतानुरंजनाः ।
यान्त्यंजसाच्युतपदमच्युतप्रियबान्धवाः ॥ ४।१२।३७

विष्णुपुराण में 'परम-पद' शब्द निवास-स्थान के अर्थ में नहीं अपितु परम-स्वरूप या मूल स्वरूप के ही अर्थ में लेखक ने सदा प्रयुक्त किया है। विष्णु का परम पद (परमस्वरूप) प्रधान (प्रकृति), पुरुष, व्यक्ति तथा काल इन चारों से परे कोई अनिर्वचनीय तत्त्व है जिसे केवल विद्वान् ही जान सकते हैं—

प्रधानपुरुषव्यक्तकालानां परमं हि यत् ।
पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद्विष्णोः परमं परम् ॥ १।२।१६

१।९।५३, ५४ में कहा गया है कि जिसके दस-करोड़वें भाग से यह सारा विश्व उत्पन्न होता है, जो अव्यय तथा परब्रह्म स्वरूप है और जिसका ज्ञान योगिजन पुण्यों तथा पापों के क्षय के उपरान्त ओंकार से चिन्तन करके प्राप्त करते हैं, वही विष्णु का परमपद (परस्वरूप) है—

यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता ।
परब्रह्मस्वरूपं यत्प्रणमामस्तमव्ययम् ॥
यद्योगिनः सदोद्युक्ताः पुण्यपापक्षयेऽक्षयम् ।
पश्यन्ति प्रणवेऽचिन्त्यं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १।९।५३,५४

विष्णु का आवास

पुराणों में विष्णु के निवास स्थान को क्षीर-सागर में अवस्थित बताया गया है। इसी क्षीर-समुद्र के अन्दर उनका प्रिय वैकुण्ठ लोक है जहाँ वे शेषनाग पर

शयन किया करते हैं। जैसा कि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है, विष्णु का यह स्थान प्रकाश से घनिष्ठतया संबन्धित है और सूर्य से विष्णु के सम्बन्ध के कारण यह स्वाभाविक भी है। दूध का यह समुद्र ऋग्वेद में वर्णित 'प्रकाश के समुद्र' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सूर्य के आकाश में उदित होते ही अन्तरिक्ष में दूधिया किरणों का जो जाल सा बिछ जाता है वही संभवतः क्षीर-समुद्र है और उसी के पीछे (अन्दर) विष्णु का निवास स्थान है। विष्णु की सलाह से इसी क्षीरसमुद्र को मथकर देवों ने अमृत निकाला था, (भाग० ८।६, महा० आदि० १७।१२)। वायु पुराण विष्णु के समुद्र को 'अमृतोदधि' कहता है (९७।२२)। विष्णु के स्थान का मधु या अमृत से विशेष सम्बन्ध ऊपर उल्लिखित किया जा चुका है। ऋ० १।१५४।४ में विष्णु के तीनों पद अक्षय मधु से पूर्ण कहे गये हैं (**यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि अक्षीयमाणा....**) और उनके परमपद में तो मधु का एक स्रोत ही है (**विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः**, ५वीं ऋचा)। इस तृतीय धाम में देवता 'अमृत का भक्षण करते हुए' ('**अमृतमानशानाः**', जिसका मूल भाव है 'अमरता को व्याप्त करते हुए' या 'अमर होकर') निवास करते हैं (**यत्र देवाः अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त**, वाज० सं० ३२।१०)। गोभिल गृ० सू० ४।१०।१५ तथा सामविधान ब्रा० (२।८।१२) में मधुपर्क को विष्णुपत्नी लक्ष्मी का भक्ष्य तथा यश और महत्त्व प्रदान करने वाला कहा गया है। आप० श्रौ० सू० १२।१८।८ तथा मानव श्रौ० सू० २।३।६।१५ में विष्णु को मधुच्यवनकारी निर्झरों से सम्बन्धित वर्णित किया गया है। महा० के विष्णुसहस्रनाम (अनु० १४९।३१) में विष्णु के 'मधु' तथा 'माधव' विशेषण भी आये हैं। समुद्र से विष्णु के सबन्ध होने का कारण उनका नारायण से तादात्म्य भी है। प्राचीन वैदिक कल्पना के अनुसार नारायण सृष्टि के प्रारंभिक जल में उत्पन्न जगत् के आदि व्यक्त-कारण थे और, जैसा कि पहले ही कहा चुका है (पृ० ३४६), नारायण शब्द पर-वैदिक युग में विष्णु का विशेषण बन गया था।

विष्णु की प्रिया : लक्ष्मी

विष्णु के प्रसंग में उनसे संबन्धित दो मुख्य देवता लक्ष्मी और गरुड पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। देवता के रूप में लक्ष्मी या श्रीः का उल्लेख प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में नहीं है। केवल वा० सं० ३१।२२ में श्रीः तथा लक्ष्मी को आदित्य की पत्नियाँ कहा गया है (**श्रीश्च लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ अहोरात्रे पार्श्वे....**आदि) किन्तु यहाँ मानवीकरण अत्यधिक अपूर्ण है। ऋग्वेद

में 'लक्ष्मी' शब्द केवल एक स्थान पर (१०।७१।२) आया है जहाँ इसका अर्थ संभवतः वाक्सौष्ठव या भाग्य है (**भद्रा एषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि**)। हाँ 'श्री' शब्द अवश्य भाग्य, धन, ऐश्वर्य, शोभा, श्रेष्ठता, समृद्धि आदि का वाची है ; उदाहरण के लिये ऋग्वेद १।१८८।८ '**ता नश्चोदयत श्रिये**' (कल्याण), १०।४५।५ '**श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्**' (विभूति, सायण), ६।४८।१६ '**समो देवैरुत श्रिया**' (संपत्ति) १।१३६।३, '**युर्वोविश्वा अधि श्रियः**' (समृद्धि) तथा ६।६४।४ '**श्रिये जातः श्रिय आ निरियाय**', '**श्रियं वसानाः**' (मंगल) आदि मंत्रों में श्री शब्द के इन अर्थों की अभिव्यक्ति हुई है। ऋ० ८।२०।१२ '**अनीकेषु अधिश्रियः**' तथा ७।६७।२ '**श्रिये दिवो दुहितुर्जायमानः**' आदि मंत्रों में मरुत् तथा उषा के सम्बन्ध में श्री शब्द शारीरिक शोभा को भी व्यक्त करता है।

अथर्ववेद में भी श्री शब्द का भूति या समृद्धि अर्थ सुरक्षित है। अ० वे० १२।१।६३ में श्री और भूति शब्द समानाधिकरण्य से एक साथ आये हैं—

संविदाना दिवा श्रिये श्रियां मा धेहि भूत्याम्।

जो श्री या शोभा से रहित है उसे 'अश्रीर' अथवा 'अश्लील' कहा गया है (**अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया**, अ० १४।१।२७; **अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्**, अ० ४।२१।६)। ऋग्वेद में एक स्थान पर जामाता के लिये भी यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है (**अश्रीर इव जामाता** ८।२।२०)।

श० ब्रा० में भी अनेक स्थानों पर भाववाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त (२।१।४।६, ४।१।३।६, १०।१।४।१४, ११।४।४।११ आदि) इस श्री शब्द के अर्थ में कोई नावीन्य नहीं है, किन्तु सर्वप्रथम **श० ब्रा०** में ही श्री का मनोरम मानवीकरण प्राप्त होता है। ११।४।३।१-४ में एक छोटी सी यज्ञीय कथा है जिसमें कहा गया है कि प्रजापति के सृष्टि रचना से श्रान्त होने पर उनके शरीर से श्री उत्पन्न हुई। [अनेक ऐश्वर्यों से युक्त] दैदीप्यमान शरीर वाली वह कान्तिमती सुन्दरी भय से काँपती हुई खड़ी थी कि देवों ने उसे देखा और उसे मारकर उसके ऐश्वर्यों को ले लेने की इच्छा की। प्रजापति ने उन्हें स्त्री-वध से रोका किन्तु उसके ऐश्वर्यों को ले लेने की अनुमति दे दी। अग्नि ने उससे अन्नाद्य, सोम ने राज्य, वरुण ने साम्राज्य, मित्र ने क्षत्रियत्व, इन्द्र ने बल और बृहस्पति ने ब्रह्मवर्चस्व ग्रहण कर लिया। तब प्रजापति की सलाह से श्री ने यज्ञ द्वारा उन्हें पुनः प्राप्त किया—

प्रजापतिर्वै प्रजाः सृजमानः अतप्यत। तस्मात् श्रान्तात् श्रीः उदक्रामत्। सा दीप्यमाना भ्राजमाना लेलायन्ती अतिष्ठत्। तां देवाः अभ्यध्यायन्। ते प्रजापतिम् अब्रुवन् हनाम इमामा इदमस्य ददामहै इति। स ह उवाच स्त्री वै एषा यत् श्रीः, न वै स्त्रियं घ्नन्ति, उत त्वा अस्याः जीवन्त्याः एव आददत इति। तस्या अग्निः अन्नाद्यम् आदत्त सोमो राज्यं वरुणः साम्राज्यम्....। श० ब्रा० ११।४।३।१-४

स्पष्ट है कि श्रीः सभी प्रकार की विभूतियों के सम्मिलित तत्त्व का मानवीकरण थी और यद्यपि श० ब्रा० में एक स्वतंत्र देवी के रूप में उसका कोई महत्त्व नहीं है किन्तु यहाँ हमें उसके परवर्ती रूप की छाया अवश्य प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार वैदिक श्रीः का स्वरूप भावात्मक अधिक है और संभवतः उनके स्वरूप का कोई भौतिक आधार नहीं है। किन्तु हो सकता है कि ऋग्वैदिक उषा-सुन्दरी की छटा तथा तेज ने श्रीः के उस रूप को जन्म दिया हो जो शोभा या सुन्दरता का परिचायक है। प्रकृति के विभिन्न दृश्यों में उषः-कालीन दृश्य सर्वाधिक हृदयहारी हैं, अतः शारीरिक सौन्दर्य को भी सूचित करने वाली देवी श्रीः का उससे सम्बन्ध स्वाभाविक है। अपनी प्रखर किरणों से लोकत्रय को व्याप्त और वेष्टित करने वाले सूर्य की ही वेदों में विष्णु संज्ञा है और उस विष्णु का ब्राह्म तेज उषस् ही उनकी श्रीः (शोभा) है[1]। जो कालान्तर में उनकी पत्नी बन जाती है। विष्णु पुराणकार ने भी इस ओर संकेत किया है—**मैत्रेय केशवः सूर्यः तत्प्रभा कमलालया। (१।८।२३)।**

पुराणों में लक्ष्मी को सागर-मंथन से उत्पन्न बताया गया है जो संभवतः पूर्व सागर में सर्वप्रथम परिदृश्यमान उषा का वाची हो सकता है। लक्ष्मी के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे विष्णु से कभी पृथक् नहीं होतीं।

---

१. एस० के० दीक्षितार, **ज्योति-जाह्नवी** लक्ष्मी, नवनीत (हिन्दी डाइजेस्ट), नवम्बर १९५९, पृ० ३७ ॥ लक्ष्मी के ऊपर हाल में डा० उपेन्द्र नाथ धल (उत्कल वि० वि०) की Goddess Lakṣmī, Origin and Development (दिल्ली १९७८) नामक उत्कृष्ट पुस्तक निकली है जिसमें लक्ष्मी के स्वरूप की मीमांसा एवं उसका ऐतिहासिक विवेचन किया गया है।

उन्होंने स्वयं विष्णु को अपने पतिरूप में चुना है और वे सदा उनके वक्षःस्थल में निवास करती हैं।

दिव्यमाल्याम्बरधरा स्नाता भूषणभूषिता ।
पश्यतां सर्वदेवानां ययौ वक्षःस्थलं हरेः ॥
तया विलोकिता देवा हरिवक्षःस्थलस्थया । विष्णु० १।९।१०५,६

एक अन्य स्थान में विष्णुपुराणकार कहते हैं कि जिस प्रकार विष्णु भगवान् सर्वव्यापक हैं उसी प्रकार विष्णु से कभी पृथक् न होने वाली जगज्जननी लक्ष्मी भी नित्य और सर्वव्यापक हैं—

नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी ।
यथा सर्वगतो विष्णुः तथैवेयं द्विजोत्तम ॥ १।८।१७

इससे स्पष्ट है कि यदि देवी लक्ष्मी का कोई भौतिक आधार है तो वह सूर्य से ही किसी न किसी रूप में अविच्छेद्य रूप से संबन्धित है।

धन और ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी से उनके पति के रूप में विष्णु का इतना घनिष्ठ संबन्ध क्यों है इसका कारण अत्यन्त सरल और स्वाभाविक है। प्राचीन काल में ही विष्णु का 'वसु' या धन से सम्बन्ध हो गया था। **अथर्व० ७।२६।८, वाज० सं० ५।१९** तथा **तै० सं० १।२।१३।८** में विष्णु के विषय में निम्नलिखित ऋचा आती है जिसमें विष्णु के द्वारा अपने भक्तों को आकाश, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी से दोनों हाथों से धन (वसु) प्रदान करनेका उल्लेख है —

दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या महो वा विष्ण उरो अन्तरिक्षात् ।
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्व आ प्रयच्छ दक्षिणाद् आ उत सव्यात् ॥

ऋ० ७।१००।२ में कवि ने विष्णु से अपनी विश्वजनीन उदारता (**सुमतिं विश्वजन्यां**) दिखाने और सुवर्णादिक धन (रायः) तथा समृद्धि (भूति) प्रदान करने की प्रार्थना की है—

त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्याम् अप्रयुतामेवयावो मतिं दाः ।
पर्चो यथा नः सुवितस्य भूरेः अश्वावतः पुरुश्चन्द्रस्य रायः ॥

ऋ० ६।४९।१३ का कवि विष्णु के सुरक्षण में अपने पुत्र पौत्रादिकों के साथ धन-धान्य का उपभोग करना चाहता है (**तस्य ते शर्मन् उपदद्यमाने राया मदेम तन्वा तना च**)। **तै० सं० १।६।४।३** में विष्णु के प्रति किये गये यज्ञ से अनामय,

समृद्धि तथा सुरक्षा की प्राप्ति का वर्णन है। ब्राह्मणों में विष्णु का यज्ञ से पूर्णतः तादात्म्य कर दिये जाने के कारण यज्ञ से जितने भी प्रकार के लाभ की प्राप्ति और धन आदि भौतिक कामनाओं की पूर्ति की आशा हो सकती है, उन सबको विष्णु के द्वारा प्रदेय बताया गया है (उदा०, तै० सं० १।७।४।४)।

महाभारत में भी विष्णु का यह औदार्य और दातृत्व सुरक्षित है। विष्णु-सहस्रनाम (महा०, अनु० १४९।८७) में उन्हें वसु, वसुद, वसुप्रद तथा महाधन कहा गया है। ख़ोन्डा के अनुसार विष्णु के 'वासुदेवत्व' यही पूर्व-रूप है[1]। महा० भीष्म० ८।१६ में उन्हें स्वर्णालंकृत तथा सुवर्णवर्ण कहा गया है। विष्णु का सूर्य से प्राचीन संबन्ध यहाँ स्मरणीय है। सूर्यदेव सविता को भी वैदिक संहिताओं में 'हिरण्यबाहु', 'हिरण्यपाणि' तथा 'हिरण्याक्ष' कहा गया है। धन और ऐश्वर्य से इस संबन्ध के कारण विष्णु का समृद्धि की देवी लक्ष्मी के स्वामी हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। **विष्णु पुराण** १।८।२७ में कहा गया है कि लक्ष्मी समृद्धि है और उसको धारण करने वाले धनेश्वर-विष्णु 'श्रीपति' हैं—**ऋद्धिः श्रीः श्रीधरो देवः स्वयमेव धनेश्वरः।**

विष्णु का वाहन : गरुड

अब हम विष्णु के प्रसिद्ध वाहन गरुड पर आते हैं। वैदिक देवशास्त्र में उल्लिखित पक्षियों में **श्येन** का प्रमुख स्थान है। यह श्येन इन्द्र का दूत है और उसके आदेश से आकाश से मधु (सोम) को पृथ्वी पर लाता है—

इन्द्र पिब वृषधूतस्य वृष्ण आ यं ते श्येन उशते जभार। ऋ० ३।४३।७

अधा मे श्येनो मधु आ जहार। ऋ० ४।१८।१३

किन्तु इस सोमहारी श्येन का विष्णु के वाहन से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है अतः इस पर हम आगे ('सोम' के प्रसंग में) विचार करेंगे।

प्रश्न यह है कि विष्णु का वाहन गरुड क्या है? मैक्डानल तथा हॉपकिन्स[2] का विचार है कि पूर्व से पश्चिम की ओर जाता हुआ सूर्य का बिम्ब ही वैदिक

---

१. ख़ोन्डा; आस्पेक्ट्स०, पृ० २३।

२. मैक्डानल; वै० मा०, पृ० १५२।
हॉपकिन्स; रिलीजन्स् आफ इंडिया, पृ० ४५।

ऋषियों की कल्पना में व्योमविहारी गरुड है। ऋ० ५।४५।९ में सूर्य को शीघ्र-गामी श्येन कहा गया है—

रघुः श्येनः पतयदन्धो अच्छा आ सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णः।

दशम मंडल में दो बार सूर्य के लिये **'गरुत्मत्'** विशेषण भी आया है जो परवर्ती साहित्य में गरुड का वाची है।

किन्तु इन दोनों ही विद्वानों का मत भ्रान्तिपूर्ण है। विष्णु को सूर्य का आधिदैविक प्रतीक मानने पर सूर्य-बिम्ब को विष्णु का वाहन गरुड मानना औचित्यपूर्ण नहीं लगता। वस्तुतः यज्ञिय अग्नि ही गरुड है। ऋ० वे० ७।१५।४ में अग्नि को 'आकाश का श्येन' कहा गया है (**नवं नु स्तोममग्नये दिवः श्येनाय जीजनम्**)। अस्यवामीय सूक्त (१।१६४) की अन्तिम (५२) ऋचा में भी अग्नि को एक विशाल 'दिव्य सुपर्ण' कहा गया है (दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तम् अपां गर्भम्)। अग्नि मनुष्यों के यज्ञ को आकाश में देवों तक ले जाता है। यज्ञिय हवि को वह उसके विभिन्न अधिकारियों के पास वहन करता है; अतः उसकी पक्षी के रूप में कल्पना अत्यन्त स्वाभाविक है। यज्ञ-वेदी के निर्माण के समय कुण्ड में इष्टिकाओं को ऐसे बिछाया जाता है कि उससे एक पंख फैलाकर उड़ते हुए श्येन की आकृति बन जाए। वेदी में अग्नि को स्थापित करते हुए कहा जाता है—

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद। वाज० सं० १७।७२

वाज० सं० ४।३४ में अग्नि से कहा गया है कि तुम श्येन होकर आकाश में उड़ जाओ—**'श्येनो भूत्वा परापत'**। १२।४ में भी उखा (अग्निपात्र) में अग्नि को धारण करते हुए उसे एक पक्षी मानकर उसके सिर, नेत्र, पंख आदि की कल्पना की जाती है और उसे आकाश में उड़कर देवों तक हवि पहुँचाने के लिये प्रेरित किया जाता है—

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् त्रिवृत् ते शिरो गायत्रं चक्षुः बृहद्रथन्तरे पक्षौ। स्तोमऽआत्मा छन्दांस्यंगानि यजूंषि नाम। साम ते तनूः वामदेव्यम् यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः। सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत। वाज० सं० १२।४

शतपथ ब्राह्मण इस मंत्र की व्याख्या करता हुआ स्पष्ट शब्दों में कहता

है कि उखा में वर्तमान **अग्नि** की ही **सुपर्ण-गरुत्मान्** के रूप में कल्पना की जाती है। अग्नि यज्ञ को देवों तक ले जाने वाला सुनहले पंखों का श्येन है। उसकी यह सामर्थ्य ही गरुड है। त्रिवृत्, गायत्री आदि छन्द इसके सिर तथा नेत्र हैं। अग्नि तत्त्व के सिर, नेत्र, पक्ष आदि की कल्पना के कारण यह मंत्र विकृति कहलाता है क्योंकि यह उखारूपी गर्भ में सिक्त अग्निरूपी रेतस् के विकार (अवयवादिविभाजन) की कल्पना करता है—

> **अथैनमतो विकृत्या विकरोति, इदमेवैतद् रेतः सिक्तं विकरोति। तस्माद्योनौ रेतः सिक्तं विक्रियते।** ६।७।२।५
>
> **सुपर्णोऽसि गरुत्मान् इति। वीर्यं वै सुपर्णो गरुत्मान्। वीर्यमेवैनम् एतद् अभिसंस्करोति॥** ६।७।२।६

सायण ने इन शब्दों की और भी अधिक स्पष्ट व्याख्या करके शंका के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ा है—

> सुपर्णोऽसीत्ययं मंत्रो विकृतिरुच्यते। अग्नेः पक्षपुच्छादिमत्सुपर्ण-रूपेण तत्र विकारप्रतिपादनात्....विकारप्रतिपादकमन्त्रेणाभिमंत्रणमेवात्र विकरणम्।
>
> मंत्रस्यायमर्थः, **हे अग्ने त्वं गरुत्मान् प्रबलपक्षोपेतः सुपर्णाख्यः पक्षी असि। यज्ञ एव पक्षात्मना उच्यते....**अतस्त्वं दिवं द्युलोकं गच्छ.... सुपर्णात्मना भावनया तस्य वीर्यमेवाभिसंस्कृतवान् भवति।

शुक्ल यजुर्वेद के १८वें अध्याय में अग्नि को दिव्य सुपर्ण के रूप में वर्णित करने वाले तीन मंत्र आते हैं जिनकी व्याख्या में पुनः **शतपथ ब्रा०** (६।४।४।३) ने अग्नि का गरुत्मत्त्व प्रतिपादित किया है। इन मंत्रों में अग्नि को घृत से उत्पन्न एवं धूम से बढ़ते हुए एक ऐसे पक्षी के रूप में चित्रित किया गया है जो अपने पंखों से राक्षसों को भगाता है और जिसकी सहायता से मनुष्य 'उत्तम स्वर्गलोक' में पहुँच सकता है—

> **अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तम्।**
> **तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपं स्वो रुहाणा अधिनाकमुत्तमम्॥**
> **इमौ ते पक्षौ अजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांसि अपहंस्यग्ने।**
> **ताभ्यां पतेम सुकृतामुलोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥**
> **इन्दुर्दक्षः श्येनः ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः....॥**
>
> वाज० सं० १८।५१,५२,५३

यह अग्निरूप श्येन या गरुड़ विष्णु का वाहन कैसे बन गया इसका कारण सुस्पष्ट है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है (पृ० ३२५-३६) ब्राह्मण ग्रंथों में विष्णु और यज्ञ का घनिष्ठ तादात्म्य प्राप्त होता है। इस तादात्म्य से जायमान अनेक कथाएँ भी इन ग्रंथों में यत्र-तत्र प्राप्त होती हैं। अग्नि यज्ञ को वहन करने वाला 'सुपर्ण' पक्षी है अतः इस सुपर्ण या गरुत्मान् का यज्ञरूप-विष्णु का वाहन बन जाना अत्यन्त सरल तथा स्वाभाविक है।

ब्राह्मणोत्तरकालीन साहित्य में इस विष्णु वाहन का सूक्ष्म मानवीकरण कर दिया गया और हनुमान् जी की भाँति इनका भी अर्ध-पक्षी और अर्ध-मानव रूप कल्पित किया गया। गुप्तकालीन **गारुडोपनिषद्** में गरुड का मानव रूप में अत्यन्त चित्रात्मक वर्णन किया गया है—

कपिलाक्षं गरुत्मन्तं सुवर्णसदृशप्रभम् ।
दीर्घबाहुं बृहत्स्कन्धं नानाभरणभूषितम् ॥
आजानुतः सुवर्णाभम् आकण्ठ्योस्तुहिनप्रभम् ।
कुंकुमारुणमाकण्ठं शतचन्द्रनिभाननम् ॥
नीलाग्रनासिकावक्त्रं सुमहच्चारुकुण्डलम् ।
दंष्ट्राकरालवदनं किरीटमुकुटोज्ज्वलम् ॥
कुंकुमारुणसर्वांगं कुन्देन्दुधवलाननम् ।
विष्णुवाह नमस्तुभ्यम्...॥ गारुडोपनिषद् श्लो० ५,६,७,८

अपने इसी विहग-मानव मिश्रित रूप में गरुड को अनेक युद्धों में सक्रिय भाग लेकर अपने नख तथा चञ्चु प्रहारों से दानवों को मारते तथा विष्णु की रक्षा करते हुए भी वर्णित किया गया है (तु० की०, **देवासुरविमर्देषु बहुशो दृढविक्रमम्**। मत्स्य० १७३।४२)। **विष्णु पुराण** (५।३०) में पारिजातहरण पर होने वाले कृष्ण और इन्द्र के युद्ध में गरुड ऐरावत से लड़ते हैं, वरुण के नागपाश के खंड-खंड कर डालते हैं और चोंच, पंख तथा नखों से देवों को मार भगाते हैं—

पाशं सलिलराजस्य समाकृष्योरगाशनः ।
चकार खंडशश्चंच्वा बालपन्नगदेहवत् ॥
गरुत्मानपि तुंडेन पक्षाभ्यां च नखांकुरैः ।
भक्षयंस्ताडयन् देवान् दारयंश्च चचार वै ॥ आदि

विष्णु ५।३०।५६, ६४

उनका भोजन सर्प हैं और वेग वायु से भी अधिक बताया गया है। उनका शरीर पर्वत के समान विशाल है और पंख रंग-बिरंगे हैं, अतः जब वे आकाश में उड़ते हैं तो ऐसा लगता है मानो इन्द्रधनुष निकल आया हो। उनके शरीर का सामान्य वर्ण स्वर्ण के समान है और वे पक्षियों के राजा हैं—

स कश्यपस्यात्मभुवं द्विजं भुजगभोजनम्।
पवनाधिकसम्पातं गगनक्षोभणं खगम्॥
भुजगेन्द्रेण वदने निविष्टेन विराजितम्।
अमृतारंभनिर्मुक्तं मन्दराद्रिमिवोच्छ्रितम्॥
शिखिनं बलिनं चैव तप्तकुण्डलभूषणम्।
विचित्रपत्रवसनं धातुमन्तमिवाचलम्॥
पक्षाभ्यां चारुपत्राभ्याम् आवृत्य दिवि लीलया।
युगान्ते सेन्द्रचापाभ्यां तोयदाभ्यामिवाम्बरम्॥

मत्स्य पुराण १७३।४०-४१,४३-४५

महाभारत के आदिपर्व में गरुड द्वारा अपनी माता **विनता** को दास्य-भाव से मुक्त करने के लिये स्वर्ग से अमृत हरण करने की कथा आती है। गरुड़ के इस कार्य का विष्णु-वाहन गरुड से मौलिक रूप में कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः इस कथा पर **सोम** के प्रसंग में विचार किया जायेगा।

सुदर्शन चक्र

विष्णु का प्रिय अस्त्र सुदर्शन-चक्र बताया गया है और यह उनका अपना विशेष आयुध है। इस चक्र की कल्पना के बीज वैदिक साहित्य में ही निहित हैं। कून[1] के मत का समर्थन करते हुए मैक्डानल ने कहा है कि विष्णु का चक्र सूर्य का प्रतीक है, और ऋ० ५।६३।४ में सूर्य को एक विचित्र आयुध कहा भी गया है—**सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्**। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में संवत्सर या वर्ष की एक चक्र के रूप में कल्पना प्राप्त होती है। इस संवत्सर चक्र में १२ अरे (मास) हैं, तथा तीन [या चार] नाभियाँ। इसके ३६० दाँते हैं और यह अक्षय तथा अमर चक्र सदा घूमता रहता है। सम्पूर्ण विश्व इसी के भीतर निवास करता है। ऋग्वेद के अस्य-वामीय सूक्त (१।१६४) के निम्न (४८) मंत्र में इस संवत्सररूपी चक्र की बारह

१. कून : हेरबकुम्फ्ट डेस फॉयर्स उन्ट् डेस ग्योटरट्रांक्स, पृ० २२२।

परिधियों, तीन नाभियों तथा कभी ढीले न होने वाले ३६० अरों का उल्लेख है जो निश्चित रूप से मास, ऋतु तथा दिनों का परिचायक है—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिता षष्टिर्न चलाचलासः॥

इसी सूक्त के ११वें मंत्र में **'द्वादशारं न हि तज्जराय ववर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य'** आदि से इस अक्षय चक्र के १२ अरों (मासों) का उल्लेख किया गया है और **'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम्'** (२) आदि वाक्यों से सप्ताह के सात दिनों का भी स्पष्ट वर्णन है। अथर्ववेद में भी—

सप्तचक्रान् वहति देव एष सप्तास्य नाभीरमृतं नु अक्षः।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः॥
अथर्व० १९।५३।२

आदि मंत्रों में काल के अमर चक्र का वर्णन किया गया है। ऋ० १।१६४।२, ११, १२ की भाँति 'सप्तचक्र' तथा 'सप्तनाभि' आदि शब्द अथर्ववेद में भी सप्ताह के सात दिनों के द्योतक हैं। **कौषीतकि ब्रा० २०।१** में कहा गया है कि 'संवत्सर ही देवों का निरन्तर घूमनेवाला अक्षय चक्र है'—**संवत्सरो वै देवानां भ्रमिचक्रम्, अमृतं हैतत्**। संवत्सर का विभाग सूर्य की गति अथवा दिवारात्रि पर निर्भर करता है, अतः सूर्य (सविता) को ही ऋ० ५।८१।१ में समय का विभाजक कहा गया है[1]। सूर्य से इस सम्बन्ध के कारण विष्णु से संवत्सर चक्र का संबन्ध हो जाना स्वाभाविक ही था। ऋ० १।१५५।६ में कहा गया है कि "विष्णु ने अपने चार नाम वाले ९० घोड़ों को एक चक्र की भाँति चारों ओर घुमाया'—**चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिः चक्रं न वृत्तं व्यतीँरवीविपत्**। निश्चित है कि यहाँ पर कवि का आशय एक-एक ऋतु के नब्बे-नब्बे दिनों (तीन मास) से है[2]; और यह चक्र संवत्सर ही है।

---

१. देखिये कीथः **वैदिक इंडेक्स**, द्वितीय भाग, पृ० ४६६।

२. ऋग्वेद में ऋतुओं की संख्या पूर्णतः निश्चित नहीं थी अतः कहीं तीन और कहीं चार ऋतुओं का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इनकी संख्या ६ तक पहुँच गई है। देखिये, कीथ, वही, पृ० ११०-११, "ऋतु"।

पुराणादिकों में सूर्य के रथ को केवल एक चक्र से युक्त बताया गया है[1]। भागवतकार का स्पष्ट कथन है कि यह संवत्सररूपी चक्र ही सूर्य के रथ का एक पहिया है जिसमें बारह अरे, छः नेमियाँ, तथा तीन नाभियाँ हैं—

यस्यैकं चक्रं द्वादशारं षण्नेमि त्रिणाभि संवत्सरात्मकं समामनन्ति।
(तस्याक्षो मेरोर्मूर्धनि कृतो....यत्र प्रोतं रविरथचक्रं तैलयन्त्रचक्रवद् भ्रमति)
भागवत ५।२१।१३

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संवत्सर चक्र की परिकल्पना ने ही विष्णु के संबन्ध में उनके सुदर्शन-चक्र तथा सूर्य के संबन्ध में उनके रथ के एक-चक्र की धारणा को जन्म दिया है। कालान्तर में जब विष्णु का व्यक्तित्व दैवीकरण की चरम सीमा पर पहुँच गया तो सुदर्शन चक्र केवल आयुध बनकर रह गया और, जैसा कि स्वाभाविक था, उसका मूल विलुप्त हो गया।

विष्णु : परमेश्वर के रूप में

रामायण, महाभारत तथा पुराणों के काल में विष्णु की लोकप्रियता और महत्त्व इतना अधिक बढ़ा कि वे देवाधिदेव ही नहीं, अपितु पर-ब्रह्म के साक्षात् सगुण-स्वरूप माने जाने लगे। विष्णु के व्यापक विराट् रूप, संसार की रक्षा करने की क्षमता, उनके चरित्र में अनैतिक तत्त्वों का अभाव, अनेक पौराणिक कथाओं में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका तथा उनके सूक्ष्म एवं पूर्ण मानवीकरण ने भी इस उत्कर्ष में पर्याप्त योग दिया। विष्णु के इस महनीय व्यक्तित्व ने लगभग छठी शताब्दी ई० पू० में ही उनसे सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण उपासना-संप्रदाय को जन्म दिया जो **भागवत-संप्रदाय** के नाम से भारत के धार्मिक इतिहास में अद्वितीय स्थान रखता है। इस भक्ति संप्रदाय से सम्बन्धित दर्शन **पाञ्चरात्र-आगम** नाम से महाभारत आदि में प्रसिद्ध है (शान्ति० ३३६ आदि)। भागवत सम्प्रदाय ने भारत में पिछले ढाई हजार वर्षों में विष्णु-भक्ति की जो अमृतमन्दाकिनी प्रवाहित की उससे देश का कोना-कोना आप्लावित और आनन्दित हो उठा। इसी भक्ति-भावना ने हिन्दुओं को पराधीनता के संकटकाल में कष्टों को भुलाकर धैर्य धारण करने की क्षमता प्रदान की।

---

१. तु० की०, **रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगाः** (भोजप्रबन्ध), आदि।

वेदान्त आदि दार्शनिक सम्प्रदायों में माया की धारणा के उदय और विकास के पश्चात् विष्णु ने माया को भी आत्मसात् कर लिया। माया उनकी वह शक्ति है जिसकी सहायता से वे संसार के प्राणियों को मोहित किये रहते हैं[1]। विष्णु की माया जगत्-उत्पत्ति में उनकी उतनी सहायिका नहीं जितनी प्राणियों को मोहित करने में। इस रूप में वह व्यक्तिगत 'अविद्या' के अधिक समीप है। सागर मंथन से अमृत निकलने पर जब दैत्य उसे हड़प ले जाते हैं तो विष्णु अपनी माया से एक मोहनी (सुन्दरी) का रूप धारण करके असुरों से अमृत-पात्र ले लेते हैं और देवों को अमृत पिला देते हैं (**भागवत** ८।९)। भगवान् शिव तक विष्णु के इस मायानिर्मित रूप पर मुग्ध हो जाते हैं (**भागवत** ८।१२।१५-४०)। त्रिपुर विनाश के अवसर पर वे असुरों को माया से मोहित करके मयासुर द्वारा मायानिर्मित अमृत-सरोवर का पान कर जाते हैं। मय इस बात को स्वीकार करता है कि बावड़ी के अमृत को पीने वाला विष्णु के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता (**मत्स्य०** १३६।१६)।

यज्ञ से तो विष्णु का प्राचीन सम्बन्ध है ही। वे ही यज्ञ मार्ग की मर्यादा के प्रतिष्ठापक तथा यज्ञ का फल देने वाले हैं। परवर्ती साहित्य में तप का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। तप से ही ब्रह्मा आदि जगत्-सर्जन की शक्ति प्राप्त करते हैं। तप से मनुष्य सभी वाञ्छित वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है। और इस तप से गम्य हैं विष्णु। वे ही तप का फल देने वाले हैं। **भागवत** पु० २।९। २२,२३ में विष्णु स्वयं कहते हैं—

> **तपो मे हृदयं साक्षाद् आत्माहं तपसोऽनघ ।**
> **सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः ॥**
> **बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः ।**

इन आध्यात्मिक तत्त्वों के अधिष्ठातृत्व ने विष्णु को अन्य देवों से बहुत उत्कृष्ट बना दिया है। दार्शनिक सम्प्रदायों ने जगत् की नियामक जिस एक सर्वोच्च अमूर्त, अव्यक्त शक्ति की स्थापना की थी विष्णु उसी के व्यक्त प्रतीक हो गये। भागवतकार ने विष्णु को प्राणियों के हृदय में वर्तमान **आत्म-तत्त्व** तथा योगियों द्वारा ध्येय **परमात्म-तत्त्व**, दोनों कहा है—

---

१. त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । **गीता** ७।१३,१४

१. योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां....३।१५।५६

२. तं त्वा विदाम भगवन् परमात्मतत्त्वं सत्त्वेन सम्प्रति सदा रचयन्तमेषाम् ।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगैरुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः ॥
भाग० ३।१५।४६

१०।८८।५-१० में सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन करते हुए भागवतकार का कथन है कि विष्णु निर्गुण, प्रकृति के स्पर्श से रहित, साक्षात् भगवान् हैं। उनका भजन करने से मुक्ति (कैवल्य) की प्राप्ति होती है। रुद्र, सूर्य, वरुण आदि शेष देव त्रिगुणमय हैं; वे प्रकृति (महत्तत्त्व) के विभिन्न विकारों से उत्पन्न होते हैं।

पद्म पुराण (सृष्टि खण्ड २५।३०-३५) में कहा गया है कि स्वर्ग, देवगण तथा जगत् आदि सम्पूर्ण चेतन-अचेतन वस्तुएँ विष्णु ही हैं। सम्पूर्ण चराचर जगत् भगवान् से व्याप्त है। जिस प्रकार स्फटिक मणि विविध वर्णवाली वस्तुओं के सान्निध्य से चित्र-विचित्र प्रतीत होने लगती है उसी प्रकार मायामय गुणों के संसर्ग से स्वयंभू परमात्मा की नाना रूपों में प्रतीति होती है।

मत्स्य पु० (१६३।१९-२८) विष्णु को तप एवं यज्ञादि सभी धार्मिक कृत्यों से गम्य, एकमात्र परम-पुरुष, शाश्वत, अप्रमेय, प्रलयकाल में स्थित रहने वाले, लीला से सृष्टि करने वाले, जगत् के एकमात्र अधिष्ठाता, **परब्रह्म** कहता है। विष्णु ही सूर्य, वायु, अग्नि आदि देवों एवं मेघ आदि पदार्थों का रूप धारण करके संसार का कल्याण करते हैं—

भूत्वा सूर्यश्चक्षुषी चाददानो भूत्वा वायुः प्राणिनां प्राणजालम् ।
भूत्वा वह्निर्निर्दहन् सर्वलोकान् भूत्वा मेघो भूय उग्रोऽप्यवर्षत् ॥
मत्स्य० १६४।२४

विष्णु पुराण में इन्द्र, सूर्य, अश्विनौ, वसु, मरुत् आदि देवता स्वतः अपने को विष्णु के अंश बता कर उनको प्रणाम करते हैं—

शक्रार्करुद्रवस्वश्विमरुत्सोमादिभेदवत् ।
वयमेकं स्वरूपं ते तस्मै देवात्मने नमः ॥ विष्णु० ३।१७।१७

इस स्थिति में आकर विष्णु अपने वैष्णव-रूप से बहुत ऊंचे उठ गये हैं।

पद्म पु० (२।११४) तथा विष्णु (१।२।६६) का कथन है कि विष्णु उस

एक, सर्वोच्च, परम-शक्ति का नाम है जो क्रमशः जगत् की सृष्टि, त्राण तथा संहार करने के लिये तीन रूपों में व्यक्त होती है—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः ।
स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः ॥ पद्म पु० २।१४४

अन्यत्र ये दो पुराण यहाँ तक कहते हैं कि चेतन-शक्तियाँ (देवता) ही नहीं अपितु इस जगत् में जो कुछ भी मूर्त या अमूर्त पदार्थ हुए हैं या होंगे, वे, तथा अन्य जो कुछ भी सुनाई पड़ता है या अनुभव किया जाता है, वह सब उसी विष्णु नाम की परमशक्ति का ही रूप है—

यान्यमूर्तानि मूर्तानि यान्यत्रान्यत्र वा क्वचित् ।
सन्ति वै वस्तुजातानि तानि सर्वाणि तद् वपुः ॥ विष्णु० १।२२।८७

यत्किञ्चित् पश्यसे विप्र यच्छृणोषि च किंचन ।
यच्चानुभवसे लोके तत्सर्वं मामनुस्मर ॥ पद्म०, सृष्टि ३६।१३५

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

मुद्रक : शाकुन्तल मुद्रणालय, ३४ बलरामपुर हाउस, प्रयाग।

वैदिक देवता

उद्भव और विकास

***

द्वितीय खण्ड

अपेक्षाकृत दीर्घकाय होने के कारण मुद्रण आदि की सुविधा की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ को समान आकार के दो खण्डों में विभक्त किया गया है। दोनों खण्ड मिलकर ही ग्रन्थ को पूर्ण करते हैं।

द्वितीय खण्ड में षष्ठ से दशम तक के अध्याय समाहित हैं। षष्ठ-सप्तम अध्याय 'अन्तरिक्ष-स्थानीय' देवताओं का निरूपण करते हैं ; षष्ठ में इन्द्र, मरुद्गण एवं वायु का विवेचन है तो सप्तम में रुद्र-शिव, दुर्गा, गणेश तथा स्कन्द का। अष्टम अध्याय अग्नि, सोम एवं यम आदि 'पृथ्वी-स्थानीय' देवताओं की प्रकृति पर प्रकाश डालता है। नवम अध्याय में अमूर्त या भावात्मक देवताओं, यथा प्रजापति ब्रह्मा, बृहस्पति एवं अदिति के स्वरूप का परिशीलन किया गया है। अन्तिम दशम अध्याय परिशिष्टात्मक है और इसमें राक्षसों, यक्षों, गन्धर्वों एवं अप्सरादिकों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

अन्त में दोनों खण्डों की सम्मिलित अनुक्रमणिका है।

शीघ्र प्रकाश्य

भारतीय विद्या प्रकाशन ● वाराणसी ● दिल्ली